૨

સનાતનધર્મબોધ - ૪

'आलोक'-ग्रन्थमालाका अष्टम सुमन

संरक्षक—श्री पं० मुरारिलालजी, मेहता, कलकत्ता
रायसाहब चौधरी श्रीप्रतापसिंहजी रईस, करनाल

सनातनधर्मका विश्वकोष एवं महाभारत

श्रीसनातनधर्मालोक (८)

(सनातन हिन्दुधर्मके प्रसिद्ध विषय)

प्रणेता—
पं० दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वत विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि
[भूतपूर्व प्रिंसिपल स.ध. संस्कृत कालेज, मुलतान]
प्रिंसिपल संस्कृत महाविद्यालय, रामदल, दरीबाकलां, देहली-६
(सम्पादक 'सिद्धान्त' (काशी) और सारस्वत समाज (देहली)

प्रकाशक—
श्रीनारायणशर्मा 'राजीव' सारस्वत, शास्त्री, प्रभाकर, एम. ए. (द्वि.)
'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमाला कार्यालय
फर्स्ट बी. १६ लाजपतनगर, नई देहली १४

विजयदशमी] सं. २०१६ [मूल्य ८ रु. ५० पै. विदेशोंमें १०)

प्रकाशक—
श्रीनारायणशर्मा 'राजीव' शास्त्री, सारस्वत, प्रभाकर एम.ए. (द्वि.)
श्रीसनातनधर्मालोक कार्यालय
फर्स्ट बी० १६, लाजपतनगर, नई देहली १४

प्रथम संस्करण सन् १९६२ (ई०)
मूल्य आठ रु० पचास पैसे, विदेशोंमें दश रुपये।

मुद्रक—
जमना प्रिंटिंग वर्क्स
पीपल महादेव देहली।

आरम्भिक शब्द (८)

'अभीप्सितार्थसिद्धयर्थं पूज्यते यः सुरासुरैः।
सर्वविघ्नच्छिदे तस्मै गणाधिपतये नमः॥'

दयामय भगवान् की असीम कृपा तथा दानी महानुभावोंके सहयोग, पितरों एवं गुरुजनोंके शुभाशीर्वाद, और शुभचिन्तकोंकी सद्भावनासे 'आलोक'-ग्रन्थमालाका यह अष्टम-सुमन विकसित हो रहा है। अपने ही हिन्दुधर्मपर अपने ही कई महाशयोंके आक्रमण होते रहे हैं, और हो रहे हैं, उनके आक्रमणोंको विफल कर देना इस ग्रन्थमालाका प्रधान उद्देश्य रहा है।

यद्यपि युग आज अज्ञानान्धकारके प्रसारक उन्हीं महाशयोंके खण्डक-कुसाहित्यके अतिशयित दुष्प्रचारवश पूर्वसे मुख मोड़कर पश्चिमकी ओर तीव्रगतिसे जा रहा है; तथापि हम प्राचीन-शास्त्रोंके निष्कर्षरूप इस ग्रन्थमालाके चमकदार पुष्पोंका आलोक रखते हुए उस युगानुधावननिरत जनताको फिर पूर्वकी ओर लानेका प्रयत्न कर रहे हैं। इसमें जो सज्जन हमें सहयोग दे रहे हैं, उन्हें केवल धन्यवाद तथा शुभाशंसा के अतिरिक्त हम और क्या दे सकते हैं? इसे देखकर अन्य भी विद्वान् यदि अपने सनातनधर्ममण्डल नव-साहित्यकी सृष्टि करने लग जाएँ, तब हम इसमें अपनी सफलता समझेंगे।

'श्रीसनातनधर्मालोक' मूलग्रन्थ संस्कृतमें और १० सहस्र फुलिस्केप पृष्ठोंमें है; उसीका हम ग्रन्थमालाके रूपमें हिन्दीमें प्रकाशन कर रहे हैं। अबतक हिन्दीमें इसके पौने पाँच हज़ारके लगभग पृष्ठ छप चुके हैं। यह उसका अष्टम-पुष्प है। हम इस

मालाके प्रचारार्थ आजकलके अनुसार प्रोपेगण्डा नहीं कर रहे; तथापि मन्थरगतिसे सही, यह कुछ प्रगति कर रही है।

इस ज्ञानयज्ञमें आहुति प्रायः सन्त-महन्त एवं पण्डित लोगों-की ओरसे पड़ रही है। इसका यजमान तो बनना चाहिये था-सेठ-साहूकारोंको; परन्तु उनका भाग अभी बहुत न्यून है। यदि वे इधर ध्यान दें; तो इस मालाकी पूर्णतामें देरी लगे ही नहीं; आशा है-उनका इधर ध्यान पड़ेगा। प्रेरकोंको इधर ध्यान देना चाहिये। यह केवल हमारा कार्य नहीं है, यह सबका है।

इस पुष्पमें जगद्गुरु-शङ्कराचार्य श्री १००८ स्वा० कृष्ण-बोधाश्रमजी महाराज पूर्वकी भांति सहायक बने हैं। उन्हें इस ग्रन्थमालाका बड़ा ध्यान रहता है। महामण्डलेश्वर स्वामी श्री १००८ गंगेश्वरानन्दजी महाराज इस बार भी इसके सहायक बने हैं। बल्कि उन्होंने ब्रह्मलीन महामण्डलेश्वर स्वामी सर्वानन्दजी महाराजकी ओरसे भी १००) प्रदान किये हैं। इससे उनका स्वा० सर्वानन्द जीके प्रति अगाध प्रेम प्रस्फुटित होता है। इस वार अष्टमपुष्पके जगद्गुरु-श्रीमन्मध्वाचार्य भण्डारकेरि मठा-धीश्वर श्रीविद्यामान्यतीर्थ-स्वामीजी महाराज भी सहायक बने हैं, आप माध्वसम्प्रदायके सम्मान्य नेता और परिनिष्ठित विद्वान् हैं। आशा है-आप आगे भी इस ग्रन्थमालाके सहायक बनते रहेंगे। स्वामी १००८ श्रीवैष्णवाचार्य महाराज दरबार पिण्डोरी इस वार भी इसके सहायक बने हैं। इस वार स्वा० अनुभवा-नन्दजी शास्त्री तथा श्रीयशःपालजी शास्त्री बी. एस. सी. (आनर्स) भी सहायक बने हैं। श्री पं० मथुराप्रसादजी चतुर्वेदी शिक्षक

आरौन (गुना) भी इस वार इसके सहायक बने हैं; आपका ग्रन्थमालासे बहुत प्रेम है—आशा है आप आगे भी इसके सहायक बनते रहेंगे। इस वार परमहंस स्वामी श्री १०८ वामदेव-जी महाराज भी इस ग्रन्थमालाके सहायक बने हैं। आपमें सनातनधर्मकेलिए दृढ निष्ठा है। आशा है-आगे भी आप इस ग्रन्थमालाके सहायक बनते रहेंगे। इस वार श्रीस्वामी मुनीश्वरा-नन्दजी महाराज (खपड़िया बाबा) जो सङ्कीर्तन प्रणालीके प्राण हैं; जिन्होंने कई विद्यालय भी खुलवा रखे हैं; इसके सहायक बने हैं; उनका भी इस ग्रन्थमालासे उत्कट प्रेम बना हुआ है। श्री कन्हैयालालजी भेड़ा वैद्यराज बम्बई भी ग्रन्थमालाकी ओर बहुत ध्यान देते हैं। अर्थदाता श्री सेठ छोटेलालजी कानौडिया (कलकत्ता) आदि बने हैं, उनका नाम अन्तिम टाइटिल पर लिख दिया गया है।

इन सबको धन्यवाद देते हुए हम अन्य महोदयोंको भी प्रेरित करते हैं कि-वे भी अपनी शुद्ध कमाईका भाग इसमें अर्पित करें, जिससे यह ग्रन्थमाला पूर्ण हो जावे। पूर्ण हो जानेपर फिर इसे विषयानुसार पृथक्-पृथक् ग्रन्थोंमें प्रकाशित किया जावेगा।

अमूल्य कोई भी न ले।

यह ध्यान रहे कि-इस ग्रन्थमालाको जो भी सहायता-द्रव्य वा बिक्री का द्रव्य प्राप्त होता है, वह सब आगेके पुष्पोंके प्रकाशनार्थ जमा कर लिया जाता है। उसका एक भी पैसा हम अपने काममें नहीं लगाते। यदि कोई महोदय इसको अधिक

सहायता न दे सकें; तो इन ग्रन्थोंको बिना मूल्य न लें। ग्रन्थका मूल्य अवश्य दें। इसके संरक्षकका १०००) नियत है। संरक्षकका चित्र छपता है, और नाम प्रत्येक-प्रकाशनमें छपता है। संमान्य सहायकका ५००) तथा मान्य सहायकका २५०) और साधारण सहायकका १००) नियत हैं। अर्थदान जितना भी चाहे दिया जा सकता है।

ध्यान दें।

सनातनधर्म कोई अलिफ-लैलाकी कहानी नहीं। इसमें शास्त्रानुगृहीतता होनेसे और शास्त्रोंके गम्भीर होनेके कारण यत्र-तत्र कठिनता भी आ सकती है, पर उससे घबड़ा नहीं जाना चाहिये। धीरे-धीरे उधर प्रवृत्ति करनी चाहिये। पहले सुगम विषय पढ़ लेने चाहियें, फिर कठिन विषयोंको दो-तीन वार पढ़ कर सरल कर लेना चाहिये। आजकल प्रतिपक्षी हमारे सनातनधर्मको शङ्काप्रवाहमें बहा देना चाहते हैं; परन्तु आप हमारी ग्रन्थमालाका मनन करके उनका उत्तर देनेमें सक्षम हो सकेंगे।

प्रस्तुत-पुष्प

प्रस्तुत पुष्पमें 'वेदचर्चा' में वेदसम्बन्धी निबन्ध दिये गये हैं, इनका ज्ञान होना आवश्यक है। पुराणोंको कलङ्कित करने वाले आक्षेपोंका परिहार हम सप्तम पुष्पमें कर चुके हैं। जिन्होंने उसे न मँगाया हो; उसे वे अवश्य मँगा लें। फिर 'सैद्धान्तिक-चर्चा' में वर्ण-व्यवस्थापर तीन निबन्ध दिये गये हैं। इसके

बाद 'साम्प्रदायिक-सिद्धान्तचर्चा' में श्राद्ध तथा यमराज, नियोग, सायण और विधवाविवाह, नियोग वा विधवाविवाहके सिद्ध करनेकेलिए दिये जाते हुए प्रसिद्ध वेदमन्त्र, यमयमीसूक्त, 'क्लीबे च पतितेपतौ' पर विचार, तलाकपर विचार आदि विषय दिये गये हैं। फिर परिशिष्टमें अष्टग्रहीसन्देश, नमस्ते तथा पौराणिक घटनाएँ यह तीन विषय देकर अष्टम-पुष्प समाप्त कर दिया गया है।

अधिकारी निष्पक्ष विद्वानोंसे प्रार्थना है कि-विचारमें जहाँ-कहीं कुछ त्रुटि रह गई हो, जिसका रहना असम्भव नहीं, तो उसकी सूचना दे दिया करें, जिससे आगे ध्यान रखा जा सके। किसी प्रश्नके उत्तरमें कुछ अच्छी सूझ उन्हें स्फुरित हो जावे; तो उसे भी सूचित किया करें।

इस वार ग्रन्थमालाको उसके गुणज्ञ श्री पं० रामचन्द्रजी शर्मा अम्बाला तथा पं० घनश्यामचन्द्रजी शास्त्री विद्यामार्तण्डका आत्यन्तिक वियोग सहना पड़ा है। उसमें पहले महोदय आर्य-समाजी होते हुए भी 'सिद्धान्त' में प्रकाशित हमारी लेखमालासे बहुत प्रभावित हुए थे। इससे उनके विचार भी परिवर्तित होगये थे। इस विषयमें उन्होंने 'कल्याण' के 'नारी अङ्क' के परिशिष्टाङ्ककी टिप्पणीमें यह संकेतित भी किया था। दूसरे महोदय ग्रन्थ-मालाको प्रोत्साहित करनेवाले थे। परमात्मा इन्हें सद्गति दे।

विजयदशमी
सं० २०१६

निवेदक—
दीनानाथ शास्त्री सारस्वतः विद्यावागीश
प्रिंसिपल संस्कृतमहाविद्यालय, दरीबाकलाँ, देहली-

‘श्रीसनातनधर्मालोक’ के सम्बन्धमें विद्वानोंके भाव ।

(१) ˙˙ आप संस्कृतके अद्वितीय विद्वान् हैं। इससे हमें विशेष प्रसन्नता है। पर्याप्त लेख दृष्टिगोचर हुए हैं। अब आप ‘सनातनधर्मालोक’ नामक महाग्रन्थका प्रकाशन कर रहे हैं। इन ग्रन्थोंमें सनातनधर्मके प्रत्येक विषयपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सनातनधर्मी जगत्के विशेष लाभके ग्रन्थ हैं। ईश्वर आपके परिश्रमको पूर्ण सफल करे। ˙˙ (श्री ११०८ श्रीवैष्णवाचार्य महाराज श्रीदरबार पिंडोरीधाम)।

(२) माननीय श्री पं० दीनानाथ शास्त्रीजीके द्वारा लिखित ‘सनातनधर्मालोक’ ग्रन्थ देखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। वास्तवमें शास्त्रीजीने यह बहुत ही सुन्दर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इसमें भक्त रामशरणदास पिलखुआ द्वारा संग्रह की हुई पुराणोंके सम्बन्धकी सत्य घटनाएँ भी छपी हैं, वह भी बहुत सुन्दर हैं; और पुराणोंको न मानने वालोंकेलिए मुँहतोड़ उत्तर है। हमारा शुभाशीर्वाद इस ग्रन्थमालाके साथ है’ (श्रीमज्जगद्गुरुमध्वाचार्य अनन्तश्रीविभूषित भण्डारकेरिपीठाधीश्वर स्वामी श्रीविद्यामान्यतीर्थजी महाराज)।

(३) ग्रन्थ अद्वितीय है (श्रीमदनगोपालजी सिंहल, मेरठ)।

(४) आपके इस दृढधर्मप्रचारविषयक अध्यवसायसे धार्मिक समाज आपका अधमर्ण रहेगा। दयामय भगवान् आपक दीर्घायुरारोग्य दे, यही प्रार्थना है (श्रीभालचन्द्र विनायक मुले, प्रवचनकार–श्रीत्र्यम्बकेश्वर)

(५) ‘दयानन्दी–लेखकोंकी चिल्लपोंके उत्तरका सिविल महकमा श्री पं० दीनानाथ जी शास्त्रीने संभाला हुआ है’ (‘दूधका दूध और पानीका पानी’में शास्त्रार्थमहारथी श्री पं० माधवाचार्य जी शास्त्री)।

(६) ‘यह सन्तोषकी बात है कि–दिल्लीके श्री दीनानाथशास्त्रीने प्रधान-सम्पादकका पद स्वीकार कर लिया है। ‘सिद्धान्त’के पाठक उनसे परिचित हैं। उनके लेख उसमें बराबर निकलते रहे। वे सनातनधर्मके लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान् हैं। ‘श्रीसनातनधर्मालोक’ ग्रन्थमाला निकालकर उसकी अमूल्य सेवा कर रहे हैं’ (‘सिद्धान्त’ सम्पादक–श्री पं० गङ्गाशङ्करमिश्र M.A.)

(७) ‘सनातनधर्मालोक’के पुष्पोंको देखकर धार्मिक-जनताका हृत्कमल विकसित हो जाता है। अनुसन्धानपूर्ण ‘आलोक’-ग्रन्थमाला सभी सनातन धर्मियोंकेलिए आदरणीय है। इसके प्रकाशनसे विधर्मियों द्वारा फैलाया हुआ अन्धकार मिट जाता है। ˙˙˙ (सहजराम शर्मा, जमथा. पो० अमदही–गोंडा)।

(८) मेरा आजतक जितनी धार्मिक पुस्तकोंके पढ़ने तथा सुननेसे सम्बन्ध रहा है, मुझे यह आपका हिन्दुसमाजके हेतु कल्याणकारी उपहार ‘श्रीसनातनधर्मालोक’ अति ही पुनीत प्रतीत हुआ है। सनातनधर्मकी यह अनूठी व्याख्या महामान्य विद्यावागीश सारस्वतजीका नाम चिरस्मरणीय रखेगी, और आपकी अमरकृतिसे धार्मिक जगत्का उत्थान होगा। (श्रीसूर्यमोहन शुक्ल प्रधानाध्यापक, जमथा, गोंडा)।

(९) ˙˙˙ इन पुष्पोंके बढियापनकी पराकाष्ठा नियत करना

कठिन है; क्योंकि-जीवनके मध्यमें यथासमय श्रीशास्त्रीजीने अपने अनुभवसे इसके द्वारा दूसरोंको अन्धकारसे प्रकाशमें लानेका प्रयत्न किया है। मैं आशा करता हूँ कि-इन लोकोपयोगी पुष्पोंके प्रकाशनमें प्रत्येक समर्थ तथा गुणग्राही सज्जन सहायता कर जनकल्याणके अनुपम पुण्यके भागी होंगे (श्रीब्रह्मदत्तशर्मा-अध्यापक माध्यमिक विद्यापीठ, कादेड़ा (अजमेर)

(१०) पूज्यपाद विद्यावयोवृद्ध वेदमूर्ति...आपकी ग्रन्थमाला-की सुगन्धसे आनन्द उठा कर जनताका भला ही होगा। सनातनधर्मके प्रकाण्ड विद्वान्के करकमलों द्वारा ऐसा प्रयास जनताको मार्गदर्शन चिरकाल तक करनेका सामर्थ्य इन पुष्पोंमें आपने सञ्चित किया है, जो आजके समयमें अनुपम है। मैं आपके इस कार्यकी बारम्बार सराहना करता हूँ। भगवान्से प्रार्थना करता हूँ कि-वह आपके इस प्रारम्भ किये ज्ञानयज्ञको पूर्ण सफल बनाये।... आपका-मथुराप्रसाद चतुर्वेदी

शि. प्रा. शा. सोवत आरौन (गुना)

(११)... आप हमारी जातिके शिरोमणि हैं। हमें आपपर गौरव है। ... भ० रामकृष्णशर्मा शास्त्री ओ० टी० कृष्णनगर, भिवानी (हिसार)

एतदादिक अयाचित सम्मतियाँ-बल्कि यह कहना चाहिये कि-हृदयके स्वाभाविक भाव-बहुत अधिक आये हुए हैं। स्थानाभाववश सभी प्रकाशित नहीं किये जा सकते। आगेके पुष्पोंमें क्रमशः प्रकाशित होंगे। 'आलोक' ग्रन्थमाला स्वयं भी खरीदें, तथा दूसरोंको भी इसके खरीदनेकेलिए प्रेरित करके नवम पुष्पके प्रकाशनमें सहयोग दें।

निवेदक—नारायणशर्मा 'राजीव' सारस्वत शास्त्री
हिन्दी-प्रभाकर, एम. ए. (द्वि०) [प्रकाशक]

श्रीसनातनधर्मालोक-ग्रन्थमाला (अष्टम पुष्प) की

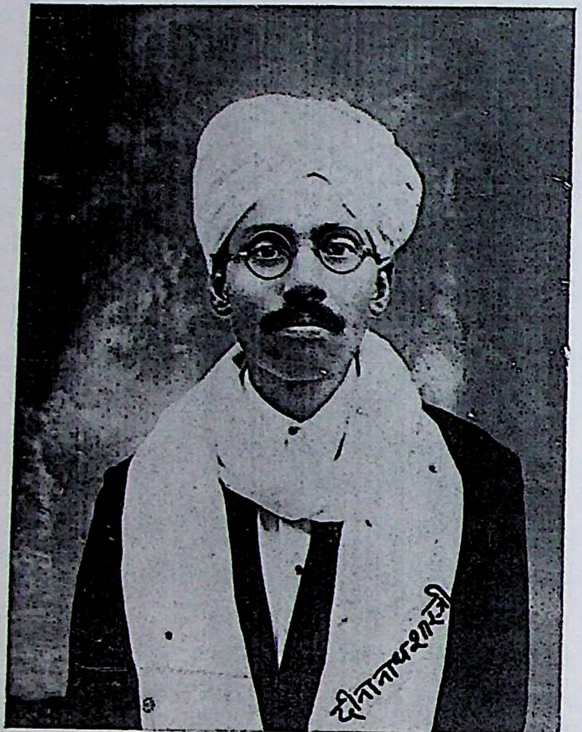
विषय-सूची

(साम्प्रदायिक सिद्धान्त-चर्चा)

(परिशिष्ट)

(* १ इयं नारी पतिलोकं वृणाना (पृ. ५१८)। २ 'उदीर्ष्व नारि ! (५२७) ३ स्वा.द. और विधवाविवाह (५४३). ४ 'पतिमेकादशं कृधि' (५४६)। ५ 'देवृकामा' (५५४)। ६ 'विधवेव देवरम्' (५६२)। ७ 'या पूर्वं पतिं वित्त्वा' (५७५)। ८ 'सोमः प्रथमो विविदे' (५८०) ९ 'उत यत् पतयो दश स्त्रियाः' (५८९)

'श्रीसनातनधर्मालोक'–प्रणेता—



पं० दीनानाथ शर्मा शास्त्री सारस्वतः

[विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि]

प्रिंसिपल संस्कृतमहाविद्यालय, रामदल,

दरीवा कलाँ, देहली–६

सनातनहिन्दुधर्मके प्रसिद्ध विषय

(१) मङ्गलाचरणम् ।

'अगजाननपद्मार्कं गजाननमहर्निशम् ।
अनेकदन्तं भक्तानामेकदन्तमुपास्महे' ॥

'देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति ।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मान् उप सुष्टुतैतु' ॥ (ऋ० ८।१००।११)

'इयं या परमेष्ठिनी वाग्–देवी ब्रह्मसंशिता ।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः' ॥ (अथर्व० १९।९।३)

'एवं नः पश्चादधरादुत्तरात् पुर इन्द्र ! नि पाहि विश्वतः ।
आरे अस्मत् कृणुहि दैव्यं भयमारे हेतीरदेवीः' ॥ (ऋ० ८।६१।१६)

'यत इन्द्र ! भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिर्विद्विषो विमृधो जहि' ॥ (ऋ० ८।६१।१३)

'तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि' ॥ (अथर्व० २।२७।७)

'शं नो मित्रः, शं वरुणः, शं विवस्वाञ्छमन्तकः ।
उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः' ॥ (अथर्व० १९।९।७)

"श्रीसनातनधर्मार्काऽऽलोकोऽयं सम्प्रकाशते ।
तमांस्यनेन दूरे स्युर्धर्ममार्गः स्फुटो भवेत् ॥१॥
पूर्वं पञ्चाप (मुल्तान) वास्तव्य इदानीं देहलीं श्रितः ।
इमं ग्रन्थं विनिर्माति श्रीदीनानाथनामकः ॥२॥
सारस्वतस्य तस्याऽयं प्रयत्नः शास्त्रिणो महान् ।
साफल्यमेतु पूर्तिं च भगवत्कृपया भृशम्" ॥३॥

(२) मङ्गलके अवसर पर विघ्न-वारण।

(श्रीगणेशाय नमः)

आजतक जितने भी ग्रन्थकार हुए हैं, उनमें नास्तिकोंको छोड़कर कोई भी दूसरा मङ्गलाचरणका विरोधी नहीं हुआ। आस्तिकोंके ग्रन्थोंमें यदि कहीं मङ्गल नहीं भी दीखता; तथापि वे मङ्गल करते अवश्य थे; क्योंकि यह शिष्टों (सभ्यों)का आचार था; चाहे वे पुस्तकसे पृथक् ही उसे कर लें। पुस्तककी आदिमें मङ्गलका करना तो आडम्बरमात्र है, वह भी व्यर्थ नहीं, किन्तु शिष्यों की शिक्षाकेलिए चरितार्थ है। जैसे सन्ध्यामें वा यज्ञादिमें किया जाता हुआ परमात्माका ध्यान मनसे सम्बन्ध रखता है, बाह्याडम्बरसे नहीं, और न ही वहां ऊँचे स्वरसे बोलनेकी आवश्यकता होती है; तथापि उसमें बाहरी आडम्बर इस कारण करना पड़ता है कि हमारे पुत्र, शिष्य, यजमान अथवा अनुयायी भी उससे प्रभावित होकर वैसा करें; नहीं तो यदि यह सब हम मनमें ही करते रहें, तो शिष्य वा पुत्रादि वैसा करना कैसे सीखें? इसी प्रकार मङ्गलाचरणके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

मङ्गलाचरणमें ग्रन्थकर्ता स्वतन्त्र है, वह जिस देवताकी स्तुति करे। जिसे जो देव इष्ट है, वह उसीकी स्तुति करता है। वह यदि आरम्भमें अपने इष्टदेवको नमस्कार करता है, इससे वह निन्दनीय नहीं हो जाता। क्योंकि—'त्रयी, साङ्ख्यं, योगः, पशुपतिमतं वैष्णवमिति; प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिल-नानापथजुषां, नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव' (महिम्नस्तोत्र ७) यह श्रीपुष्पदन्ताचार्यका वचन सुप्रसिद्ध ही है कि-शास्त्र कई प्रकारके होते हैं, अतः मत भी भिन्न-भिन्न होते हैं, रुचियाँ भी विभिन्न। कोई जल टेढ़ा होकर जाता है, कोई सीधा। अन्तमें वह समुद्रमें ही प्राप्त होता है, इस प्रकार 'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति' सब देवताओंको किया हुआ नमस्कार भगवान्को ही प्राप्त होता है। उसका कारण यह है कि भगवान् अङ्गी है, देवता उसके अङ्ग हैं। जैसा कि कहा गया है—

'पश्यामि देवाँस्तव देव! देहे, सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्' (गीता ११।१५) 'यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे। तान् वै त्रयस्त्रिंशद्देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः' (अथर्ववेदसं. १०।७।२७) इन प्रमाणोंसे देवता भगवान्के अङ्ग कहे गये हैं; तब भगवान् अङ्गी हुए। अङ्गीकी पूजा, विना अङ्गके कभी भी नहीं हो सकती। हमारा आत्मा अङ्गी है, हम आत्मस्वरूप हैं। हमारी जो कोई भी पूजा करना चाहेगा; तदर्थ हमारे किसी अङ्गकी ही पूजा करेगा। फूलोंकी माला हमारे गलेमें ही डालेगा, वा हमारे सिरपर फूल डालेगा। क्यों? इसलिए कि-अङ्गीकी पूजा अङ्ग द्वारा ही सम्पन्न होती है। अङ्गपूजाके विना अङ्गीकी पूजा कभी सम्भव भी नहीं।

कोई पुरुष गुरुजीकी लातें दबा रहा है-यह एक सेवा है। इस सेवासे सन्तुष्ट कौन होता है? गुरुजीका आत्मा। आशीर्वाद

भी वही आत्मा देता है, वह भी मुख-अङ्गके द्वारा ही। इसी प्रकार अङ्गी भगवान्की पूजा भी उसके किसी देवतारूप अङ्ग-द्वारा ही करनी होगी; फल उसका भी भगवान् ही देगा। जैसा कि भगवान्ने अपने श्रीमुखसे कहा है—'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्' (गीता ७।२१-२२)। अर्थात्–जो भक्त मेरी जिस तनु-अङ्गको श्रद्धासे पूजता है, उसमें मैं उसकी श्रद्धा स्थिर करता हूँ; और उस आराधनाका फल भक्तको मुझसे ही प्राप्त होता है, क्योंकि–'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' (९।२४) मैं (भगवान्) ही सभी यज्ञों (देवपूजाओं)का भोक्ता तथा स्वामी हूँ।

इस कारण भिन्न-भिन्न-देवपूजा भगवत्पूजा ही प्रतिफलित हुई। पर यदि कोई उस देवताको अङ्गी-भगवान्का अङ्ग न मानकर स्वतन्त्रतासे उस देवताकी पूजा करता है; अथवा यह कहना चाहिये कि–इस अङ्गपूजाको अङ्गकी ही प्रसन्नताके उद्देश्यसे करता है; अङ्गीकी प्रसन्नताके उद्देश्यसे नहीं; तब वह पूजा अङ्गीकी होती हुई भी वहाँ अङ्गी साक्षाद् उद्दिष्ट न होनेसे सीधी अङ्गी की पूजा न होकर अविधिपूर्वक अङ्गी की पूजा हो जाती है; जैसे कि श्रीभगवान्ने कहा है—'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥' (९।२३) अर्थात् वे केवल–देवपूजक करते तो मेरी ही पूजा हैं,

पर मेरी पूजा वहाँ साक्षात् उद्दिष्ट न होनेसे मेरी अविधिपूर्वक पूजा हो जाती है। कारण वही है कि उस अङ्गको अङ्गीका न समझकर उसे स्वतन्त्र समझना। तभी कहा है—'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते' (गीता ९।२४) अर्थात् वे उस देवपूजामें मुझ अङ्गीको वास्तविकतासे नहीं जानते, अतः वे गिर जाते हैं। वैसे ही अज्ञानी भिन्न-भिन्न देवपूजक आपसमें लड़ते-झगड़ते हैं।

दो शिष्य गुरुजीकी लातें दबा रहे थे, एक दाहिनी लात, दूसरा बाईं। गुरुजीने करवट बदली। लातें भी बदल गईं। अपनी-अपनी स्थितिमें रहनेके दुराग्रही उन मूढ-शिष्योंने यह न सहकर अज्ञानसे गुरुजीकी एक-दूसरेकी लातपर डण्डा जमा दिया; और इससे वे एक-दूसरेसे झगड़ भी पड़े। यह सेवा उन दोनोंकी अङ्ग-सेवाकी दृष्टिसे हो रही थी कि–यह सेवित की हुई लात मुझ पर प्रसन्न हो जायगी; तो मुझे विद्या आजायगी। यदि वे अज्ञानी न होते, अङ्गकी सेवासे अङ्गी-गुरुजीकी पूजा समझते; अङ्गकी प्रसन्नतासे अङ्गी-गुरुजीकी प्रसन्नता समझते, तब उन द्वारा वैसा अवैध-काण्ड न हो पाता। यही अज्ञान भिन्न-भिन्न देवोंकी पूजामें परस्पर झगड़ने वालोंका होता है। सो वह 'यजन्त्यविधिपूर्वकम्' अवैध-पूजन है। पर यदि वहाँ अङ्गपूजासे फलाकाङ्क्षा-विरहित अङ्गीकी पूजा उद्दिष्ट की जावे; सो वह पूजा विधिपूर्वक ही हो जाती है। इस विषयमें 'क्या गीता वेदकी खण्डक है?' यह निबन्ध आगे देखें।

इससे यह सिद्ध हुआ कि—अङ्गीकी पूजा अङ्ग-पूजाके बिना नहीं होती। अङ्गी हुए भगवान्; और अङ्ग हैं देवता-यह बात पहले हम प्रमाणित कर चुके हैं। सो अपनी प्रकृतिके अनुकूल किसी इष्ट-देवतारूप अङ्गकी पूजा-रूप यज्ञ अङ्गी भगवान्के तोषको लक्ष्यमें रखकर अवश्य ही करना पड़ता है। तब यज्ञके संक्षिप्तरूप मंगलाचरणके द्वारा भी भगवान्के अंग किसी देव, वा भगवान्के अवताररूपको अथवा ज्ञान-प्रदाता गुरुको वा उसके चरणादिको नमस्कार करनी स्वाभाविक हो उठती है—इसमें खण्डनीयता कुछ भी नहीं; क्योंकि—यह अखण्डित व्यवहार है। इसलिए श्रीभगवान्ने अपने श्रीमुखसे गीतामें भी देवपूजा आदिष्ट की है (३।११-१३); और वेदमें तो देवपूजा व्याप्त है ही।

(२) यह न जानकर आर्यसमाज-नामक अर्वाचीन सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वा.द.जीने जो कि अपने स. प्र. में यह लिखा है कि—"इसलिये जो आधुनिक-ग्रन्थोंमें 'श्रीगणेशाय नमः, सीतारामाभ्यां नमः, राधाकृष्णाभ्यां नमः, श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः, हनुमते नमः, दुर्गायै नमः, बटुकाय नमः, भैरवाय नमः, शिवाय नमः, सरस्वत्यै नमः, नारायणाय नमः, इत्यादि लेख देखनेमें आते हैं—इनको बुद्धिमान् लोग वेद और शास्त्रोंसे विरुद्ध होनेसे मिथ्या ही समझते हैं; क्योंकि—वेद और ऋषियोंके ग्रन्थोंमें कहीं ऐसा मङ्गलाचरण दीखनेमें नहीं आता; और आर्ष-ग्रन्थोंमें ओ३म् तथा 'अथ' शब्द तो देखनेमें आता है" (प्रथम समु. पृ. १३) ऐसा कहते हुए उनकी शास्त्रविरुद्धता सिद्ध

हुई; क्योंकि—यह देवविशेष हैं। देवताओंका पूजन वा उपासना वेदको भी इष्ट है। इसके ज्ञानार्थ हमारा 'देवपूजा प्राचीन' यह निबन्ध अन्यत्र देखना चाहिये।

(३) 'देवताओंकी उपासना वेदको अभिमत है, अथवा युक्त है' इस विषयमें हम आर्यसमाजी-विद्वान् अथर्ववेदसं.के हिन्दी-भाष्यकार, उसके १४ तथा २४ पृष्ठमें 'सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः' (ऋ. १०।३७।२) इस वैदिक-नादका अनुसरण करनेवाले, श्रीराजारामजी शास्त्रीका मत उनके अथर्ववेदकी भाष्य-भूमिकासे उद्धृत करते हैं। इससे पाठकोंको पता चल जाएगा कि—विचारशील आर्यसमाजी-विद्वान भी देवताओं की उपासना-को वैदिक मानते हैं। अब देखें उनके शब्द—

'वेदमें परमात्माके वर्णनका प्रकार।—वेद दो प्रकारसे परमात्माका वर्णन करता है। एक—बाहरके सम्बन्धोंमें अलग हुए उसके केवल स्वरूपका, दूसरा—बाहरके जगत्से सम्बन्ध रखते हुए का।...जगत्को अलग रखकर उसके जिस रूपको देखें; तो वह उसके शुद्ध-स्वरूपका दर्शन है; और जगत्का अन्तर्यामी होकर उसपर शासन करता हुआ देखें; तो वह उसके विशिष्ट-रूपका दर्शन है।

शुद्ध ज्ञेय, और विशिष्ट उपास्य है। अब उसका शुद्ध स्वरूप तो सच्चिदानन्दस्वरूप वा नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव अथवा 'नेति-नेति'के सिवाय किसी प्रकारसे वर्णित नहीं हो सकता, और अगम्य एवम् अचिन्त्य होनेसे न हमारे जीवनपर उसका कोई प्रभाव

पड़ता है। न हम अपनी त्रुटियाँ पूरी करने और अपनेको उच्च अवस्थामें लानेकेलिए उससे प्रार्थना कर सकते हैं। क्योंकि-किसी मानुष-गुण प्रेम-दयालुता आदिका हम शुद्धके साथ सम्बन्ध नहीं कर सकते, न किसी प्रकारसे उसकी पूजा कर सकते हैं। यह बात याज्ञवल्क्यने गार्गीको शुद्धका उपदेश देते हुए बतलाई है—

'स होवाच-एतद् वै तदक्षरं गार्गि ! ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणु, अह्रस्वमदीर्घम्, अलोहितमस्नेहम्, अच्छाय-तमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गम्, अरसमगन्धम्, अचक्षुष्कमश्रोत्रम्, अवाग् अमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रम्, अनन्तरमबाह्यम्। न तद् अश्नाति किञ्चन, न तदश्नाति कश्चन' (बृह. उप. ३।८।८) इसका अभिप्राय यही है कि-इस रूपमें न हम उसके कुछ अर्पण करते हैं, न वह हमारे जीवन पर कोई प्रभाव डालता है। या यों कहो कि-इस रूपमें वह हमारे ज्ञानका परम लक्ष्य तो हो सकता है, पर उपास्य नहीं। उपास्य वह अपने विशिष्टरूपमें ही है।

विशिष्टरूपमें उसकी अनेक रूपोंमें उपासना—मनुष्यके हृदयमें उसके जिस रूपकेलिए भक्ति-पूजा और उपासना है, वह उसका विशिष्ट-रूप ही है; और यह रूप उसका अनेक रूपोंमें पूजा जाता है। इन्हीं रूपोंको देवता कहते हैं, जो वेदमें अग्नि, इन्द्र, वायु, सूर्य, मित्र, वरुण, पूषा आदि नामोंसे वर्णित किये हैं।

मनुष्य पहले-पहल इन अलग-अलग विशिष्ट-रूपोंमें उसका चिन्तन कर सकता है, और जब वह उसकी महिमाको अलग-अलग अनुभव कर चुकता है, तो फिर उसका हृदय एकसाथ

सारे विश्वमें उसकी महिमाको अनुभव करता हुआ ध्यान पूजन करता है। इस समष्टि-रूपको अदिति, प्रजापति, हिरण्यगर्भ आदि नामोंसे वर्णित किया है।

विशिष्टरूपों [देवतारूपों]में परमात्माके जाननेकी आवश्यकता पहले पहल केवल शुद्धरूपमें परमात्मा दुर्ज्ञेय है। उसका जा जगत्में ही सम्भव है। वह भी अनेक विशिष्टरूपों [देवताओं] क्योंकि-उसकी महिमा जो इस जगत्में देखी जाती है, इ बड़ी है कि समष्टिरूपमें उसका ज्ञान मनकी शक्तिके बाहर इसलिए अग्नि, वायु, सूर्य, सविता, मित्र, वरुण, द्यावापृथि अश्वि, इन्द्र, रुद्र, ब्रह्मणस्पति, वाचस्पति, वास्तोष्पति, क्षेत्र पति, इत्यादि परिमित-रूपोंमें उसकी महिमा वेदमें कही गई और स्तुति, नमस्कार और पूजा द्वारा उन सब रूपोंके साथ गह सम्बन्ध करनेका उपदेश है" (अथर्व. भाष्यभू. पृ. १२-१३) अन्य मतसे भी हमारे पक्षकी पुष्टि हो गई।

(४) स्वा०द०जीने भी स०प्र०के १०वें पृष्ठमें लिखा है कि 'गण संख्याने' इस धातुसे 'गण' शब्द सिद्ध होता है और इस आगे ईश वा पति शब्द रखनेसे गणेश और गणपति श सिद्ध होते हैं। 'ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते-संख्यायन्ते तेषामीशः-स्वामी, पतिः-पालको वा' इससे उस ईश्वरका ना गणेश वा गणपति है" इस कथन द्वारा गणपति-गणेश यह ना परमात्माका माना है; तब जिसने आदिमें 'श्रीगणेशाय नमः' य मङ्गल किया है, उसने परमात्माके नाम-स्मरणरूप मङ्गलाचरण कर

क्या हानि की है ? इस कारण गणेशको 'लम्बोदर' कहा जाता है कि बड़े पेटवाला, प्रलयमें सारा जगत् जिसके पेटमें समा जावे। गणपत्युपनिषद्में भी कहा है—'नमस्ते गणपतये...त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि'। तब जब सनातनधर्मी भी गणेशको परमात्मस्वरूप ही मानते हैं, तब जैसे स्वा.द.जीने स.प्र.की आदिमें 'सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः' और सं.वि.की आदिमें 'नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय' यह मङ्गलाचरण किया है, और ऋभाभू.में स्वामीने 'मदुपरि कृपां विधेहि, यथा निर्विघ्नं वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं कुर्वीमहि' (पृ. ७) अस्मिन् वेद-भाष्यकरणानुष्ठाने ये दुष्टा विघ्नास्तान् प्राप्तेः पूर्वमेव दूरं गमय' (पृ० ३) इसमें स्वामीने विघ्न दूर करनेकी प्रार्थना की है; इसमें भी दोष नहीं मानते; तब परमात्माके एक स्वरूप गणपतिके नमस्कारात्मक-मङ्गलमें—जिससे विघ्न दूर हो जावें—में भी कोई दोष नहीं दिया जा सकता।

इसके अतिरिक्त देवविशेष-गणपतिका पूजन भी युक्त एवं वैदिक है, एतदर्थ 'आलोक' ग्रन्थमालाके पञ्चम-सुमन (मूल्य १०) 'श्रीगणेशका मङ्गलाचरण' यह आदिम निबन्ध देखना चाहिये। तब इसमें वेदविरुद्धता क्या हुई ? क्या वेदमें लिखा कि—श्रीगणेश-आदिको आदिमें नमस्कृत नहीं करना चाहिये ?। यह तो प्रकारभेद है। सबका समान मङ्गल-प्रकार नहीं हुआ करता। महाभाष्य, पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, योग, साङ्ख्य, वेदान्त आदि दर्शनोंकी आदिमें स्वा.द.जीने स.प्र.के १३वें

पृष्ठमें 'अथ' शब्द दिखलाया है; पर वेदकी आदिमें स्वा०द०के अनुसार भी अग्नि (ऋ.) इट् (यजुः) अग्नि (साम) ये (अथर्व.) यह शब्द हैं। अब स्वा०द०जीको बताना चाहिये कि—उक्त-दर्शनोंकी आदिमें अग्नि, इट् आदि शब्द न दीखनेसे क्या वेदविरुद्धता नहीं है ? इसमें जो उनका उत्तर होगा, वही हमारा 'श्रीगणेशाय नमः'के लिखनेमें।

(५) मङ्गल तीन प्रकारका होता है—१. नमस्कारात्मक, २. आशीर्वादात्मक, ३. वस्तुनिर्देशात्मक। दर्शनोंमें वस्तु-निर्देशात्मक ही मङ्गल किया गया है। यदि अन्यत्र नमस्कारा-त्मक-मङ्गल हो, जिसमें नामस्मरण वा प्रार्थना प्रकारान्तरसे आ जावे; अथवा कोई माङ्गलिक शब्द प्रयुक्त हो, उसमें वेद-विरुद्धता क्या हो सकती है ? मङ्गलमें केवल 'अथ' शब्दका आग्रह करते हुए स्वामीने 'वृद्धिरादैच्' (पा० १।१।१) सूत्रमें 'वृद्धि' शब्दसे मङ्गलको करते हुए श्रीपाणिनिको तथा 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'में 'सिद्ध' शब्दसे मङ्गलाचरण करते हुए श्रीकात्यायनको भी वेदविरुद्ध सिद्ध कर दिया; क्योंकि इन दोनोंने 'अथ' अथवा 'ओम्' शब्दको स्वामीके अनुसार प्रयुक्त नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि—स्वामीका कथन अबहुश्रुतता-मूलक है। यदि यहाँ इन मुनियोंको मङ्गलाचरणमें स्वतन्त्रता है, तब फिर 'श्रीगणेशाय नमः'में माङ्गलिक 'श्री'शब्द लिखनेसे वा गणेशके नमस्कारसे प्रकारभेदका अनुसरण करनेवालोंको वेद-विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है ?

अष्टाध्यायीका आदिम सूत्र।

(५) कई व्यक्ति श्रीपाणिनिका आदिम-मङ्गल 'अथ' शब्दसे सिद्ध करना चाहते हुए उसका आदिम-सूत्र 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) न मानकर 'अथ शब्दानुशासनम्'को पाणिनिका आदिम सूत्र बड़े संरम्भसे सिद्ध करना चाहते हैं; हम उनका मत देते हैं और उस पर अपनी आलोचना भी देते हैं।—

पूर्वपक्ष—आधुनिक वैयाकरण मानते हैं कि—'अथ शब्दानुशासनम्' यह महाभाष्यकारका वाक्य है, यह ठीक नहीं। यह सूत्र पाणिनिका है। शब्दानुशासनका उपक्रम पाणिनिने किया है, पतञ्जलिने नहीं।

उत्तरपक्ष—शब्दानुशासन जैसा पाणिनिने किया है, वैसे कात्यायन और पतञ्जलिने भी। इसलिए 'त्रिमुनि व्याकरणम्' कहा जाता है। बल्कि यह वाक्य अष्टाध्यायीके महाभाष्यके उपोद्घातमें है; अतएव महाभाष्यकारका ही है।

पू०—यह सूत्र पाणिनिका ही है। सूत्रोंको उद्धृत करके ही उनका भाष्य करना—यह भाष्यकारोंकी शैली होती है। इस सूत्रको उद्धृत करके भाष्यकारने 'अथेत्ययमधिकारार्थः प्रयुज्यते' यह भाष्य किया है।

उ०—यदि 'अथ शब्दानुशासनम्' यह सूत्र अष्टाध्यायीका आदिम है, तो अष्टाध्यायीके सूत्रोंका भाष्य तो तृतीयाह्निकसे शुरू हुआ है, पहिले आह्निकमें तो भूमिका है, और द्वितीयमें प्रत्याहार, तीसरेमें सूत्रपाठ जारी हुआ है; तब 'अथ शब्दानु-

शासनम्' भी वहीं होता। पर नहीं है। 'अथ शब्दानुशासनम्' लिखकर 'अथेत्ययं शब्दोधिकारार्थः प्रयुज्यते' यह भाष्य लिखने पूर्वका वाक्य सूत्र हो जावेगा—'यह भी ठीक नहीं। पहला 'अ शब्दानुशासनम्' भी भाष्यकारका वाक्य है, 'अथेत्ययमधिकारार्थ प्रयुज्यते' यह भी भाष्यकारका वचन है; क्योंकि—भाष्यका लक्षण भी यही है—'स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः' अर्था भाष्यमें अपने विशेष वाक्यकी भी व्याख्या हुआ करती है। तब 'अ शब्दानुशासनम्' यह अपना विशेष वाक्य देकर 'अथेत्ययमधिकारार्थः इत्यादिरूपसे स्वयं व्याख्या करनी भी भाष्यकी शैली वा लक्षणके अनुरू है।

इसके अतिरिक्त भाष्यकार लोग आरम्भिक-सूत्रकी व्याख्या पूर्व भी अवतरणिका वा उपोद्घात दिया करते हैं, और उस स्थूल वाक्य देकर उसकी व्याख्या भी करने लग जाते हैं श्रीयास्कने वैदिकनिघण्टुकी व्याख्या करते हुए स्वयं 'समाम्नाय समाम्नातः... तमिमं निघण्टव इत्याचक्षते' यह अपना स्थू वाक्य लिखकर फिर उसकी स्वयं व्याख्या शुरू की है। इस उपो घातमें श्रीयास्कने पहला अध्याय तथा दूसरे अध्यायके कु खण्ड समाप्त कर डाले, फिर निघण्टुकी व्याख्या शुरू की श्रीसायणने ऋग्वेदभाष्य करना चाहते हुए पहले लम्बा-चौ उपोद्घात लिख ही डाला।

इसमें वादि-प्रतिवादिमान्य न्यायदर्शनका उदाहरण होत देखिये। न्यायदर्शनका 'प्रमाण-प्रमेय-संशय' (१।१।१) इस सूत्र

प्रारम्भ है; पर भाष्यकार श्रीवात्स्यायनने उससे पहले अवतरणिका शुरू करते हुए उसमें 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्याद् अर्थवत् प्रमाणम्' अपना यह विशेषवाक्य वा स्थूलवाक्य दिया। फिर उसी स्थूलवाक्यकी 'प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः, नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम्' इत्यादि-रूपसे स्वयं ही व्याख्या कर दी। इसी प्रकार 'अथ शब्दानुशासनम्' भी अष्टाध्यायीकी व्याख्यासे पूर्व भाष्यकारकी अवतरणिकाका स्थूल-वाक्य है। अवतरणिका (उपोद्घात) होनेमें प्रमाण इस आह्निकका नाम 'पस्पशाह्निक' होना है। 'पस्पशा'का अर्थ भूमिका वा अवतरणिका है। उसके बाद 'प्रत्याहाराह्निक' है। उसके बाद ही तृतीयाह्निकसे अष्टाध्यायी तथा उसके भाष्यका प्रारम्भ है।

पू०—उसी परिपाटीके माहात्म्यसे कि-सूत्र उद्धृत करके उसका भाष्य दिया जाता है—'अथ शब्दानुशासनम्' यह सूत्र भाष्यके प्रारम्भमें दीखता है।

उ०—ऐसी बात नहीं। यह श्रीपतञ्जलिका वाक्य तो 'अथ योगानुशासनम्' (१।१) इस श्रीपतञ्जलिके योगदर्शनके वाक्यकी परिपाटीका साथी है। इसीलिए 'योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन। योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां, पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि' यह प्रस्थानभेदके कर्ता श्रीमधुसूदनका वचन भी घट जाता है। सो दोनों पतञ्जलियोंके सूत्रोंकी तुल्यतासे यह 'अथ शब्दानुशासनम्' वचन पतञ्जलिका ही सिद्ध होता है, पाणिनिका नहीं, क्योंकि—पाणिनिकी ऐसी शैली नहीं।

शङ्करदिग्विजयोंके तथा पातञ्जल-विजय और चक्रपाणिदत्त, वाक्यपदीयकर्ता भर्तृहरि, तथा योगसूत्रवृत्तिरचयिता श्रीभोजके मतसे योगदर्शन तथा व्याकरणभाष्यका कर्ता एक ही पतञ्जलि है। इसमें भोजका वाक्य यह है—'शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता, वृत्तिं राजमृगाङ्कसंज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके। वाक्-चेतो-वपुषां मलः फणभृतां भर्त्रैव (पतञ्जलिना) येनोद्धृतः' इसी समानताकी परिपाटीके नाते 'अथ शब्दानुशासनम्' यह वाक्य भी पतञ्जलिका ही सिद्ध है।

यहाँ यह शंका कि-फिर पातञ्जलयोगसूत्रपर उससे प्राचीन श्रीव्यासका भाष्य कैसे हो सकता है—का उत्तर यह है कि-व्यास अष्ट-चिरञ्जीवियोंमें परिगणित होनेसे चिरञ्जीवी हैं। वे आज भी जीवित माने जाते हैं। इसीलिए 'अकमनु बिरहमने व्यास नाम अज-हिन्द आमद बस दाना कि अक्लचुना नेस्त' इस पारसधर्मकी धर्मपुस्तक 'जिन्दावस्ता'में भी व्यासजीका भारतसे आनेका वर्णन दिया गया है। यजुर्वेद-काठकसंहितामें 'व्यास-पाराशर्य' शब्दसे भी व्यासजीका उल्लेख है।

पू०—भ्रान्तिसे 'अथ शब्दानुशासनन्' स्थान-भ्रष्ट होगया है, तृतीय-आह्निकके स्थान प्रथम-आह्निकमें आ पड़ा है।

उ०—इसमें वादीकी ही भ्रान्ति है; नहीं तो मङ्गलपक्षपाती भाष्यकारका मङ्गल क्या रहेगा? 'प्रस्थानभेद'के कर्ता श्री-मधुसूदन भी 'तच्च 'वृद्धिरादैच्' इत्यादि अध्यायाष्टकात्मकं महेश्वर-प्रसादेन भगवता पाणिनिनैव प्रकाशितम्' यहाँ 'वृद्धिरादैच्'से

ही अष्टाध्यायीका प्रारम्भ स्वीकार करते हैं।

पू०—'अथ' उच्चारण करके आदिमें ग्रन्थप्रणेताओंकी ग्रन्थ-निर्माणकी परिपाटी पहले हुआ करती थी—यह सभी मानते हैं।

उ०—यदि ऐसा हो; तो 'अथ शब्दानुशासनम्' यह तो हुआ पाणिनिका सूत्र; फिर भाष्यकारका मङ्गलाचरण क्या रह जाएगा? और फिर आदिमें 'अथ' शब्दसे मङ्गलाचरण भी सर्वत्र व्याप्तिमान् नहीं। नहीं तो 'प्रमाणप्रमेय'—इस न्यायदर्शनके सूत्रकी आदिमें 'अथ' शब्द क्यों नहीं रखा गया? श्रीपाणिनिने अपने धातुपाठकी आदिमें 'अथ भू सत्तायाम्' शब्द क्यों नहीं रखा? अपने गणपाठ तथा 'लिङ्गानुशासन'की आदिमें 'अथ लिङ्गम्' आदि शब्द क्यों नहीं रखा? श्रीकात्यायनने अपने वार्तिकपाठके आरम्भमें 'अथ' शब्द क्यों नहीं रखा? इससे स्पष्ट है कि—'अथ' शब्द अपनी किसी पुस्तककी आदिमें रखना यह पाणिनिकी शैली नहीं। पाणिनिकी शिक्षामें 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा' इसमें यद्यपि आदिमें 'अथ' शब्द दीखता है, पर प्रतिपक्षी लोग इसे पाणिनिकी न मानकर पाणिनिके पीछेके किसी 'त्रिनयन'की रचना मानते हैं। प्रतिपक्षी लोग पाणिनिकी शिक्षाका 'आकाशवायुप्रभवः शरीरात्' (१) से आरम्भ मानते हैं; इसमें भी 'अथ' शब्द नहीं। इससे स्पष्ट है कि—आदिमें 'अथ' शब्द देनेकी पाणिनिकी शैली नहीं। बल्कि पाणिनिसे प्राचीन 'आपिशलशिक्षा'में भी 'आकाशवायु' (१) से आरम्भ है—इससे

भी सिद्ध हो रहा है कि मङ्गलाचरणरूपसे आदिमें 'अथ' श[ब्द] लिखनेकी शैली न तो प्राचीन है, और न अनिवार्य ही है। किसी प्राचीन-व्याकरणकी आदिमें भी 'अथ' शब्द क्यों न[हीं] दीखता? वेदोंकी आदिमें भी 'अथ' शब्द क्यों नहीं दीखता। 'समाम्नायः समाम्नातः'में भी निरुक्तकी आदिमें तथा 'गौः ग्मा' इस निघण्टुकी आदिमें भी 'अथ' शब्द नहीं दीखता।

इस प्रकार 'बोधायनधर्मसूत्र' की आदिमें 'उपदिष्टो धर्मः' यहाँ भी 'अथ' शब्द नहीं। अङ्गिराः, अत्रि, मनु, आपस्तम्ब, औशनस, दक्ष, देवल, प्रजापति, बृहस्पति, यम, विष्णु, शङ्ख, शातातप, हारीत, आश्वलायन, लिखित, व्यास-संवर्त—गौतम-धर्मसूत्र, उणादिसूत्र, फिट्-सूत्रोंमें इस प्रकार गृह्य-सूत्रोंकी आदिमें प्रायः 'अथ' शब्द नहीं गृहीत हुआ। देखिये वाराह, मानव, बोधायनादि गृह्यसूत्रोंको। ब्राह्मणभागकी आदिमें 'अथ' शब्द नहीं दीखता। इस प्रकार 'अथ' शब्द कहीं आदिमें दीखता है; और प्रायः नहीं दीखता। तब अव्याप्त होनेसे तथा पाणिनिके गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासनकी आदिमें न दीखनेसे 'अथ शब्दानुशासनम्' यह यहाँका वाक्य पाणिनिकी शैलीका अनुसारी नहीं। यह स्पष्ट सिद्ध है।

पू०—कहीं इस पद्धतिका विलोप भी हुआ, तथापि 'प्रायः इस पद्धतिका विलोप हुआ'—यह नहीं कहा जा सकता।

उ०—ऐसा कहना अपने बचावकेलिए है। तब पाणिनिके समयमें भी इस पद्धतिका विलोप ही समझना चाहिये, बल्कि

लोप क्या, वैसी पद्धति थी ही नहीं; जिसमें उसके लिंगानुशासन धातुपाठ, सौत्र-शिक्षा आदिकी साक्षी भी हम दिखला चुके हैं। अन्योंकी भी आदिमें 'अथ'की शैली काचित्क है—प्रायिक नहीं—यह भी हम दिखला चुके हैं; विशेष करके पाणिनि-कात्यायनकी तो वैसी शैली थी ही नहीं। श्रीकात्यायनने तो आदिमें 'सिद्ध' शब्द रखा है, जिसे भाष्यकारने मंगलकेलिए माना है; और श्रीपाणिनिने ग्रन्थादिमें 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) में 'वृद्धि' शब्द रखा है, जिसे भाष्यकारने ग्रन्थकी आदिका मंगलाचरण माना है। यदि 'अथ शब्दानुशासनम्' पाणिनिके ग्रन्थका ही आदिम-सूत्र होता, और उसमें 'अथ' मंगलार्थक होता; तो भाष्यकार इसे ही ग्रन्थादिका मंगल सिद्ध करते; पर उन्होंने यह कहाँ लिखा है कि—'अथेतियुक्तं सूत्रमाचार्यं-पाणिनेर्ग्रन्थादिमंगलाचरणरूपं प्रतिज्ञावाक्यरूपं च' न तो भाष्यकारने ऐसा कहीं लिखा है; न उनके 'अथेत्ययमधिकारार्थः प्रयुज्यते' का यह कभी आशय हो सकता है। 'प्रयुज्यते'के कर्ता पाणिनि भी नहीं। पाणिनि होते, तो 'आचार्येण प्रयुक्तः' यह होता। 'प्रयुज्यते'का अर्थ 'प्रयुक्त होता है' यह है; अतः इसका कर्ता पाणिनि नहीं हो सकता। यदि पाणिनि हो तो इसका अर्थ होगा कि—पाणिनिसे प्रयुक्त किया जाता है; पर अपनी किसी भी पुस्तकमें श्रीपाणिनिने 'अथ' शब्दका प्रयोग नहीं किया; अतः यह काल पाणिनिके 'अथ' शब्दके प्रयोगमें सम्बद्ध नहीं हो सकता।

वस्तुतः यदि 'अथ शब्दानुशासनम्' यह सूत्र भाष्यकारानुसार पाणिनिका होनेसे भाष्यकारको पाणिनिका ग्रन्थादिम मंगल यही इष्ट होता; तो वे तृतीय-आह्निकमें 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) सूत्र पर 'मांगलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दम् आदितः प्रयुङ्क्ते, मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते' यह न लिखते, किन्तु इसे वे प्रथमाह्निकमें 'अथ शब्दानुशासनम्' पर ही कहते। जैसेकि—उन्होंने प्रथमाह्निकमें 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'में वार्तिककारके ग्रन्थादिका मंगल लिखा है। तब इस प्रथम-आह्निकमें पाणिनिके आदि-मंगल लिखे जा चुके होनेके कारण तृतीय-आह्निकमें पाणिनिके आदि-मङ्गल सिद्ध करनेकी कोई गुञ्जायश ही नहीं थी। तब तो जब वादीने 'अदेङ् गुणः' आदि संज्ञा-सूत्रोंमें गुण आदि संज्ञा-शब्दोंकी पीछे रखनेकी शैली बताकर 'वृद्धिरादैच्'में उस शैलीके न रखनेकेलिए आक्षेप किया; तो भाष्यकारने उस संज्ञा-शब्द 'वृद्धि'केलिए समाधान किया कि—'एतद् एकमाचार्यस्य शास्त्रादौ मङ्गलार्थं मृष्यताम्' अर्थात् पाणिनिने यहाँ जो संज्ञा-शब्द 'वृद्धि'को शास्त्र (ग्रन्थ) की आदिमें रखा; उसमें कारण अपने ग्रन्थकी आदिमें मंगलाचरण करना है।

यदि शास्त्रके आदिका मंगल पाणिनिका 'अथ शब्दानुशासनम्' में ही हो जाता; तब फिर वादीके आक्षेपका भाष्यकार उक्त समाधान कभी न कर सकते। यदि करते; तब वादी यह आक्षेप करता कि—पाणिनिका शास्त्रके आदिका मङ्गल तो 'अथ शब्दानुशासनम्'-के 'अथ' शब्दमें पूर्व हो ही चुका है; यहाँ फिर उसीके आदि-मंगलका आपका व्याज निर्मूल है; अतः यहाँ भी 'अदेङ् गुणः'की

भांति 'आदैज् वृद्धिः' यही सूत्र पाणिनिको रखना चाहिये था, तब यहाँ हम (वादी) पाणिनिके मङ्गलार्थक 'वृद्धि' शब्दको कैसे मानें ?—'शास्त्रादिमङ्गले जातपूर्वे अत्र वृद्धि-शब्दं वयं मङ्गलार्थकम् आदौ प्रयुक्तं कथं मृष्येम ? तब यहाँ भाष्यकार मुद्रितमुख हो जाते; परन्तु जो कि वहाँ 'एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थकं मृष्यताम्' इस भाष्यकारके उत्तरपक्षकी उक्तिमें ही पूर्वपक्षीका मुख बन्द हो गया, इससे स्पष्ट है कि पाणिनिका अपने शास्त्रका आदिम मङ्गल 'वृद्धि' शब्द है; अतएव उनके शास्त्र का आदिम सूत्र 'वृद्धिरादैच्' ही सिद्ध है। अतः 'आदि' शब्द यहां लाक्षणिक नहीं है जैसा कि कई कहते हैं। अन्यथा 'आदैच् वृद्धिः' न कहकर 'वृद्धिरादैच्' कहना व्यर्थ था; बल्कि 'अथ शब्दानुशासनम्' में यदि यह पाणिनिका सूत्र है—पाणिनिका आदिमङ्गल हो चुका; तब या तो 'अथ' को मङ्गलवाचक न मानना पड़ेगा; अथवा उसे पाणिनिका आदि-सूत्र न मानना पड़ेगा। 'सेयमुभयतःस्पाशा रज्जुः'। यह बात यदि न मानी जावेगी; तो भाष्यकारने पाणिनिको भी शास्त्रादिमें मङ्गलाचरण करने वाला सिद्ध किया है, और वार्तिककार कात्यायनको भी। तब वे स्वयं भला मङ्गलाचरणसे कैसे चूकते ? यदि वादी 'अथ' से पाणिनिका मङ्गल बताते हैं; तब उनके मतानुसार फिर भाष्यकारका मङ्गल कोई नहीं रहता—यह वादीकी ही अनिष्टापत्ति हो जावेगी।

पू०—'अथ शब्दा—' में पाणिनिका मङ्गल हो गया, फिर

उसने शब्दानुशासन कहना था; तब उसने 'अइउण्' इन १४ सूत्रोंका अवतरण किया। इस प्रकार आदिमें मङ्गलाचरण करके और ग्रन्थादिमें अपेक्षित वर्णक्रमोंका निर्देश करके, फिर भाषाके नियम-विधानकेलिए सूत्रारम्भ किया, यह आरम्भ भी आरम्भ है, अतः यहां 'मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते' यह भाष्यकारका वचन अतिभ्रम डालने वाला नहीं है।

उ०—ऐसा मानने पर अवश्य ही वह अतिभ्रम डालने वाला सिद्ध होगा। तब यह ग्रन्थका आदि न होकर 'मध्य' होता; 'भूवादयो धातवः' (१।३।१) के वकारके लिए—'भूवादीनां वकारोयं मङ्गलार्थः प्रयुज्यते' तथा 'मङ्गलमध्यानि हि शास्त्राणि प्रथन्ते' की भांति मध्यका मंङ्गलाचरण हो जाता। पर भाष्यकारने 'वृद्धि' शब्दमें 'भूवादि' सूत्र स्थित 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि हि शास्त्राणि प्रथन्ते' यह न पढ़कर केवल 'मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते' यह पढ़ा है, तथा १।३।१ सूत्र के 'माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वकारमागमं प्रयुङ्क्ते' की तरह न पढ़कर 'महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दम् आदितः प्रयुङ्क्ते' पढ़ा है; इससे सिद्ध है कि—'वृद्धिरादैच्' सूत्र ही पाणिनिके शास्त्र का आदिमसूत्र है, 'अथ शब्दानुशासनम्' नहीं। आरम्भ आरम्भिक ही होता है; वादीके कहे जैसा नहीं। वादीके अनुसार ग्रन्थारम्भ तो 'अथ शब्दानुशासनम्' से हो गया। फिर 'वृद्धिरादैच्' से ग्रन्थारम्भ कैसे होता ? क्या ग्रन्थके दो आरम्भ

होते हैं ? और दोनों ही आरम्भोंमें मङ्गलाचरण करना अनिवार्य होता है ? वादी कोई ऐसा उदाहरण अन्यत्र दिखलावें ? 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मीमांसा १।१।१) यह मीमांसा-दर्शन का 'अथ योगानुशासनम्' यह योगदर्शनका प्राथमिक मङ्गलाचरणरूप तथा प्रतिज्ञावाक्यरूप है। फिर उन्होंने धर्म वा योगकी जिज्ञासाकी पूर्तिके आरम्भमें दूसरा मङ्गलाचरण कहाँ किया है ? इससे वादीका व्याज खण्डित हो जाता है।

फलतः 'अथ शब्दानुशासनम्' यह वाक्य महाभाष्यकारका ही है, पाणिनिका नहीं। वही महाभाष्यका आदिम-मङ्गल है, क्योंकि—प्रथमाह्निकका नाम ही, 'परपशाह्निक' है। इसका वास्तविक अर्थ है-भूमिका वा उपोद्घात। सो यह अष्टाध्यायीका व्याख्यान नहीं; किन्तु अष्टाध्यायी प्रारम्भ होनेसे पूर्वकी भाष्यकारकी भूमिका है, उसमें अष्टाध्यायी-सूत्रका क्या काम ? दूसरा है प्रत्याहाराह्निक। प्रत्याहार पाणिनिने अष्टाध्यायीसे पूर्व पढ़े हैं; तभी उनकी अष्टाध्यायीमें सूत्र-संख्यामें गिनती नहीं की गई। तब उससे पूर्व भला पाणिनिका सूत्र कैसे हो सकता है; क्योंकि उसकी भी तो कहीं १।१।१ में गणना नहीं की गई है। 'अइउण्'-के अष्टाध्यायीसे पूर्व रखनेका कारण यह है कि-यह प्रत्याहार-सूत्र पाणिनिके नहीं हैं; किन्तु महेश्वर (शिव) से पाणिनिको प्राप्त हुए हैं, यह अनादि हैं, तभी तो यह वेदतुल्य होनेसे इनका नाम भी अक्षर-समाम्नाय रखा गया है। तभी पाणिनि-शिक्षामें कहा है—

'येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्। कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः'। उक्त शिक्षामें 'पाणिनीयं मतं यथा' तथा पाणिनिको नमस्कार देखकर 'यह पाणिनिकी नहीं हो सकती'—यह कहना भी ठीक नहीं। प्राचीन शैली अपने ग्रन्थोंकी शिष्यों द्वारा प्रकट करनेकी होती थी; देखो इसपर मनु आदियोंकी स्मृतियाँ। सूत्रकालमें उत्पन्न पाणिनि सूत्र बनावे, श्लोक न बनावे, यह कोई नियम भी नहीं; जब कि वह एक बड़े काव्य (जाम्बवती-परिणय) का निर्माता है। बल्कि प्रतिपक्षी जिसे 'पाणिनिशिक्षा-सूत्र' कहा करते हैं; उसीमें पहला सूत्र 'आकाशवायुप्रभवः' यह उपजातिछन्द-आत्मक है। फिर भी जो कि प्रत्याहारके सूत्रोंको पाणिनि-कर्तृक कहीं-कहीं कहा जाता है; उसमें यह कारण है कि—अब वे उसे प्राप्त हो चुके, और उसने कइयोंके अनुसार उनमें अनुबन्धकी योजना की—अतः अब उसीके हो चुके। यही कारण उनका पाणिनिस्वामिकता कहनेका सम्भव है; अन्यथा अनादिकालसे चले आते हुए 'अ इ उ' आदि अक्षरों-को भला 'कृत' कहा ही कैसे जा सकता है ? वैसे तो महाभाष्य-कार अनादि छन्द (वेद) की आनुपूर्वीको भी अपनी शैलीके अनुसार कृतक मानते हैं। देखो—महाभाष्य (४।३।१०१) अस्तु। सो 'अ इ उण्' सूत्रोंके भी पाणिनि-प्रणीत न होनेसे उनमें अष्टाध्यायीकी संख्या नहीं दी। तब महाभाष्यके तृतीयाह्निकसे ही पाणिनि-प्रणीत अष्टाध्यायीके प्रथम-अध्यायके प्रथमपादके आदिम प्रथमसूत्रका प्रारम्भ हुआ। अतः पाणिनिने भी आदि

होनेसे वहीं मङ्गलाचरण करना था। नहीं तो 'अदेङ् गुणः' आदिकी भांति 'आदैच् वृद्धिः' सूत्र अपनी शैलीसे पाणिनिको पढ़ना चाहिये था; पर यहाँ शैलीभेद किसी विशेषताको बतानेकेलिए है। वह विशेषता है मङ्गलकी, जिसे महाभाष्यकारने बताया है, और मङ्गल किया गया है आदिमताके कारण। तब उससे पहलेका ग्रन्थ पाणिनिसे भिन्नका प्रणीत सिद्ध हुआ।

उसमें प्रत्याहारसूत्र तो माहेश्वर प्रसिद्ध हैं ही; इसमें पूर्व-प्रोक्त पाणिनि-शिक्षाके वचनके अतिरिक्त नन्दिकेश्वरकी काशिका-का भी प्रमाण प्रसिद्ध है—'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्। उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्'। 'सिद्धान्तकौमुदी' 'मध्यकौमुदी' तथा लघु-कौमुदीके आदिमें भी 'इति माहेश्वराणि सूत्राणि' यह कथन आया है, महाभाष्यका प्रत्याहाराह्निकके अन्तमें उसे अक्षर-समाम्नाय तथा 'ब्रह्मराशिः' (वेद) कहना; और उसके पढ़नेमें 'सर्ववेदफलावाप्ति' मानना यह उसका उपोद्बलक (पोषक-प्रमाण) है। श्रीनागेशभट्टने भी कहा है—'एवमस्याक्षरसमाम्नायस्य न कश्चिद् आधुनिकः शरीरी कर्ताऽस्ति, एवमेव वेदपारम्पर्येण स्मर्यमाणम्' (ल. श. शे.)। महाभाष्यमें जहाँ प्रत्याहारकी योजना-में 'आचार्यः' शब्दसे पाणिनिका भ्रम होता है; वहाँ श्री-नागेशभट्टने 'आचार्य'से 'महेश्वर'को लिया है। इस प्रकार ऋक्तन्त्र-व्याकरणमें शाकटायनने भी लिखा है—'इदमक्षरच्छन्दो वर्णशः समनुक्रान्तम्, यथा आचार्या ऊचुः, ब्रह्मा बृहस्पतये

प्रोवाच' इत्यादि।

प्रथम-आह्निकमें 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' यह वार्तिककारका 'सिद्ध' शब्दसे मङ्गल है; क्योंकि—श्रीकात्यायनको भी श्रीभाष्य-कारने मङ्गलाचरणका पक्षपाती बताया है; यह भी आदिका मङ्गल है। 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः' को वार्तिककारका वार्तिक वा आदिवार्तिक बताना अज्ञान है; नहीं तो भाष्यकार उसका यहां आदिमङ्गल सिद्ध करते, पर नहीं किया; तो क्या भाष्य-कारकी बात गलत है कि—श्रीकात्यायन माङ्गलिक हैं? नहीं, गलत नहीं; तब 'मंगलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते, मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते' यह भाष्यकारका कथन वादियोंका पक्ष काट रहा है। 'आदि' शब्द पूर्वकी भांति यहाँ भी लाक्षणिक नहीं है। व्याकरणके प्रयोजन न तो पाणिनिने बताये और न ही कात्यायनने, किन्तु व्याख्याकार पतञ्जलिने ही भूमिकारूप पस्पशाह्निकमें बताये। प्रथम (पस्पशाह्निक) तथा द्वितीय (प्रत्या-हाराह्निक)में पाणिनिका कुछ भी नहीं। सूत्रकारका कार्य तो तृतीयाह्निकसे शुरू हुआ है। यहाँ ('सिद्धे शब्दार्थे'में) भी वार्तिककारने 'अथ' शब्द नहीं दिया। तब उससे पूर्वका 'अथ शब्दानुशासनम्' यह भाष्यकारका ही वाक्य सिद्ध हुआ। भाष्यकारके समयमें आदिमङ्गलमें अथवा अधिकारार्थ 'अथ' शब्द देनेकी कहीं-कहीं शैली थी, वह भी अनिवार्य नहीं थी—यह इससे सूचित होता है। काशिकाके आदिमें 'अथ शब्दानु-शासनम्' लिखनेसे यह पाणिनिका सूत्र सिद्ध नहीं होता; किन्तु

'वृत्तौ भाष्ये तथा धातु'-इस अपने (काशिकाके) पद्यके अनुसार यह भाष्यका ही वचन संगृहीत है। तभी उसने 'प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः' 'वृद्धिरादैच्' सूत्रसे शुरू किया है। इसी प्रकार अष्टाध्यायीके कई हस्त-लेखोंमें भी यह समझ लेना चाहिये। 'रक्षोहागम' यह व्याकरणके प्रयोजन महाभाष्यकारने ही बताये हैं—'तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद्भूत्वा आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे' यहाँ पर 'आचार्य' पदसे शास्त्राध्यापक श्रीपतञ्जलि इष्ट हैं—और 'इदं शास्त्रम्'से 'प्रयोजनान्वाख्यानरूप शास्त्र' अभिमत है—जो भाष्यकारने ही अन्वाख्यात किया। सो यहाँ 'आचार्य'-शब्द भाष्यकारने अपने लिए ही 'रामः स्वयं याचते' इस रामके कथनकी भांति प्रथम-पुरुषमें दिया है।

मालूम होता है कि-'अथ शब्दानुशासनम्'की पाणिनीयतामें वादी श्रीमेधातिथिके कथनसे भ्रममें पड़ गया है। श्रीमेधातिथिने इसे भ्रमसे ही पाणिनिका सूत्र कह दिया। वास्तवमें यह भाष्यकारका वार्तिक है, यह उद्योतकार आदियोंने स्पष्ट कर दिया है। इसलिए सायण-माधवने भी अपने 'सर्वदर्शन-संग्रह'में पाणिनिदर्शनके प्रकरणमें-'पतञ्जलेर्भगवतो महाभाष्यकारस्य इदमादिमं वाक्यम् 'अथ शब्दानुशासनम्' (पात. म. भा.) यह कहा है। पर श्रीसायणने अपने ऋग्वेदभाष्योपोद्घातमें 'रक्षोहागम'को भ्रमसे वररुचि (कात्यायन) का वाक्य लिख दिया है, वस्तुतः यह भी भाष्यकारका ही है। मेधातिथिने कदाचित् 'अथ

शब्दानुशासनम्'को 'पूर्वपाणिनीय' नामक पुस्तकमें देखा हो; और उसे पाणिनिका जाना हो; इस कारण यह लिखा हो। परन्तु हमारे विचारमें 'पूर्वपाणिनीयम्' यह महाभाष्यसे अर्वाचीन पुस्तक है, पाणिनि-प्रणीत नहीं। उसमें 'अथ शब्दानुशासनम्'को महाभाष्यसे ही लिया गया होगा, इस प्रकार अन्यत्र भी। यदि वह महाभाष्यसे पूर्व होता तो महाभाष्यकार उसे स्मरण करता। परन्तु ऐसा नहीं। वस्तुतः 'पाणिनीय' शब्द व्याकरणका पर्याय-वाचक इष्ट है; क्योंकि पाणिनिने इस प्रकारका व्याकरण चमकाया कि-उसका सर्वत्र प्रभाव पड़ गया। जैसे छन्दःशास्त्रको श्रीपिङ्गलने ऐसा परिमार्जित किया कि-छन्दःशास्त्रका नाम भी 'पिङ्गल' प्रसिद्ध होगया। जैसेकि श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसकने अपने 'वैदिक-छन्दोमीमांसा'के ४२ पृष्ठमें लिखा है—'छन्दः-शास्त्रकारोंमें आचार्य पिंगलकी अतिप्रसिद्धिके कारण उत्तरकालमें 'पिंगल' शब्द छन्दःशास्त्रका पर्याय-वाचक बन गया है। प्राकृत आदिके अनेक छन्दः-शास्त्र पिंगलनामपर ही रखे गये'। इसी प्रकार किसी अर्वाचीनने 'पूर्व-पाणिनीय' और 'उत्तर-पाणिनीय' व्याकरणके पर्यायमें रखा होगा।

मंगलमें सर्वत्र 'अथ' नहीं होता।

(६) प्रसक्तानुप्रसक्त हमने इस विषयमें इतना विचार कर दिया; अब प्रकरण पर चलते हैं—स्वा.द.ने वेदानुसार आदिमें कहीं 'अग्नि' शब्द नहीं लिखा—'अग्नये नमः'; तो वहाँ भी वेदविरोध होगया। दर्शनोंने भी आदिमें 'ॐ' शब्द नहीं लिखा; तब क्या

वे भी वादीके अनुसार वेदविरुद्ध हैं ? वेदोंकी आदिमें न 'अथ' शब्द लिखा है, न 'ॐ' शब्द (क्योंकि-वेदके आरम्भमें 'ओम्' शब्द मन्त्रके अक्षरोंसे अलग ही होता है, तभी वह न तो १।१।१ मन्त्र सूचीमें कहीं आया है, न ही पदपाठमें; इसलिए उसे वादीके अनुसार भी परमात्मासे स्थापित नहीं माना जा सकता); 'अथ' शब्द भी उनकी आदिमें नहीं; तब तो वेद भी वादीके अनुसार आर्षशैलीसे विरुद्ध सिद्ध हुए। "मङ्गलाचरण इसी प्रकार ही करना चाहिये, 'श्रीगणेशाय नमः' रूपमें नहीं" ऐसा प्रमाण क्या वादी कभी दिखला सकता है ?

इस बातको कहता हुआ वादी 'प्रमाणप्रमेय' (१।१।१) इस न्यायदर्शनके आरम्भमें तथा 'प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ' यहाँ न्याय-भाष्यके आरम्भमें 'अथ' अथवा 'ओम्' शब्द न लिखनेवाले श्रीगोतम एवं श्रीवात्स्यायनको आर्षशैलीसे विरुद्ध सिद्ध कर देगा ? हमारे अनुसार तो यहाँ पर 'प्रमाणं प्राणनिलयः' (१०३) यह विष्णुसहस्रनामान्तर्गत होनेसे विष्णुका अथवा 'प्रमाणं परमं तपः' (महा. अनु. १७।३६) यह शिवका नामस्मरणात्मक मङ्गल भी हो सकता है। छान्दोग्य-माण्डूक्य उपनिषद्से भिन्न ईश, केन आदि उपनिषदोंमें मन्त्रान्तर्गत न तो 'ओम्' आया है, और न 'अथ' शब्द ही। 'हरिः ॐ' शब्दको वादी तान्त्रिक*

*इस 'हरिः ओम्'के विषयमें पञ्चम-पुष्प मँगाना चाहिये। मूल्य १०)। वस्तुतः 'हरिः'का अर्थ भी परमात्माका है; तब 'हरिः ओम्'के प्रयोगमें

मानते हैं। इस प्रकार मन्त्रसे अलग ठहरा हुआ 'ॐ' शब्द भी वादियोंको प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा। नहीं तो उन्हीं पुस्तकोंमें पहले लिखे हुए 'हरिः ओम्'में 'हरि' शब्द, तथा 'श्रीगणेशाय नमः' आदिको भी वादी लोग ग्रन्थकारके क्यों नहीं मानते ? इस प्रकार गृह्यसूत्रोंकी आदिमें भी प्रायः 'अथ' शब्द नहीं मिलता; तब क्या वादी उन पुस्तकोंको अनार्ष मान लेंगे ? वेदके अनुसार 'अग्नि इट्, ये' शब्दोंसे कहीं आदि-मङ्गल नहीं मिलता; तब स्वा.द.जीके अनुसार क्या सर्वत्र अवैदिकता होगी ? यदि ऐसा है, तो *'उष्ट्र-लगुड' न्यायसे स्वामीका भी अपना खण्डन हो गया; क्योंकि-स्वामीने भी 'अग्नि' आदिसे मङ्गलाचरण नहीं किया।

यदि स्वामी दर्शनोंकी आदिमें वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल मानेंगे; तब तीन वेदोंके आरम्भमें 'अग्नि, इट्' शब्दके किसी प्रकार माङ्गलिक होने पर भी अथर्ववेद (शौ.सं.)के आरम्भमें 'ये' शब्दको वे माङ्गलिक कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? यदि स्वामी कहें कि-'अग्निमीले' इत्येवमादिं कृत्वा ऋग्वेदमधीयते-'इषे त्वोर्जे त्वा' इत्येवमादिं कृत्वा यजुर्वेदमधीयते, 'अग्न आयाहि'

तान्त्रिकता क्या हुई ? महाभारतके हरिवंशपर्वमें कहा है-'वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ ! आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते' (१३२।९५)। यही महाभारतमें भी कहा है। 'हरि' शब्द ऋग्वेदसं०के नवममण्डलमें भी प्रयुक्त है; तब इसमें तान्त्रिकता क्या हुई ? वेदमें 'हरि' सोमकेलिए है; और 'सोम' 'सोमो भूत्वा रसात्मकः' (१५।१३) भगवद्रूप है, अतः 'हरि'का अर्थ भी भगवान् है।

* उष्ट्रेणैव उह्यमानेन लगुडेन तत्प्रहारः।

इत्येवमादिं कृत्वा सामवेदमधीयते। 'शं नो देवी' इत्येवमादिं कृत्वाऽथर्ववेदमधीयते' (गोपथ. १।१।२९) 'शमित्येवमादीन् शब्दान् पठन्ति' (महाभाष्य पस्पशाह्निक) 'शंनोदेवीयकमधीष्व' (महाभाष्य१।३।२) इत्यादि वचनोंसे अथर्ववेदका आदिममन्त्र 'शं नो देवी' है, और वहाँ 'शं' मङ्गलार्थक है; तो 'ये त्रिषप्ताः' मन्त्रवाला अथर्ववेद (शौनक संहिता) स्वामीके अनुसार वेद न रहेगा; और पैप्पलाद-संहिता (जिसका यह 'शं नो' आदिम मन्त्र है)-वेद हो जावेगी; *तब शाखाओंको वेद मानकर अपना इससे विरुद्ध स्वामीका सिद्धान्त खण्डित हो जायगा। इससे स्पष्ट है कि-वस्तुनिर्देशात्मक भी मङ्गल कहीं होता—है; दर्शनकारोंने तथा महाकाव्योंके निर्माताओंने उसीका आदर किया है।

(६) जो कि स्वा.द.जीने 'अथ' शब्दके आदिमें देनेसे जिन ग्रन्थोंकी आर्षता एवं उस 'अथ' शब्दकी मङ्गलार्थकता दिखलाई है; वह मत भी उन्हीं ग्रन्थकारोंने स्वयं खण्डित कर दिया है। यहाँ 'मुदई सुस्त, गवाह चुस्त' वाली कहावत स्वामीजीमें चरितार्थ हो रही है। हम सनातनधर्मियोंके मतमें-जिन्हें वादी 'पौराणिक' कहकर आक्षिप्त करते हैं; उनके अनुसार तो 'ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं [अण्डं] भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ' (गृह्यासंग्रह २।६) इस उक्तिसे 'अथ' शब्द किसी प्रकार माङ्गलिक सिद्ध हो जावे; परन्तु स्वामीसे प्रमाणित दार्शनिकोंने तो 'अथ' शब्दको माङ्गलिक बुद्धिसे प्रयुक्त

* इस विषयमें 'आलोक'का चतुर्थ पुष्प देखिये।

नहीं किया; किन्तु उसे अधिकार वा आनन्तर्य (अनन्तरता) अर्थमें प्रयुक्त किया है। केवल वैसे अर्थमें प्रयुक्त ही नहीं किया, किन्तु स्पष्ट कण्ठसे भी कहा है। देखिये—

स.प्र.के १३वें पृष्ठमें स्वामीने महाभाष्यका 'अथ शब्दानुशासनम्' प्रमाण दिया है; परन्तु महाभाष्यकारने 'अथ इत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते' कहकर उसका मङ्गलार्थ प्रयोग नहीं माना। नामिकमें स्वामीने ४ पृष्ठमें लिखा है—'अथ शब्दानुशासनम्' यहाँ 'अथ' शब्द अधिकारकेलिए है'। 'अव्ययार्थ'के १ पृष्ठमें भी स्वा.द.जीने लिखा है—'अथ शब्दः अधिकारेपि'—'अथ शब्दानुशासनम्'। मङ्गल तो यहाँ हमारे कहे अनुसार वस्तुनिर्देशात्मक ही है।

इस प्रकार पूर्वमीमांसाके 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (१।१।१) सूत्रको उद्धृत करके स्वयं स्वा.द.ने लिखा है-'अथेति आनन्तर्ये'। तब यहाँ मीमांसाकारको भी 'अथ' शब्द मङ्गलार्थक इष्ट न हुआ। उसके भाष्यकार शबर-स्वामीने भी लिखा है—'लोकेऽयमथशब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियार्थो दृष्टः...मादृशां तु धर्मजिज्ञासामधिकृत्य 'अथ' शब्दं प्रयुक्तवान् आचार्यः...तस्माद् वेदाध्ययनमभिनिर्वर्त्य अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इति 'अथ' शब्दस्य सामर्थ्यम्। अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इति अथशब्दस्यार्थः'। इस कारण स्वामीका मत कट गया। मङ्गल यहाँ भी वस्तुनिर्देशात्मक समझना चाहिये।

पूर्वकी ही भांति स्वामीने 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'

(१।१।१) इस वैशेषिकसूत्रको लिखकर उसके आगे 'अथ इति धर्मकथनानन्तरम्' यह लिखकर वैशेषिकके अभिप्रायके अनुसार 'अथ'का अनन्तर ही अर्थ बताया है, मङ्गल नहीं। पौराणिक कहे जाते हुए हम लोगोंके अनुसार 'अथ' शब्द भले ही माङ्गलिक हो, लेकिन वैदिकम्मन्य स्वामीने उसकी मङ्गलार्थकतामें कोई वैदिक वा दार्शनिक प्रमाण नहीं दिया। यदि उन दर्शनोंके भाष्यकारोंका भी इस विषयका कुछ प्रमाण लिखा जाता; तब भी कुछ बात थी, परन्तु स्वामीने उन्हींका 'अथ' शब्दका अनन्तर वा अधिकार अर्थ बतलाकर स्वयं ही अपना पक्ष काट दिया। साधु !!!

फिर स्वामीने 'अथ योगानुशासनम्' (१।१) इस योगदर्शनके प्रमाणमें स्वयं व्यासभाष्य उद्धृत किया है—'अथेत्ययमधिकारार्थः'। यहाँ भी स्वामि-प्रमाणित भाष्यसे 'अथ'की अधिकारार्थकता ही सूत्रकारको इष्ट बताई है, माङ्गलिकता नहीं। यदि वहाँ माङ्गलिकता अर्थ इष्ट होता; तो कई योगदर्शनकी पुस्तकोंमें 'यस्त्यक्त्वा रूपमाद्यं' यह मङ्गलाचरण न होता। जिन पुस्तकोंमें यह मङ्गलाचरण नहीं भी है, उसमें दो उत्तर हैं। पहला—मङ्गलस्वीकारपक्षमें योगानुशासनकीर्तनरूप वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल है। दूसरा—मङ्गलके अस्वीकारपक्षमें यह उत्तर है कि—अल्पज्ञकेलिए भविष्यत् न जान सकनेसे प्रारम्भ किये जानेवाले ग्रन्थकी समाप्तिके प्रतिबन्धक विघ्नोंकी सम्भावनासे उनके दूरीकारार्थ मङ्गल आवश्यक हो सकता है; पर त्रिकालज्ञों-

को भावी निर्विघ्नताका ज्ञान होनेसे तदर्थ मङ्गलाचरण आवश्यकता नहीं रहती—इस प्रकार दोनों ही उत्तरोंमें दर्श प्रणेता सूत्रकारके मतमें 'अथ' शब्द अधिकारार्थक अथ अनन्तरार्थक ही है, मङ्गलार्थक नहीं; जैसाकि—भाष्यका अपने कण्ठसे कह रखा है। सनातनधर्मके मतमें 'अथ' शब्द माङ्गलिक होनेसे उसके माननेमें लगे हुए स्वा.द.की फिर धर्मके खण्डनमें प्रवृत्ति उनकी कृतघ्नता-साधक होगी, अथ स्वार्थसाधक।

आगे स्वा.द.ने 'अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः' (१।१) य सांख्यसूत्र लिखा है; परन्तु यहाँ भी स्वामीने ही 'सांसारिक विषयभोगानन्तरम्' यह अर्थ लिखकर 'अथ'को आनन्तर्यवाच माना है; तब यहाँ भी 'अथ' शब्दसे मङ्गलाचरण स्वामीके मतमें सिद्ध न हुआ। इसी प्रकार 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१।१।१) इस वेदान्तदर्शनके सूत्रके 'अथ' शब्दकेलिए स्वामीने स्वयं ही लिखा है—'चतुष्टयसाधनसम्पत्त्यनन्तरं ब्रह्म जिज्ञास्यम्' यहाँ भी स्वामीके अनुसार 'अथ' शब्द मङ्गलवाचक सिद्ध न होकर 'आनन्तर्य' वाचक सिद्ध हुआ। तब वह शैली सिद्ध न हुई, किन्तु उसमें विशेष अर्थ हुआ।

आर्यसमाजी विद्वान् श्रीहरिप्रसाद वैदिकमुनिने अपनी 'वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्ति'में 'इसी 'अथ' केलिए लिखा है—'आनन्तर्यवचनो हि अत्र 'अथ' शब्दः प्रयुज्यते, न च मंगलप्रयनोपि 'अथ' शब्दः कल्पयितुं शक्यते, मंगलस्य तद्वाच्यत्वाऽप्रसिद्धेः।

नहि मंगलमथशब्दवाच्यं क्वचित् प्रसिध्यति। न चाऽप्रसिद्धार्थ-कल्पनं न्याय्यम्। 'अथ' शब्दश्रवणमात्रार्थकं तु मङ्गलम्। न च तस्य स्वार्थे समन्वय उपपद्यते, शब्दार्थत्वाभावात्। शब्दार्थो हि वाक्यार्थे समन्वीयते, न च कार्यं न वा ज्ञाप्यम्।...'अतो न मंगलवचनोऽथशब्दः'। अर्थात् 'अथ' यहाँ मङ्गलवाचक नहीं, किन्तु 'आनन्तर्य' वाचक है।

तब स्वा.द.से ही उद्धृत उक्त दर्शनोंके भाष्यस्थ वचनों वा अपने ही वचनोंसे 'अथ' शब्दकी मङ्गलार्थकता स्वयं कट गई। तब 'श्रीगणेशाय नमः' इत्यादि द्वारा मङ्गलाचरण करनेवालों-को विरुद्ध मङ्गलाचरण करनेवाला बताना यह स्वामीका कथन अनुपपन्न सिद्ध हुआ, जबकि दार्शनिकोंने 'अथ' शब्दको मङ्गल-वाचक नहीं रखा, किन्तु 'आनन्तर्य' अर्थवाला रखा है। पर यदि वे स्वामीके अनुसार मङ्गलाचरण पक्षवाले थे; तो उन्होंने गणेशादिका मङ्गल ग्रन्थारम्भसे पूर्व ही कर लिया होगा; अथवा त्रिकालज्ञतासे आगेके विघ्नोंको न देखकर तन्निवारणार्थ मङ्गलाचरण पिष्ट-पेषण समझा होगा; पर आगेके विद्वानोंने आगेके समयकी अल्पज्ञता देखकर तथा शिष्यशिक्षार्थं किसी श्रीगणेशादिदेवको नमस्कार करनेके मङ्गलकी प्रवृत्ति कर दी—यह कोई विरुद्धता नहीं हुई; क्योंकि-मङ्गलके अविगीत-शिष्टा-चारविषयक होनेसे विघ्नोंके न होनेपर भी शिष्टाचार-पूर्तिमात्र हो ही जाती है।

(७) आगे स्वा.द.जी प्रश्नोत्तर करते हैं—'(प्रश्न) जैसे अन्य

ग्रन्थकार लोग आदि, मध्य और अन्तमें मङ्गलाचरण करते हैं, वैसे आपने कुछ भी न लिखा, न किया' (उत्तर) ऐसा हमको करना योग्य नहीं; क्योंकि-जो आदि, मध्य और अन्तमें मङ्गल करेगा; तो उसके ग्रन्थमें आदि, मध्य तथा अन्तके बीचमें जो कुछ लेख होगा, वह अमङ्गल ही रहेगा' (स.प्र. १ पृ. १२) यह दण्डी दयानन्दजीका अद्भुत तर्क है। जिस दण्डीने आर्षशैलीमें मङ्गलाचरणके 'अथ' आदिमें सिद्ध करनेकेलिए स.प्र.के १२वें पृष्ठमें सबसे पहले 'अथ शब्दानुशासनम्' यह व्याकरणमहा-भाष्यका प्रमाण प्रतिष्ठाके साथ उद्धृत किया; उस दण्डी (संन्यासी) ने उक्त प्रश्नके उक्त उत्तरको लिखते हुए उसी व्या-करणमहाभाष्यके प्रणेता श्रीपतञ्जलिके ऊपर भी अपना दण्ड फैंक दिया।

श्रीपतञ्जलिने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इस वार्तिककी व्याख्या करते हुए 'सिद्ध' शब्दको वार्तिककार श्रीकात्यायनका आदिम-मङ्गल सिद्ध किया है। आदिम-मङ्गलकी आवश्यकता बताते हुए भाष्यकारने कहा है—'माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मंगलार्थं सिद्धशब्दम् आदितः प्रयुङ्क्ते। मंगलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते'। इससे उन लोगोंका भी खण्डन होगया; जो व्यक्ति 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'को वार्तिककारका आदिम वार्तिक न मानकर 'रक्षोहागम' इसे वार्तिककारका प्रथम वार्तिक बताते हैं। नहीं तो 'किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः; यस्मिन्नु-पादीयमानेऽसन्देहः स्यात्' इससे प्रतिपक्षी सिद्धान्तीको 'नित्य'

शब्द रखनेकेलिए दबा रहा था; उसपर भाष्यकारने 'सिद्ध' शब्दको आदिमें मङ्गलार्थक बताकर वादीको परास्त कर दिया। यदि 'रक्षोहा'—यही आदिम वार्तिक होता; तब वादीका प्रश्न उपस्थित होता कि—आदिम-वार्तिक तो 'रक्षोहागम' आ चुका है; आदि मङ्गलाचरण 'रक्षा' शब्दसे वहीं होता; यहाँ करनेपर तो आदिका मङ्गल न होकर मध्यका मङ्गल हो जायगा। पर वादीका यहाँ यह प्रश्न न होनेसे सिद्ध हुआ कि—आदिम वार्तिक यही है; उसका आदिम मङ्गल भी यही है।

इसी प्रकार तृतीयाह्निकमें 'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) इस पाणिनि-सूत्रमें 'संज्ञाशब्द-वृद्धि आदिमें क्यों आया; अन्य गुण आदि संज्ञाओंकी तरह अन्तमें क्यों नहीं आया' इसपर भी भाष्यकार-ने 'वृद्धि'को पाणिनिका आदिममङ्गलार्थक बताया—'एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्। माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते, मंगलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते'। यहाँ भी उन व्यक्तियोंका खण्डन होगया, जो कि—'अथ शब्दानुशासनम्'को पाणिनिका आदिसूत्र मानते हैं, और 'अथ' शब्दको मङ्गलार्थक मानते हैं। नहीं तो फिर वादीका प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि—पाणिनिका 'वृद्धिरादैच्' आदिमसूत्र तो है नहीं; आदिमसूत्र तो उसका 'अथ शब्दानु' है, और वहाँ मंगलाचरण हो चुका है, फिर यहाँ 'वृद्धि' शब्दमें आदि-मंगलकी व्यर्थता है—यह तो मध्यका मंगल है; इसपर भाष्यकार प्रत्युत्तर न दे सकते। पर उक्त प्रश्न नहीं किया गया;

क्योंकि—'अथ शब्दा'—यह पाणिनिका सूत्र नहीं था। अतः है कि—'वृद्धिरादैच्' (१।१।१) ही पाणिनिका आदि-सूत्र है, 'वृद्धि' शब्द ही आदि-मंगल है।

इसी प्रकार भाष्यकारने 'भूवादि' (१।३।१) सूत्रमें 'भूवादी वकारोऽयं मंगलार्थः प्रयुज्यते' यह कहकर 'मांगलिक आचा महतः शास्त्रौघस्य मंगलार्थं वकारमागमं प्रयुङ्क्ते। मंगलादी मंगलमध्यानि, मंगलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते·· अध्येतार मंगलयुक्ता यथा स्युः' यहाँ भाष्यकारने शास्त्रके आदि, म तथा अन्तमें मङ्गलाचरणका अनुशासन किया है। तीसरे पाद आदि-सूत्र होनेसे इसीमें 'भू' यह महाव्याहृतिका आदि मङ्गल, जैसेकि—धातुपाठमें भी इसी कारण 'भू' धातु रखी है। 'व' मध्यका मङ्गल, और अन्तिम 'व' फिर अन्तका मङ्ग सिद्ध होता है। 'पुच्छादिषु धात्वर्थे इत्येव सिद्धम्' इस दशगण के अन्तिम गणसूत्रमें 'सिद्ध' शब्दो ग्रन्थान्ते मङ्गलार्थः' श्रीदीक्षितने लिखा है। फलतः श्रीपाणिनि-कात्यायन-पतञ्जलि आचार्य आदिके अनुसार आदि, मध्य, अन्तमें विशेषतः आदि में मङ्गलाचरण होना आवश्यक तथा आर्षशैली है, यह सि होता है। उसपर 'जो आदि, मध्य और अन्तमें मङ्गल करेगा तो उसके ग्रन्थमें आदि, मध्य तथा अन्तके बीचमें जो कुछ लेख होगा—वह अमङ्गल ही रहेगा' यह उनपर दण्डी दयानन्द जीका तर्क-दण्ड फैंकना उन स्वप्रमाणित आचार्योंपर खुल आक्रमण है। इस प्रकार तो दर्शनोंकी आदिमें 'अथ' शब्दको

मङ्गलार्थक सिद्ध करते हुए मुण्डीजीने उन्हींके ग्रन्थोंमें अमङ्गल सिद्ध करके उनका तथा अपना भी मुण्डन कर दिया। नहीं तो आदिमें भी उनको 'अथ' शब्दसे मङ्गलाचरण सिद्ध करनेकी आवश्यकता क्या थी? क्या इसलिए कि-इससे 'श्रीगणेशाय नमः'का खण्डन हो जावे? वस्तुतः स्वामीकी उक्त युक्ति तुच्छ (लचर) है। आदि-मध्य-अन्तमें मङ्गल होजानेसे उसका प्रभाव उनके आगे-पीछेके स्थलोंमें स्वतः हो जाता है, तथा माना जाता है। लोग प्रातः, मध्याह्न, सायंकालके मङ्गलार्थ त्रिकालसंध्या करते हैं; तो अवशिष्ट काल क्या अमङ्गल हो जावेगा?

(८) सांख्यदर्शनमें लिखा है-'मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्, फलदर्शनात्, श्रुतितश्च' (२।१) इसका अर्थ यह है कि-मङ्गलका आचरण करना चाहिये; क्योंकि-शिष्ट लोग इसका आचरण करते हैं, इसका फल भी देखा गया है, श्रुति भी मङ्गलकी पक्षपातिनी है; परन्तु स्वा.द.जीने इसके अर्थमें श्रुतिसे कैसा बलात्कार किया है, यह देखना चाहिये।

'मङ्गलाचरणं शिष्टा—यह सांख्यका वचन है। इसका यह अभिप्राय है-जो न्याय, पक्षपातरहित, सत्यवेदोक्त ईश्वरकी आज्ञा है, उसीका यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना मङ्गलाचरण, न कि-कहीं मङ्गल और कहीं अमङ्गल लिखना। देखिये महाशय महर्षियोंके लेख को—'यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि' (तै.उ. ७।११) हे सन्तानो! जो अभिनन्दनीय अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हैं, वे ही

तुमको करने योग्य हैं, अधर्मयुक्त नहीं' (स.प्र. १ पृ. १२-१३)

यहाँ तो मुण्डी (संन्यासी) जीने साङ्ख्यसूत्रका भी मुण्डन कर दिया। सांख्यसूत्रने मङ्गलाचरणको प्रमाणित सिद्ध किया था, पर स्वामीने उसे सर्वथा उड़ा ही दिया। स्वामीके अनुसार तो दार्शनिकोंने माङ्गलिक 'अथ' शब्दको भी आदिमें व्यर्थ ही रखा; क्योंकि-स्वामीके मतमें यह मङ्गल ही नहीं; किन्तु सत्यका आचरण ही मङ्गल है, और कुछ नहीं। उसीका स्वामीके मतमें सर्वत्र आचरण करना ही मङ्गलाचरण है; तब तो केवल आदिमें ही 'अथ' शब्दसे मङ्गल करते हुए दार्शनिक मुनि भी स्वामीके मतमें 'अनार्ष' सिद्ध हुए। स्वामीजी धन्य हैं। उनने स्वयं ही स.प्र.की आदिमें 'ओंसच्चिदानन्देश्वराय नमोनमः' और सं.वि. की आदिमें 'नमोनमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय' यह मङ्गलाचरण करके अपनेसे विरुद्धता कर दी; नहीं तो यदि स्वामीने सर्वत्र असत्य-खण्डन तथा सत्यका मण्डन ही किया है, यही उनका श्रीतुलसीराम-स्वामीके मतसे मङ्गलाचरण है, तब वह तो उनके अनुसार सम्पन्न ही है; फिर स्वामीने पृथक् मङ्गलाचरण क्यों किया? क्या यहाँ स्वामीने 'यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी तु मे पिता। माता तु मम वन्ध्यासीद् अपुत्रश्च पितामहः' इस श्लोकको चरितार्थ नहीं किया? मङ्गलाचरणके विषयमें स्वामी अपने एक भी सिद्धान्तमें स्थिर न रहे, गिरगिट की भांति उनने मङ्गलका रङ्ग भी बदल दिया, और अपने वचनमें व्याघात कर दिया-यह 'आलोक' पाठक विद्वान् स्वयं यहाँ सूक्ष्म-दृष्टि डालें।

यहाँ प्रष्टव्य है कि–स्वामीने जो उक्त सांख्यसूत्रका यह अर्थ किया; वह सूत्रके किन शब्दोंका है? क्या किसी प्रमाणको लेकर उसका मनमाना अर्थ करना ही उसकी व्याख्या होती है? भोज आदि तो पहलेसे ही–'दुर्बोधं यदतीव तद्धि जहति स्पष्टार्थ-मित्युक्तिभिः, स्पष्टार्थेष्वतिविस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिकैः। अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते–श्रोतॄणाम् इति वस्तुविसवक्तृतः प्रायो हि टीकाकृतः' इस प्रकार टीकाकारोंकी निन्दा करते हैं कि–वे बेठिकाने अनुपयोगी बकवादोंसे श्रोताओं वा द्रष्टाओंको भ्रममें डाल दिया करते हैं; स्वामी तो उनसे भी बढ़ गये कि–मूलशब्दके अर्थको भी वे अपनी कपोल-कल्पनासे करने लगे। धन्य हैं वे 'परिव्राजकाचार्य', क्या यही 'सत्यका सर्वत्र यथावत् आचरण' है? स्वामीसे प्रष्टव्य है कि–उन्होंने मङ्गलाचरणके प्रकरणमें 'यानि अनवद्यानि कर्माणि' यह प्रमाण कैसे उद्धृत किया? 'वेदमनूच्य आचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति' (१।११।१) इस प्रकरण (तै.उ.)में क्या पुस्तकोंके मङ्गलाचरणका कोई वर्णन था जोकि वे ऐसा वर्णन करने बैठे? खेद! जब हम स्वामीको प्राचीन-साहित्य पर इस प्रकार छुरी चलाते हुए पाते हैं; और फिर उनके अनुयायियोंको उनका अनुमोदन करते पाते हैं; तो उससे हमें बहुत दुःख होता है।

(६) कुछ सनातनधर्मी मङ्गलार्थ 'श्रीः' लिखा करते हैं; उनपर स्वामीके अनुयायी आक्षेप करते हैं कि–मङ्गलाचरणमें 'अथ' अथवा 'ओम्' लिखना चाहिये' उनसे प्रष्टव्य है कि–'अथ'

शब्दका अर्थ 'मङ्गल' न होने पर भी जब आप उसे मङ्गलार्थ मानते हैं, तब 'श्रीः' पर आक्षेप कैसे? 'श्री' शब्द तो स माङ्गलिक है। 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' (यजुः वा. सं. ३१।२ यहाँ वेदने 'श्री'को परमात्माकी पत्नी बताया है, तब उस स्मरण मङ्गल क्यों न हो? इस कारण किरातार्जुनीय त शिशुपाल-वधके आदि अन्तमें 'श्री' वा लक्ष्मी शब्द मङ्गल प्रयुक्त हैं। आक्षेप्ताओंके स्वामीने भी स.प्र.के १म समुल्ला (१० पृष्ठ)में लिखा है—'श्रिञ् सेवायाम्' इस धातुसे 'श्री' श सिद्ध होता है, 'यः श्रीयते–सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभि स श्रीरीश्वरः। लक्ष दर्शनाङ्कयोः–इस धातुसे लक्ष्मी-पद सि होता है। यो लक्षयति पश्यति अङ्कते चिह्नयति चराचरं जग अथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः'।

यहाँपर 'श्री' शब्दमें 'य्वन्तमेकाक्षरम्' (१२) इस श्रीपाणिनि लिङ्गानुशासनके सूत्रसे और लक्ष्मीमें 'ईकारान्तश्च' (१०) इ सूत्रसे स्त्रीलिङ्ग है। तभी तो 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' (वा.सं. ३१।२२) इस यजुर्वेदके मन्त्रमें उन दोनोंको पत्नी कहा है 'पत्नी' की 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा. ४।१।३३), इस वेदाङ्गके सूत्र सिद्धि है। स्वामीने यहाँ अपने प्रमाणित पाणिनिके तीन सूत्रों विरुद्ध पुंलिङ्गका अर्थ क्यों किया? तब उनका अर्थ वेद ए वेदाङ्गसे विरुद्ध होनेसे अमाननीय है। ईश्वर-अर्थ मानने प 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' (यजुः वा.सं. ३१।२२) इस मन्त्रमें द ईश्वर मानने पड़ेंगे अथवा हम यदि यह आपत्ति न भी उठावें, त

भी यदि स्वामी 'श्री' शब्दसे परमात्माको लेते हैं, तो मङ्गलके-लिए स्वा.द.के लिखे 'सच्चिदानन्देश्वराय नमोनमः'के अनुसार 'सर्व जगत्के विद्वानोंसे सेवनीय' 'श्री' शब्दके उल्लेखसे सनातनधर्मी आक्षेपयोग्य कैसे हो सकते हैं ? जोकि 'ओम्' शब्दकेलिए कहा जाता है; तो वेदकी आदिमें ही 'ओम्' शब्दको छोड़कर 'अग्नि' आदि शब्द क्यों रखा गया ? 'अग्निमीले' (शा. १।१।१) यही मन्त्र है, उसमें 'ओम्' प्रक्षिप्त है; क्योंकि-वह मन्त्रके नियत वर्णोंकी संख्यासे बहिर्भूत है, छन्दकी दृष्टिसे भी बहिर्भूत है; क्योंकि-अनुक्रमणिकामें यहाँ 'भुरिक्' गायत्री नहीं माना गया है। गायत्री २४ अक्षर होनेपर होता है; यहाँ २४ अक्षर हैं ही। इसलिए वेदकी पदानुक्रमणिकाओंमें 'ओम्'की १।१।१ संख्या नहीं। यह स्वा.द.ने भी स्वयं स्वीकार किया है कि-'अग्नि, इट्., अग्नि, ये' यह शब्द वेदोंकी आदिमें लिखे हैं' (स.प्र. १ समु. पृ. १३)

'ओम्' शब्दकी महिमाको सनातनधर्मियोंके वेद-उपनिषद् आदि ही स्पष्टतया सिद्ध करते हैं। तब सनातनधर्मी लोग आदिमें मंगलार्थं 'ओम्' लिखें, वा 'श्रीः' इसमें वे ही प्रमाण हैं; पर अपने आपको 'वैदिक' माननेवाले और वेदोंकी केवल इन्हीं चार पोथियोंको वेद माननेवालोंके पास अपने वेदका कौनसा प्रमाण है, जिससे आदिमें 'ओम्'का लिखना आवश्यक बताया हो। 'ऋचो अक्षरे' इस मन्त्रमें भी उसका आदिमें उल्लेख नहीं माना गया। संस्कारविधि (पृ. २८४) में तथा सत्यार्थप्र.. (४१ पृष्ठ) में तो इसका 'ओम्' परक अर्थ किया ही नहीं गया है। यदि 'ॐ अग्निमीले' वा 'ओं अग्निमीले' इस प्रकार लिखा जावेगा; तो या तो अशुद्ध होगा; क्योंकि-'म्' को अनुस्वार 'अच्' (स्वर) सामने होनेपर नहीं हो सकता। या फिर अच् (स्वर) परे होनेपर भी 'ॐ' अथवा 'ओं' यह लिखना गणेशकी मूर्ति सिद्ध होगा; जिसे हम पञ्चमपुष्पके आदिम एवम् अन्तिम निबन्धमें सिद्ध कर चुके हैं; जिसे दयानन्दानुयायी 'पौराणिक' मानते हैं। पहला हिस्सा 'गणेश'के गजाननकी सूँड होगी, ऊपरका अनुनासिक उसका 'बालचन्द्र' होगा; वा ऊपरका 'अनुस्वार' उसका 'मोदक' होगा। इससे स्पष्ट है कि-वेदके अतिरिक्त आदिमें कोई 'ओम्' लिखे वा 'श्रीः'; इसमें उसकी इच्छा ही प्रमाण है। वस्तुतः तीन वेदोंके सारस्वरूप 'ओम्'के अत्यन्त श्रेष्ठ होनेसे सनातनधर्मी उसका सर्वसाधारण स्थलमें प्रयोग नहीं करते। क्योंकि-वे उसमें सभीको अधिकृत नहीं मानते। सनातनधर्मियोंको जो वस्तु अत्यन्त प्रिय होती है; उसे वे 'गोपनीयं, गोपनीयं, गोपनीयं प्रयत्नतः' सर्वसाधारण स्थलमें प्रयुक्त नहीं करते, नहीं तो वह वस्तु गौण हो जाती है। इसी आशयसे वे इसका वेदसे अतिरिक्त स्थलमें साधारणतया प्रयोग नहीं करते। इस विषयमें 'आलोक'के पञ्चमपुष्पकी अन्तिम कलिकामें देखें।

(१०) आश्चर्य तो यह है कि-स्वा.द.जीने 'नारायणाय नमः' इस मंगलाचरणको भी आक्षेप्य माना है। वे स.प्र. ८ पृष्ठमें

लिखते हैं—'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः' (मनु. १।१०) जल और जीवोंका नाम 'नारा' है; वे अयन अर्थात् निवासस्थान हैं जिसका, इसलिए सब जीवोंमें व्यापक परमात्माका नाम नारायण है'। यदि 'नारायण' यह परमात्माके अर्थवाला है; तो आदिमें उस परमात्माका स्मरण मंगल क्यों नहीं? क्या स्वामीने सं.वि.की आदिमें तथा स.प्र.की भूमिकाकी आदिमें परमात्माके नाम सच्चिदानन्द वा ईश्वरके स्मरणका मंगल नहीं किया?

(११) उक्त मनु-पद्यके व्याख्यानके अवसर पर भी स्वामीने भूल की है, उसमें भी विद्वान् दृष्टि डालें। उक्त श्लोकका स्पष्ट एवं वास्तविक अर्थ तो यह है कि–'नारायण'में दो पद हैं, नार और अयन। मनुजी कहते हैं–अप् (जल)को 'नारा' कहा जाता है। तब यह प्रश्न होता है–क्यों? मनु इसका कारण बताते हैं कि–'आपो वै नर-सूनवः' अर्थात् जल नर–'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (यजुः ३१।१) इस मन्त्रमें प्रसिद्ध पुरुष-परमात्माके सूनु-पुत्र-स्थानीय हैं, उसके शरीरसे उत्पन्न हैं–'सोभिध्याय शरीरात् स्वात्...अप एव ससर्जादौ' (मनु. १।८) इसीलिए शाकुन्तल-नाटकके आदिमें भी लिखा है–'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या' जो स्रष्टा पुरुषकी आदिम सृष्टि है अर्थात् जल। इसी कारण जल 'नार' कहे जाते हैं; क्योंकि–'नर' शब्दसे तद्धिती अण् प्रत्यय है; पूर्व-अच्को वृद्धि है।

आगे मनुजी कहते हैं—ताः (वे जल) यद् अस्य (जो उस परमात्म-पुरुषके) अयन-निवासस्थान हैं; इसलिए परमात्माको 'जलशायी' कहा जाता है; 'तेन नारायणः स्मृतः' इससे उसका नाम 'नारायण' है। 'ताः' से 'आपः' लिये जाते हैं; क्योंकि 'तद्' शब्द पूर्वको निर्दिष्ट कर रहा होता है। वह पूर्व है–'आपो नाराः' 'अप्' शब्द। 'अप्-सुमनः-समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं च' (२६) इस पाणिनीय लिङ्गानुशासनके सूत्रसे 'अप्' शब्द स्त्रीलिंग और बहुवचनमें होता है। इससे 'ताः' इस स्त्रीलिङ्गकी प्रथमाके बहुवचनान्तपदसे पूर्व ठहरे हुए 'आपः' पदका ग्रहण है। अर्थात्–जलशायी होनेसे परमात्माका नाम 'नारायण' होता है। 'देवशयनी' एकादशी प्रसिद्ध ही है; जब नारायण भगवान् उन जलोंको अपना निवासस्थान बनाते हैं।

अब स्वा.द.जीका अर्थ देखिये, जिसे हम पहले उद्धृत कर चुके हैं। वे लिखते हैं—'जल और जीवोंका नाम नारा है'। विद्वान् यहाँ देखें—'जल और जीवोंका' यह अर्थ स्वामी कहांसे लाये? क्या 'आपो नारा इति प्रोक्ताः'का यह अर्थ है? क्या यह अर्थ कभी हो सकता है? इस प्रकारके निजी अर्थ करने-वालोंको आजकल 'महर्षि' पदवी दे दी जाती है यह है कलियुग की निरंकुशता!!! वे अयन अर्थात् निवासस्थान हैं जिसका, इसलिए सब जीवोंमें व्यापक परमात्माका नाम नारायण है'। हा खेद! पहले तो स्वामीने नाममात्रसे सही, जलका नाम लिख दिया, उपसंहारमें तो उसे भी छोड़ दिया। केवल 'जीवोंमें

व्यापक' यह अर्थ कर दिया। 'जीवोंमें' यह स्वामीने मनुपद्यके किस पदका अर्थ किया–यह प्रष्टव्य है। यदि वे मनुजीका प्रमाण न लिखते; तब उनके सम्प्रदायके चेले, बिना ननु-नच किये उस अर्थको मान लेते, परन्तु यहाँ मनुका प्रमाण देकर उसके अर्थमें अपनी कपोल-कल्पना लादना–यह उनकी लीला है, जैसा कि–वे अपने वेदभाष्यमें भी कर गये हैं। यहाँ हम आर्य-समाजी श्रीतुलसीरामजीका उक्त मनुपद्यका अर्थ देते हैं, इससे स्वामीके अनुयायी जानें कि–स्वामीका अर्थ कैसा है ? 'अप्'को 'नारा' कहते हैं, क्योंकि नर–परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। वह 'नारा' प्रथम स्थान है जिसका, इस कारण परमात्माको नारायण कहते हैं' कैसा यह स्पष्ट उत्कृष्ट अर्थ है ? और स्वा.द.का कैसा अनर्गल अर्थ है ?

(१२) यही स्वामीजी लिखते हैं—'यो धर्म्यान् शब्दान् गृणाति-उपदिशति स गुरुः 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (योग. समाधि. २६) जो...सृष्टिकी आदिमें अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि गुरुओंका भी गुरु इसलिए परमेश्वरका नाम गुरु है' (स.प्र. पृ. ६) 'शिवु कल्याणे' इस धातुसे 'शिव' शब्द सिद्ध होता है। 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' इससे 'शिवु' धातु माना जाता है। जो कल्याणस्वरूप और कल्याणका करनेहारा है, इसलिए उस परमेश्वरका नाम शिव है' (पृ. १२) 'सृ गतौ–इस धातुसे सरस् उससे मतुप् ङीप् प्रत्यय होनेसे 'सरस्वती' शब्द सिद्ध होता है। सरो–'विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां

चितौ सा सरस्वती' जिसका विविध ज्ञान अर्थात्–शब्द, अर्थ, सम्बन्ध प्रयोगका ज्ञान यथावत् होवे, इससे उस परमेश्वरका नाम सरस्वती है' (पृ. ११) यहाँ स्वामीने गुरु, शिव, सरस्वतीको परमात्माका नाम माना है, फिर १३ पृष्ठमें 'श्रीगुरुचरणार-विन्दाभ्यां नमः, शिवाय नमः, सरस्वत्यै नमः' इत्यादि मङ्गला-चरणका विरोध किया है, व्याघातके कारण स्वामीजी स्वयं खण्डित हो गये। 'शिवु' धातु स्वामीने स्वयं घड़ी है। 'शिव' शब्दकी तो 'सर्व...शिव' (१।१५३) इस उणादिसूत्रसे शीङ् धातुको वन्प्रत्यय और ह्रस्व करनेपर सिद्धि होती है, 'शेते प्रलय-समये अस्मिन् जगदिति शिवः'। इसी प्रकार अन्य धातुएँ भी स्वामी स्वयं घड़ दिया करते थे–'गप्पम'को 'गप्न मिथ्याभाषणे'-से 'प' प्रत्यय द्वारा सिद्ध करके उनने शोलेतूरके विज्ञापनमें प्रयुक्त किया है–जबकि गप् धातु होती ही नहीं।

यदि ग्रन्थकार 'श्रीगुरवे नमः' लिखते हुए परमात्माको न भी लें, किन्तु अपने शिक्षकको भी लें, तब भी उन्हें आदिमें नमस्कार करनेमें जहाँ मङ्गल है, वहाँ कृतज्ञता भी है। स्वामीने भी अपने गुरु श्रीविरजानन्दकी कृतज्ञतार्थ अपने सत्यार्थप्रकाश, संस्कार-विधि आदि पुस्तकोंकी पुष्पिकामें उन्हें बहुवचनसे आदृत किया है। बहुवचनकेलिए स्वामीने आर्याभिविनय (पृ.४१) में लिखा है—'बहुवचनमादरार्थम्'। इस प्रकार अन्य पुरुष भी यदि गुरुजीका आदिमें स्मरण करके उनका सत्कार करते हैं; तो वे क्या अपराध करते हैं ?

आश्चर्य तो यह है कि—स्वामीने स.प्र.के ११वें समु. २०० पृष्ठमें मूर्तिपूजाके खण्डन प्रकरणमें 'आचार्यदेवो भव' (तैत्ति. १।११) इस प्रमाणको देकर 'तीसरा आचार्य जो विद्याका देनेहारा है, उसकी तन, मन, धनसे सेवा करनी। ये...मूर्तिमान् देव जिनके सङ्गसे...सत्य शिक्षा विद्या और सत्योपदेशकी प्राप्ति होती है, ये ही परमेश्वरको प्राप्त करनेकी सीढ़ियाँ हैं—इनकी सेवा न करके जो पाषाणादि मूर्ति पूजते हैं, वे अतीव पामर नरकगामी हैं, यह कहा है, और फिर 'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः' (२।२२५) इस मनुजीके अनुसार ब्रह्मकी मूर्ति-गुरुकी आदिमें नमस्कार करनेका खण्डन करके क्या अपने-आपको अपने शब्दोंमें 'पामर और नरकगामी' नहीं बनाया? इससे उन्होंने अपनी आप्तता समाप्त कर दी।

(१३) कई स्वा.द.के श्रद्धालुओंका यह भी कथन होता है कि—आदिमें वेदमन्त्रसे ही मङ्गलाचरण होना चाहिये, अतः 'श्रीगणेशाय नमः' आदिमें लिखना ठीक नहीं' इसमें उनसे पूछना चाहिये कि—स्वामीने स.प्र. की भूमिकाके तथा प्रथम समुल्लासके आरम्भमें 'सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः' यह मङ्गलाचरण लिखा है। सं.वि.के आरम्भमें 'नमो नमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय' और उसकी भूमिकामें 'नमो नमः सर्वशक्तिमते जगदीश्वराय' यह लिखा है। क्या यह 'श्रीगणेशाय नमः' का अनुकरण नहीं? उनके अनुसार लिखना किस वेदमें लिखा है? क्या यह 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' नहीं? आप 'सच्चिदानन्देश्वराय

नमः' लिखें; यह तो वैदिक मङ्गलाचरण हो जाय? यदि सनातनधर्मी 'श्रीगणेशाय नमः, नारायणाय नमः' लिख दें, तो वहां अवैदिकता हो जाए या आर्षग्रन्थ-विरुद्धता हो जाय। यह कहाँका न्याय है? कौनसे ऋषिने 'सच्चिदानन्देश्वराय नमः' यह स्वामी-जैसे शब्द लिखे हैं? यदि नहीं कहे वा लिखे; तो आप भी आर्ष-शैलीसे विरुद्ध मङ्गल करते हुए अपने परस्पर विरुद्ध वचनोंसे खण्डित होगये।

अथवा स्वामीने 'सच्चिदानन्देश्वराय नमो नमः' यह मंगल इसलिए लिखा हो कि—आगे उन्होंने इस नामको परमेश्वरार्थक माना है। तब क्या उन्होंने कभी 'शनैश्चराय नमः, राहवे नमः, केतवे नमः' अपनेसे स्वीकृत ईश्वरार्थक इन शब्दोंसे भी मंगल किया, वा वे कर सकते हैं? यदि नहीं; तब क्या उनसे लिखे हुए कई नाम परमात्माको प्रिय हैं और कई अप्रिय हैं? इससे स्पष्ट है कि—स्वामीने कई शब्दोंके अर्थोंमें जो जबर्दस्ती की है—उसे उनका आत्मा बलात्कार मानता है। नहीं तो 'परमेश्वर' शब्दके स्थानमें 'शनैश्चर' आदि नमस्कारकेलिए क्यों नहीं चुने गये? अथवा 'श्रीगणेशाय नमः' तथा 'नमो नारायणाय' यह परमेश्वरार्थक नामोंसे मंगलाचरण क्यों नहीं किया? अथवा करनेवालोंको वे क्यों आक्षिप्त करते हैं?

अब स्वामीका वेदमन्त्रसे मंगलाचरणका आदर्श भी देखिये—उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश'के आरम्भमें 'शं नो मित्रः'से शुरू करके 'नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो···अवतु वक्तारम्' तक

कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीयारण्यक ७।१।११) का मन्त्र रखा है। 'संस्कारविधि'के आरम्भमें 'सह नाववतु' यह भी उक्त पुस्तक (तै.आ. ८।१) का ही मन्त्र लिखा है। इस प्रकार ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकाके आरम्भमें भी स्वामीने 'सह नाववतु' यह उक्त मन्त्र ही लिखा है। अब स्वा.द. तथा उनके अनुयायियोंसे पूछना है कि-क्या वे कृष्णयजुर्वेद तथा आरण्यकको वेद मानते हैं ? यदि हाँ; तो स्वामीने केवल शुक्लयजुर्वेदकी वा.सं.को ही वेद कैसे माना ? कृष्णको साथ क्यों नहीं रखा ? उसीकी शाखा तैत्तिरीयसंहिता आदि तथा तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण, तथा आरण्यक, उपनिषद् आदि हैं। यदि कृष्णयजुर्वेद उनके मतमें वेद नहीं; तो अपने तीनों पुस्तकोंमें अपने अभिमत वेदके मन्त्रसे ही मंगल न करके अपने अनुसार अवैदिक मन्त्रोंसे मंगल क्यों किया ?

यदि उनके मतसे वेदभिन्न मन्त्रका या अपने बनाये हुए वाक्यका आरम्भमें मंगलरूपमें उल्लेख करने पर भी उनकी वैदिकता अक्षुण्ण रहती है; तो सनातनधर्मी भी वेदभिन्न किसी पद्य वा गद्य मन्त्रसे मंगल करते हुए क्यों वैदिक वा आर्ष-व्यवहार वाले नहीं ? क्या आप जो कुछ करें, वह वैदिक है, और सनातनधर्मी जो वैदिकता भी करें; वह पौराणिकता है ? हा खेद ! दण्डी जी ! आपने अपने अर्वाचीन-मत (आ.स.) को जारी करके भारतमें कलहका सूत्रपात किया। हमें उनकी बुद्धिपर आश्चर्य होता है-जो आँखें बन्द करके अपने स्वामीके

अप्रमाण भी वचनको, विना ननु-नच किये मान लेते हैं, और सनातनधर्मके प्रामाणिक भी वचनों पर उपहास करते हैं।

(१४) इस निबन्धसे सिद्ध हुआ कि-सभी लोग अंगी भगवान्‌के अंगभूत अपने इष्टदेवको नमस्कार, प्रार्थना आदि मंगलाचरण करनेमें स्वतन्त्र ही हैं। न वहाँ उनमें उनको वेद रोकता है, न कोई आर्ष शास्त्र। वेद स्वयं ही भिन्न-भिन्न देवोंका सेवन करता है, यह हम अन्यत्र बतलाएँगे। उसमें कारण यह है कि-वेदने द्विजोंका अपनी रुचिके अनुकूल हित करना है। अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल प्रकारभेद सर्वत्र होता ही है। इससे उसको उलाहना नहीं दिया जा सकता। नहीं तो पाणिनि, कात्यायन, गोतम, वात्स्यायन आदि मुनि तथा अन्य उपनिषद् आदिके द्रष्टा, तथा 'शतपथब्राह्मण'के आदिमें 'व्रतमुपैष्यन' आदिके वक्ता श्रीयाज्ञवल्क्य आदिको उन्मत्त वा अवैदिक मानना पड़ेगा। पर ऐसा नहीं हो सकता। इससे, विरुद्ध लिखते हुए स्वा.द.जीकी ही अल्पश्रुतता, साम्प्रदायिक दृष्टि खण्डन-व्यसनिता, तथा सनातनधर्मसे द्वेषदृष्टि ही अपराधिनी है, इसमें अपने इष्टदेवका मंगल करनेवालोंका तथा सनातनधर्मका कोई अपराध नहीं, यह कहकर हम आगे 'वेदचर्चा' प्रारम्भ करना चाहते हुए इस विषयको पूर्ण करते हैं।

(३) वेदस्वरूप-निरूपण (क)

(शाखाओं (संहिताओं)*का वेदत्व)

(१) वेदका परिमाण-निरूपण वेदस्वरूपके अन्तर्गत हो जाता है। उसका विचार 'आलोक' पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इसका परिचय द्विजों, विशेषतः ब्राह्मणोंकेलिए अवश्य अपेक्षित है, पर खेद है कि–उनका इधर ध्यान नहीं। इस विषय-में वे दूसरोंसे सुन-सुनाकर वैसा मान लिया करते हैं, उस पर स्वयं अनुसन्धान नहीं करते।

मनुस्मृतिमें सम्पूर्ण वेदको धर्मका मूल माना है–'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (२।६) तब जब तक वेदकी इयत्ताका ज्ञान न हो; तब तक धर्मका पूर्ण ज्ञान कैसे हो सकता है? यदि केवल आर्यसमाजादिमें प्रसिद्ध वेदकी चार पोथियोंको सम्पूर्ण-वेद माना जावे; तो उससे हिन्दुधर्मके सभी सिद्धान्तोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी कारण प्राचीन ऋषि-मुनियोंका सिद्धान्त था कि–११३१ शाखा (संहिता) त्मक मन्त्रभाग तथा उतना ही ब्राह्मण-भाग, जिसमें आरण्यक-उपनिषद् आदि अन्तर्गत होते हैं; यह दोनों भाग मिलकर ही वेद हैं।

परन्तु आजकल 'वेदका स्वरूप वा परिमाण कितना है' इस सम्बन्धमें बड़ी भ्रान्ति चालू है। उसमें एक कारण आर्यसमाज

*शाखाओंका वेदत्व कुछ 'आलोक'के ४थे पुष्पमें, तथा ब्राह्मण-भागका वेदत्व ६ठे सुमनमें आ चुका है; अब पाठक संहिताओंका वेदत्व इसमें देखें। ४र्थ पुष्पका मूल्य ६) और छठेका १०) है।

है; और दूसरा कारण स्वयं सनातनधर्मी पण्डित-मण्डल है जो वैदिक-वाङ्मयकी ओर ध्यान ही नहीं देता। हम इस विषयको शास्त्रोंकी सहायतासे कुछ स्पष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं पाठक इधर अवश्य ध्यान दें; क्योंकि–यह सनातनधर्मका मूल सिद्धान्त है।

आर्यसमाजके प्रचारसे जनताको पता लगा कि–आजकल जो ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता, सामवेद-संहिता और अथर्ववेद-संहिता नामक चार पोथियाँ मिलती हैं, यही चार वेद हैं। अन्य काठक-संहिता आदि ११२७ इन्हींकी शाखाएँ हैं वे वेद नहीं हैं। इनसे भिन्न शतपथ आदि ब्राह्मणभाग है, वे भी वेद नहीं हैं। बहुतसे पर-प्रत्यय-नेयबुद्धि सनातनधर्मी पण्डित भी यही जानते-मानते हैं। वस्तुतः यह मत अज्ञानमूलक है।

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा.द.जीने भी अपनी पुस्तकोंमें यही लिखा है–जिससे यह भ्रान्ति फैली कि–यही ४ पोथियाँ वेद हैं, शेष ११२७ शाखा हैं। लेकिन इसमें शास्त्रीय-निष्कर्ष यह है कि–वेद चार हैं, उनकी शाखाएँ (संहिताएँ) ११३१ हैं। ११३१ संहिताएँ ही मिलकर चार वेद हैं, वेदकी केवल वर्तमान चार पोथियाँ चार वेद नहीं। सो जैसे वर्तमान वाजसनेयी-संहिता यजुर्वेद है, वैसे मैत्रायणी-संहिता आदि भी यजुर्वेद है। जैसे वर्तमान शौनक-संहिता अथर्ववेद है, वैसे अन्य पैप्पलादादि-संहिता भी अथर्ववेद है। इस प्रकार चारों वेदोंके विषयमें जानना चाहिये। इसमें ब्राह्मणभागके उतने ग्रन्थ भी वेदमें

अन्तर्गत होते हैं। यही वास्तविकता है। यही सनातनधर्मका सिद्धान्त-सूत्र है। इस सूत्रका अब हम भाष्य करते हैं, पाठक इसमें पूरा ध्यान दें।

(२) वेदके स्थूलरूपसे दो भाग हैं, एक मन्त्रभाग, दूसरा ब्राह्मणभाग। यह दोनों मिलकर ही सम्पूर्ण-वेद बनता है। उपनिषद् एवं आरण्यक ब्राह्मणभागके अन्तर्गत हो जाते हैं। फिर वेदके चार भेद हुआ करते हैं—१. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद और ४. अथर्ववेद। इन चारों भेदोंकी ११३१ संहिता हुआ करती हैं। और इन ११३१ संहिताओंके इतने ही ब्राह्मण हुआ करते हैं। इतने ही ब्राह्मणोंके इतने ही आरण्यक और इतनी ही उपनिषदें भी हुआ करती हैं। यह सम्पूर्ण साहित्य ही चार वेद हैं। हां, उसमें ११३१ संहितात्मक भाग मन्त्रभाग कहा जाता है, और उतना ही ब्राह्मण, उपनिषद् एवं आरण्यक रूप भाग ब्राह्मणभाग कहा जाता है। उक्त मन्त्रभागके प्रयोगार्थ उतने ही श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र भी हुआ करते हैं। इसे कल्प कहा जाता है। यद्यपि यह भाग वेदका सहायक है, तथापि पौरुषेय होनेसे इसे वेदसे भिन्न माना जाता है। यह सब निरूपण हम यथाक्रम करते हैं।—

(३) 'सर्वानुक्रमणी' कीं वृत्तिकी भूमिकामें षड्गुरुशिष्यने कहा है—'एकविंशत्यध्वसंयुक्तम् ऋग्वेदमृषयो विदुः। सहस्राध्वा सामवेदो यजुरेकशताध्वकम्। नवधाऽऽथर्वणोऽन्ये तु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम्'। यहाँ ऋग्वेदकी २१ शाखाएँ, सामवेदकी १०००,

यजुर्वेदकी १०१ तथा अथर्ववेदकी ९ शाखाएँ तथा किसी अन्यके मतमें १५ शाखाएँ स्वीकृत की गई हैं। 'अन्ये' कहनेसे इस मतमें अरुचि सूचित की गई है। तब ९ शाखाएँ सिद्धान्तपक्ष हुआ।

(ख) इस प्रकार 'प्रपञ्चहृदय' ग्रन्थके वेद-प्रकरण नामक द्वितीय-प्रकरणमें कहा गया है—'बाह्वृच एकविंशतिधा, यजुर्वेद एकोत्तरशतधा, सामवेदः सहस्रधा, अथर्ववेदो नवधा' यहाँपर भी वही बात कही गई है। इस प्रकार चारों वेदोंकी ११३१ संहिता सिद्ध हुई।

(ग) वादिप्रतिवादिमान्य व्याकरणमहाभाष्यकार श्रीपतञ्जलि-मुनिने भी पस्पशाह्निकमें 'सर्वे देशान्तरे' इस वार्तिककी व्याख्या करते हुए चारों वेदोंकी ११३१ शाखाएँ (संहिताएँ) मानी हैं। उनके यह शब्द हैं—'चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या, बहुधा भिन्नाः। एकशतम् (१०१) अध्वर्यु (यजुः) शाखाः। सहस्रवर्त्मा (१०००) *सामवेदः। एकविंशतिधा (२१) बाह्वृच्यम् (ऋग्वेदः)। नवधा (९) आथर्वणो वेदः'।

* 'सहस्रवर्त्मा'का अर्थ 'सहस्रशाखावाला' है। जैसेकि—महाभारत-में शान्तिपर्वमें—'सहस्रशाखं यत्साम' (३४२।९७)। कूर्मपुराणमें—'सामवेदं सहस्रेण शाखानां प्रविभेद सः' (पू. ५२।२०)। तब 'ऐतरेयालोचन'के १२७ पृष्ठमें 'सहस्र-प्रकारका सामगान' यह श्रीसामश्रमीका अर्थ ठीक नहीं। 'चत्वारो वेदा बहुधा भिन्नाः' इस भाष्यके पाठमें शाखा-अर्थ ही इष्ट है।

इसका अर्थ स्वा.द.जीने (सं० १६३८ में बनाये) अपने 'नामिक'के ४थे पृष्ठमें) यह किया है–'साङ्गोपाङ्ग वेद अर्थात् एक सौ एक व्याख्यान (?) युक्त यजुः। हज़ार व्याख्यान (?) युक्त साम। इक्कीस व्याख्यानयुक्त ऋक्। नव व्याख्यान (?) युक्त अथर्ववेद। इस स्वामीके अर्थके अनुसार भी चारों वेदोंकी शाखा ११३१ सिद्ध होती हैं। इसके विरुद्ध अपने अन्य ग्रन्थोंमें स्वामी वा उनके किसी शिष्यने ४ वेद और ११२७ शाखाएँ मानी हैं–यह उनका स्ववचन-विरोध है। अब यही मत आर्य-समाजको मान्य है। यही अब स्वामीका मत कहा जाता है–जैसाकि–आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजारामजी शास्त्रीने अपने अथर्ववेद-भाष्यकी भूमिकामें पृ० १ में कहा है—'श्रीस्वामि-दयानन्द सरस्वतीका मत यह है कि–···शाकल्य संहिता–ऋग्वेद, माध्यन्दिन-संहिता यजुर्वेद, कौथुम संहिता–सामवेद, शौनकीय-संहिता अथर्ववेद है'।

महाभाष्यके अनुसार चारों वेदोंकी ११३१ संहिता होती हैं। 'महाभाष्य'के उक्त-वचनमें यह नहीं कहा गया कि–वर्तमान शाकल, वाजसनेय, कौथुम, शौनक संहिता ही वेद हैं, और अन्य संहिताएँ शाखा हैं, किन्तु सभी शाखाएँ (संहिताएं) मिलकर चार वेद बनते हैं। ब्राह्मणभाग इन्हींमें अन्तर्भूत हो जाता है।

(३) आशय यह है कि–जैसे 'वेद' शब्द समुदायवाचक है, वैसे 'ऋग्वेद' आदि शब्द भी समुदायवाचक हैं। जैसे समुदाय-वाचक 'वेद' शब्दसे ऋक्, यजुः, साम और अथर्व यह चार

अवयव मिलकर भी लिये जाते हैं; और 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस महाभाष्यकी परपशा स्थित उक्तिसे ऋक्, यजुः आदि चारोंमें एकका नाम भी कहा जाता है, जैसे माता-पिताके समुदायसे उत्पन्न पुत्र नामक पिताका पुत्र भी कहा जाता है, कभी दोनोंका भी जाता है, कभी माताके नामसे भी कहा जाता है, जैसे पाण्डवः, कौन्तेयः, श्रीहर्षकविने नैषधचरितके प्रत्येक स अन्तमें अपने माता-पिता दोनोंका नाम कहा है; वैसे ऋग्वेदादि शब्द भी समुदाय-शब्द हैं। यह अपनी संहिताओंको मिलाकर भी बोले जा सकते हैं, और एक संहितासे भी कहे जा सकते हैं।

सार यह है कि–ऋग्वेदकी सारी २१ संहिताएँ समुदाय 'ऋग्वेद-संहिता' नामसे कही जाती हैं; और अलग-अ 'ऋग्वेदशाकल्यसंहिता, ऋग्वेदवाष्कलसंहिता' आदि भिन्न-भि नामोंसे भी भिन्नता बतानेकेलिए कही जाती हैं; और पूर्वो न्यायसे वे भिन्न-भिन्न भी ऋग्वेद नामसे भी कही जा सकती इस प्रकार यजुर्वेदकी सभी १०१ शाखाएँ समुदायरूपसे 'यजुर्वे संहिता' नामसे भी कही जाती हैं, पृथक्-पृथक् वे शाखा 'यजुर्वेद-माध्यन्दिनी (वाजसनेयी) संहिता, यजुर्वेद-काण्वसंहि यजुर्वेद-काठकसंहिता, यजुर्वेद-मैत्रायणीसंहिता नामसे भी क जाती हैं।

उनमें यजुर्वेदके विषयमें यह जानना चाहिये कि–यजुर्वे

दो भेद होते हैं, कृष्णयजुर्वेद और शुक्लयजुर्वेद। कई विद्वानोंका विचार है कि-प्राचीन यजुर्वेदका मन्त्रभाग ब्राह्मणभागके साथ सङ्कीर्ण हो जानेसे और अनुक्रमसे पाठ न होनेसे उससे यज्ञ-कर्मके अनुष्ठानका मार्ग दुर्ज्ञेय हो जाता है; अतः उसका नाम कृष्णयजुर्वेद रखा गया। परन्तु शुक्लयजुर्वेदमें भी यद्यपि कात्यायनसर्वानुक्रमणीके अनुसार तथा उवट-महीधरादिके अनुसार 'देवा यज्ञं' (१६।१२-३१) ब्राह्मणानुवाको विंशतिरनुष्टुभः सोमसम्पत् (२) 'अश्वस्तूपरो' (२४।१) ब्राह्मणाध्यायः' (२) 'ब्रह्मणे-ब्राह्मणम्' (३०।५-६) इति द्वे कण्डिके तपसेऽनुवाकश्च (तपसे कौलालम्-इत्यादि अध्यायसमाप्ति तक) 'ब्राह्मण' है, पर थोड़ा है उसमें दुर्ज्ञेयता नहीं पड़ती; अतः उसे 'शुक्ल' कहा जाता है। पर दोनों ही कृष्ण-शुक्ल संहिताओंके मन्त्रभागमें अन्तर्भूत होनेसे तदन्तर्गत ब्राह्मणको भी मन्त्रभाग ही कहा जाता है; जैसेकि—मन्त्रभागकी सार्थकताके प्रकरणमें निरुक्त (१।१५।८) में 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि' इस कृष्ण-यजुर्वेद-मैत्रायणी संहिता-स्थित ब्राह्मणको भी 'मन्त्र' ही माना गया है। जैसेकि—सामवेद (कौथुम) संहिताके आरण्यकको भी मन्त्रभागान्तर्गत होनेसे 'मन्त्र' ही माना जाता है। जैसेकि—वाजसनेयी एवं काण्व यजुः-संहितामें 'ईशोपनिषद्' उपनिषद् होती हुई भी 'मन्त्र' ही मानी जाती है। महाभाष्य—आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें जोकि यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ बताई गई हैं; उनमें दोनों ही शुक्ल-कृष्ण यजुओंकी संहिताएँ मिलाकर ही १०१ कही गई हैं। उनमें शुक्लकी

वाजसनेयी-काण्व आदि १५ संहिताएँ; और शेष ८६ संहिताएँ कृष्ण-यजुर्वेदकी होती हैं—यह सर्वसम्मत बात स्मरण रख लेनी चाहिये।

इस प्रकार सामवेदकी सभी १००० शाखाएँ समुदायरूपसे सामवेदसंहिता कही जाती है; और पृथक्-पृथक् 'सामवेद-कौथुम-संहिता, सामवेद-जैमिनिसंहिता आदि कही जाती हैं। इसी भांति अथर्ववेदकी सभी नौ शाखाएँ समुदायरूपसे 'अथर्ववेद-संहिता'के नामसे कही जाती हैं; और अलग-अलग 'अथर्ववेद-शौनकसंहिता, अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिता' आदि नामोंसे कही जाती हैं।

यह ११३१ संहितारूप भाग वेदका 'मन्त्रभाग' कहा जाता है; उसी वेदका अन्य भाग ब्राह्मणभाग कहा जाता है। यह दोनोंके पृथक्-पृथक् नाम हैं। और मिलकर दोनों वेद कहे जाते हैं; और 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस भाष्यकारानुमोदित-न्यायसे पृथक्-पृथक् भी वेद कहे जाते हैं।

तब मन्त्रभागकी जितनी संहिता होती हैं; उतने ही ब्राह्मण, उतनी ही उपनिषदें और उतने ही आरण्यक होते हैं। यह सब अपौरुषेय, नियतानुपूर्वी तथा नियतपदप्रयोगपरिपाटी वाले होनेसे वेद हैं। यही प्राचीन-मत है। इस कारण आर्यसमाजी पण्डित श्रीराजाराम शास्त्रीने श्रौतसूत्रकारोंका मत दिखलाते हुए अपनी अथर्ववेदभाष्यभूमिकाके प्रथम-पृष्ठमें लिखा है—वैदिक-साहित्यके दो भाग हैं, मन्त्र और ब्राह्मण। जिनमें मन्त्रोंका

संग्रह है, वे मन्त्र-संहिताएँ कहलाती हैं और जिनमें ब्राह्मणोंका संग्रह है, वे ब्राह्मण कहलाते हैं। आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मणभागके परिशिष्ट होनेसे ब्राह्मणके अन्तर्गत माने जाते हैं। यह सारा साहित्य मिलकर वेद कहलाता है। यह कात्यायन आदि श्रौतसूत्रकारोंका मत है'।

इस प्रकार वेदकी संख्या बहुत हो जानेसे ही यजुर्वेद तैत्तिरीय-ब्राह्मणमें कहा है—'अनन्ता वै वेदाः' (३।१०।११(४) वेदोंकी अनन्तता यही है कि–११३१ मन्त्र, इतने ही ब्राह्मण, इतने ही आरण्यक, इतनी ही उपनिषदें। इनका अन्त पुरुषकी आयुमें नहीं हो सकता। आर्यसमाजके मतमें केवल चार पोथियोंका नाम वेद होनेसे अनन्तता नहीं हो सकती। अतः उसका मत उक्त वचनसे विरुद्ध होनेसे भी ठीक नहीं। इन्हीं ११३१ संहिताओंके उतने ही अङ्ग, उतने ही श्रौतसूत्र, उतने ही धर्मसूत्र और उतने ही धर्मशास्त्र हुआ करते हैं। इसीलिए स्वा.द.जीने सं० १९३३ की संस्कारविधिमें शाकल्य, वाजसनेय, कौथुम, शौनक संहितारूप चार वेदोंके आश्वलायन, पारस्कर, गोभिल और शौनकगृह्यसूत्रोंका तत्तत्संस्कारोंमें मन्त्र एवं सूत्रों-का संग्रह किया था।

(४) वेदके बाहुल्यमें यह भी एक प्रमाण है कि–यदि वेद वर्तमान चार पोथियाँमात्र होतीं, तो उनके प्रयोगोंके सिद्ध करनेमें क्या कठिनता थी; अनायास ही पाणिनि उनकी सिद्धि कर डालते। लौकिक-व्याकरणमहासमुद्रकी सिद्धि पाणिनिने

अष्टाध्यायीमें सीमित सूत्रोंसे कर डाली; तब इन चार पोथि के प्रयोगोंकी सिद्धिकी व्यवस्थामें कोई कठिनाई नहीं परन्तु जो कि–आचार्यने 'बहुलं छन्दसि, छन्दस्युभयथा' बहुत सूत्र बना डाले, 'बहुल' कहनेसे उनकी बहुतायत हो व्यवस्थामें कठिनाई देखकर उनकी अव्यवस्थितता सूचित दी, श्रीपाणिनिके ही अभिप्रायको लेकर भाष्यकार श्री 'छन्दसि दृष्टानुविधिः, छन्दसि सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते' परिभाषाएँ बनाईं, इससे वेद अनन्त सिद्ध होता है। तब ११ संहिताओं, ११३१ ब्राह्मणों उतनी ही आरण्यक एवं उपनि वेद होनेसे उसमें स्वतः आनन्त्य सिद्ध होनेसे उसका पा पा सकनेसे बहुत बहुलता वाले सूत्र तथा परिभाषाएँ ब पड़ीं, इससे वेद चार पोथियोंमें सिद्ध न होकर अनन्तपार होता है। इसलिए सम्पूर्ण वेदको पढ़नेकेलिए ४८ वर्षका ब्र नियत किया गया; बल्कि–भारद्वाज ऋषिने तो कई मनुष्य आयु माँगी थी। इससे वेदोंकी अनन्तता सिद्ध होती है। चार पोथियाँ माननेपर तो उनकी समाप्ति बहुत थोड़े स हो जाए। उसकेलिए लम्बी-लम्बी अवधियाँ व्यर्थ हो इससे भी सिद्ध है कि–संहिता-ब्राह्मणात्मक सारा ही वेद केवल ४ पोथियाँ नहीं। इसीलिए ही 'काठकगृह्यसूत्र'में ४ सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीदेवपालने कहा है–'स हि ब्राह्मणज्ञो विद्वान् यमुपनयते, स एतेषां प्रसिद्धानां वेदानाम शाखायुक्तानां मध्ये यथेच्छमेकं द्वौ त्रीन् वा अधीते सर्व

खचितान्'।

इतने बड़े वैदिक-साहित्यमें सूत्रग्रन्थ तथा स्मृतियां पौरुषेय होनेसे और नियतपदप्रयोग-परिपाटीवाले न होनेसे वेद नहीं कहे जाते, किन्तु उनसे भिन्न ही होते हैं, इसीलिए 'छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति' इन परिभाषाओंसे उन्हें वेदवत् बताया गया है, वेद नहीं। अतः वे स्वतः वेदसे भिन्न हो गये। 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं ँ सामवेदमाथर्वणं (७।१।२) इस छान्दोग्य-उपनिषद्के नारद-वाक्यमें तो ऋग्वेद-आदि शब्द समुदायपरक हैं; उनसे ऋग्वेदादि की सभी संहिताओं तथा सब ब्राह्मणोंका ग्रहण है-यह हम*छठे सुमनमें बता चुके हैं; इसीलिए मनु. (३।२) पद्यकी टीकामें श्रीकुल्लूकभट्टने भी लिखा है-'वेदशब्दोऽयं भिन्न-वेदशाखापरः। स्वशाखाध्ययनपूर्वक-वेदशाखात्रयं द्वयमेकां वा शाखां मन्त्र-ब्राह्मणक्रमेण अधीत्य'।

परन्तु स्वा.द.जी तथा उनके अनुयायियोंने यहाँ बड़ी भ्रान्ति पैदा कर दी है। वे केवल वर्तमानमें मिलनेवाली ऋग्वेद-संहितादि चार पोथियोंको चारों वेद और अवशिष्ट संहिताओंको इन वेदोंकी शाखाएँ प्रचारित करते हैं। परन्तु उनका मत 'बालूकी दीवार' है; क्योंकि-जिसका नाम स्वामीने 'ऋग्वेद' कहा है, वह ऋग्वेदकी 'शाकल्य-संहिता' है। इस प्रकार जिसे वे 'यजुर्वेद' कहते हैं, वह उसकी वाजसनेयी (माध्यन्दिनी) संहिता है। जिसे वे 'सामवेद' कहते हैं. वह सामवेदकी 'कौथुम-संहिता' है, जिसे

*'श्रीसनातनधर्मालोक'के छठें सुमनका मूल्य १०) है।

वे 'अथर्ववेद' कहते हैं, वह उसकी शौनक-संहिता नामक शाखा है। जैसे शाखासमूहमें शाखी अलग नहीं मिलता. वैसे ही ऋग्वेदादि भी अपनी शाखासे अलग नहीं मिलते।

इस प्रकार स्वा.द. सम्मत 'वैदिक-धर्म' सर्वथा नष्ट हो गया, क्योंकि-वे शाखाओंको वेद इस कारण नहीं मानते; कि-शाखाएँ ऋषिप्रोक्त हैं, और वेदका व्याख्यान हैं। इसके अनुसार तो उनसे माने हुए वेद भी शाखा होनेसे ऋषिप्रोक्त तथा वेदका व्याख्यान ही होंगे, तब स्वा.द.के मतमें वेदके अत्यन्ताभाव होनेसे उनका मूल-सिद्धान्त 'वैदिक-धर्म' नष्ट ही हो गया। तब उनका सम्प्रदाय भी निर्मूल ही हुआ।

वस्तुतः वेद-संहिताएँ सभी शाखाएँ ही हैं। इसीलिए 'ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च' (१२।११२) इस मनुपद्य की व्याख्यामें श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है-'ऋग्यजुःसामवेद-शाखानां येऽध्येतारस्तदर्थज्ञातारश्च'। इस प्रकार 'ऋचो यजूँषि चान्यानि सामानि विविधानि च। एष ज्ञेयस्त्रिवृद् वेदो यो वेदैनं स वेदवित्' (११।२६४) यहाँ भी श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—'ऋच ऋङ्मन्त्राः यजूंषि-यजुर्मन्त्राः, सामानि-बृहद्रथन्तरादीनि नानाप्रकाराणि। एषां त्रयाणाम् पृथक्-पृथक् मन्त्र-ब्राह्मणानि एष त्रिवृद् वेदो ज्ञातव्यः। य एनं वेद स वेदविद् भवति'। इस प्रकार मन्त्र और ब्राह्मण मिलकर वेद हुआ करता है-यह सिद्ध हो गया। पहले प्रत्येक शाखाके साथ वेदकी संहिता, तथा उसके ब्राह्मणका नाम लिखा हुआ करता था, स्वामीने यह परिपाटी

लुप्त कर दी, इससे अब पण्डित भी भ्रममें रहते हैं। वे केवल इन्हीं वर्तमान चार शाखाओंको तो वेद तथा अन्य शाखाओंको केवल शाखा और ब्राह्मणको ब्राह्मण ही मानते हैं।

(५) 'वैदिक वा ़्मयका इतिहास' (प्रथमभाग ७२ पृष्ठ)में उसके प्रणेताने ऋग्यजुः-सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाः चत्वारः पादा भवन्ति' (१।१२) इस नृसिंहपूर्वतापिनी-उपनिषद्की कण्डिकामें वेदसे पृथक् 'शाखा' शब्दको देखकर इस प्रकार भवस्वामीके 'तच्छाखानामपि...' शाखा वेदके अवयव हैं, इस पक्षको अशुद्ध बताया है, पर यह भ्रममात्र है। 'सशाखो वृक्षः' कहनेसे क्या शाखाएँ वृक्षसे भिन्न हो जाती हैं? 'राहोः शिरः' कहनेसे क्या राहु और शिर यह दोनों पृथक्-पृथक् हो जाते हैं? 'पटस्य तन्तवः' कहें; तो क्या पट और तन्तुमें भेद हो जावेगा? जैसे शाखाओंसे भिन्न वृक्षकी सत्ता नहीं हुआ करती, वैसे वेद-वृक्ष भी अपनी शाखाओंसे भिन्न सत्ता नहीं रखता। शिरसे भिन्न राहु कोई वस्तु नहीं, तन्तुसे भिन्न पट कोई वस्तु नहीं। इस प्रकार वेद भी शाखाओंसे भिन्न कोई वस्तु नहीं। उपनिषद्का उक्त वचन तथा महाभाष्यकारके 'एकशतमध्वर्यु-शाखाः' इत्यादि वाक्यमें कोई विलक्षणता नहीं। चारों वेदोंकी ११३१ शाखाएँ हुआ करती हैं; यह आजकलकी प्रसिद्ध वेदोंकी चार पोथियाँ भी शाखाएँ ही हैं; जिनके नाम क्रमशः शाकल्य, वाजसनेयी, कौथुम, शौनक हैं-यह हम पूर्व कह चुके हैं। यदि कहा जावे कि-यह अन्य शाखाओंका मूल है-यह भी ठीक नहीं;

मूल तो छिपा रहता है, वह दिखाई नहीं देता; यह मूल जो दीख रहा है, सो मूलवेद बीजरूप परमात्माके पास ही है; यह तथा अन्य उसी वेदकी शाखाएँ ही हैं, जो दीख रही हैं। इस प्रकार 'सशाखाश्चत्वारो वेदाः' इस उपनिषद्के वचनमें भी शाखाएँ वेदसे पृथक् सिद्ध नहीं होतीं, किन्तु वेदके अवयव ही सिद्ध होती हैं; इसीलिए अमरकोष (२।४।१ की रामाश्रमी-टीकामें हैमके प्रमाणमें कहा है-'शाखा द्रुमांगे वेदांशे'। इस प्रकारके अन्य वचनोंमें भी कहीं तो गो-बलीवर्द न्यायका, अथवा ब्राह्मणवसिष्ठ न्यायका, वा ब्राह्मणपरिव्राजक न्यायका अथवा 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस महाभाष्योक्त न्यायका, तथा 'वेदस्य शाखाः' 'राहोः शिरः' इस व्यपदेशिवद्भाव (अभेदमें काल्पनिक भेद व्यवहार) न्यायका अनुसरण किया गया है-यह सम्यक्तया जान लेना चाहिये।

(६) स्वा.द.जीने अपने 'नामिक'के पूर्वोद्धृत-वचनमें यद्यपि चार वेदोंकी ११३१ शाखाएँ मानी हैं; तथापि शाखाओंको व्याख्यान माना है; पर यह ठीक नहीं। तैत्तिरीय-काण्वादि जो शाखाएँ हैं; उनमें स्वा.द.जीसे अभिमत चार वेद-पोथियोंकी व्याख्या नहीं; किन्तु वे भी उन-उन संहिताओंके स्वतन्त्र मन्त्र हैं। यदि वे वा उनके अनुयायी शाखाओंको वेद नहीं मानते तो वे शाखाओंसे अतिरिक्त वेदोंको कहीं ढूँढ दिखलाएँ। क्या शाखाओंसे भिन्न भी शाखी कहीं मिल सकता है? उनके मा

हुए चार वेद भी तो चारों वेदोंकी एक-एक शाखा हैं--यह हम पूर्व निर्देश कर चुके हैं।

'शाखाके वेद-व्याख्यान होनेके आर्यसमाजी पक्षमें हम अपने समयके आर्यसमाजके विद्वान स्वा. हरिप्रसाद 'वैदिकमुनि'की आलोचना उनके 'वेदसर्वस्व' (प्रथमभाग)के ४३ पृष्ठसे उद्धृत करते हैं। उसमें यह लिखा है—'जब यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि-सब शाखा-ग्रन्थोंमें कोई ग्रन्थ व्याख्यान और व्याख्येय नहीं है, किन्तु क्वाचित्क पाठभेद और पाठ-न्यूनाधिक्यको छोड़के सब एक-दूसरेके समान हैं, तब ११३१ में चार शाखा व्याख्येय और शेष ११२७ [शाखा] व्याख्यान हैं, यह कल्पना करना और मानना कैसे समञ्जस कहा जा सकता है ? वास्तवमें महाभाष्य-कृत् पतञ्जलिमुनिका उक्त [११३१ शाखा वाला] लेख शाकल आदि प्रवचनकर्ता-ऋषियोंके भेदसे वेदोंके ११३१ भेदोंको कहता है'।

'ऐतरेयालोचन'में श्रीसत्यव्रतसामश्रमीने भी कहा है—'भिन्न-देशकालव्यक्तिलिखितानां बहुतरादर्शपुस्तकानामवश्यम्भावी एव पाठभेदादिभावः, तथाभूतपाठभेदादिहेतुक एव शाखानां भेदः'।

उक्त दोनों उद्धरणोंमें हमारी पूर्णतया तो सहमति नहीं; नहीं तो कृष्ण-शुक्ल संहिताओंमें बहुत भेद कैसे होगया ? तब तो मनुष्य-कल्पित पाठभेदवश सभी शाखाएँ [आजकी चारों संहिता भी साथ] पौरुषेय हो जाएँगी; और मन्त्र न रह सकेंगी। जहाँ ऊह (परिवर्तित) किये हुए मन्त्रको भी मन्त्र नहीं कहा जाता, तब वहाँ पाठभेदसे भिन्नको तो भला मन्त्र कैसे कहा जा सकेगा; और फिर भिन्न-भिन्न शाखा अपूर्ण वेद हो जाएँगी; क्योंकि-भिन्न-भिन्न शाखाओंमें भिन्न-भिन्न मन्त्र भी दीखते हैं; तब किस शाखाका पाठ परमात्मासे प्रोक्त और प्रामाणिक है, और किसका नहीं; इसमें विनिगमना (एकपक्ष-निर्णायक-युक्ति)के न होनेसे सभी संहिताएँ (शाकल-वाजसनेयी-कौथुमी-शौनकी आदि वादियोंसे अभिमत संहिताएँ भी) अप्रमाण हो जाएँगी।

और फिर ११३१ पाठभेद ही नियत क्यों हुए। आजकल भी पाठान्तर मिलते हैं; वह भी स्वतन्त्र शाखा क्यों न हो जावे ? वस्तुतः थोड़े भेदसे भिन्न शाखाका रखना भी व्यर्थ है। अब बहुत सी शाखाएँ लुप्त हैं, यदि मिल जावें; तो उनमें पर्याप्त भेद दिखलाई पड़े। काठक-मैत्रायणी आदि शाखाओंमें वाज-सनेयी-तैत्तिरीय संहिता आदिसे बड़ा भेद प्रत्यक्ष ही है।

वस्तुतः जिस-जिस ऋषिने समाधिद्वारा मूल-परमात्मासे जो-जो मन्त्रसंहिता जिस-जिस मन्त्ररूपसे प्राप्त की; वह स्वतन्त्र ही शाखा वा स्वतन्त्र ही मन्त्र मानना पड़ता है, वहाँ व्याख्यान-व्याख्येयता कुछ भी नहीं। तब जिस कुलने जिस ऋषिकी श्रद्धावश उससे दृष्ट संहिता मुख्य मान ली; कुल-परम्परासे उस-उसमें वही चलती रही। वही उसमें वेदरूपमें मानी गई, उसीका शेष ब्राह्मण भी उसीमें अन्तर्गत माना गया। श्रीवेदव्यासने उनका सङ्कलन यज्ञानुसार कर दिया। कई मन्त्र इस यज्ञमें

जितने वार भिन्न-भिन्न कर्मकेलिए प्रयुक्त किये जाते थे, वे मन्त्र भी उतने वार पढ़े। हाँ, अपनी संहितामें दृढनिष्ठार्थ कहीं-कहीं अन्य संहिताओंकी पौरुषेयता भी निन्दार्थवादवश कर दी गई; जिससे साधक अन्यनिष्ठ होकर 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' न्यायका उदाहरण न बन जावे। यही शैली श्रीवेदव्यासने भिन्न-भिन्न देवके पुराणोंमें भी रखी; और अनन्य-निष्ठतार्थ कहीं-कहीं भिन्न-भिन्न देवका निन्दार्थवाद भी रख दिया गया। वहाँ भी वास्तवमें निन्दा निन्दा न होकर 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्' इस न्यायसे अनन्यनिष्ठामें पर्यवसित हो जाती है।

यदि पूर्वपक्षी लोग यह बात न मानें; किन्तु उन ११२७ शाखाओंको इन ४ शाखारूप वेदका ही व्याख्यान मानें; और इन शाकल आदि ४ शाखाओंको ही मूल वेद मानें; तो उनकी मानी हुई वाजसनेयी आदि चार शाखाओंमें भी बड़ी गड़बड़ी उपस्थित हो जाएगी। वे देखें।

उनकी मानी हुई ऋग्वेद (शाकल्य) संहितामें इस प्रकारके ४०० के लगभग मन्त्र हैं जो वार-वार आते हैं। सामवेद (कौथुम) संहितामें १८२४ मन्त्र हैं; उनमें ७५को छोड़कर शेष सब ऋ.शा.सं.में आते हैं। यजुर्वेद (वाजसनेयी) संहितामें भी ऋ.सं.के बहुतसे मन्त्र आते हैं; बल्कि यों कहना चाहिये कि-आधी यजुर्वेद-संहिता ऋ.सं.से ली गई है। आर्यसमाजी श्री-शिवशङ्करकाव्यतीर्थके मतमें यजुर्वेदसं.के अपने मन्त्र ६८७ हैं,

शेष ६८७ ऋसं.से लिये गये हैं। इस प्रकार अथर्ववेद (शौनक) संहितामें ५९७७ मन्त्र हैं। उनमें श्रीपाददामोदरसातवलेकरके मतसे ७०० यह अथर्व.सं.की अपनी मन्त्र-संख्या है; शेष मन्त्र ऋग्वेदसंहिता आदिसे गृहीत हैं। वहांके १२०० मन्त्र तो साक्षात् ऋसं.के १, ८, १० तथा दूसरे मण्डलोंसे संगृहीत हैं। २०वें काण्डके १४३ सूक्त १२वें. सूक्तको छोड़कर सभी ऋसं.से गृहीत हैं। १४वाँ काण्ड प्रायः ऋसं.के १०म मण्डलसे लिये हुए विवाहसम्बद्ध मन्त्रोंसे पूर्ण है। १८वाँ काण्ड ऋसं.के १०म मण्डलसे निकाले हुए मन्त्रोंसे युक्त है।

इस प्रकार यदि प्रतिपक्षी-लोगोंके स्वसम्मत चार वेदोंकी संहिताओंमें बहुत सी समानता है; और वे उन्हें वेद मानते हैं, और अपने-अपने मन्त्रको उस-उस वेदसंहिताका अपना स्वतन्त्र मन्त्र मानते हैं; वैसे ही अन्य संहिताओंमें भी थोड़ी-थोड़ी विलक्षणता होनेपर उन्हें भी उन संहिताओंके स्वतन्त्र मन्त्र मानें, और उन्हें वेद मानें; तथा उनकी भिन्नताकी चरितार्थता भिन्न-कुलोंके अध्ययनार्थ मानें। सभी व्यक्ति सभी संहिताएँ तो नहीं पढ़ सकते; इसलिए सभीको स्वकुलपरम्परावश चारों वेदोंकी अपनी कुलानुसृत चार संहिताओंको पढ़ना चाहिये। अपनी संहिताओंमें दृढ निष्ठा रखते हुए भी अन्य कुल की संहिताओंको अपने किसी ग्रन्थमें उनकी मानुषिकताका निन्दार्थवाद देखकर भी उन्हें सम्मानकी दृष्टिसे देखना चाहिये; और उन्हें वेद ही मानना चाहिये। इस प्रकार थोड़े भी भेदमें

शाखाभेदकी चरितार्थताकी सफलता है।

तब श्रीविश्वरूपद्वारा बालक्रीडा (१।७) में 'न हि मैत्रायणी शाखा काठकस्य अत्यन्त-विलक्षणा' इस उल्लेखको देखकर 'इससे शाखाएँ वेदके अवयव नहीं' यह अपने 'वैदिक वाङ्मय-का इतिहास'के प्रथमभाग (प्र.सं.) के ७३ पृष्ठमें सिद्ध करते हुए उसके प्रणेता आर्यसमाजी अनुसन्धाता महाशय प्रत्युक्त होगये। 'न हि अत्यन्त-विलक्षणा'से सिद्ध होता है कि-कुछ विलक्षण है; और अन्य शाखाएँ तो इन शाखाओंसे बहुत विलक्षण हैं। अथवा थोड़ा भी भेद हो, तथापि सामवेदसे ऋग्वेदकी भांति प्रतिपक्षियोंको सभी शाखाओंको अपनी शाखाओंकी भांति वेद मानना ही चाहिये। इस प्रकार श्रीवैदिकमुनि तथा श्रीसामश्रमीके वचनसे यह तो सिद्ध हो ही गया कि-शाखाएँ स्वा. दयानन्दा-नुसार व्याख्यान नहीं; किन्तु स्वतन्त्र वेद हैं।

(७) स्वा.द.के शाखाओंको वेद-व्याख्यान कहनेकी पुष्टि करनेकेलिए जो कि आर्यसमाजिक अनुसन्धाता महाशयने 'वैदिक-वाङ्मयका इतिहास' (प्रथमभाग पृ० ७३-७४-७५) में वर्तमान वेदसंहिताओंके पदोंकी अन्य शाखाओंके मन्त्रोंमें कहीं-कहीं पर्यायवाचकता दिखलाई है कि-'ऋग्वेदमें एकपाठ है-'सचिविदं सखायं' (१०।७१।६) इसीका व्याख्यान 'तैत्तिरीयारण्यक'में है-'सखिविदं सखायं' (३।१,२।१५।१); यजुर्वेदमें एक पाठ है-'भ्रातृ-व्यस्य वधाय' (१।१८) इसीका व्याख्यान काण्वसंमें 'द्विषतो वधाय' (१।३) है" यही शाखाग्रन्थोंका व्याख्यानग्रन्थ होना

और मूलवेद न होना बताया है; 'इतिहास'कारका यह मत ठीक नहीं। ऐसी बात तो उनकी मानी हुई संहिताओंमें भी दीखती है; तो क्या वे उन्हें मूल-वेद न मानेंगे? देखिये—

(क) यजुर्वेद (वाज.) सं. (१६।६०) में 'ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः' यह पद है, और ऋग्वेदशा.सं. (१०।१५।१४) में तथा अथर्ववेद शौ.सं (१८।२।३५) में 'ये अग्निदग्धा ये अनग्नि-दग्धाः' यह 'अग्निष्वात्त' पदकी व्याख्या है, शेष सारा ही मन्त्र समान है; क्या यहाँ भी प्रतिपक्षी अपनी ऋसं. तथा अथर्वसं.को यजुर्वेदका व्याख्यान मानकर उन्हें यजुःकी शाखा और उनका मूलवेद न होना मान लेंगे?

प्रतिपक्षी कुछ अन्य भी वेदोंके उदाहरण देखें। (ख) ऋसं. में 'अघासु हन्यन्ते गावः' (१०।८५।१३) मन्त्र है, और अथर्व-सं.में 'मघासु हन्यन्ते गावः (१४।१।१३) है; तो क्या इस थोड़ेसे भेदमें प्रतिपक्षी अथर्वको ऋसं.की व्याख्या मानकर उसे मूलवेद न मानेंगे? (ग) 'प्रजापते! न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव' (ऋ. १०।१२१।१०) यहाँ 'विश्वा जातानि' पाठ है, यजुर्वेदवा.सं.में विश्वा रूपाणि परि ता बभूव' (२३।६५) और अथर्वशौ.सं.में 'विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान' (७८५(८०)।३) यह पाठ है, शेष सारा मन्त्र समान है। (घ) इस प्रकार यजुःवा.सं.में 'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः' (३१।११) यह पाठ है पर अथर्ववेद-शौ.सं. में 'मध्यं तदस्य यद् वैश्यः' (१६।६।६) यह थोड़ा ही भेद है, शेष समानता है।

(ङ) इस प्रकार 'बाहू राजन्यः कृतः' (३१।११) यह यजुःवा.सं. में तथा 'बाहू राजन्योऽभवत्' यह अथर्व शौ.सं. (१६।६।६)में पाठ है। (च) यजुर्वेदीय (वा.सं.) पुरुषसूक्तमें 'उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति' (३१।२) यह पाठ है, परन्तु अथर्वसं.में उनका व्याख्यानरूप मन्त्र इस प्रकार है—'उताऽमृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह' (१६।६।४) यहां 'ईश्वरः' यह 'ईशानः' की स्पष्ट व्याख्या है। (छ) 'स भूमि ँ सर्वतः स्पृत्वा' (३१।१) यह यजुः वा.में पाठ है; सामवेद-कौथुमसं. (आरण्यक. ६।४।३१)में 'सर्वतो वृत्वा' यह पाठ है। (ज) 'ततो विराडजायत' (३१।५) यह (यजुर्वेद वा.सं.)में पाठ है; उसीका व्याख्यानरूप पाठ 'विराडग्रे समभवत्' (१६।६।६) अथर्वसं.में है। (झ) यजुर्वेदसं.में 'पादोस्य विश्वा भूतानि' (३१।२) यह पाठ है, और सामवेदसं.में 'पादोस्य सर्वा भूतानि' (आरण्यकपर्व ६।४।५) यह पाठ है, 'विश्वा'की 'सर्वा' यह व्याख्या है। तो क्या यहाँ स्वसम्मत वेद-संहिताओंमें भी व्याख्यान-व्याख्येयता मानकर आर्यसमाजी विद्वान् अथर्ववेदशौ.सं. तथा 'साम.सं. को मूल वेद न मानेंगे ? वास्तवमें यह उनका निर्मूलपक्ष है।

कुछ अन्य मन्त्र भी इस विषयमें देखें—(ञ) 'एतावानस्य महिमा' (३१।३) यह यजुः.सं.में पाठ है, और 'तावानस्य' (आर. ६।४।६) यह साममें पाठ है। (ट) 'ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि' (३१।४) यह यजुःसं.में पाठ है, और 'तथा विष्वङ् व्यक्रामद् अशनानशने अभि' (६।४।४) यह सामसं.में

पाठ है। (ठ) 'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं ह दुवस्य' (ऋ. १०।१४।१) इस 'दुवस्य' पदकी व्याख्या—'वैव सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत' (अ. १८।३ 'सपर्यत' है। (ड) इदमापः ! प्रवहत यत् किञ्च दुरितं म यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्' (ऋ० १०।६।८) इ अनुवाद यजुर्वेदसं.में देखिये—'इदमापः प्रवहत अवद्यं च च यत्। यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्। आपो तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु' (६।१)। (ढ) उदीर्ष्वातः पति ह्येषा विश्वावसुं नमसा ईले' (ऋ. १०।८५।२१) इसीकी व्याख 'उत्तिष्ठ इतो विश्वावसो ! नमसा ईडामहे त्वा' (अथर्व.सं.१४।२ यह मन्त्र है। तब क्या इन व्याख्यान-व्याख्येयताको देख अर्वाचीन मतवाले अपने वेदोंको भी शाखा मानकर वेदत्वसे हटा देंगे ? इस विषयमें जो उनका उत्तर होगा, न्य शाखाओंमें पर्यायवाचक पद रखने पर भी समझ चाहिये।

क्या 'एष वोऽमी राजा' (यजुःवा.सं. ६।४०,१०।१८) वादीसे सम्मत मूल पाठमें 'एष वः कुरवो राजा, एष पञ्चा राजा' (यजुःका.सं. ११।३।३) 'एष वो जनते राजा' (यजुःका सं. १५।७, मैत्रायणीसं. ११।६।६) 'एष वो भरता राजा' (अ तै.सं. १।८।१०।१२) यह शाखान्तरके पाठ पर्यायवाचका व्याख्या कही जा सकती है ? 'ततो न विचिकित्सति' (यजुःवा ४०।६) इस पाठके स्थान पर 'ततो न विजुगुप्सते' (यजुःकाण्व

का पाठ क्या पूर्वका पर्यायवाचक है ?

इस प्रकार किसी शाखामें वालखिल्यसूक्तोंका होना, किसीमें न होना, क्या आपसमें व्याख्यान-व्याख्येयता है ? कहीं सूक्तोंकी न्यूनाधिकता और मन्त्रोंका भेद क्या व्याख्यान-व्याख्येयता है ? थोड़े भेदमें शाखाभेद तथा अवेदत्व माननेपर 'स दाधार पृथिवीमुत द्याम्' (अथर्व. ४।२।७) और 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' (ऋ.सं. १०।१२१।१) यहाँ भी थोड़ा भेद होनेसे क्या एकमें अमूलता वा अवेदता मान ली जावेगी ? इस प्रकार शुक्ल एवं कृष्णयजुःमें बड़ा भेद है; तब क्या यह व्याख्यान-व्याख्येयता है ? दोनों संहिताओंके प्रथम मन्त्रमें ही पाठ-भेद देखिये—इसमें व्याख्यान-व्याख्येयता कुछ भी नहीं। बाष्कल-शाखामें अनुवाकानुक्रमणीके अनुसार शाकल शाखासे ८ मन्त्र अधिक हैं। तब बाष्कलशाखा शाकलशाखाकी ही व्याख्या कैसे ? इतिहासके अनुसार तैत्तिरीय-संहिताकी भाषा तथा उसकी रचना वाजसनेयी-संहितासे बहुत प्राचीन है; तब तैत्तिरीय-संहिता वाजसनेयी-संहिताकी व्याख्या कैसे ?

वस्तुतः एतदादिकतामें व्याख्या-व्याख्येयता नहीं हुआ करती। तब कौन-सी शाखा मूल है, कौनसी व्याख्या है—यह भी विनिगमना (एकपक्षकी युक्ति) न होनेसे निर्णीत नहीं हो सकता ? इससे प्रतिपक्षियोंका यह मत निर्मूल ही है। स्वा.द.जीने काण्व-शाखाकी ईशोपनिषद्को वेद माना है; तब उनके मतमें अन्य शाखाएँ भी वेद सिद्ध हुईं। बृहदारण्यक उपनिषद् भी काण्व-

यजुःसंहिताके शतपथका अन्तिम भाग है।

ब्राह्मणभागको आर्यसमाजी वेदका व्याख्यान मानते हैं; तब क्या वे ब्राह्मणग्रन्थोंको वेदकी शाखाएँ मानते हैं, क्योंकि वे शाखाका अर्थ वेदका व्याख्यान करते हैं। श्रीभगवद्दत्तजीने 'सचिविदं सखायं' (ऋ. १०।७१।६) का व्याख्यान 'सखिविदं सखायं' (१।३।१, २।१५।१) इस प्रकार तैत्तिरीयारण्यकमें माना है। तो क्या वे आरण्यकको भी वेदोंकी शाखा मानते हैं ? वास्तवमें स्वा.द.के निर्मूल पक्षके समर्थनार्थ ही यह उनका प्रयत्न है; पर वह निष्फल है।

(८) अब प्रकरणपर चलिये—शाखी अथवा अवयवी अथवा मूल वेद ही है। वह (वेद) एक ही होता है। मूल बहुत संख्या वाला नहीं होता। अथवा अवयवी भी बहुत संख्या वाला नहीं होता। न्यायदर्शनमें लिखा है—'नानास्थानश्च सन् एकोऽवयवी' (३।१।५१) अर्थात् अवयवी अपने अनेक अवयवोंरूप अनेक स्थानोंमें होनेपर भी एक ही होता है। उस अवयवीके स्थूल अवयव ऋक् आदि चार होते हैं। उन चार अवयवोंकी सभी संहिता ११३१ होती हैं। भिन्न होनेपर लोक-व्यवहारवश इन्हें शाखाएँ कहा जावे; पर यह सारा समुदाय मिलकर वेद कहा जाता है। शाखाओंसे भिन्न शाखी कहीं नहीं होता। अवयवोंसे भिन्न अवयवी कहीं नहीं मिलता। इसमें न्यायदर्शनका प्रमाण देखिए—

"यस्य (अवयवीका) यतः (अवयवसमुदायसे) अन्यत्र (भिन्न, स्वतन्त्रतासे) आत्मलाभानुपपत्तिः (अपना स्वरूप नहीं मिलता),

तस्य (अवयवीका) सः (अवयवसमुदाय) आश्रयः (आधार होता है)। न कारणद्रव्येभ्यः (अवयवोंसे) अन्यत्र (भिन्न, स्वतन्त्रता-से) कार्यद्रव्यम् (अवयवी) आत्मानं लभते (अपनी सत्ता नहीं रखता) कारणद्रव्य-अवयव आधार होते हैं; और कार्यद्रव्य-अवयवी आधेय होता है, उनका आधार-आधेयभाव सम्बन्ध होता है। (४।२।१२)

न्यायदर्शनमें अन्यत्र भी इस विषयमें कहा है-'तस्य (अवयवीका) अवयवस्थानस्य (अवयव आश्रय हुआ करते हैं) (२।१।३२) 'नहि अस्य (अवयवी वेदके) कारणेभ्यः (अवयवभूत शाखारूप कारणोंसे) अन्ये एकदेशा भवन्ति (भिन्न अवयव नहीं मिलते, किन्तु अवयव-शाखा ही अवयवी वेदके एकदेश होते हैं) (२।१।३२)। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि-सभी अवयव मिलकर ही अवयवी होता है। अवयव ११३१ शाखाएँ तथा ब्राह्मण हैं, वे मिलकर ही अवयवी वेद बनता है।

यह हम कह ही चुके हैं कि-अवयवोंसे अलग अवयवी, शाखाओंसे भिन्न वृक्ष कहीं नहीं मिलता। इस प्रकार वेद-वृक्ष भी अपनी शाखाओंसे भिन्न कहीं अलग नहीं मिलता। जो कि आर्यसमाजी मूल वेदोंको चार मानते हैं, तो क्या वृक्षके मूल बहुत होते हैं? नहीं, मूल एक ही होता है। तब वादी उस मूल वेदको जो ऋगादि अपने अवान्तर भेदसे अलग हो; क्या कहीं दिखला सकते हैं? यदि नहीं; तब स्पष्ट है कि-वृक्ष वा मूल वेद ही है, वह एक ही है। उसके स्थूलरूपसे दो स्कन्ध हैं-१

मन्त्रभाग और २ ब्राह्मणभाग।

इनमें मन्त्रभागकी स्थूलशाखाएँ ऋक्, यजुः, साम, अ भेदसे चार हैं। तब उन चारोंकी अवान्तर शाखाएँ ११३१ इस प्रकार ब्राह्मणभागके भी वही चार भेद हैं; उनके ११३१ भेद हैं। जैसे साहित्यमें ध्वनिके भेद ५१ माने जाते परन्तु 'ध्वनि' उनसे पृथक् कोई नहीं होती वा मिलती; उसके भेदोंका समुच्चय ही ध्वनि हुआ करती है। अथवा देहली है, वह अपनी सीमाके घर, भूमि आदिसे भिन्न स्व रूपमें नहीं मिलती। पुरुष जा रहा होता है देहलीके एकदे पर पूछनेपर कहता है कि-मैं देहली जा रहा हूँ। पुनः पूछनेपर कहता है कि मैं देहलीके दरयागंजमें वा पहाड़ी जा रहा हूँ, उसके भी लाजपतनगरमें, उसके भी फर्स्ट वी में। इस प्रकार वेदके विषयमें भी जानना चाहिये।

वेद भी अपने भेदोंसे, ऋग्वेदादि भी अपने भेदोंसे, अ मन्त्रभाग भी अपने भेदोंसे, ब्राह्मणभाग भी अपने भे भिन्न, स्वतन्त्र, ग्रन्थरूपमें नहीं मिलता; किन्तु सभी श ब्राह्मणोंका समुच्चय ही मन्त्रभाग-ब्राह्मणभागरूप वेद हुआ क है। फलतः वेद ११३१ शाखा रूप ही हुआ करता है; ऐसा कि-वेद तो चार अलग मिलें, और ११२७ शाखाएँ अ मिलें, किन्तु ११३१ शाखाएँ ही चारों वेद हैं; इन अपनी-अ शाखाओंसे भिन्न चार मूल वेद कहीं नहीं मिलते। यह निष्कर्ष जिनको प्रतिपक्षी चार वेद कहते हैं; वे भी चारों वेदोंकी एक

शाखा हैं।

इसका प्रमाण यही है कि-आपको ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद कहीं भी नहीं मिलेंगे, किन्तु ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता, सामवेद-संहिता और अथर्ववेद-संहिता ही मिलेंगी। इन चार पोथियोंको अर्वाचीन लोग जो चार वेद कहते हैं, अन्य संहिताओंको शाखा मानते हैं, इसका कारण वस्तुस्थितिसे अनभिज्ञता ही है। सभी ११३१ संहिताएँ ही उतने ही ब्राह्मणोंसे मिलकर चार वेद बनते हैं।

यह जो प्रसिद्ध वेदकी चार पोथियाँ मिलती हैं, यह भी शाखा ही हैं। जिसे आजकल 'ऋग्वेद' कहा जाता है, वह ऋग्वेदकी २१ शाखाओंमें एक 'शाकल्य-संहिता' है। जिसे आजकल 'यजुर्वेद' कहा जाता है, वह यजुर्वेदकी १०१ शाखाओंमें एक वाजसनेयी अथवा 'माध्यन्दिनी-संहिता' है। जिसे आजकल 'सामवेद' कहा जाता है; वह सामवेदकी १००० शाखाओंमें एक 'कौथुमी-संहिता' है। जिसे आजकल 'अथर्ववेद' कहा जाता है, वह अथर्ववेदकी ६ शाखाओंमें एक 'शौनकी-संहिता' है। 'आलोक' पाठकोंको द्विज होनेके नाते इन सब बातोंका ज्ञान अवश्य रखना चाहिये। धीरे-धीरे इस विषयमें प्रवृत्ति करनी चाहिये।

जैसे 'वेद' चार वेदोंसे पृथक् कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं मिलती, वैसे चार वेद भी ११३१ संहिताओंसे भिन्न पुस्तक छपे नहीं मिलते। किसी भी प्रेसमें छपे हुए, किसी भी घरमें लिखे हुए, स्वतन्त्र

चार वेद कहीं भी नहीं मिलते। जहाँ मिलेगी, 'ऋग्वेद-संहिता' मिलेगी, ऋग्वेद नहीं मिलेगा। 'यजुर्वेद-संहिता' मिलेगी, यजुर्वेद नहीं मिलेगा। 'सामवेद-संहिता' मिलेगी, सामवेद नहीं मिलेगा। 'अथर्ववेद-संहिता' मिलेगी, अथर्ववेद कहीं भी नहीं मिलेगा। यह बात अच्छी तरह याद रख लेनी चाहिये।

'ऋग्वेद-संहिता' का अर्थ होगा कि-यह ऋग्वेदकी संहिता है। फिर प्रश्न होगा कि-यह ऋग्वेदकी कौनसी संहिता वा किस ऋषिकी संहिता है, इसपर उत्तर मिलेगा कि-यह 'शाकल्य-संहिता' है, अथवा बाष्कल-संहिता है. अथवा आश्वलायन-संहिता है। 'यजुर्वेद-संहिता'का अर्थ होगा कि-यह यजुर्वेदकी संहिता है। यजुर्वेदकी कौन-सी वा किस ऋषिकी संहिता है-ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर होगा कि-यह यजुर्वेदकी वाजसनेयी-संहिता है, वा काण्वसंहिता है। वा यह यजुर्वेदकी तैत्तिरीयसंहिता है, वा मैत्रायणी-संहिता है, वा काठक-संहिता है वा कठकपिष्ठल-संहिता है। यजुर्वेदकी सभी शाखाओंका नाम सामान्यतया 'यजुर्वेद-संहिता' होगा। विशेषता बतानेकेलिए 'वाजसनेय-शुक्लयजुर्वेद-संहिता' अथवा 'काण्वशुक्लयजुर्वेद-संहिता' तैत्तिरीयकृष्णयजुर्वेद-संहिता, मैत्रायणी कृष्णयजुर्वेद-संहिता आदि नाम कहा जावेगा।

इसी प्रकार 'सामवेद-संहिता'का अर्थ होगा-सामवेदकी संहिता। कौनसी, इस प्रश्न पर कहा जावेगा-'कौथुमी-सामवेद-संहिता', जैमिनीय सामवेदसंहिता। अथर्ववेद-संहिताका अर्थ

होगा कि-अथर्ववेदकी संहिता। कौन-सी ? इसपर कहा जावेगा कि-पैप्पलादी-अथर्ववेद संहिता, शौनकी-अथर्ववेदसंहिता। इस प्रकार वेदकी सभी संहिताओंकेलिए समझ लेना चाहिये। यह अवश्य याद रखना चाहिये कि-मूल ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद आपको कहीं भी नहीं मिलेंगे।

फिर प्रश्न होगा कि-मूल ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद कहाँ हैं ? इसका उत्तर है कि-परमात्माके पास। वृक्षका मूल कभी दीखता ही नहीं; वह भूमिमें धँसा हुआ होता है। तब आपको भी मूल ऋग्वेद आदि कैसे दीखें ? हाँ, यहाँ इतनी विशेषता है कि-यह 'ऊर्ध्वमूलमधः-शाखम्' है। इन वेदोंका मूल ऊर्ध्व-परमात्माके पास है, और शाखाएँ नीचे, इस लोक-में। फिर जिन-जिन भिन्न ऋषियोंने समाधि लगाई, उन-उनको तत्तद्वेदकी संहिता प्राप्त हुई। माध्यमके भेदसे उस-उस संहिता-में कुछ-कुछ शब्दभेद रहा; अर्थभेद तो प्रायः नहीं। इसलिए उन-उन ऋषियोंका नाम उनको प्राप्त हुई संहिताके नामके साथ परम्परासे चला आता रहा है। मध्यम-समयमें यह ऋषि-नामोल्लेखकी शैली कुछ लुप्त रही; चाहे वह वेदके प्रथममुद्रक मैक्समूलरके समयसे हो, चाहे भारतमें मुद्रक स्वा. दयानन्द के। इन लोगोंका वश नहीं चला; नहीं तो 'ऋग्वेद-संहिता' आदि शब्द भी हटाकर 'ऋग्वेद' आदि रख लेते; तब किसीको कुछ भी पता न रहता; पर उस समयसे ही रहे, 'वेद-संहिता'के 'संहिता' शब्दने वेदोंकी स्थिति स्पष्ट कर दी।

फिर विद्वानोंके अनुसन्धानसे 'शाखाओं-संहिताओं ऋषियोंके नामका पता चला। इसलिए कई लोग उन ऋषियों उन संहिताओंका कर्ता मान लेते हैं; पर हमारे सनातन-हिन् धर्मके पारम्परिक विश्वासके अनुसार तपोयोगसे प्राप्त शब्द कृतक नहीं, किन्तु समाधिसे दृष्ट तथा प्रोक्त हैं। शब्दों थोड़ा-बहुत भेद होनेसे, अर्थभेद न होनेसे महाभाष्यकार शब्दोंमें इस शैलीमें कहा गया कि-'यद्यपि अर्थो नित्यः [नियतः या तु असौ वर्णानुपूर्वी, सा अनित्या [अनियता], तद्भेदा एतद् भवति-काठकम्, कालापकमित्यादि'।

यह उदाहरण 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय प्रसिद्धिवश कहे गये हैं; यह अन्य सभी संहिताओंके निदर्शना हैं। उनमें आजकलकी वेदसंहिता नामसे प्रसिद्ध चार पोथियोंकी व नुपूर्वी भी छन्द होनेके नाते महाभाष्यानुसार अनित्य-वर्णानुपूर्वी वा है। 'अनित्य'का अर्थ 'अनियत' है, जैसाकि हम पूर्व क चुके हैं।

महादेवसे पाणिनिको समाधि-द्वारा प्राप्त अइउण् आ १४ सूत्र अनादि होनेसे अक्षर-समाम्नाय (अक्षर-वेद) कहे जा हैं; पर महाभाष्यकार, जैसे ऋषियोंसे समाधि-द्वारा 'दृष्ट' हो पर भी वेद-संहिताओंको उपचारसे 'कृत' मान लेते हैं, वैसे उन्होंने अक्षर-समाम्नाय (अक्षर-वेद) अइउणको भी उपचार कहीं पाणिनिकृत सूचित किया है। वस्तुतः महाभाष्यकार प्रतिपादित यह मत वेदमीमांसक-मीमांसाशास्त्रसे विरुद्ध होने

ऐकदेशिक ही है। इसी कारण वे प्रोक्त भी ग्रन्थको 'कृत' अर्थमें मान लेते हैं। इस प्रकार कई सभी संहिताओंको ऋषिकृत मानते हैं, पर वहां वस्तुतः दृष्ट वा प्रोक्त ही अर्थ है। जैसे एक संहिताके शब्द एक होनेपर भी माध्यम-व्याख्याताओंके भेदसे उन शब्दोंके भिन्न-भिन्न व्याख्यान हो जाते हैं; वैसे समाधि-योजक माध्यमरूप तपस्वी ऋषियोंकी भिन्न-भिन्नतासे कहीं-कहीं शब्दभेद भी हो जाता है। यह ऋषियोंकी भी एक जाति होती है-'गोत्रं च चरणैः सह' (वा. ४।१।६३)। यह भी वेदके साथ नित्य हुआ करते हैं, अथवा वे भी अवतारकी भांति होते हैं। जैसे-विष्णु आदि देव किसी मनुष्यके माध्यममें अवतीर्ण होते हैं, वैसे ही सृष्टिकी आदिमें ऋषि भी वेदके प्राकट्यार्थ अवतीर्ण होते हैं।

वेदके अर्थकी समानतावश फिर भिन्न-भिन्न शब्दोंकी व्यर्थता हो जानेसे वह भिन्नता 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' इस न्यायके अनुसार अपनी कुलपरम्परा वा गुरुपरम्परा वा ऋषिपरम्पराकी स्वीकृतिसे चरितार्थ हो जाती है; अर्थात् हमारे पूर्वज लोगोंने चारों वेदोंकी जो एक-एक संहिता स्वीकृत कर ली थी, हमें भी उसीका अनुसरण श्रेयस्कर होता है; पर दूसरी संहिता अवेद नहीं हो जाती। कहीं यदि अन्य संहिताका मानुषत्व बताया गया हो, वहां 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्' इस न्यायसे अपनी संहिताकी स्तुत्यर्थ होता है।

इस विषयमें विद्वानोंको विचार कर लेना चाहिये, क्योंकि-

यह गम्भीर विषय है। रहा प्रत्येक मन्त्र वा सूक्तोंके पृथक्-पृथक् ऋषियोंकी सत्ताका प्रश्न, सो जैसे अग्नि, वायु, रवि और अथर्वाङ्गिरासे प्राप्त भी वेद-संहिताओंके सूक्तों वा मन्त्रके भिन्न-भिन्न ऋषि भी माने ही जाते हैं; वैसे यहाँ पर भी समझ लेना चाहिये। उन्हें कविनिबद्ध-वक्तृ-रूपसे समझना चाहिये।

फिर इन-इन संहिताओंके पृथक्-पृथक् ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् भी इन्हींमें अन्तर्भूत हो जाते हैं; क्योंकि शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध होता है। यही सनातनधर्मका पक्ष है, और यही वास्तविकता है। आजकलका मिलनेवाला इससे विरुद्ध मत भ्रान्त है, और अनुपादेय है, अज्ञानमूलक है। तब वेदकी 'शाखा'का 'व्याख्यान' अर्थ करना गलत है।

(६) इस विषयमें आर्यसमाजी अपने सम्प्रदायके विद्वानों की सम्मति भी सुनें। अपने समयके योग्य आर्यसमाजी-विद्वान् स्वा. हरिप्रसाद 'वैदिक-मुनि'ने अपने बनाये 'वेद-सर्वस्व'के प्रथमभागमें ४० पृष्ठसे ४२ पृष्ठ तक यह लिखा है—

'स्वा. दयानन्दने 'शाखा' पदका अर्थ 'वेद-व्याख्यान' लिखा है। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'के प्रामाण्याप्रामाण्य विषय-प्रकरणमें लेखका आकार इस प्रकार है-'एकादशशतानि सप्त-विंशतिश्च वेदशाखा वेदार्थव्याख्याना अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमर्हन्ति' (ग्यारहसौ सत्ताईस चार वेदोंकी शाखा वेदोंका व्याख्यान होनेसे परतः प्रमाण हैं) इस लेखका खण्डन करते हुए श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीने 'ऐतरेयालोचन'के शाखानिर्णय-

प्रकरणमें बड़ा उपहास किया है। 'हन्त ! का नाम संहिता शाखेति-व्यपदेशशून्या तेन महात्मना उररीकृता; यस्या मूल-वेदत्वं मत्वा शाखेति-प्रसिद्धानामन्यासां तद्-व्याख्यानग्रन्थत्वं मन्तव्यं भवेदिति तु अस्माकमज्ञेयमेव'।

इस उपहासका आशय स्पष्ट है कि जितनी वेद-संहिता हैं वे सब शाखानामसे कही जाती हैं। ऐसी एक भी संहिता नहीं, जो शाखानामसे न कही जाती हो। जिस यजुर्वेद-संहिता पर स्वा. दयानन्दने भाष्य किया है, वह भी 'माध्यन्दिनी शाखा' सुप्रसिद्ध है। फिर उनका यह कथन कि-'११२७ शाखा जो वेदोंके व्याख्यानग्रन्थ हैं-परतः प्रमाण मानता हूँ' सर्वथा त्याज्य है। [या सभी संहिता-शाखा, व्याख्यानग्रन्थ वा परतःप्रमाण होंगी, या सभी संहिता-शाखा मूलग्रन्थ (वेद) वा स्वतःप्रमाण होंगी]।

इस उपहासके अनन्तर प. सत्यव्रतने उसका समाधान किया है, वह भी द्रष्टव्य है। वह यह है कि-'अपि वा शाखातत्त्वान-भिज्ञेन केनचित् तच्छिष्येण तत्रैवं स्याद् विनिवेशितम्'। इस समाधानको चाहे कोई अदूरदर्शी समाधान समझे, वस्तुतः यह भी उपहास है। प्रथम उपहास स्वामीकी व्यक्तिपर है। यह दूसरा उनके अनुयायिओंपर है। प्रायः श्रद्धा-जड़, विद्याविमुख, अज्ञानमत्त पुरुष स्वामी दयानन्दके ग्रन्थोंमें लिखी गई प्रमाण-विरुद्ध, शास्त्र-विरुद्ध बातोंको दूसरोंकी मिलाई हुई कह देते हैं, जो अत्यन्त निन्दनीय है; क्योंकि-स्वा. दयानन्दने एक ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकामें ही नहीं, स्वमन्तव्यामन्तव्यमें भी लिखा है-'११२७

वेदोंकी शाखा जो वेदोंका व्याख्यान हैं; परतःप्रमाण मानता हूँ मिलाना एक पुस्तकमें हो सकता है, सब पुस्तकोंमें नहीं।

मैंने [वैदिकमुनिने] बहुत चाहा कि पण्डित सत्यव्रतके प्रथम उपहासका-जो स्वा.द.की व्यक्तिपर किया गया है, किसी प्रकार प्रतीकार किया जावे; क्योंकि-स्वामीमें मेरी भी श्रद्धेय-बुद्धि है, पर कोई वश नहीं चला। स्वामीका अर्थ सर्वथा निराधार होनेसे अत्यन्त निर्बल है।

(१०) यहाँपर आजकलके आर्यसमाजियोंकी दृष्टिमें वेदके योग्य पण्डित श्रीसत्यव्रतसामश्रमीका तथा वैदिकमुनिका यह सन्दर्भ हमारे पक्षको स्पष्ट कर रहा है। महाभाष्यकारने अपने शाखा-विषयक-वचनमें यजुर्वेदकी १०१ शाखाएँ दिखलाई हैं, उनमें शुक्ल-कृष्ण दोनों ही शाखाएँ मिलाकर लिखी हैं-यह हम पहले लिख चुके हैं। वहां शुक्ल-कृष्ण दोनों शाखाएँ वेद ही हैं, यह भाष्यकारके उक्त-वचनसे स्पष्ट ही है। स्वा.द.ने कृष्णयजुर्वेद को वेद स्पष्टरूपसे नहीं माना; परन्तु स्वामीके ही मान्य महा-भाष्यकार-पतञ्जलिने ३।१।७ सूत्रके भाष्यमें कहा है-'ऋषिः पठति-शृणोत ग्रावाणः'।

यहां पर 'ऋषि'का अर्थ 'वेद' है। जैसे कि-(क) 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' (पा. १।१।१६) यहां 'ऋषि' शब्दको अण् प्रत्यय करनेपर 'आर्ष' बनता है। उसका अर्थ है 'वैदिक'। फिर नञ्-समास है। इसलिए इस सूत्रकी पदमञ्जरीमें श्रीहरदत्त मिश्रने कहा है-'ऋषिर्वेदः'। इसलिए 'एता गा ब्रह्मबन्धवित्य-

ब्रवीत्' इस ऋषि (वेद)के वाक्यमें प्रगृह्य-संज्ञा नहीं की गई। यह वाक्य भी काठकसंहिताका है; तब शाखाओंकी वेदता सिद्ध हुई। (ख) 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' (पा. ३।२।१८६) इस पूर्वकृदन्तके सूत्रकी व्याख्यामें श्रीभट्टोजिदीक्षितने कहा है-'ऋषिर्वेदमन्त्रः, 'तदुक्तमृषिणा' इतिदर्शनात्'। (ग) 'बन्धने चर्षौ' (४।४।९६) इस पाणिनिसूत्रमें भी 'ऋषि'का अर्थ 'वेद' है। (घ) 'आर्षं धर्मोपदेशं च' (१२।१०६) इस मनुके वचनमें भी 'आर्ष'का अर्थ 'वेद' है, 'धर्मोपदेश'का अर्थ 'स्मृति' है। (ङ) भोजराजकृत उणादिसूत्र (२।१।१५९) की वृत्तिमें दण्डनाथनारायणने भी कहा है-'ऋषिः-वेदः'। (च) वैजयन्तीकोषमें यादव-प्रकाशने कहा है-'ऋषिस्तु वेदे'। (छ) मनु (१।१) पद्यके भाष्यमें श्रीमेधातिथिने भी लिखा है-'ऋषिर्वेदः'। (ज) शाश्वतकोषके ७१९ पद्यमें भी कहा है-'ऋषिर्वेदः'। (झ) निरुक्तमें भी 'ऋषि' शब्द वेद अर्थवाला देखा गया है। जैसे कि-'अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति, वृत्रहा, पुरन्दर इति' (७।१३।११)।

तब ३।१।७ सूत्रके भाष्यमें 'ऋषिः पठति-शृणोत ग्रावाणः' में भी 'ऋषि' शब्दका अर्थ 'वेद' है। इसलिए इस भाष्यके प्रदीपमें श्रीकैयटने भी कहा है-'ऋषिर्वेदः'। यह 'शृणोत ग्रावाणः' मन्त्र कृष्णयजुर्वेदकी शाखा तैत्तिरीय-संहिता (१।३।१३।१) में है, आर्यसमाजसे माने हुए चारों वेदोंमें कहीं नहीं, उसके माने हुए यजुर्वेद (वा.सं.)में तो 'श्रोता ग्रावाणः' (६।२६) इस रूपसे है, उस रूपसे नहीं। तब महाभाष्यकारको कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय-

संहिता भी वेद इष्ट सिद्ध हुई।

(ख) इस प्रकार मीमांसादर्शनमें-'वेदाँश्चैके संनिकर्षं पुरुषाख्या' (१।१।२७) 'अनित्यदर्शनाच्च' (१।१।२८) इस वेदोंकी पौरुषेयताके पूर्वपक्षमें 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (७।१।१०।२) 'कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत' (७।२।२।१) इत्यादि जो वेदमन्त्र दिये हैं, वे कृष्णयजुर्वेद तै.सं.के हैं, शुक्लयजुर्वेद वा.सं.के नहीं। तब शुक्लयजुर्वेदकी शाखाओंकी भांति कृष्णयजुर्वेदकी शाखाएँ भी वेद सिद्ध हुईं। महाभाष्यकार श्रीपतञ्जलिने केवल कृष्ण-यजुर्वेदकी ही शाखाओंको वेद नहीं माना, बल्कि सभी शाखाओं-को वेद माना है-यह पूर्वकी भांति आगे भी बताया जायगा।

सायणाचार्य सर्ववेदभाष्यकार कहे जाते हैं; पर उन्होंने शुक्लयजुर्वेद वा.सं.पर भाष्य नहीं किया; जिसे आर्यसमाज वेद मानता है, पर शुक्लयजुर्वेद काण्वसं. पर तथा कृष्णयजुर्वेद तैत्ति.सं.पर भाष्य किया है। यदि इन्हें वेद न माना जावे, तो उसे आर्यसमाजी भी सर्ववेदभाष्यकार कैसे मानते हैं?

(११) जोकि-श्रीब्र.द.जिज्ञासुजीने स्वा.द.के यजुःसं.के भाष्य-पर टिप्पण करते हुए उसकी भूमिका (प्र.सं.)के ३७ पृष्ठमें लिखा है कि-'शतपथब्रा.का कर्ता याज्ञवल्क्य लिखता है-'तदु हैकेऽन्वाहुः 'होता यो विश्ववेदसः इति नेदरमिति आत्मानं ब्रवाणीति, तदु तथा न ब्रूयाद्, मानुषं ह ते यज्ञे कुर्वन्ति। तस्माद् यथैव ऋचा अनूक्तमेव अनुब्रूयाद् 'होतारं विश्ववेदसमिति' (१।४।१।३५) इसका भाव यह है कि-किसी शाखा वाले 'होता यो विश्ववेदसः'

ऐसा पाठ पढ़ते हैं; सो पढ़ना ठीक नहीं; वह मनुष्यकृत पाठ है, वे यज्ञमें मानुष पाठ करते हैं; इसकेलिए जैसा ऋचाका पाठ है, वैसा ही बोलें, 'होतारं विश्ववेदसम्' (ऋ. १।१२।१)। इस प्रमाणसे दो बातें सिद्ध होती हैं। प्रथम शाखाएँ जितनी हैं, वे सब मानुष हैं। दूसरा—कोई ऋक्पाठ ऐसा है, जिसमें मनुष्यका कोई सम्बन्ध नहीं, और वही मनुष्य-सम्बन्धसे रहित मूल-वेद है'। इस प्रकार श्रीभगवद्दत्तादि भी कहते हैं कि—'उपायव स्थ' इत्यु ह एके [तैत्तिरीयाः] आहुः, तदु तथा न ब्रूयात् (शत. १।७।१।३) इससे वे कृ.य. तैत्तिरीयसं.को वेद नहीं मानते। पर यह ठीक नहीं है।

इस विषयमें हम छठे सुमनमें स्पष्टता कर चुके हैं। संक्षेप यह है कि—जो अपनी-अपनी शाखाका पाठ युक्त तथा शाखान्तर-का पाठ 'मानुष' माना जाता है, उसका तात्पर्य उनकी मनुष्यता बताकर उनकी निन्दार्थ नहीं है, किन्तु अपने यज्ञोंमें अपनी-अपनी शाखामें निष्ठास्थापनार्थ उसके मन्त्र बोलनेमें तात्पर्य हुआ करता है। क्योंकि—यह एक न्याय प्रसिद्ध है कि—'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते—अपितु विधेयं स्तोतुम्'। किसी अन्यकी निन्दा उसके निन्दनार्थ नहीं होती, किन्तु अपनी अभिमत वस्तुकी स्तुतिकेलिए हुआ करती है। उससे यह तात्पर्य प्रतिफलित होता है कि सभीको बहुत सी संहिताओंके मध्यमें अपनी चार संहिताओंमें ही निष्ठा करनी चाहिये। जैसे—देवता बहुत होनेसे भक्तको अपने इष्टदेवमें निष्ठा करनी पड़ती है। जैसे वैद्योंके

बहुत होनेसे बीमारको अपने अभिमत वैद्यमें निष्ठा करनी प
है, वैसे ही वाजसनेयी-शाखाके दर्श-पौर्णमासादियज्ञके साम
मन्त्रोंमें 'होतारं विश्ववेदसम्' इस शाकलशाखाकी ऋचाके
को ही बोलना चाहिये,' अन्य पाठको नहीं।

इसी कारण 'गृह्यासंग्रह'में कहा है—'यः स्वशाखोक्तमुत्सृ
परशाखोक्तमाचरेत्। अप्रमाणमृषिं कृत्वा सोन्धे तमसि मज्ज
(२।६३) 'ऊनो वाप्यतिरिक्तो वा यः स्वशाखोक्तमाचरेत्।
सन्तनुयाद् यज्ञं न कुर्यात् पारतन्त्रिकम्' (२।६३)। इसी
वेदाध्ययनका नाम 'स्वाध्याय' है। वीरमित्रोदयके संस्
प्रकाशके वेदाध्ययनप्रकरणमें ५०५ पृष्ठमें इसकी स्पष्टता की
'स्वाध्यायोध्येतव्यः'। अधीयते—इति अध्यायो वेदः [इसी
निरुक्तमें भी 'अन्वध्यायम्'में 'अध्याय' शब्द वेदार्थमें पठित
स्वस्य अध्यायः—स्वाध्यायः, स्वपरम्परागता शाखा—इत्यर्थ
ततश्च न यत्किञ्चिच्छाखाध्ययने विधिचारितार्थ्यम्, कि
स्वशाखाध्ययने एव। उक्तं च भट्टपादैः—'पारम्पर्यागतां मुक्
स्वां समाख्यानिबन्धिनीम्। शाखां, शाखान्तरं युक्तं नाध्
सदृशे श्रमे'। यत्तु 'वेदः कृत्स्नोधिगन्तव्यः' इति मनुना कृ
इति वेदविशेषणमुपात्तम्, तदपि वेदशब्दस्य लिखितम्, शा
परत्वेन तस्या एव कृत्स्नत्वमभिधत्ते, नैकवेदीयानेकशाखास
मिति न विरोधः। ततश्च यस्य या पित्रादिक्रमागता शा
तच्छाखीयेन कर्मणा संस्कृतः प्रथमं तां शाखामधीयीत'।

बात साफ होगई कि—अपने यज्ञमें अपनी पितृपरम्परा

शाखाको प्रयुक्त करना चाहिये। एकमें निष्ठा रखनेकेलिए दूसरेकी निन्दा भी हो जाती है, जैसे कि-विशेष-देवके पुराणोंमें भिन्न देवकी निन्दा मिलती है, उसमें न पुराणोंकी अनेककर्तृकता सिद्ध होती है, न ही अन्य देवकी निन्दनीयता ही इष्ट होती है, किन्तु अपने इष्टदेवकी उपासनामें ही तात्पर्य हुआ करता है; वैसे ही यहाँ अन्य शाखाके पाठकी निन्दामें भी जान लेना चाहिये। यदि वादी शतपथसे स्वीकृत पाठ वाली ऋग्वेदसंहिताको मूलवेद मानता है, और उससे भिन्न पाठ वाली ऋग्वेदसंहिताको मनुष्य-प्रणीत मानता है; तो 'शतपथ' (११।५।१।१०)में 'इत्ये-तदुक्तप्रत्युक्तं पञ्चदशर्चं बह्वृचाः प्राहुः' यहाँ उर्वशी तथा पुरूरवाका (ऋ.सं. १०।९५) सूक्त पन्द्रह ऋचाका कहा गया है, तो १५ ऋचावाले ही ऋग्वेदको उसे मूल ऋग्वेद मानना पड़ेगा, परन्तु वादीसे अभिमत ऋ.सं.में वह १८ ऋचाका है, वह फिर मूलवेद न रहेगा। वादीने यह भी नहीं बताया कि-'होता यो विश्ववेदसः' यह किस संहिताका है ?

वादी यह भी जानता होगा कि-शतपथब्रा. 'तस्मादेतद्-ऋषिणा अभ्यनूक्तम्' कहकर मन्त्रभागका, वादीके अनुसार वेदका प्रमाण बतलाता है। जैसेकि-'तस्मादेतद् ऋषिणा अभ्य-नूक्तम्-'दध्यङ् ह यन्मधु आथर्वणो वाम् अश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदी-मुवाच' [ऋसं १।११६।१२] (शत. १४।१।१।२५)। इस प्रकार शतपथने कहा है-'तदाहुः-मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्तीति मनसा सङ्कल्पयति, तत् प्राणमभिपद्यते, प्राणो वातं, वातो

देवेभ्य आचष्टे, यथा पुरुषस्य मनः' (३।४।२।६)। तस्माद् एतद् ऋषिणा अभ्यनूक्तम्-'मनसा सङ्कल्पयति, तद् वातमभिगच्छति। वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ! ते मनः' इति (३।४।२।७) यह मन्त्र किस वेदमें है, यह वादीको बताना पड़ेगा। यदि 'मनसा सङ्कल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति' (१२।४।३१) यह अथर्ववेदसंहिताका मन्त्र ही वादीको वहाँ इष्ट हो; तो देखिये-दोनोंमें महान भेद है। शतपथमें पूर्वार्धमें 'वातमभिगच्छति' है; पर अथर्व.में 'देवान् अपि गच्छति' है; और उत्तरार्धमें शतपथमें तो 'वातो देवेभ्य आचष्टे' है, पर अथर्वमें-'ततो ह ब्राह्मणो वशाम्' है। सो शतपथोक्त वह मन्त्र जिस संहितामें होगा, वही शतपथके मतमें वेदका होना चाहिये; पर वादीकी अभिमत संहिताओंमें शतपथोक्त ऋषि (वेद) मन्त्र न मिलनेसे स्पष्ट है कि-वह किसी अन्य संहितामें पाठ है। इससे सभी वेद-संहिताएँ (केवल वादि-सम्मत नहीं) वेद सिद्ध हैं। अपनी कुल-परम्पराके अनुसार अपनी संहिता ही वेदत्वमें मुख्य है। यदि 'तस्मादेतद् ऋषिणा अभ्यनूक्तम्' इस शतपथके सभी पाठोंमें 'ऋषि' से 'मन्त्रद्रष्टा ऋषि' विवक्षित हो; तो मन्त्रभाग भी ऋषि-प्रोक्त सिद्ध होनेसे वादीके अभिमत महाभाष्यके कथना-नुसार ऋषिकृत ही सिद्ध होगा; तब वादीके मतमें ऋषिकृत आनुपूर्वी वाला होनेसे वह भी वेद सिद्ध न होगा। अथवा यदि शतपथने ही उस अथर्वके मन्त्रमें 'हेर-फेर' किया है; तो उसने 'आर्ष' पाठको स्वयं ही 'मानुष' क्यों किया ? इससे वादीसे

अभिमत सब आपत्तियाँ निरस्त होगईं। बल्कि शतपथ-प्रोक्त वह मन्त्र पूर्वापरसे सम्बद्ध है, अथर्व-प्रोक्त मन्त्रके पूर्वार्ध-उत्तरार्धमें सामञ्जस्य नहीं।

तो यहाँ यह रहस्य प्रतिफलित हुआ कि-सभी को अपनी कुल-परम्परा वाली शाखा (संहिता) को ही मूल मानना पड़ता है। इसलिए कृष्णयजुर्वेद (तैत्तिरीय) संहितामें भी सूक्तवाकके मन्त्रमें अन्य पाठको निराकृत करते हुए कहा है-'यद् ब्रूयात् सूपावसाना च स्वध्यवसाना च इति, प्रमायुको (पागल) यजमानः स्यात्' (२।६।६।६) यह निराकरण है, 'सूपचरणा च स्वधिचरणा च' इत्येव ब्रूयात्' यह अपने पाठका उपदेश किया गया है। इसलिए इस अवसरपर वादियोंके मान्य श्रीसायणाचार्यने भी अपने ऋग्वेदभाष्यके उपोद्घातमें कहा है—'इत्यादि विधिरत्र निन्द्यमानोपि क्वचित् शाखान्तरे भवेत्, प्रामाण्यमपि तच्छाखाध्यायिनः प्रति भविष्यति। यथा गृहस्थाश्रमे निषिद्धमपि परान्नभोजनमाश्रमान्तरेषु प्रामाणिकम्, तद्वत्। अनेन न्यायेन सर्वत्र परस्परविरुद्धौ विधिनिषेधौ पुरुषभेदेन व्यवस्थापनीयौ। यथा मन्त्रेषु पाठभेदः शाखाभेदेन व्यवस्थापितः, तद्वत्। तत्र अनुष्ठातृ-पुरुषभेदेन व्यवस्था। तत्तत्पाठप्रामाण्यमपि तत्तच्छाखाध्यायिनः प्रति भविष्यति' (ब्राह्मणकी विधिके प्रामाण्य-प्रकरणमें)।

इस प्रकार वादीका कथन कट गया, सभी वेदसंहिता वेद सिद्ध हुई। तभी तो महाभाष्यकारने यजुर्वेदका आदिम मन्त्र

बतलाते हुए 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा' इतना ही पाठ दिया है। यदि तैत्तिरीय-संहिता वेद इष्ट नहीं होती; तो 'वायव स्थ' पाठ साथ देते; जिससे 'उपायव स्थ' पाठवाली तै.सं. वैदिक-शब्दोंसे भिन्न हो जाती।

अब प्रतिपक्षी प्रकृत मन्त्रपर देखें—'होता यो विश्ववे' इस पाठमें मानुषताका आरोप कल्पित है, वह पाठ शाखामें नहीं। यहाँपर यह समझना चाहिये कि-सामि नामक ऋचाओंका पाठ, होता नामवाला ऋग्वेदी ऋत्विक् है। सामिधेनीमें पठित 'अग्निं दूतं वृणीमहे' (ऋ. १।१ मन्त्रका द्वितीय पाद है 'होतारं विश्ववेदसम्'। इसके स्था 'होता यो विश्ववेदसः' यह पाठ पढ़ा जा सकता है; पर सनेयीशाखाके यजमानके यज्ञमें 'होतारं विश्ववेदसम्' पाठ वाला मन्त्र ही पढ़ना चाहिये, पूर्व-पाठयुक्त नहीं। निषे लिए निन्दा अपेक्षित हुआ करती है। निन्दासे ही निषे प्रवृत्ति रोकी जा सकती है। वहाँ निन्दा इस प्रकार कल्पित जाती है कि-'होतारम्' यह द्वितीयान्त एक पद है; पर निन्दार्थ 'होता-अरम्' इस प्रकार दो पद कल्पित कर जाते हैं। 'अरम्' का अर्थ है 'अलम्'। 'वाल-मूल-लघु-अल अङ्गुलीनां वा लो रत्वमापद्यते' (४७६८) इस ११२६ औणा सूत्रमें स्थित वार्तिकसे 'ल' के स्थानमें 'र' हो जाता है। 'अ का 'निवारण' अर्थ प्रसिद्ध ही है। अब होता यह सोच र कि-'होतारं' यह पद 'होता' इस पदका 'अरं-अलम्' नि

कर रहा है, अर्थात्–'होतारं विश्ववेदसम्' में 'होता यो विश्ववेदसः' मत कहो, ऐसा सूचित कर रहा है। तब 'होतारम्'के स्थानमें 'होता' यह सोचना मनुष्यबुद्ध्युत्पन्न होनेसे 'मानुष'-सा है। जब 'होतारं' एक ही पद है; तब वहाँ 'होता अरम्' इन दो पदोंकी कल्पनामें 'होता' पदका मनुष्यतासे सम्बन्ध करके उसकी निन्दा करना वाजसनेयी (माध्यन्दिन) शाखाके कर्ममें उसके प्रयोगके निषेधको सूचित करता है। इस प्रकार अपनी-अपनी वेदशाखावाले अन्य शाखाके पाठको 'मानुष' कहकर स्वशाखीय-कर्ममें उसके उच्चारणका निषेध अभिप्रेत करते हैं। इससे भिन्न-शाखाओंके पाठकी मानुषता नहीं हो जाती; किन्तु इस निन्दाका तात्पर्य अपनी शाखामें निष्ठाको दृढ करना-हुआ करता है।

यदि शतपथके कथनानुसार सभी संहिताएँ मनुष्यप्रोक्त हैं; और उनके पाठका प्रयोग शतपथके मतमें यज्ञहीनता है; तो उसी शतपथमें 'स होतुरिह निलिम्पति, तद्धोतौष्ठयोर्निलिम्पते मनसस्पतिना ते हुतस्याश्नामीषे प्राणाय' से प्रारम्भ करके 'देवा म इदं हविर्जुषन्ताम्–इति तस्मिन्नुपहूते' (शत. १।४।८।१, १४-३७) इन २४ खण्डोंमें तैत्तिरीय-ब्राह्मण (३।५।१३) में पठित श्रुतियोंसे 'अथ प्रतिपद्यते, इदं द्यावा पृथिवी भद्रमभूदिति'से शुरू करके 'तस्माद् आह–शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे' (शत. १।६।१-२-२८) इन २५ खण्डोंमें तैत्तिरीय ब्रा. ३।५।१०-११) के मन्त्रोंका आशीर्वादादि कर्मोंमें क्यों प्रयोग किया गया है ? इससे स्पष्ट है कि–

शतपथकी दृष्टिमें सभी वेदशाखाएँ वेद हैं। 'होता यो विश्ववेदसः' यह किस शाखाका पाठ है–जब तक वादी यह ठीक-ठीक न बताएँ; तब तक यह शाखान्तरका पाठ भी नहीं कहा जा सकता। यह कल्पना तो 'होतारं'के 'होता-अरम्' की सूझसे निकली प्रतीत होती है। यदि इस पाठ वाली कोई विशेष शाखा होती; तो शतपथमें उसका स्थान-स्थानमें निराकरण होता; पर नहीं है। इसके अतिरिक्त शतपथके उक्त मन्त्र वाली संहिता भी शाकल्य-संहिता ही है; और वाजसनेय-शतपथसे उपजीवित संहिता वाजसनेयी, तथा काण्व-शतपथसे उपजीवित संहिता काण्व-संहिता (शाखा) है–यह प्रतिपक्षियोंको जान रखना चाहिये। ऐसी एक भी संहिता नहीं है, जो कोई किसी ऋषिके नामकी शाखा न हो। वाजसनेय-संहिता मूल है, कृष्णयजुर्वेदसंहिता व्याख्यान है–यह भी नहीं कहा जा सकता। इतिहाससे ही सिद्ध है कि–कृष्णयजुर्वेदसंहिता पूर्व थी, फिर श्रीयाज्ञवल्क्यने सूर्यसे शुक्लयजुर्वेदसंहिता, तथा ब्राह्मण प्राप्त किया। तब कृष्णका व्याख्यान तो कदाचित् शुक्लसंहिता हो जाए, फिर वह (वा. सं.) भी अन्योंकी दृष्टिमें वेद न रहेगी, पर यह प्रतिपक्षियोंको अनिष्ट है।

(१२) वर्तमान ऋग्वेदसं.को हमने शाकल्यसंहिता कहा है, इस पर एक प्रतिपक्षी कहता है–'काठकसंहिता आदि के समान ऋग्वेद आदि के नामसे प्रसिद्ध शाकलशाखा आदि संहिताएँ नहीं हैं, किन्तु पदपाठका कर्ता होनेसे भी उनके नामकी

संहिताएँ कहलाने लगती हैं। 'उखः शाखामिमां प्राह आत्रेयाय यशस्विने। तेन शाखा प्रणीतेयमात्रेयीति च सोच्यते, यस्याः पदकृदात्रेयः' (तैत्तिरीयकाण्डानुक्रम पृ. ६।२६, २७) उखने यह शाखा आत्रेयको पढ़ाई, आत्रेयने इसे पदपाठ करके तैयार किया, आत्रेय पदकार है, इसलिए यह 'आत्रेयसंहिता' कही जाती है। इसी प्रकार ऋग्वेद आदिकेलिए शाकलसंहिता आदि की बात है। शाकल्यने ऋग्वेदका पदपाठ किया है'।

ऐसा कहने वाले प्रतिपक्षीसे प्रष्टव्य है कि-आत्रेयको उख-द्वारा शाखाके प्रवचनसे और आत्रेयके द्वारा उसकी योजनासे उस शाखाका नाम आत्रेयी हुआ, वा पदपाठके करनेसे ? यदि पदपाठ करनेसे उसका 'आत्रेयी' नाम होता; तो वैसे कहा जाता; पर वहाँ तो कहा है—'तेन इयं शाखा प्रणीता इति सा आत्रेयी उच्यते' (उखसे कही हुई शाखाका आत्रेयने प्रणयन किया, उसे लिपिबद्ध किया, अतः 'आत्रेयसंहिता' यह उसका नाम हुआ। उसने उसके पदों की योजना की, और कुण्डिनने उसकी वृत्ति की। इसमें 'आत्रेयी' इस नाम निर्देशका पहले हेतु कहकर फिर 'यस्याः पदकृदात्रेयः' कहा है। इससे सिद्ध है कि-पदपाठके कारण उसकी शाखाका 'आत्रेयी' नाम-करण नहीं, किन्तु आत्रेयद्वारा प्रणयन ही इसमें कारण है। यदि वह आत्रेयद्वारा पदपाठ करनेसे आत्रेयी है; तो कुण्डिन-द्वारा वृत्ति करनेसे वह 'कौण्डिनी' क्यों नहीं।

यदि वर्तमान ऋ.संहिता शाकल्य द्वारा पदपाठ बनानेसे ही

शाकल्य-संहिता कही गई है; तो जोकि वर्तमान यजुर्वेद-सं॰ वाजसनेयी, सामवेद-संहिता कौथुमी, अथर्ववेद-संहिता शौ॰ कही जाती है, जिसे श्रीराजाराम शास्त्री, श्रीविश्वबन्धु शा॰ एम. ए., श्रीभगवद्दत्त बी. ए. रिसर्चस्कालर आदि आर्यसमा॰ भी मानते हैं, तो वाजसनि, कुथुम, शौनक आदियोंने ज॰ पदपाठ किया है-इसमें क्या प्रमाण है ?। यदि वादी अनुमा॰ से ही यह कहता है, तो पूर्व तरीकेसे काठकसंहिता-आदि भी वह यजुर्वेद-संहिता आदि मान ले, और कठ आदि उनका पदपाठ-प्रणेता मान ले। इसमें जो उसका उत्तर हो॰ वही यहाँ हमारा होगा। वादीसे कहे हुए अभिप्रायकी असत्य॰ में अन्य हेतु यह है कि-शाकल्य आदि द्वारा पदपाठ करनेसे 'शाक॰ संहिता' यह नाम कभी भी नहीं हो सकता। पदपाठ कभी संहिता न॰ हो सकता। संहिता सन्धिका नाम होता है, पदच्छेदका नहीं॰ वैसा होनेपर तो 'शाकलपदपाठ' यही नाम होता। 'शाकल॰ संहिता' नाम ही वादीके पक्षका खण्डन कर रहा है।

'शाकल्यने ऋग्वेदका पदपाठ किया' इस विषयमें वा॰ निरुक्तकारकी साक्षी देता है कि-'शाकल्यने ऋग्वेदका पदपा॰ किया है, 'वा इति य इति च चकार शाकल्यः' (निरु. ६।॰ (सार्वदेशिक सितं. अक्टू. १९४७) प्रतिपक्षीका यह कथन ठी॰ नहीं। निरुक्तकारके वाक्यका प्रतिपक्षीसे अभिमत अर्थ अशु॰ है। निरुक्तकारका सन्दर्भ यह है-'वने न वायो न्यधायि चाक॰ वन इव वायः-वेः पुत्रः, वा-इति य इति च चकार शाकल्य

(निरु. ६।२८।३) इसका यह अर्थ है कि शाकल्यने अपनी ऋग्वेद-संहितामें 'वने न' इस मन्त्रमें 'वायः' इस एक पदको 'वा, यः' इस प्रकार भिन्न-भिन्न पदरूपमें रखा है। इसका यह तो अर्थ नहीं है कि—उसने इस संहिताका पदपाठ किया; नहीं तो इसका नाम 'शाकल्य-संहिता' न होकर 'शाकल्य-पदपाठः' होता। यह पदपाठ नहीं हुआ करता।

आजकल शाकल्यकी ही तो ऋग्वेद-संहिता सर्वत्र प्रचलित है। जिसको स्वा.द. तथा उसके अनुयायी ऋग्वेद मानते हैं; उसमें स्पष्ट ही आज भी 'वा, यः' यह भिन्न-भिन्न ही पद मिलते हैं। देखो वैदिकप्रेस अजमेरकी 'ऋग्वेदसंहिता' (प्रा. सं. १०।२६।१, ५६० पृष्ठ) 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणान्तरेण'। जब प्रतिपक्षी निरुक्तकार-को आप्त मानता है, अपने पक्षको भी वैसा ही मानता है; तो अपने मतके अनुसार 'हेर-फेर' वाली काठकसंहिता आदिको भी वेद माने; नहीं तो आर्यसमाजियोंको उचित है कि—इस ऋग्वेदसंहिताका बहिष्कार करें; क्योंकि—शाकल्यने 'वायः' इस एक पदको 'वा, यः' यह भिन्न-भिन्न पद करके, उसमें हेर-फेर कर उसे 'मानुषी' कर दिया। इस प्रकार निरुक्तमें उद्धृत ऋचाएँ वादीसे अभिमत ऋग्वेदसं.की ऋचाओंसे कुछ भिन्न हैं—जिन्हें हम दिखलाने वाले हैं। अब वादी अपने ऋग्वेदको ढूँढें; नहीं तो वादीका वैदिक-धर्म ही नष्ट होता है।

यदि वादी कहे कि—उक्तसंहितामें 'वायः' के स्थान 'वा यः' यह अलग-अलग अक्षर छापेकी भूल है'। यह भी ठीक नहीं

है। इसके पदपाठमें भी 'वा, यः' यह पृथक्-पृथक् पद हैं। श्रीविश्वेश्वरानन्द-स्वामी (आर्यसमाजी) तथा पूनाकी, तथा मैक्समूलर आदि की पदसूचियोंमें 'वायः' यह एक पद है ही नहीं। श्रीविश्वे. वाली पदसूचीमें इसी मन्त्रवाला 'वा' (१०।२६।१) ३७१ पृष्ठमें है, 'यः' (१०।२६।१) ३२१ पृष्ठमें भिन्न-भिन्न पद हैं। अब आर्यसमाज ऋग्वेदसे शून्य होगया; क्योंकि—यह वर्तमान संहिता तो उसकी शाकल-शाखा है। न केवल ऋग्वेदसे, बल्कि—आर्यसमाज अथर्ववेदसे भी शून्य होगया; क्योंकि—उसमें भी 'वने न वा यः' (२०।७६।१) यह भिन्न-भिन्न पद हैं। उसकी पदसूची (निर्णयसागरमें मुद्रित) में भी 'वायः' कोई पद नहीं। आर्यसमाजी-श्रीविश्वेश्वरस्वामीकी अथर्वपद-सूचीमें भी 'वायः' कोई पद नहीं। अब आर्यसमाज इस अथर्वसंहिताको भी वेद न माने; क्योंकि—यह तो शौनकी-शाखा है, प्रतिपक्षीके अनुसार शौनकने इसके पदोंकी योजना की। अब उनको अपना अथर्ववेद भी ढूँढना चाहिये।

यदि प्रतिपक्षी निरुक्तकारकी यह बात मानकर उन्हें प्रमाण मानता है; तो इससे स्पष्ट है कि—श्रीयास्ककी ऋग्वेदसंहिता यह शाकल्यसंहिता न होकर कोई अन्य ही थी। तभी तो श्रीयास्क-ने निरुक्त (८।२०।१) में 'वनस्पते ! रशनया नियूय पिष्टतमया वयुनानि विद्वान्। वहा देवत्रा दिधिषो हवींषि प्र च दातारम-मृतेषु वोचः' यह जो ऋचा दी है, यह वर्तमान ऋग्वेद (शाकल्य)-संहितामें इस रूपमें नहीं मिलती। उसमें तो 'वनस्पते ! रशनया

नियूया देवानां पाथ उपवक्षि विद्वान्। स्वदाति देवः कृणवद्ध-वींषि अवतां द्यावापृथिवी हवं मे' (१०।७०।१०) इस रूपमें मिली है। यदि यह मैत्रायणी-संहिता (४।१३।६५) की ऋचा है; तब वह भी ऋचा (वेद) माननी पड़ेगी। निरुक्तके उक्त स्थलमें 'दिधिषोः' पाठ है; पर मैत्रायणीके उक्त स्थलमें 'दधिषोः' पाठ है।

इस प्रकार 'देवेभ्यो वनस्पते ! हवींषि' (नि. ८।१६।२) यह पूर्व ऋचाके साथ वाली ऋचा भी प्रतिपक्षि-सम्मत ऋ.सं.में नहीं; किन्तु मैत्रायणी-संहिता (४।१३।६३) में है। 'भद्रं वद दक्षिणतः' यह निरुक्त (६।५।१) स्थित ऋचा भी प्रतिपक्षि-सम्मत ऋसं.में नहीं मिली, किन्तु ऋक्-परिशिष्टमें मिली है। इस प्रकार निरुक्तमें स्थित 'ओषधे ! त्रायस्वैनम्' यह मन्त्र भी प्रतिपक्षीके तथाकथित वेद (यजुः वा.सं.) में नहीं मिलता। जहाँ मिलता है, वहाँ 'त्रायस्व' के साथ 'एनं' नहीं है। तब वादी यास्कसम्मत वेदोंको ढूँढे। अजमेर-मुद्रित वेदसंहिताओंका बहिष्कार करें; क्योंकि-यह यास्कानुसार शाकल्य आदि शाखाएँ हैं।

वस्तुतः शाकल्य-द्वारा पदपाठ करनेसे इसका नाम शाकल्य-संहिता नहीं, किन्तु शाकल्यके प्रवचन करने वा दर्शन करनेसे यह उसका नाम है। इसी कारण 'सर्वानुक्रमणिका'में लिखा है-'अथ ऋग्वेदाम्नाये शाकलके' (१।१) यहाँ षड्गुरुशिष्यने 'वेदार्थदीपिका'में लिखा है-'शाकल्योच्चारणं शाकलकम्'। शौनकाचार्यकी अनुवाकानुक्रमणीमें भी लिखा है-'शाकल्यदृष्टे

वेदे' (४५)। शाकल्य-संहिता होनेपर भी वह ऋग्वेद कहा जाता है; प्रतिपक्षी भी इसे ऋग्वेद कहते हैं; अतः वेद-संहिताएँ सभी वेद सिद्ध हुईं। तभी श्रीपाणिनिने 'यजुषि काठके' (७।४।३८) में काठकसंहिताको भी यजुर्वेद कहा है।

(१३) इसी प्रकार भाष्यकार-द्वारा 'शं नो देवीरभिष्टये' को अथर्ववेदका प्रथममन्त्रका प्रतीक लिखनेसे जिसे स्वा.द.ने भी ऋभाभू.में स्वीकार किया है; और वह अथर्ववेद-पैप्पलादसंहिता-में होनेसे सभी वेदशाखाएँ वेद हुईं। इस विषयमें ज्ञानार्थी पाठक 'श्रीसनातनधर्मालोक' चतुर्थपुष्प ६) में मँगाकर उसके 'श्रीपतञ्जलि एवं 'शंनोदेवी' मन्त्र' निबन्धको देखें, जिसमें प्रति-पक्षियोंके सभी व्याज काटे गये हैं।

'शं नो देवीः' मन्त्र अथर्ववेदका प्रथम मन्त्र है। इस विषयमें साक्षियाँ देखिये—(क) महाभाष्यकारने चारों वेदोंके आरम्भिक मन्त्रोंको दिखलाते हुए अथर्ववेदका आरम्भिक-मन्त्र 'शंनो देवी' दिखलाया है। (ख) गोपथब्राह्मणने 'शं नो देवी-' इत्येवमादि कृत्वा अथर्ववेदमधीयते' (१।१।२६) लिखकर अथर्ववेदका आदिम मन्त्र 'शं नो देवी' माना है। (ग) स्वा. दयानन्दने अथर्ववेदका ब्राह्मण गोपथ माना है, (स.प्र. ७ समु. पृ. ४२) और गोपथ अथर्व-पिप्पलादसं.का ब्राह्मण है, सो पैप्पलादशाखाका प्रथम-मन्त्र 'शं नो देवी' होनेसे वह भी अथर्ववेद एवं वेद सिद्ध हुई। (घ) छान्दोग्यमन्त्रके भाष्य (६।४८ पृ. ११७)में गुणविष्णुने भी कहा है—'शं नो देवीरिति अथर्ववेदाऽऽदिमन्त्रोऽयं पिप्पलाद-दृष्टः'।

इसीसे आजके विद्वानोंको पता लगा कि–अथर्व-पैप्पलादसं.का प्रथममन्त्र 'शं नो देवी' है। (ङ) स्वा.द.ने भी ऋभाभू.के ८६ पृष्ठमें 'शं नो देवी'को अथर्ववेदका प्रथममन्त्र-प्रतीक माना है। आर्यसमाजी श्रीब्रह्मदत्तजिज्ञासु आदि स्वा.द.के प्रत्येक वाक्यको शुद्ध मानते हैं। तब भी हमारा ही पक्ष सिद्ध हुआ।

(च) 'वेदसर्वस्व' (प्रथम भाग)के १०३ पृष्ठमें आर्यसमाजी-विद्वान् स्वा. हरिप्रसाद 'वैदिक-मुनि'ने भी लिखा है—शौनक-संहिता [अथर्ववेद]का आरम्भ 'ये त्रिषप्ताः परियन्ति' मन्त्रसे होता है, और पैप्पलादसंहिता [अथर्ववेद]का 'शं नो देवीरभिष्टये' मन्त्रसे आरम्भ होता है'···महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि और गोपथब्राह्मण के कर्ताने जिस 'शं नो देवी' मन्त्रसे अथर्वसंहिताका आरम्भ लिखा है, वह 'पिप्पलादसंहिता'में ही पाया जाता हैं, शौनकसंहितामें नहीं'।

(छ) आजकल 'शं नो देवी' मन्त्र अथर्ववेद-शौनकसंहिताके प्रथमकाण्डके छठे सूक्तका प्रथममन्त्र है, अथर्ववेद-पैप्पलाद-संहितामें नहीं मिलता, उसका कारण यह है कि–आजकल जो पैप्पलाद-संहिता मिली है, उसका पहला पत्र नष्ट है। उसीमें 'शं नो देवी' यह ४ मन्त्रोंवाला सूक्त था। मालूम होता है कि-वह पहले-पहल किसी अर्वाचीन मत वालेके हाथमें पड़ी, उसने उस 'शं नो देवी' वाले पहले पत्रको फाड़ डाला कि–कहीं प्राचीन मत 'सभी शाखाएँ वेद हैं' यह न सिद्ध हो जाय। भला हो गुणविष्णुका; उसने अपने छान्दोग्य-मन्त्रभाष्यमें यह लिख रखा; और सभीको ज्ञान हो गया। (ज) आर्यसमाजी श्री-

राजाराम शास्त्रीने भी अपने अथर्ववेदभाष्यकी २३ पृष्ठकी टिप्पणीमें कहा है—'यह [शं नो देवीः] सूक्त पैप्पलादमें नहीं है। सम्भव है–उसके पहले पत्र पर हो, जो नष्ट है। (झ) आर्यसमाजी श्रीब्रह्ममुनिने भी 'सार्वदेशिक' (सितं. अक्टू. १९४७) ४१२ पृष्ठमें कहा है—'जिस ग्रन्थमें 'शं नो देवी' पाठ प्रारम्भमें है···जो कि 'पैप्पलाद-संहिता' है'। (ञ) आर्यसमाजके अनुसन्धाता श्री-भगवद्दत्त बी.ए.ने भी 'वैदिक-वाङ्मयका इतिहास' प्रथमभागके २२४ पृष्ठमें लिखा है—'महाभाष्य पस्पशाह्निकमें अथर्वणोंका प्रथम-मन्त्र 'शन्नो देवीः' माना गया है। गोपथब्राह्मण (१।२९) का भी ऐसा ही मत है। इसी सम्बन्धमें छान्दोग्य-मन्त्रभाष्यमें गुणविष्णु लिखता है—'शं नो देवीः' अथर्ववेदादिमन्त्रोऽयं पिप्पलाददृष्टः' अर्थात् पैप्पलादोंका प्रथममन्त्र 'शं नो देवीः' है। पिप्पलादसंहिताके उपलब्ध हस्तलेखमें प्रथमपत्र नष्ट हो चुका है। अतः गुणविष्णुके कथनकी परीक्षा नहीं की जा सकती'। [पर हम इसकी परीक्षा 'आलोक' ग्रन्थमालाके चतुर्थपुष्प (१२१-१६६ पृष्ठ)में कर चुके हैं]। (ट) 'वैदिक-वाङ्मयका इतिहास' प्रथमभागके द्वितीय-खण्डमें श्रीभगवद्दत्तजीने लिखा है—'शं नो देवी' इस मन्त्रके सम्बन्धमें वह (गुणविष्णु) लिखता है—'अथर्ववेदादिमन्त्रोऽयं पिप्पलाददृष्टः वरुणदैवतः। छन्दो गायत्री। [यहां 'शं नो भवन्तु पीतये'के स्थान 'आपो भवन्तु पीतये' पढ़ा जाता है] अर्थात् यह अथर्ववेदका प्रथममन्त्र है। इसका द्रष्टा पिप्पलाद है। इससे निश्चित होता है कि–'शं नो देवी, मन्त्र 'पैप्पलाद संहिताकाआदि

मन्त्र था।' (ठ) आर्यसमाजी-भाष्यकार श्री जयदेवने भी अपने अथर्ववेदके भाष्यकी भूमिकामें दबे शब्दोंमें माना है कि-'पैप्पलाद-शाखाका प्रथममन्त्र भी 'शं नो देवी' मन्त्र है'। (ड) श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने भी अपने यजुर्वेदभाष्य-विवरण (प्र.सं.)में इस मन्त्रके द्वारा पैप्पलादशाखाके अथर्ववेद सिद्ध हो जानेसे इस शङ्काको 'पर्याप्त बलवती', माना है। पर उसका उत्तर देते हुए उनकी दशा दयनीय होगई है। इस विवेचनसे सभी शाखाएँ वेद सिद्ध हो जाती हैं।

(१४) बोधायनधर्मसूत्र (२६।७)में 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' (तै.सं. ६।३।१०।५) मन्त्रकेलिए लिखा है-'एवमृणसंयोगं वेदो दर्शयति'। न्यायदर्शनके वात्स्यायनभाष्य (४।१।६०)में भी उक्त वाक्यको 'वैदिकवाक्य' 'ऋषि' (वेद) कहा है, उससे कृष्णयजुर्वेदकी संहिताएँ भी वेद सिद्ध हुईं।

(ख) अब इस विषयमें महाभाष्यकी साक्षी देखिये-'अस्त्यप्रयुक्तः' यह परपशाह्निकमें आक्षेपवार्तिक है, इसमें ऊष, चक्र आदि अप्रयुक्त शब्द आक्षिप्त किये गये हैं। इसके प्रत्युत्तरके उपसंहारमें 'सर्वे देशान्तरे' वार्तिकके भाष्यमें वादिप्रतिवादि-मान्य श्रीपतञ्जलिने कहा है-'ये चापि एते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दाः, तेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क्व? वेदे। तद् यथा-सप्तास्ये रेवतीरेवदूष, यद् वो रेवती रेवत्यां तमूष, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रा नश्चक्रा'। यहां उन अप्रयुक्त शब्दोंको वेदमें दिखलाया है। इन भाष्यकारसे उद्धृत वेदमन्त्रोंमें

'सप्तास्ये' मन्त्र तो ऋग्वेदशाकल्यसं. (४।५१।४)में मिलता है। 'यत्रा नश्चक्रा' यह यजुर्वेद वाज.सं. (२५।२२) तथा ऋशासं. (१।८६।६)में प्राप्त है। आर्यसमाज इन्हें वेद मानता है। 'यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र' यह मन्त्र तो कृष्णयजुर्वेदकाठकसं. (६।१८।६३)में मिलता है। ऋ.शा.सं. (१।१६५।११)में भी है, परन्तु 'यद्वो रेवती' यह मन्त्र किसी भी मुद्रित वेद-संहितामें प्राप्त नहीं। अतः इसे किसी लुप्त शाखाका मानना पड़ेगा; अंशतः यह कृष्णयजुर्वेद-काठकसं. (३१।७।१८)में मिलता है, आर्यसमाज इसे वेद नहीं मानता; पर आर्यसमाजका परम-मान्य भाष्यकार इसे वेद मानता है। इससे सभी शाखाएँ वेद सिद्ध हैं?

(ग) प्रत्याहाराह्निकमें 'एओङ्'सूत्रमें महाभाष्यमें 'ननु भोः! छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं च अधीयते—'सुजाते एश्वसूनृते! 'अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्' इस प्रश्नके उत्तरमें कि-सात्यमुग्रि-राणायनीय सामवेद-संहितामें अर्ध ए-ओ मिलता है—इसमें समाधान दिया गया है-'पारिषदकृतिरेषा तत्रभवताम्। नैव हि लोके नान्यस्मिन् वेदे अर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वाऽस्ति' अर्थात्-इस वेद (सात्यमुग्रिसंहिता एवं राणायनीय-संहिता)में तो अर्ध एकार मिलता है, पर अन्य वेदमें नहीं मिलता। यहां महाभाष्यकारने 'नान्यस्मिन् वेदे' इस शब्दसे *छान्दोग्य (सामवेद) की सात्यमुग्रि-राणायनीय-

*सामवेदका 'छन्दःसंहिता' नाम होनेसे उसके गान करने वाले 'छन्दोग' कहे जाते हैं, और उसका ब्राह्मण 'छान्दोग्य' कहा जाता है।

शाखा भी वेद मानी है। नहीं तो महाभाष्यकार 'नैव हि लोके, नैव च वेदे' यह न कहकर 'नाऽन्यस्मिन् वेदे' क्यों कहते ? 'अन्यस्मिन् वेदे' कहनेसे सभी वेदशाखाएँ वेद सिद्ध हुईं।

(घ) इस प्रकार ४।३।१०१ सूत्रके महाभाष्यमें 'नहि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसि (वेदाः) 'छन्दोर्थमिति चेत् तुल्यमेतद् भवति-ग्रामे-ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते। ननु चोक्तम्-नहि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसीति। यद्यपि अर्थो नित्यः, या तु असौ वर्णानुपूर्वी, सा अनित्या, तद्भेदाच्च एतद् भवति-काठकम्, कालापकम्, मोदकम्, पैप्पलादकम्' इस सन्दर्भमें काठक आदि सभी शाखाओंको छन्द (वेद) सिद्ध किया गया है, और उनका उस समय ग्राम-ग्राममें प्रचार भी सूचित किया गया है। वर्णोंकी आनुपूर्वीकी अनित्यता (अनियतता) तो सभी शाखाओं-की बताई गई है, जिसमें वर्तमान शाकल्य, वाजसनेय, कौथुम, और शौनकी संहिताएँ भी शामिल हैं—जिन्हें आजका अर्वाचीन आर्यसमाज-सम्प्रदाय चार वेद मानता है। यहां काठक आदि नाम तो उपलक्षणार्थ है। इस कारण 'शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत्' (१।४।८४) 'प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्' (२।४।३) यह भाष्यकारसम्मत शाकल्य-कौथुम-वाजसनेय आदि शाखाएँ भी वैसी सिद्ध हैं। भाष्यकारने 'यद्यपि अर्थो नित्यः' कहकर ज्ञानरूपसे सारी संहिताओंको नित्य स्वीकार किया है। 'वर्णानुपूर्वी अनित्या'से शब्दानुपूर्वी सभी आर्यसमाजादि-सम्मत वर्तमान-वेदसंहिताओं की भी अनित्य मानी है। हम तो यहाँ अनित्यका अर्थ 'अनियत'

समझते हैं, जैसा कि हमने 'आलोक'के चतुर्थ पुष्पमें लिखा है; पर कई लोग ऋषिप्रोक्ततासे ऋषिभेदवश 'अनित्य' ही अर्थ मानते हैं; उसमें वे प्रलय तककी सीमा मानते हैं।

इसीके प्रमाणस्वरूप वे 'स्तोमं जनयामि नव्यम्' (ऋ. १।१०६।२) इसे ऋषिका वाक्य मानते हैं। इसी प्रकार 'द्वे सृती अशृणवम्' (ऋ. १०।८८।१५) तथा ऋ.सं. (७।२२।६) आदि मन्त्रोंमें भी। इस कारण उनके अभिप्रायके अनुसार निरुक्त (१०।४२।३)में 'प्र तद् वोचेम' मन्त्रमें 'अवस्रवेत्' पदके दो बार उच्चारणमें श्रीयास्कने 'तत् परुच्छेपस्य (तन्नामकर्षेः) शीलम् (शैली)' यह कहकर उस विशेष-ऋषिकी ही यह दो बार कहनेकी शैली मानी है, यह शैली ऋ.सं.के १।१२७-१३९ इन तेरह सूक्तोंमें स्पष्ट है। इसीलिए ही न्यायभाष्यकार श्रीवात्स्यायनने भी २।१।६८ सूत्रके भाष्यमें 'सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगके अविच्छेदसे ही वेदोंको नित्य माना है, वर्णोंकी आनुपूर्वीकी नित्यतासे नित्य नहीं माना। क्योंकि-नैयायिक शब्दमात्रको अनित्य मानते हैं। इससे अपनी इष्ट संहिताओंके अतिरिक्त अन्य संहिताओंको अनित्य सिद्ध करना चाहते हुए आधुनिक व्यक्तियोंका पक्ष खण्डित है। यहां शाखाओंको अच्छन्द (अवेद) नहीं बताया गया है, किन्तु छन्द (वेद) ही। इस विषयमें 'आलोक'के चतुर्थ पुष्पमें स्पष्टता देखिये।

(१५) (क) पूर्वपक्ष—निरुक्तमें वेदोंकी आनुपूर्वीको नित्य बतलाया गया है-'क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिरिति नियतवाचोयुक्तयो

नियतानुपूर्व्या भवन्ति' (निरुक्त १।१६) (अर्थात्-वेदमें 'क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः' (ऋ. १०।८५।४२) इत्यादि वेदमन्त्रोंकी आनुपूर्वी नित्य (हेर-फेर से रहित) है; पर शाखाओंकी वर्णानुपूर्वी हेरफेर वाली है; अतएव वेद नहीं। (श्रीब्रह्ममुनि)। 'नित्य' शब्द और 'नियत' शब्द समानार्थक हैं, कोशमें 'नियतं ध्रुवम्' आया है, 'नियतं ध्रुवं नित्यं' यह काशिकामें है। स्कन्दस्वामीने द्वितीयाध्यायमें 'अर्थो नित्यः' में निरुक्त तथा उसकी टीकामें 'नियतं'का अर्थ 'नित्य' किया है। शब्दकल्पद्रुममें भी इसी प्रकार है। (श्रीब्रह्मदत्तजिज्ञासु)

(ख) 'स्वरो नियत आम्नायेऽस्यवाम-शब्दस्य' (५।२।५९) महाभाष्यके इस वचनमें वेदमें 'अस्य वामस्य' (ऋ. १।१६४।१) इत्यादि वेदवचनोंका स्वर नित्य और वर्णानुपूर्वी भी बिना हेरफेर वाली कही है, पर शाखाओंमें हेरफेर होता है; अतः वे वेद नहीं। (श्रीब्रह्ममुनि, तथा श्रीब्रह्मदत्तजिज्ञासु)

(ग) 'तेन प्रोक्तम्' इस सूत्रमें महाभाष्यकारने कहा है-'या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सा अनित्या। तद्भेदाच्च एतद् भवति-काठकम्, कालापकम्, पैप्पलादकम्' इस वचनके पर्यालोचनसे मालूम होता है कि-काठक आदि शाखाओंका ऋषियोंने ही प्रवचन किया है, अतएव वे कृतक हैं; अतः वेद नहीं। (श्रीब्रह्मदत्त जिज्ञासु, श्रीब्रह्ममुनि)

उत्तरपक्ष-(क) पूर्वपक्षीसे प्रष्टव्य है कि-क्या वह निरुक्तकारको प्रमाण मानता है? वह निरुक्तकार-प्रोक्त 'क्रीडन्तौ'

इस सम्पूर्ण मन्त्रकी आनुपूर्वीको नित्य मानता है; अथ.. 'क्रीलन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः' इतने अंशकी। यदि इतने ही अंश.. तो ऋसं.के उक्त मन्त्रमें 'क्रीलन्तौ' यह वैदिक 'ल' वाला पाठ.. और अथर्वमें 'क्रीडन्तौ' (१४।१।२२) यह 'ड' वाला पाठ.. तब इनमें भेद पड़ जानेसे वेदत्व नहीं रहा। यदि उक्त.. मन्त्रकी वर्णानुपूर्वी इष्ट है; तो ऋसं.में तो उक्त मन्त्रमें 'मो.. मानौ स्वे गृहे' यह पाठ है, और अथर्वमें 'मोदमानौ स्वस्त..' पाठ है। तब यहाँ शेष मन्त्रकी समानता तथा इन अंशों.. हेरफेर होनेसे प्रतिपक्षीके अनुसार वेद-मन्त्रत्व नहीं रहेगा.. यदि रहेगा; तो अन्य शाखाओंमें कुछ अंशोंमें भेद होने.. भी वह वेद ही रहेगा। वस्तुतः निरुक्तकार 'नियत' शब्दका अ.. 'निश्चित' तो मानता है 'नित्य' नहीं। सो अपनी-अपनी संहिता.. मन्त्रोंकी आनुपूर्वी निश्चित होती है-यही यहाँ अर्थ इष्ट है.. 'ध्रुव' आदिका भी वही अर्थ इष्ट है।

(ख) अब 'अस्य-वामीय' सूक्तकी आनुपूर्वीमें भेद देखिये.. ऋसं.के प्रथम मण्डलके एक ही १६४ सूक्तमें उसके ५२ मन्त्र.. पर अथर्वमें नवमकाण्डके ९-१० इन दो सूक्तोंमें विभक्त हैं। य.. इसपर वादी कहे कि-अष्टकवाली ऋसं.में देखो; तो वह.. 'बाष्कल-संहिता' है, वह वादीका वेद कैसे हो सकता है?

और देखिये- 'ऋसं. (१।१६४) के 'अस्य-वामीय'का २१.. मन्त्र 'यत्रा सुपर्णा' है, और २२वाँ 'यस्मिन् वृक्षे' है, पर अथ.. (९।९) में २१वाँ मन्त्र 'यस्मिन् वृक्षे' है और २२वाँ 'यत्रा सुपर्णा..

है। इयाँ विपरीत आनुपूर्वी होनेसे वादीके अनुसार भी वेदत्व न रहा। अब इसी 'अस्य-वाम' सूक्तकी वर्णानुपूर्वीमें भी भेद देखिये-ऋसं.में 'सप्त स्वसारो अभिसंनवन्ते' (ऋ ३) यह पाठ है, और अथर्वमें 'अभिसंनवन्त' यह लकारभेद है। 'अचिकित्वाञ्चिकितुषः' (ऋ. ६) 'अचिकित्वांश्चि–' (अ. ७) यह सन्धि-भेद है। यहीं 'विघ्नने' (ऋ.) विद्वनो' (अ.) यह शब्दभेद है। 'तिस्रोमातॄ···ग्लावयन्ति···विश्वविदं···अविश्वमिन्वाम्' (ऋ. १०) ग्लापयन्त··विश्वविदो··अविश्वविन्नाम्' (अथ. १०) कितना भेद है आनुपूर्वीका ?।

'अयं स शिङ्क्ते' यह इस सूक्तका प्रसिद्ध मन्त्र है। इसमें 'मर्त्यं' (ऋ. २६), 'मर्त्यान्' (अ. ९।१०।७) यह वचनभेद है, क्या यह आनुपूर्वीभेद नहीं ? 'द्यौर्मे पिता' (ऋ. ३३) 'द्यौर्नः पिता' (अ. ९।१५।१२) में भी वचन-भेद है। 'पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः' (ऋ. ३४) 'पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः। पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं' (अ. १३) यहाँ कितना आनुपूर्वीका भेद है ? 'त इमे समासते' (ऋ. ३९) 'ते अमी' (अ. १८) यहाँ सर्वनामका भेद है। 'सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' (ऋ. ४१) यह मन्त्र यहाँ समाप्त है, पर अथर्वमें 'सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति' (२१) यह बढ़ा हुआ पाठ है। 'विश्वमेको विचष्टे' (ऋ. ४४) 'विश्वमन्यो अभिचष्टे' (अ. २६) यह पाठ है। इसी सूक्तमें अन्य भी बहुत से आनुपूर्वी-भेद हैं–पर हमने नहीं दिखलाये। तब क्या

श्रीब्रह्ममुनिजी अथर्ववेदसं.में ऋसं. से हेरफेर करनेके कारण अपने अथर्ववेदको अस्य-वामीयसूक्तमें आम्नाय (वेद) नहीं मानेंगे, जो इसमें उनका उत्तर होगा; वही हमारा 'शाखाओंके पाठभेद'में होगा। अतः महाभाष्यकारके मतमें 'एतस्मिंश्च अतिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते-ते शब्दास्तत्र-तत्र नियत-विषया दृश्यन्ते' इस महाभाष्यकारके वाक्यकी भान्ति 'निश्चित' अर्थ है, कि–'अस्य वामस्य' आदिमें अपनी-अपनी संहितामें 'वामस्य अस्य' इस प्रकार विपरीत आनुपूर्वी नहीं होती।

पूर्वपक्षीको यह बताना चाहिये कि–'छन्द' और 'आम्नाय' शब्द पर्यायवाचक हैं–या भिन्न-भिन्न ? यदि समान हैं, तो छन्दकी वर्णानुपूर्वी भी नियत सिद्ध हुई। यदि वादी काठक-संहिता आदिको 'छन्द' मानता है, 'आम्नाय' नहीं, तब 'गोत्र-चरणाद् वुञ्' (पा. ४।३।१२६) इसके उदाहरण 'काठकम्'में आम्नाय (वेद) अर्थमें वुञ् प्रत्यय हुआ है, तब वादीका पक्ष कट गया। 'आथर्वणिकस्य इकलोपश्च' स्त्रैणताद्धितके ४३६ वार्तिकमें स्वा.द.जीने 'अथर्वन' शब्दको भी चरणवाची मानकर 'आथर्वणिकस्य धर्म आम्नायो वा आथर्वणः' यह 'आम्नाय' अर्थमें उदाहरण दिया है।

महाभाष्यकारने जो छन्दोंकी आनुपूर्वी अनित्य बताई है, उसमें प्रतिपक्षि-सम्मत शाकल्य, वाजसनेयी, कौथुम, शौनक-संहिता आदि सभी शामिल हैं। बात यह है कि–कई प्राचीन विद्वान् जिनमें श्रीपतञ्जलि-यास्क-गौतममुनि आदि सम्मिलित

हैं—वे वेदको अर्थ (ज्ञान) रूपमें तो नित्य मानते हैं, शब्दरूपमें भी; पर शब्दोंकी आनुपूर्वीको उन-उन ऋषियों-द्वारा आविर्भावित मानते हैं। इसलिए श्रीयास्क 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' (नि. ७।१।४) यहाँ ऋषिको स्तुतिकर्ता कहकर मन्त्रको ऋषिकृत सूचित करते हैं। 'कुत्सः कर्ता स्तोमानाम्' (नि. ३।११।५) 'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवति आख्यानसंयुक्ता' (निरु. १०।१०।२) 'ऋषिर्नदो भवति, नदतेः स्तुतिकर्मणः' (निरु. ५।२।६) 'एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' (निरु. ७।३।८) 'सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्ति' (७।४।१०)। एतदादिक निरुक्तके वाक्य इसी बातको सूचित करते हैं। ऐसा कई लोगोंका मत है। उन्हींके मतानुसार कई वेदमन्त्र भी यह बात सूचित करते हैं। जैसे कि—'स्तोमं जनयामि नव्यम्' (१।१०६।२) यह ऋषिका ही वाक्य है। इस प्रकार 'द्वे सृती अशृणवम्' (ऋ. १०।८८।१५) 'इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे' (यजुः ४०।१०) 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत' (ऋ. १।१।२) इत्यादि वेदमन्त्र मन्त्रोंकी ऋषिकृतताको सूचित करते हैं, इसलिए यत्र-तत्र 'मन्त्रकृतः' (तै.ब्रा.२।८।८७४) आदि शब्द आते हैं। श्रीयास्कने निरुक्त (१०।४२।३) में इस विषयमें तो स्पष्टताकी सीमातीतता कर दी है। वे 'प्रतद्वोचेम' आदि मन्त्रोंमें 'अवस्रवेत्' आदि पदोंको दो बार उच्चारण करनेमें 'तत् परुच्छेपस्य शीलम् (शैली) यह कहकर परुच्छेप नामक ऋषिकी अपनी शैली ही बताते हैं। उस ऋषिकी मन्त्रके

अन्तिमपदको दो बार पढ़नेकी शैली ऋ.शा.सं.के १।१२७ सूक्तसे शुरू करके १३९ सूक्त तक १३ सूक्तोंमें देखी जा सकती है।

श्रीवात्स्यायन-गौतम आदि शब्दाऽनित्यत्ववादी नैयायिक वेदके शब्दोंको भी अनित्य मानकर उसकी नित्यता अतीत-अनागत-मन्वन्तरयुगान्तरोंमें सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाऽविच्छेदके ही कारण (न्याय. २।१।६८) मानते हैं, शब्दके नित्य होनेसे नहीं। इसलिए नागेशभट्टने भी 'मतौ छः' (४।२।५९) इस सूत्रकी व्याख्यामें लिखा है—'तत्तत्कल्पे यादृशी [आनुपूर्वी] ऋषिभिः कृता; सा तत्तत्कल्पसमाप्तिपर्यन्तं नियता-इत्यर्थः'।

फलतः यह वर्णानुपूर्वीकी अनित्यता सभी वेदसंहिताओंके लिए महाभाष्यकारने मानी है, जिसमें प्रतिपक्षिसम्मत चार वेदसंहिता भी आ जाती हैं; केवल कठ आदि शाखाओंकी नहीं। काठक आदि उदाहरण तो महाभाष्यकारने प्रदर्शनार्थ दिये हैं; नहीं तो इनसे भिन्न जैमिनि-संहिता मैत्रायणी-संहिता आदिकी वर्णानुपूर्वी फिर प्रतिपक्षीके मतमें भी नित्य हो जावेगी। जिस 'अस्य वाम'के स्वरको प्रतिपक्षी नित्य मानता है, और उसकी आनुपूर्वीको भी; सो उसकी आनुपूर्वीकी अनित्यता हम पूर्व दिखा चुके हैं; अब उसके स्वरकी अनित्यता भी देख लीजिये—'अस्य वामस्य प' (ऋ १।१६४।१) 'अस्य वामस्य' (७) पहले मन्त्रमें विभक्तिको स्वरित है; ७वेंमें स्वरित न करके अनुदात्त ही रखा गया है। दोनोंमें ही अगला अक्षर उदात्त है। इस प्रकार 'अस्य वामस्य' (६।६।१) 'अस्य वामस्य' (५)

अथर्वके इन मन्त्रोंमें षष्ठी विभक्तिके 'स्य'में स्वरित और अनुदात्त स्वरका भेद प्रत्यक्ष दीख रहा है; इसका जो उत्तर होगा, वह अन्य संहिताओंमें भी होगा।

सो यदि प्रतिपक्षी 'महाभाष्य'के वचनमें 'छन्दः'का अर्थ 'संहिता' ले, और 'संहिता'में वर्णानुपूर्वीको अनित्य माने और वेदमें नित्य; तो उसे याद रखना चाहिये कि ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि कहीं न तो मिलते हैं; और न कभी मिल सकते हैं। आपको ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेदसंहिता आदि ही मिलेगी, ऋग्वेद आदि नहीं मिलेंगे। इसी प्रकार काठकसंहिता आदि भी यजुर्वेद-संहिता हैं, बाष्कल-संहिता आदि भी ऋग्वेद-संहिता हैं, पैप्पलाद संहिता आदि भी अथर्ववेद-संहिता हैं। जो उन पर यह लिखा नहीं मिलता; उसमें कारण प्रकाशकोंका या तो अज्ञान है, या प्रकाशक प्रायः आर्यसमाजी हैं। उन्होंने उसे वहांसे हटा दिया है।

सो महाभाष्यकारका उक्त मत वेदमीमांसक मीमांसादर्शन-से विरुद्ध होनेसे ऐकदेशिक है। उसके दोनों वाक्योंमें कोई विरोध नहीं। 'नहि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसि' इस महाभाष्यकारके वाक्यमें छन्दोंकी नित्यतामें काठक आदि छन्दों-संहिताओंकी नित्यता भी सिद्ध हो ही गई, हाँ वर्णोंकी आनुपूर्वी तो भाष्यकारके मतमें चाहे लौकिकी हो, चाहे छान्दस (वैदिक), वह अनित्य ही है। छन्दसे अभिधीयमान अर्थ ईश्वर तो नित्य ही है; उसी देवात्मक ईश्वरके प्रतिपादनमें वेदोंका

मुख्य तात्पर्य है; उसी वेदार्थ ईश्वरको नित्य बताया गया, पर वर्णानुपूर्वीको अनित्य बताया गया। जिस-जिसको चाहे वह कठ हो, चाहे याज्ञवल्क्य हो, चाहे शौनक हो, चाहे पिप्पलाद वा कुथुम ऋषि, प्रत्येकको समाधिके माध्यमसे प्राप्त शब्दोंके उच्चारणके भेदसे भिन्न आनुपूर्वियोंके उच्चारणकर्ता कठ-शौनक आदि हैं। इससे संहिता अनित्य नहीं हो जाती, परन्तु कण्ठ-तालु आदिके अभिघातसे प्रकट हुई ध्वनियोंसे प्रकट हुई आनुपूर्वीमें ध्वनिकी अनित्यता उपचार-भावसे कह दी जाती है। वस्तुतः काठक आदि संहिता कृतक नहीं हो जातीं, नहीं तो फिर याज्ञवल्क्य शौनक कुथुम आदि की प्रतिपक्षि-सम्मत संहिताएँ समान न्यायसे कृतक हो जाएँगी। शेष इस विषयमें चतुर्थ पुष्पमें देखें।

(१६) श्रीयास्कके निरुक्तमें भी वेदमन्त्रोंकी व्याख्या स्पष्ट है। स्वा.द.जीने भी शोलेतूरमें छपाये हुए अपने विज्ञापन-पत्रमें कहा है-'नैरुक्तम् १२ तत्र वेदमन्त्राणां निरुक्तयः सन्ति'। उसी निरुक्त (६।५।१)में 'भद्रं वद दक्षिणतः' इस मन्त्रकी 'तदभिवादिनी एषा ऋग् भवति' कहकर जो ऋचा कही है, वह आर्यसमाज-सम्मत-वेदमें नहीं है। इस प्रकार 'हविर्भिरेके स्वरितः सचन्ते... नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम' यह मन्त्र निरुक्त (१।११।१)के निपात-प्रकरणमें उद्धृत है। इसका चौथा पाद 'उपसंवादाशङ्कयोश्च' (३।४।८) इस छान्दस (वैदिक) सूत्रका उदाहरण है; पर यह मन्त्र आर्यसमाजसम्मत वेदमें नहीं दीखता। इससे उसका लुप्तशाखामें

अनुमान करना चाहिये। ऋक्परिशिष्टमें तो प्रत्यक्ष है। इससे स्पष्ट है कि-सभी शाखाएँ वेद हैं।

(ख) इस प्रकार निरुक्तमें मन्त्रभागकी निरर्थकता-सार्थकता-प्रकरणमें 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः' यह मन्त्र मुद्रित-शाखाओंमें नहीं मिलता। 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे' यह मन्त्र तो कृष्णयजुर्वेद तै.सं. (१।८।६।१)में मिलता है। (ग) इस प्रकार निरुक्त (३।२१।१)का 'अवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः' यह निगम (स्वा.द.के शब्दोंमें वेदवचन) शुक्लयजुर्वेद वा.सं. (१६।५१)में 'आयुधं निधाय कृत्तिं वसान आचर पिनाकं बिभ्रदागहि' इस भिन्नरूपमें मिलता है। यदि निरुक्तस्थ उक्त पाठ वेदका नहीं; तो श्रीयास्कने उसे 'निगम' क्यों लिखा? इससे स्पष्ट है कि-कृष्णयजुर्वेद (तै.सं. १।८।६।१२) भी-जिसका उक्त मन्त्र है-वेद है, जिसे वादी वेद नहीं मानते। (घ) 'सुविते मा धाः'को भी निरुक्त (४।१७।१)में 'निगम' (वेदवचन) माना है, यह भी 'कृष्णयजुर्वेद तै.सं. (१।२।१०।१७)में है। (ङ) इस प्रकार 'ओषधे! त्रायस्वैनं स्वधिते मैनं हिंसीः' इस मन्त्रको निरुक्त (१।१५।६)में मन्त्रभागकी सार्थकताके शास्त्रार्थमें उद्धृत किया गया है, पर यह भी कृष्णयजुर्वेद (तै.सं. आदि)में है, देखिये इसपर 'आलोक'का चतुर्थपुष्प। 'शुक्लयजुर्वेद'में 'त्रायस्व'के साथ 'एनं' नहीं है। देखिये-(वा.सं. ४।१,६।१५)। तब वादिप्रतिवादिमान्य निरुक्तकारके अनुसार कृष्णयजुर्वेदकी शाखाएँ भी मन्त्रभागात्मक-वेद सिद्ध हुईं। (च) इस प्रकार

'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि।' यह मन्त्र मन्त्रभागके सार्थक्य-प्रकरणमें निरुक्त (१।१५।८)में दिया गया है; यह भी मैत्रायणी-संहिता (१।४।११।४५)में है। इस प्रकार सभी वेद-शाखाएँ मन्त्र-भागात्मक वेद सिद्ध हुईं। (छ) 'तच्छंयोरावृणीमहे' यह 'निगम' भी निरुक्त (४।२१।२)में कृ.य.तै.सं. (२।६।१०।३)का दिया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि-जो लोग इन चार पोथियोंके अतिरिक्त अन्य वेद-शाखाओंको वेद (मन्त्रभाग) नहीं मानते, वे भ्रान्त हैं।

(१७) महाभारतके आदिपर्व (३।६७-६८) उपमन्युके आख्यानमें तथा अन्यत्र कई वेदमन्त्र उद्धृत किये गये हैं, पर यह उपलब्ध संहिताओंमें नहीं हैं; तब लुप्त-शाखाएँ भी वेद सिद्ध हुईं। (ख) वाक्यपदीयके १।१२१ पद्यकी व्याख्यामें भर्तृहरिने कहा है-'ऋग्वर्णः खल्वपि-'इन्द्राच्छन्दः प्रथमं प्रास्यदन्नं तस्मादिमे नामरूपे विषूची। नाम प्राणाच्छन्दसो रूपमुत्पन्नमेकं छन्दो बहुधा चाकशीति' इति। तथा पुनराह-'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्। अथेदं वाग् बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्च नाऽह' पर यह ऋचाएँ मुद्रित ऋग्वेदकी शाखामें नहीं मिलतीं। पर जब सभी वेद-शाखाओं तथा ब्राह्मणभाग और उसके उपनिषद् तथा आरण्यक भागको वेद मान लिया जाय; तब सङ्गति लग जाती है; इनका लुप्त-संहिताओंमें अनुमान कर लेना पड़ता है। इससे सभी शाखा-ब्राह्मण वेद सिद्ध हुए।

(ग) पिङ्गलछन्दःसूत्रके ३।१८ की टीकामें यादवप्रकाशने यह

ऋचा उद्धृत की है—'इन्द्रः शचीपतिर्बलेन व्रीडितः, दुश्च्यवनो वृषा समत्सु सासहिः'। यही मन्त्र ऋक्-प्रातिशाख्य (१६।१४) के उवटभाष्यमें चतुष्पदीगायत्रीके उदाहरणमें उद्धृत किया है। पिङ्गलच्छन्दःसूत्र (३।१२)की टीकामें नागीगायत्रीके उदाहरण-में यादवप्रकाशने 'ययोरिदं विश्वमेजति ता विद्वांसा हवामहे वाम्। वीतं सोम्यं मधु' यह ऋचा उद्धृत की है। वहीं ३।१५ सूत्रकी व्याख्यामें प्रतिष्ठा-गायत्रीके उदाहरणमें 'देवस्त्वा सविता मधु पाङ्क्तां विश्वचर्षणी। स्फीत्येव नश्वरः' यह ऋचा उद्धृत की गई है। एतदादिक ऋचाएँ आर्यसमाजकी इष्ट ऋग्वेदशा.सं.-में नहीं मिलती हैं। (घ) इस प्रकार 'वनस्पते! रशनया नियूय' यह ऋचा निरुक्त (८।२०।१)में उद्धृत की है; पर ऋसं. (१०।७०।१०)में उक्त मन्त्रसे बहुत अंशोंमें भेद है; अतः सभी वेद-शाखाओंके वेद माननेके बिना कार्य-निर्वाह नहीं हो सकता।

(ङ) श्रीयास्क निघण्टुको समाम्नाय मानते हैं; और उसे छन्दों (वेदों)से समाहृत (संगृहीत) मानते हैं (निरु. १।१।४)। बहुतसे निघण्टुके शब्द तथा नैगमकाण्डके शब्द और मन्त्र हैं, जो आर्यसमाजसम्मत वेदमें नहीं मिलते। जैसेकि—सुवर्णका नाम 'जातरूपम्' (१।२)। क्षिप्रका नाम 'साचीवित्' (२।१५)। ह्रस्वका नाम 'निघृष्वः' (३।२)। रात्रि का नाम 'शोकी' (१।७) यह चारों पद वर्तमान चार पोथियोंमें नहीं मिलते, किसी लुप्त अन्य संहिता वा ब्राह्मणमें होंगे। इस प्रकार वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी, महाभाष्य तथा काशिका आदिमें, तथा स्वा.द.के

आख्यातिक एवं अष्टाध्यायी-भाष्य आदिमें वैदिक-सूत्रोंके जो उदाहरण दिये गये हैं, वे भी सभी आर्यसमाजसम्मत चारों वेदोंमें नहीं मिलते। ऐसे उदाहरण 'आलोक'के छठे और चौथे पुष्पमें देखिये। इससे स्पष्ट है कि-वेदोंकी सीमा यही प्रचलित चार पोथियाँ नहीं हैं। यह चारों वेदोंकी एक-एक शाखाएँ हैं। चारों वेदोंकी सभी शाखाएँ ११३१ हैं, इतने ही ब्राह्मणग्रन्थ भी हुए। तब वर्तमान चार-पोथियोंमें अनुपलब्ध शब्द अन्य शाखा-ब्राह्मणोंमें मिलने सम्भव हैं; तब सभी शाखा-ब्राह्मण मिलकर वेद सिद्ध हुए।

(१८) जोकि—स्वा.द.जीने स.प्र.के ७म समुल्लास (१२७ पृष्ठ) में लिखा है कि—'जितनी शाखाएँ हैं, वे आश्वलायन आदि ऋषियोंके नामसे प्रसिद्ध हैं और मन्त्रसंहिता परमेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हैं' यह भी ठीक नहीं। मन्त्र-संहिताओं एवं ब्राह्मण-ग्रन्थोंके आरम्भ वा समाप्तिमें अन्य शाखाओंकी तरह ऋषियों-का नाम स्पष्ट है। जिसे वे परमेश्वरप्रणीत यजुर्वेद मानते हैं; उसका नाम वाजसनेयी-संहिता प्रसिद्ध है, और लिखा भी रहता है, वाजसनेय याज्ञवल्क्य-ऋषिका नाम है। इस प्रकार वाजसनेयी-ब्राह्मण, तथा वाजसनेयी-उपनिषद् भी जान लेने चाहियें। जैसे आश्वलायनादि-ऋषिप्रोक्त होनेसे आश्वलायनी आदि शाखाएँ हैं, वैसे ही स्वा.द. सम्मत ऋग्वेद शाकल्य-ऋषिसे प्रोक्त होनेसे शाकल्यसंहिता नामसे, स्वामिसम्मत यजुर्वेद वाजसनेय-ऋषिप्रोक्त होनेसे वाजसनेयी-संहिता नामसे, स्वामि-

सम्मत सामवेद कुथुम-ऋषिप्रोक्त होनेसे कौथुमशाखा नामसे, स्वामिसम्मत अथर्ववेद शौनकऋषिप्रोक्त होनेसे शौनक-संहिता नामसे प्रसिद्ध है। इसीलिए अपने अथर्ववेदभाष्यकी भूमिकामें आर्यसमाजी विद्वान् पं० राजारामशास्त्रीजीने भी उक्त संहिताओंके यही शाकल्य-संहिता आदि नाम माने हैं। इसी प्रकार श्रीसत्यव्रतसामश्रमी, स्वामिहरिप्रसाद, श्रीभगवद्दत्त आदि आर्यसमाजसे सहानुभूति रखनेवाले विद्वान् भी अपने ऐतरेयालोचन, वेदसर्वस्व–१म भाग, वैदिकवाङ्मयका इतिहास–१म भाग आदि पुस्तकोंमें मान चुके हैं, इसी प्रकार आर्यसमाजी विद्वान श्रीशिवशङ्करकाव्यतीर्थके तत्त्वप्रकाश, वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय (पृ. ४६) आदि भी देख लेने चाहियें।

कहीं वेद-संहिताओंके आदि-अन्तमें यह नहीं लिखा कि–परमेश्वरप्रणीत ऋग्वेदः, इत्यादि। वेद अग्नि, रवि, वायुसे भी प्रोक्त नहीं कहे गये, किन्तु उन देवोंसे दोहनमात्र कहा गया है। जो कि–स्वा.द.से छपाए वेदोंमें शाखाका नाम नहीं दिखाई पड़ता, वह उनसे तथा उनके अनुयायिओं द्वारा हटा दिया गया है, परन्तु प्राचीन लिखित एवं निर्णयसागर आदिमें मुद्रित ऋग्वेदादियोंमें तो शाखाका नाम स्पष्ट लिखा गया है। स्वा.द.ने भी अपने 'ताद्धित'–(६१ पृष्ठ)में भी 'छन्दोब्राह्मणानि' (पा. ४।२।६५) इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए छन्द (वेद)के उदाहरणमें कठाः, मोदाः, पैप्पलादाः, वाजसनेयिनः' इन शाखाओंका नाम लिखा है।

इसका पुष्ट प्रमाण यह है कि–इन वेदोंका नाम 'वेद' शब्द न मिलकर 'वेदसंहिता' नामसे मिलता है। 'ऋग्वेद' नाम नहीं मिलता, किन्तु 'ऋग्वेदसंहिता' नाम मिलता है, इसका भाव यह है–'ऋग्वेदस्य संहिता' तब प्रश्न होगा कि–ऋग्वेदकी कौनसी संहिता है, तब उत्तर होगा कि–'शाकल्य-संहिता', क्योंकि–ऋग्वेदकी महाभाष्यानुसार २१ संहिताएं होती हैं। 'यजुर्वेद' नाम नहीं मिलता, किन्तु 'यजुर्वेदसंहिता' जिसका अर्थ 'यजुर्वेदकी संहिता' है। फिर प्रश्न होता है कि यजुर्वेदकी यह कौनसी संहिता है, तब उत्तर होता है कि यह वाजसनेयी-संहिता है, यह काण्वसंहिता है, यह काठकसंहिता है, यह मैत्रायणी-संहिता है, यह तैत्तिरीय-संहिता है, यह कठकपिष्ठल-संहिता है। यजुर्वेदकी सभी १०१ संहिता हैं। 'सामवेद' नाम नहीं मिलता, किन्तु 'सामवेद-संहिता' नाम मिलता है। इसपर प्रश्न यह है कि–यह सामवेदकी कौनसी संहिता है, इसपर उत्तर होता है कि–यह सामवेदकी कौथुमी-संहिता है, यह जैमिनि-संहिता है इसकी सभी १००० संहिता हैं। 'अथर्ववेद' नाम नहीं मिलता, किन्तु 'अथर्ववेद-संहिता' नाम मिलता है। तब प्रश्न यह है कि–यह अथर्ववेदकी कौनसी संहिता है, इसपर उत्तर यह होता है कि–यह अथर्ववेदकी शौनकी-संहिता है, यह पैप्पलाद संहिता है; सभी नौ संहिता होती हैं। इस 'संहिता' नामसे सिद्ध होता है कि–सभी वेद शाखाएँ ही होती हैं, और वे सभी वेदसंहिताएँ वेद हैं।

अष्टाध्यायीमें भी 'शौनकादिभ्यः छन्दसि' (४।३।१०६) इस सूत्रमें छन्द (वेद) वाच्य होनेपर शौनक आदियोंको णिनि कहा है। इस गणमें प्रसिद्ध शौनक तथा वाजसनेयी शाखाओंका नाम स्पष्ट है; तब शाखाओंकी वेदता सिद्ध हुई। इस प्रकार 'कठचरकाल्लुक्' (पा. ४।३।१०७) 'कलापिनोऽण्' (४।३।१०८) इन पाणिनि-सूत्रोंमें कठ, चरक, तथा कलाप शाखाओंको वेदत्व अभिधेय होनेपर प्रत्यय वा प्रत्ययका लुक् कहा है, इन सब प्रमाणोंसे वेदशाखाएँ पाणिनि आदिके अनुसार वेद सिद्ध होती हैं।

(१९) जो कि-निरक्षर आर्यसमाजी मानते हैं कि-वेद अन्य वस्तु है, और शाखा अन्य वस्तु है, शाखा वेद नहीं हो सकती, और वेद शाखा नहीं हो सकते, उसका पहले हम खण्डन कर चुके हैं। जो कहते हैं कि-शाकल्य आदि चार शाखाएँ वेद हैं; और अन्य शाखाएँ शाखा हैं, वेद नहीं-ऐसा कहने वालोंकी बुद्धिका उतना मूल्य है, जैसे कि कोई आर्यसमाजी 'सत्यार्थ-प्रकाश'के किसी एक समुल्लास वा, दो, तीन, चार समुल्लासोंको 'सत्यार्थप्रकाश' माने; शेष समुल्लासोंको स.प्र.की शाखाएँ माने, 'सत्यार्थप्रकाश' न माने। अष्टाध्यायीके तीन-चार अध्यायोंको ही व्याकरण माने, अन्य अध्यायोंको उनकी शाखा माने। मनुस्मृतिके चार अध्यायोंको ही मनुस्मृति कहे. शेष अध्यायोंको उनकी शाखा माने; उन्हें मनुस्मृति न माने।

शाखाएँ सभी वेद हैं, यह सिद्ध हो ही गया। इस कारण

मनुस्मृतिमें कहा है-'यत्नेन भोजयेत् श्राद्धे बह्वृचं वेदपारगम् शाखान्तगमथाध्वर्युं छन्दोगं तु समाप्तिकम्' (३।१४५) यहां श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है-'ऋग्वेदिनं मन्त्र-ब्राह्मणात्मकशाखा-ध्यायिनं यत्नतो भोजयेत्। तथाविधमेव यजुर्वेदिनम्। वेदस्य पारं गच्छतीति वेदपारगः, शाखाया [जातावेकवचनम्] अन्तं गच्छतीति शाखान्तगः, समाप्तिरस्यास्तीति समाप्तिकः। सर्वैरेव शब्दैर्मन्त्र-ब्राह्मणात्मककृत्स्नशाखाध्येताऽभिहितः'। इससे स्पष्ट है कि-वेदशाखाकी अन्तप्राप्ति, अथवा वेदपार, वा वेदसमाप्ति समान बात है। तब सभी शाखाएँ वेद सिद्ध हुईं। शाखाओंका नाम मन्त्रभाग प्रसिद्ध है। वेद चार हैं, वा तीन-इस पर अन्यत्र विचार होगा।

(२०) दूसरा वेदभाग ब्राह्मण है, इसपर छठा पुष्प देखना चाहिये। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि-केवल वर्तमान ऋ.सं. यजुर्वेद-संहिता आदि चार पोथियाँ ही ऋग्वेद-यजुर्वेद आदि नहीं; किन्तु ऋग्वेदादिकी सभी २१ संहिता, तथा उनके उतने ही ब्राह्मण ऋग्वेद हैं। पृथक्-पृथक् उनका नाम शाकल्य-संहिता, बाष्कलसं. आश्वलायनसं., शाङ्खायन-संहिता, बह्वृच-संहिता आदि भी हैं। उतने ही ब्राह्मण भी 'ऋग्वेद' शब्दसे गृहीत किये जा सकते हैं। पृथक्-पृथक् उनके ऐतरेय-शाङ्खायन आदि भी नाम हैं।

इस प्रकार यजुर्वेदकी शुक्ल-संहिताएँ वाजसनेयी (जिसे आर्यसमाज वेद मानती है) तथा काण्वसंहिता आदि १५ संहिताएँ हैं। इस पर आर्यसमाजी विद्वान् श्रीहरिप्रसाद वैदिक-

मुनिने अपनी 'वेदान्तसूत्रकी वैदिक-वृत्ति'की भूमिकामें यह शब्द लिखे हैं—

'यथाहि ऋग्वेदमन्त्राणां तावत् शाकली-संहिता प्रमाणं मन्यते, प्राथमिकीत्वात् ; तथा याजुषमन्त्राणां 'काण्वी--संहिता' प्रमाणं मन्यते, शिष्टपरिगृहीतत्वात्, न माध्यन्दिनी संहिता, तदऽपरिगृहीतत्वात्। नहि यथा काण्वी-संहिता शिष्टैः परिगृह्यते, तथा माध्यन्दिनी [वाजसनेयी] संहितापि परिगृह्यते, येन प्रमाणं मन्येत। शिष्टा हि निखिलजनोपकारार्थमुपनिषदः सर्वाः सञ्जिघृक्षवो यथा काण्वानां मन्त्रोपनिषदमीशावास्यं तावत् संगृह्णन्ति; तथा ब्राह्मणोपनिषदं बृहदारण्यकमपि तेषामेव [काण्वानां] सञ्जिन्वन्ति, न माध्यन्दिनानाम्। किं कारणम्' ? इदमेव कारणम्—न ते माध्यन्दिनीं संहितां प्रमाणं मन्वते। चेन्मन्वीरन्, कथं न सञ्जिन्वीरन्। नहि प्रमाणस्य सतः सञ्चयो दुष्यति शिष्टानाम्। किमधिकेन इह स्यात् पण्डितानां मतिमताम्—इदानीन्तनो वेदभाष्यकृत् सायणाचार्योपि च 'काण्व-संहिता' मेव भाष्येण अलंकुरुते, न विन्दमानामपि माध्यन्दिनी-संहिताम्) तदैव तस्य तदप्रमाणत्वं शिष्टाऽगामित्वं च प्रव्यक्तं चाकाश्यते। माध्यन्दिनसंहिताभाष्यकृतो महीधरप्रभृतयस्तु नात्यन्तं शिष्टानुगामिनः—इति किं तत्र सतापि तद्भाष्येण' (पृ. ४–५)। यहांपर 'वैदिकमुनि' ने काण्वसंहिताको वाजसनेयी-संहिताकी अपेक्षा शिष्टपरिगृहीत होनेसे अधिक प्रमाण माना है। उसमें दो युक्तियां दी हैं। एक यह कि—'ईशोपनिषत् काण्वसंहिताकी ही प्रसिद्ध है। वाजसनेयीकी

ईशोपनिषत् तो अब आर्यसमाजने चालू की है। दूसरे श्रीसायणाचार्यने शुक्ल-काण्वसंहितापर तो भाष्य किया है, माध्यन्दिनपर नहीं"। पर हम सभी संहिताओंको सनातनधर्मानुसार प्रमाण मानते हैं।

कृष्णयजुर्वेदकी शाखाएँ तैत्तिरीय-संहिता, काठक-संहिता मैत्रायणी-संहिता, कठकपिष्ठल-संहिता आदि ८६ संहिताएं हैं इस प्रकार १०१ शाखा यजुर्वेद है। पृथक्-पृथक् उनके पूर्वोक्त भिन्न-भिन्न नाम भी हैं। उतने ही ब्राह्मण भी 'यजुर्वेद' शब्द लिये जाते हैं। पृथक्-पृथक् उनके शुक्लशाखाओंमें शतपथ आदि नाम हैं, तथा कृष्ण शाखाओंमें तैत्तिरीय आदि नाम भी हैं।

इस प्रकार सामवेदकी कौथुमी-संहिता, राणायनी-संहिता जैमिनीय-संहिता, औपमन्यव संहिता आदि सभी १००० संहि[ता] सामवेद हैं। पृथक्-पृथक् उनके अपने नाम भी हैं। उतने ही ब्राह्मण भी 'सामवेद'में गृहीत हो जाते हैं, क्योंकि-वेद मन्त्र ब्राह्मणात्मक हुआ करता है। उनके पृथक्-पृथक् छान्दोग्य ताण्ड्य, दैवत, षड्विंश आदि नाम भी हैं। ब्राह्मणभागमें आरण्यक एवं उपनिषद् भी अन्तर्भूत हो जाते हैं-यह न भूलना चाहिये। तभी तो निरुक्तमें श्रीयास्कने 'यस्मात्परं न परमस्ति किञ्चित्' इस कृष्णयजुर्वेदके ब्राह्मणभागके अन्तर्गत श्वेताश्वतरोपनिषत्के वचनको 'इत्यपि निगमो भवति' (नि. २।३।१) इस शब्दसे वेद-प्रमाण माना है। और 'अग्नये समिध्यमानाय' (१।१५।८) इस अन्य शाखाके वचनको भी 'मन्त्र'

शामिल किया है।

इस प्रकार अथर्ववेदकी शौनक-संहिता, पैप्पलाद-संहिता, जाजल-संहिता आदि सभी नौ संहिताएँ अथर्ववेद हैं। पृथक्-पृथक् उनके अपने-अपने नाम भी हैं। उतने ही ब्राह्मण भी अथर्ववेद शब्दसे पहले कहे प्रकारसे गृहीत हो सकते हैं। उनके अलग-अलग गोपथ आदि नाम भी हैं। गोपथ यह पैप्पलाद-संहिताका ब्राह्मण है। वेद चार हैं, तीन नहीं; इस विषयमें अन्यत्र कहा जावेगा।

इन सब संहिताओंके कल्प (गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र) होते हैं; जिनमें उन शाखाओंके मन्त्रोंके कर्मविशेषमें विनियोग दिखलाये गये हैं। इसलिए अथर्ववेद-गोपथब्राह्मणमें भी कहा है—'एवं व्यवस्थिता वेदाः सर्व एव स्वकर्मसु। सन्ति चैषां समाना मन्त्राः, कल्पाः, ब्राह्मणानि च' (१।५।२५)। इस प्रकार निरुक्तमें भी कहा है—'यज्ञस्य चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एते उक्ताः ''त्रिधा बद्धः-त्रेधा बद्धो मन्त्र-ब्राह्मण-कल्पैः' (१३।७।१) इसीलिए तो 'द्वादशवर्षं ब्रह्मचर्यं पृथग् वेदेषु तत् स्मृतम्' (गोपथ. १।२।२५) यहाँ पर चार वेदोंके पढ़नेकेलिए ४८ वर्ष रखे गये हैं। ८ वर्षसे उपनयन होता है, इस प्रकार ५६ वर्ष हो जाते हैं। केवल चार शाखामात्र वेद मानें; तो इतना समय कभी न रखा जाता। तब शाखा, ब्राह्मण, कल्प मिलकर वेद वहाँ इष्ट है। कल्प वेद नहीं होता; पर वेदका विनियोग दिखलाता है। इस कारण उसका भी वेदके साथ पढ़ना आवश्यक है; क्योंकि-

बिना विनियोगके जाने वेदके अर्थका पूर्ण ज्ञान नहीं होता। वेदके सहायक उपवेद भी यहाँ गृहीत किये जाते हैं।

इस प्रकार यह सारा वेद सनातनधर्मका प्रतिपादक है। तभी तो मनुजीने कहा है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (२।६) यहाँ 'अखिल' शब्द सब वेदके शाखा और ब्राह्मणोंको सूचित करता है। इसलिए कुल्लूकभट्टने भी कहा है—'वेद ऋग्यजुः-सामाथर्व-लक्षणः। स सर्वो विध्यर्थवाद [ब्राह्मण] मन्त्रा ,शाखा] त्मा धर्मे मूलं प्रमाणम्'।

(२१) इस प्रकार वैदिक-साहित्य पर्याप्त विशाल है; पर मुसलमानोंकी कृपा तथा हमारे प्रमादसे बहुतसी शाखाएँ, बहुत ब्राह्मण, बहुत श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र लुप्त हैं। देखिये—ऋग्वेदकी शाकल्य-संहिता तो छपी हुई मिलती है; पर उसका ब्राह्मण लुप्त है। उसकी आश्वलायनी-शाखा तो लुप्त है; पर उसका ब्राह्मण ऐतरेय मिलता है। तब उसकी शाखावाले अन्य गति न होनेसे शाकल्य-संहिताको ही पढ़ते हैं। उस ऋग्वेदकी शाङ्खायनी शाखा तो लुप्त है; पर शाङ्खायन-ब्राह्मण मिलता है। इसलिए उस शाखावाले भी लाचारीसे शाकल्य-शाखाको ही पढ़ते हैं। इस प्रकार लुप्त शाखाओंके बीचमें बाष्कल-संहिता के कई मन्त्र किसी-किसी यज्ञपद्धतिमें मिलते हैं। अन्य शाखाएँ तथा ब्राह्मण लुप्त हैं।

यजुर्वेदमें शुक्ल की तो वाजसनेयी तथा काण्व संहिता मिलती हैं; दोनोंके पृथक्-पृथक् शतपथ-ब्राह्मण भी मिलते हैं;

अन्य संहिता तथा ब्राह्मण लुप्त हैं। कृष्ण यजुर्वेदकी तैत्तिरीय-संहिता तथा तैत्तिरीय-ब्राह्मण तो मिलता है। काठक-संहिता, मैत्रायणी-संहिता, कठकपिष्ठल-संहिता अब उपलब्ध हुई हैं। शेष शाखाएँ तथा ब्राह्मण लुप्त हैं।

सामवेदकी कौथुमी-संहिता तो सुलभ है; उसके ताण्ड्य वा छान्दोग्यादि ब्राह्मण भी मिलते हैं। राणायनीय-संहिता कर्णाटकादि दक्षिण देशमें मिलती है, पर उसका ब्राह्मण लुप्त है। जैमिनीय संहिता भी मिलती है; जैमिनि-ब्राह्मण भी मिलता है; अवशिष्ट संहिता तथा ब्राह्मण नहीं मिलते।

अथर्ववेदकी शौनक-संहिता तो मिलती है, पर उसका ब्राह्मण लुप्त है। उसकी पैप्पलाद-संहिता अब मिली है। उसका गोपथ-ब्राह्मण तो मिलता ही है। अन्य शाखा तथा ब्राह्मण नहीं मिलते। कई अन्य ब्राह्मण तो मिलते हैं; पर उनकी संहिताओं का पता नहीं लगता कि—वे किस संहिताके हैं। यद्यपि वैदिक-साहित्यकी यह दुरवस्था है, पर एतद्विषयक ज्ञान हमें रखना ही चाहिये। लुप्त ग्रन्थोंका अन्वेषण भी करना चाहिये। कई संहिताएँ तथा कई ब्राह्मण समय-समय पर मिलते भी हैं। 'एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता' (१।१४) यह मुक्तिकोपनिषद्में लिखा है। तब ११३१ उपनिषदें भी होनी चाहियें। उनमें ११२ वा कुछ अधिक उपनिषदें छपी हुई मिलती हैं; पर उनमें बहुतों का यह ज्ञान नहीं होता कि—वे किस वेदकी किस संहिताकी हैं। कई वज्रसूचिका आदि उपनिषद् बौद्धों वा

अन्योंसे बनाई हुई अर्वाचीन कही जाती हैं।

इस प्रकार कई शाखाओंके सूत्रग्रन्थ तो मिलते हैं; पर उनकी शाखाएँ लुप्त हैं। कई शाखा तो मिलती हैं; पर उनके सूत्रग्रन्थ लुप्त हैं। उन-उन शाखाओंके सूत्रोंमें अपनी-अपनी संहिताके मन्त्रोंकी प्रतीकें होती हैं; और अन्य संहिताओंके मन्त्र पूर्ण दिये जाते हैं। जैसे पारस्करगृह्यसूत्र यजुर्वेदकी वाजसनेयी-संहिताका सूत्र है। उनमें जिन मन्त्रोंका प्रतीकमात्र दिया है, उन्हें अपनी संहिताका समझना चाहिये। 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम्' आदि पूर्ण मन्त्र अन्य संहिताओंके दिये गये हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि—एक वेदकी सभी संहिताओंमें समान वा थोड़े भेद वाले मन्त्र नहीं होते, किन्तु भिन्न-भिन्न मन्त्र भी होते हैं। तलवकारोपनिषद् सामवेदकी तलवकार-शाखासे निकली है। इसी कारण उसके मन्त्र सामवेदकी वर्तमान कौथुमसंहितामें नहीं दीखते। इस प्रकार अन्यान्य उपनिषद् तथा गृह्यसूत्रादिमें भी जानना चाहिये।

आशा है कि—जो कि वर्तमान पण्डितोंको आर्यसमाज आदिकी कृपासे कई भ्रम होगये हैं; वे दूर हो गये होंगे। प्रसङ्गसे यहांपर सनातनधर्मका साहित्य बतलाया जाता है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च' (मनु. २।६)। 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं' की व्याख्या तो हमारा यह निबन्ध तथा छठे पुष्पका 'वेद-स्वरूपनिरूपण' निबन्ध है—यह पाठकोंने देख लिया होगा।

'स्मृति-शीले' इस शब्दसे मनु आदि स्मृतियाँ, गीता आदि धर्मशास्त्र, श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्र-धर्मसूत्र आदि समझने चाहियें। 'आचारश्चैव साधूनाम्'से पुराण-इतिहास लेने चाहियें। 'आत्मनस्तुष्टिरेव च'से पुराण-इतिहास स्मृति आदियोंमें वैकल्पिक धर्मभेदमें अपनी इच्छा जाननी चाहिये। इस प्रकार हमारे सनातनधर्मके सिद्धान्त इस साहित्यमें देखे जा सकते हैं।

पर जो आर्यसमाजी—'जो कोई किसीसे पूछे कि—तुम्हारा क्या मत है, तो यही उत्तर देना कि—हमारा मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदोंमें कहा है, हम उसको मानते हैं' (सत्यार्थप्र. ७ समु. १२७ पृ.) (प्रश्न) तुम्हारा क्या मत है ? (उत्तर) वेद अर्थात् जो-जो वेदमें करने और छोड़नेकी शिक्षा की है, उस-उसका हम यथावत् करना छोड़ना मानते हैं, जिसलिए वेद हमको मान्य हैं, इसलिए हमारा मत वेद है' (स.प्र. ३ पृ. ४२) इस स्वा.द.के वचनको मानते हैं, और वेदको वर्तमान चार पोथियोंमें संकुचित मानते हैं, वे सभी विधि-निषेधात्मक अपने सिद्धान्तों-को अपने वेदसे नहीं दिखला सकते; इसीलिए वे यौगिकतामात्र-का बहाना करके भाषाशास्त्रपर आक्रमण करके इन्हीं चार पोथियोंके मन्त्रोंमें तोड़-मरोड़ करके 'मक्खीको मल-मलकर भैंसा' वाली कहावतको चरितार्थ करते हुए वेदोंकी दुरवस्था करते हुए अवश्य शोचनीय हैं। पर यदि वे संहिता-ब्राह्मणा-त्मक वास्तविक वेदको स्वीकार कर लें; तो उन्हें वेदोंके मन्त्रोंकी तोड़-मरोड़ न करनी पड़े। पर तब उनकी साम्प्रदायिक वालुका-भित्ति अनायास ही ढह जाय। इसलिए वे कृत्रिम यौगिकतापक्षको अवलम्बन करनेकेलिए विवश हो जाते हैं; जिसका दूसरा नाम अव्यवस्था है, जिसमें कोई मर्यादा वा व्यवस्था नहीं रह पाती—जिसका निरूपण हम ५वें निबन्धमें करनेवाले हैं—आशा है—पाठकोंने ऐसा करनेमें उनका अभिप्राय समझ लिया होगा।

४—स्त्री-शूद्रोंका वेदाधिकार-विचार।

पूर्वपक्ष—आपने वेदस्वरूपनिरूपण तो कर दिया; अब वेदाधिकारपर विचार होना प्रासङ्गिक है। सनातनधर्म वेदमें अधिकार द्विज-पुरुषका बताता है; पर वेदमें स्त्री तथा शूद्रको भी अधिकार है—यह वेद ही स्वयं बताता है। देखिये—

(क) 'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मरा-जन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च' (यजु. २६।२) यहाँपर परमात्माके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदिको वेदका पढ़ाना कहा जा रहा है। (ख) 'पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' (ऋ. १०।५३।४) यहांपर पञ्चजनोंका, यज्ञका सेवन कहा है। पञ्चजन यहां निरुक्तमें 'चत्वारो वर्णाः पञ्चमो निषादः' (३।८।१) यह कहे हैं। इसमें शूद्र-अन्त्यजोंका भी यज्ञाधिकार कहनेसे वेदमें स्त्री-शूद्रोंका अधिकार सिद्ध होता है। (ग) उवट-महीधर आदिके भाष्यमें 'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्। ...इतो मुक्षीय माऽमुतः' आदि मन्त्र स्त्रीके पढ़नेकेलिए कहे हैं। यदि स्त्रीको अधिकार नहीं; तो एतदादिक मन्त्र उसे कहनेकेलिए कैसे बताये गये हैं ? क्या पति ही उन्हें पढ़ेगा; वह पति ही अपने पितृगृहसे छूटेगा ? (घ) 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि...न कर्म लिप्यते नरे' (यजुः ४०।२) 'उद्यानं ते पुरुष ! नावयानं' (अथर्व. ८।१।६) इन मन्त्रोंमें 'नर, पुरुष' शब्द आनेसे 'शूद्र-अन्त्यज' आदिके भी 'नर' होनेसे उसे भी वेदका अधिकार सिद्ध हुआ। (स्वा. रामेश्वरानन्द आदि आर्यसमाजी)।

उत्तरपक्ष—इस विषयको आर्यसमाजी ही उपस्थित किया करते हैं, अतः उन्हें हम उन्हींकी शैलीसे उत्तर देंगे। इस विषयको स्पष्टतासे जाननेकेलिए उन्हें 'आलोक'का तृतीय तथा छठा सुमन मँगाना चाहिये। उनमें इन सब शङ्काओंका समाधान कर दिया गया है। यहां संक्षेपसे बताया जाता है।

(क) 'यथेमां वाचं' मन्त्रको ईश्वर नहीं कह रहा है; क्योंकि वह ऋषि नहीं; ईश्वर यहां देवता होनेसे वाच्य है, वक्ता नहीं। यदि इसे ईश्वर ही कहता है तो इसके साथ वाले 'तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्' (२६।३) इस ईश्वर देवतावाले मन्त्रमें भी ईश्वर ही धनकी प्रार्थना करता होगा, तो क्या परमात्मा ही अपनेलिए चन्दा माँगता है ? 'यथेमां वाचं' मन्त्रके अन्तमें भी कहा है— 'प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्। अयं मे कामः समृध्यताम्' 'मैं देवताओंका प्यारा बनूँ, दक्षिणा देनेवालेका प्यारा बनूँ। मेरी यह कामना पूरी हो, तो क्या आप्तकाम ईश्वर ऐसी प्रार्थना कर सकता है ? पूर्वपक्षीके साम्प्रदायिक आचार्य स्वा.द.जीने लिखा है—'न ईश्वरको कोई अप्राप्त पदार्थ, न कोई उससे उत्तम। और पूर्णसुखयुक्त होनेसे [उसे] सुखकी अभिलाषा भी नहीं है, इसलिए ईश्वरमें इच्छाका तो सम्भव नहीं' (स.प्र. ७, ईश्वरसगुण-निर्गुणविषय पृ. १२४)।

इस मन्त्रका ईश्वर देवता है; ऋषि नहीं। ऋषि होता है वक्ता, देवता होता है वाच्य। सो यहाँ जीव परमात्मासे ऐसा आशीर्वाद अपनेलिए माँग रहा है, वा प्रार्थना कर रहा है। इसमें

आवदानि, भूयासम्, समृध्यताम्, उपनमतु' आदि लोट् आशीर्लिङ् लकार ज्ञापक हैं; तब यहां ईश्वर वक्ता न होने 'ईश्वरकी वाणी' अर्थ भी नहीं; किन्तु जीव वक्ता होने 'जीवकी वाणी' ही अर्थ है। वह है 'दीयतां भुज्यताम्' आ यज्ञके समय कही जानेवाली जीवकी वाणी। वह ब्राह्मण-शू मित्र (स्व), शत्रु (अरण) आदि सबको 'यज्ञेन द्विषन्तो मित्र भवन्ति' (नारायणोपनिषद् ७६) कही जाती है; क्योंकि-यज्ञान्त भोजनका प्रसाद सभीको, बिना भेदभावके उनकी अपनी-अपनी पङ्क्तिमें दिया जाता है। अतः यहाँ वेदाधिकारकी कुछ भी चर्चा नहीं, गन्ध भी नहीं। किसी भी प्राचीन भाष्यकारने इसका अर्थ वेदाधिकारपरक नहीं किया; किसी भी गृह्यसूत्रकारने इसका ऐसा विनियोग नहीं रखा।

(ख) यही बात 'पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम्' मन्त्रमें भी है। 'होत्रं'का अर्थ यहाँ 'आह्वानम्' है, जैसे कि—श्रीसायणाचार्यने ऋ. १०।५३।५ में किया है। सो यहाँ भी ऋषिका यज्ञान्तमें प्रसाद ले जानेका सबको आह्वान है। यज्ञके पक्षमें 'यज्ञियाः पञ्चजनाः' यज्ञके योग्य पञ्चजनसे 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य लिये जाते हैं; शूद्रादि नहीं। जैसे कि—यजुर्वेद—शतपथ-ब्राह्मणमें कहा है— 'ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा, वैश्यो वा, ते हि यज्ञियाः' (३।१।१।६)। तभी वहां १०वीं कण्डिकामें कहा है कि—यज्ञदीक्षितको शूद्रसे साक्षात् बात भी नहीं करनी पड़ती। उससे आवश्यकतामें द्विजकी मार्फत बातचीत करना कहा है। जब ऐसा है, तब शूद्रको वैदिक-यज्ञका

एवं वेदका अधिकार भी नहीं हो सकता। इसमें स्पष्टता 'आलोक'के तृतीय पुष्पमें देखनी चाहिये।

अथवा कहीं पञ्चजनों—शूद्रनिषादान्तोंका यज्ञ दिखाया भी गया हो; वहाँ लौकिक-अग्निमें किये जाते हुए पञ्च-महायज्ञ इष्ट हैं; उन्हें 'नमः' अन्तवाले मन्त्रोंसे शूद्र-निषाद भी कर सकते हैं। निषादसे वहाँ शास्त्रानुसार सुधन्वा-रथकार लिया जाता है।

(ग) शेष प्रश्न यह है कि—स्त्रीसे कई स्वयोग्य मन्त्र बुलवाना; इसपर यह याद रखना चाहिए कि—कई विशेष मन्त्र स्त्रीके बुलवानेके आजावें; तो इससे उसका वेदमें औत्सर्गिक (सामान्य-रूपसे) अधिकार नहीं हो जाता। स्त्रीका विवाह उसका द्विज-कल्पत्वापादक संस्कार होता है; अतः वह द्विजकल्प होनेसे कई स्वाधिकृत मन्त्रोंको बोल सकती है; पर उसका साक्षात् उपनयन न होने और मुख्य द्विजत्व न होनेसे वह वेदके क्रमिक एवं विधिपूर्वक स्वाध्यायमें अधिकृत नहीं होती। क्रमिक और विधिपूर्वक वेदमें अधिकार उपनीतका होता है। जैसे कि मनुजीने कहा है—'कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते। ब्रह्मणो (वेदस्य) ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्' (२।१७३)। सो अनुपनीता लड़कीको भी वेदका क्रमिक एवं वैध अधिकार तो नहीं रहता। हाँ, द्विज-कल्पत्वापादक विवाह हो जानेसे उसको केवल स्वनियत-मन्त्र पति आदिके सहारे बुलवाये जा सकते हैं। 'नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृ ऋते। शूद्रेण हि समस्तावद् यावद् वेदे न जायते' (मनु. २।१७२) यहां पर उपनयनसे पूर्व जब ब्राह्मणादिको भी वैधरूपसे वेदमन्त्र बोलनेका अधिकार नहीं है; और उसे शूद्र-जैसा माना गया है; तो साक्षात् शूद्र, जो स्वभावतः अनुपनीत है—वेदमें अधिकृत कैसे हो सकता है? इससे शूद्रका वेदाधिकार स्पष्ट खण्डित जाता है; दोनों पद्य वादि-प्रतिवादि-मान्य होनेसे अन्तिम निर्णय दे देनेवाले हैं।

तब साक्षात् उपवीतसे रहित स्त्री भी वेदमन्त्रपठनमें साक्षात् अधिकारिणी नहीं। विवाह वा यज्ञादिमें उसका कोई विशेष मन्त्र आजावे; तो या तो उन स्त्रियों द्वारा पुरोहित आदिके सहारे बुलवाया जाता है, अथवा यह सम्भव न हो; तो उसकी असमर्थतामें पुरोहित आदि ही उसकी ओरसे बोल दिया करते हैं।

प्रश्नकर्ता-आर्यसमाजियोंकी संस्कारविधि ही देख लीजिये, कई मन्त्र उसमें बच्चेको कहे जाते हैं; और कई बच्चेके बुलवानेके भी मन्त्र हो सकते हैं; उस समय बच्चा न तो उन मन्त्रोंको समझ सकता है, न बोल ही सकता है। उस समय उन मन्त्रोंको पिता वा पुरोहित वा आचार्य बोल दिया करता है। 'संस्कारविधि' (के ५६ पृष्ठ)में सद्योजात बालकके लिए 'त्र्यायुषं जमदग्नेः तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्' यह बच्चेके अपने चिरायुष्ट्वकेलिए 'नः' (मम) इस लिङ्गसे बच्चेका पठनीय मन्त्र होनेपर भी उसे बच्चेका संरक्षक ही बच्चेकी ओरसे प्रतिनिधि बनकर बोल दिया करता है।

अन्नप्राशनसंस्कारमें छः महीनेके बालकका 'ऊर्जं नो धेहि' (पृ. ७०) मन्त्र जो 'नः' के लिङ्गसे बच्चेके पढ़नेका था; उसे

आचार्य, पुरोहित आदि ही बोल दिया करते हैं। इस प्रकार 'अस्मे वीरान्' (पृ. ६८) 'मयि मेधां मयि प्रजां' (पृ. ८६) आदि अस्मद्-शब्द-घटित मन्त्र बच्चोंके उच्चारणीय होते हुए भी जैसे उसके प्रतिनिधिके द्वारा बोलकर संस्कारकी पूर्ति कर दी जाती है; वैसे ही पत्नी-पठनीय मन्त्र भी पुरोहित आदिके सहारे वा पुरोहित आदि द्वारा ही स्त्रीके प्रतिनिधित्वसे बोलकर कृत्यकी पूर्ति कर दी जाती है। अनधिकृत स्त्री भी उस समय उस छोटे बच्चेकी भांति होनेसे उसके उच्चारणीय मन्त्रोंको पति वा पुरोहित आदि ही उसके प्रतिनिधित्वसे बोल दिया करते हैं।

वैसे तो 'इतो मुक्षीय माऽमुतः' (यजुः ३।६०) इस मन्त्रको परमात्मा ही कह रहा है–यह प्रतिपक्षी भी मानते होंगे, ऋषि वसिष्ठ कह रहे हैं–यह भी वे मानते होंगे; तो परमात्मा तथा ऋषि क्या पत्नी हैं; और श्वशुरालयमें अपना जाना माँग रहे हैं ? जैसे परमात्माने यह मन्त्र बनाया, ऋषिने उसका उच्चारण किया। था यह मन्त्र पतिके पास जा रही स्त्रीकेलिए; पर उच्चारण ऋषिने ही उसका किया; वैसे इस स्त्रीके मन्त्रको यदि उसका पति वा पुरोहित उसके प्रतिनिधित्वसे उच्चारण करता है; तो इसमें भी पूर्वोक्त प्रकारसे कोई भी दोष नहीं आता। यह मन्त्र किसी स्त्रीके तो बनाये नहीं कि–स्त्री ही बोलेगी ?

वेदमें तो कई मन्त्र पशुओंकेलिए भी आते हैं—'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण अश्वो घासं जिगीर्षति' (अथर्व. ११।५।१८), घोड़ेको

लगाम डालनी, बैलके नाकमें रस्सी डालनी आदि पशुओंके कर्तव्य भी वेदमें आते हैं; पर इससे वेदमें पशुओंका अधिकार नहीं हो जाता; किन्तु पशुओंके कर्तव्योंको उनका स्वामी पुरुष उनसे करा लेता है। वेदमें तो मुर्देको भी सम्बोधित किया जाता है। जैसेकि–'इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य ! प्रेतम्' (अ. १८।३।१) इसमें वह मुर्दा सुन नहीं लेता; मुर्देका वेदमें अधिकार नहीं हो जाता; किन्तु उस समय किसीके द्वारा मन्त्र बुलवाकर कृत्यपूर्तिमात्र कर दी जाती है; वैसे ही स्त्रीके उच्चारणीय विशेष मन्त्रोंमें भी समझ लेना चाहिये।

शव, पशु, बच्चे आदिके मन्त्रोंमें आनेपर भी न तो उनके द्वारा वे मन्त्र कहे जाते हैं; न उनके प्रति कहे जा सकते हैं; क्योंकि–वे अज्ञानवश वा अचैतन्यवश समझ नहीं पाते; केवल वहाँ कर्मपूर्तिमात्र कर दी जाती है; इस प्रकार अनुपनीत होनेसे अविद्य-स्त्री भी शव वा पशु वा बच्चे वा पत्थरकी मूर्तिकी भांति केवल कृत्यमें बैठी रहा करती है; कृत्य उसका पुरोहित आदि उसके प्रतिनिधित्वसे कर दिया करता है, विधि पूर्ण हो जाती है।

सीता-वनवासमें भगवान् श्रीरामने यज्ञ किये; वहाँ पत्नीके स्थानपर सुवर्णकी सीता बैठाई जाती थी। जैसेकि वाल्मीकि रामायणमें—'यज्ञे-यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी काञ्चनी भवत्' (७।९९।७)। कात्यायनस्मृतिमें देखिये—'रामोपि कृत्वा सौवर्णीं सीतां पत्नीं यशस्विनीम्। ईजे यज्ञैः' (२०।१) वह सोनेकी प्रतिमा

वाली सीता न तो मन्त्र बोलती थी, न ही सुनती थी; उस समय भी यदि पत्नी–सम्बन्धी कोई मन्त्र आता था; तब पुरोहित वा स्वयं श्रीराम ही बोल देते होंगे; इस प्रकार कर्म पूर्ण हो जाता था। इससे सोनेकी मूर्ति मन्त्रोंमें अधिकृत नहीं हो जाती थी। इस प्रकार पत्नी भी सोनेकी पुतलीकी भांति साथ बैठी भर रहती है, कर्म उसका पति वा पुरोहित, आचार्य ही कर देता है, साथ बैठने मात्रसे उसे फल मिल जाता है।

प्रश्नकर्ताके सम्प्रदायाचार्य स्वा.द.जीने अपनी संस्कारविधि-के सामान्य-प्रकरण (पृ. २६) में लिखा है–'यदि यजमान न पढ़ा हो, तो इतने मन्त्र अवश्य पढ़ लेवे। यदि कोई कार्यकर्ता जड, मन्दमति, 'काला अक्षर भैंस बराबर' जानता हो; तो वह शूद्र है। अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारणमें असमर्थ हो, तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोचारण करें, और कर्म उसी मूढ यजमानके हाथसे करावें'।

यही बात यहाँ भी घटा लेनी चाहिये। स्त्रीका कोई विशेष मन्त्र आवे; तो स्त्रीके शास्त्रानुसार अनुपवीतिनी होनेसे अविद्य होनेके कारण वह पुरोहित आदिके सहारे उससे बुलवा लिया जाता है। इससे उसका समूचे वेदमें क्रमिक वा विधिपूर्वक अधिकार नहीं हो जाता। स्त्री वा शूद्रादिका वैध उपनयन न होनेसे 'ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम्' (मनु. २।१७३) उन्हें क्रमसे विधिपूर्वक स्वाध्यायका तो निषेध है, पर व्युत्क्रमसे वा कहीं विशेष मन्त्र उनके योग्य आजावे; तो वहाँ क्रमिक एवं विधिपूर्वकता न होनेसे उसका नाम वेद पढ़ना नहीं हो जाता। सो

विद्यारहित होनेके कारण अथवा केवल पञ्चमस्वर उनमें प्रधान होनेसे पूर्णस्वरोंके अभाववश 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा' इस डरसे उनसे न बुलवाकर उनके प्रतिनिधित्वसे स्वा.द.के पूर्वोक्त कथनके समान पुरोहित आदिसे ही वह मन्त्र बुलवा दिया जाता है।

एक उदाहरण स्वा.द.का अन्य भी देखिये—स.प्र.के छठे समुल्लास (पृ. ६१) में 'पुरोहितं प्रकुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम्। तेऽस्य गृह्याणि कार्याणि कुर्युर्वैतानिकानि च' (७।७८) इस मनुके पद्यका अर्थ करते हुए स्वा.द. लिखते हैं–'पुरोहित और ऋत्विज् का स्वीकार इसलिए करे कि–वे [पुरोहितादि] अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि राजघरके कर्म किया करें, और [राजा] आप सर्वदा राज्यकार्यमें तत्पर रहे'। सो जैसे राजाके अग्निहोत्रादि-को पुरोहित आदि द्वारा करानेसे वह राजाका किया माना जाता है, जिस प्रकार शूद्र द्वारा मन्त्र न पढ़ सकनेसे उस मन्त्रका उच्चारण स्वा.द.के पूर्वोक्त वचनानुसार पुरोहित वा ऋत्विज् आदि द्वारा करा लिया जाता है; इससे कृत्यकी पूर्ति हो जाती है; वैसे पत्नीके मन्त्र पुरोहितादि द्वारा बुलवाये जानेके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

'स्त्रिया क्लीवेन च हुते न भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित्। अश्लीकमेतत् साधूनां यत्र जुह्वत्यमी हविः। प्रतीपमेतद् देवानां तस्मात् तत् परिवर्जयेत्' (४।२०६) 'न वै कन्या [अविवाहिता] न युवतिः [विवाहिता] नाल्पविद्यो न बालिशः। होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो

नाऽसंस्कृतः [अनुपनीतः] तथा। नरके हि पतन्त्येते जुह्वतः स च यस्य तत्'। (११।३६-३७) मनुस्मृतिके इन प्रमाणोंसे स्त्री-शूद्र आदिका यज्ञादिमें अधिकार बाधित करनेसे यज्ञ विषय वाले वेदमें भी उनका अनधिकार ही सिद्ध हुआ।

स्त्री तथा शूद्रका यज्ञोपवीत कोई भी संस्कारविधि नहीं बताती। स्त्रीका रजस्वलात्व, स्त्रीका गर्भाधान एवं प्रसव तथा शुक्राकर्षण आदि, बच्चोंके मलमूत्रमें हाथ रहना आदि स्त्रियोंको अशुद्ध रहनेकेलिए बाध्य करते हैं; अतः वे शुद्ध वेदपाठकी साक्षात् अधिकारिणी भी नहीं हो सकतीं।

'तपसे शूद्र'' (यजुः ३०।५) इस वेदमन्त्रमें शूद्रको कृच्छ्रकर्म सेवा आदि (सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' (पञ्चतन्त्र-मित्रभेद) करना वेदकी आज्ञा है। स्वा.द.जीने इसका अर्थ 'दुःखसे उत्पन्न होनेवाले सेवनकेलिए शूद्रको' यह किया है। श्रीशिवशङ्करकाव्यतीर्थने 'परिश्रमी और कठिन कार्य करनेवाले शूद्रको' यह अर्थ किया है। स्वा. वेदानन्दने 'कठिन कार्यके अनुष्ठानकेलिए शूद्रको' यह अर्थ किया है। 'वर्णव्यवस्थाका वैदिक-रूप' (पृ. १०) में उसके आर्यसमाजी प्रणेताने 'श्रम अथवा मेहनतसे साध्य पशुओंको उत्पन्न तथा सब प्रकारके शिल्पकारी आदि कठिन कार्य करनेकेलिए शूद्रको' यह अर्थ किया है।

मनुजीने 'तपः शूद्रस्य सेवनम्' (११।२३५) शूद्रका सेवा-कर्म तप बताया है। 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (यजुः ३०।५) यहाँ वेदने वेदका पढ़ना-पढ़ाना ब्राह्मणकेलिए कहा है; सो वेदानुसार शूद्रको

वेदका अधिकार सिद्ध न हुआ; किन्तु उसे सेवाका अधिकार सिद्ध हुआ।

'तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः' (अथर्व. ३।३०।...) यहाँ संज्ञानात्मक ब्रह्म (वेद) घरके पुरुषोंकेलिए बताया गया है, स्त्रियोंकेलिए नहीं। 'अयं स होता यो द्विजन्मा' (ऋ. १।१४९।...) 'वेदमाता द्विजानाम्' (अथर्व. १९।७१।१) इन मन्त्रोंके अनुसार वेदका अधिकार द्विजपुरुषको है। यदि 'यथेमां वाचं'से सब शूद्रादिको वेदाधिकार दिया जावे; तो यह वेदका परस्पर विरोध हो जावेगा। सो स्पष्ट है कि—वहाँ 'वाचं' और 'जनेभ्यः' है, उसमें 'वेदवाचं' नहीं; अतः साधारण जीवकी वाणीमें तो सबका अधिकार है; परन्तु 'वेदमाता द्विजानाम्'में 'वेद' शब्द स्पष्ट है; इसमें साधारण वाणी नहीं बताई गई; और वेदमें द्विजोंका अधिकार बताया है, यहाँ 'जनानाम्' नहीं आया; अतः यहाँ सर्वसाधारण जन वेदके अधिकारी इष्ट सिद्ध न हुए। 'वेदमाता'का यहाँ सावित्री-गायत्री अर्थ भी माना जावे; तो वह सारे वेदकी सार मानी गई है, देखो मनुस्मृति (२।७६-७७) तभी सर्ववेदारम्भमें वेदका सारस्वरूप सावित्री-गायत्री-मन्त्र गृह्यसूत्रोंके भी अनुसार ब्राह्मण-ब्रह्मचारीको दिया जाता है (पारस्करगृ. २।३।७), तो जब वेदके एक मन्त्र गायत्रीमें भी केवल द्विजोंका अधिकार है; शूद्रोंका नहीं; तब समूचे वेदमें 'शूद्रका अधिकार वेदको कैसे इष्ट हो सकता है ?'

(घ) इस प्रकार जब वेदमें अधिकार द्विजको है; तब

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि...न कर्म लिप्यते नरे' (ईशो. ३) आदिमें भी 'नर' तथा 'उद्यानं पुरुष !' नावयानं' आदिमें भी द्विज पुरुष ही इष्ट सिद्ध हुआ; शूद्रादि नहीं ? 'पुरुष' और 'नर' कहनेसे स्त्रीकी भी निवृत्ति होगई ।

इससे स्पष्ट है कि-स्त्री-शूद्रोंको वेदाधिकार नहीं। अधिक इस विषयमें देखना चाहते हुए 'आलोक'का तृतीय पुष्प (मूल्य ३।) और छठा पुष्प (मूल्य १०) मँगावें। उनसे प्रतिपक्षियोंकी सब शंकाएँ दूर होंगी ।

---

(५) क्या वेदमें केवल यौगिकता है ?

(१) आजकल वेदमें अपने मनमाने सिद्धान्तोंके अनुकूल अर्थ निकालनेके लिए अर्वाचीन विद्वानोंका बहुत प्रयत्न दीख पड़ता है। 'वेद क्या कहता है' यह उपेक्षित करके 'वेदमें हमारे सिद्धान्त निकलने चाहियें' इसमें उनका ध्यान रहता है। इसी कारण उन्होंने वेदमें केवल यौगिकतावादका आश्रय ले रखा है। वेदमें इस प्रकारके वर्णन हैं; जिनसे सनातनधर्मके सिद्धान्त सिद्ध होते हैं, पर यह न सहकर वे वैसे स्थलोंमें उन्हें हटानेके-लिए यौगिकतामात्रका व्याज करते हैं।

उनका अभिप्राय यह है कि 'वेदमें यौगिक ही शब्द हैं, रूढ अथवा योगरूढ नहीं'। अपने पक्षकी पुष्टिमें वे श्रीयास्कके 'सर्वाणि आख्यातजानि नामानि' (१।१२।२) इस सिद्धान्तको संकेतित करते हैं। परन्तु उनका यह प्रयत्न वहाँ रहता है; जहाँ

वेदमें कोई पुराण-इतिहाससे सम्बन्ध रखनेवाला प्रकरण हो। पुराण-विषयसे तटस्थ वेदस्थलमें तो वे स्वयं ही रूढ-योगरूढ अर्थ किया करते हैं।

जैसेकि निम्न शब्दोंमें—'गोक्षीर' (अथर्व. २।२६।४), 'सूर्य' (अथर्व. १।१०।३४), 'पृथिवी' (अ. १२।१।१), 'पिप्पली' (अ. ६।१०६।१), 'गुग्गुलु' (अ. १६।३८।१), 'पृश्निपर्णी' (अ. २।२५।१), 'स्त्री' (ऋ. ५।६१।६), 'क्रिमि' (अथ. ५।३३।३), 'आर्य' (ऋ. ६।६३।५), एतदादिक वैदिक शब्दोंको वे रूढ वा योगरूढ शब्दोंकी तरह व्याख्यात करते हैं। यदि हम उसकी सारी सूची तैयार करें; तो एक लघु-पुस्तक बन जाय। इसमें संस्कृतके परिनिष्ठित विद्वानोंको अवश्य ही सतर्कताका अवलम्बन करना चाहिये।

(२) वास्तवमें उन आधुनिक वादियोंका यह सिद्धान्त कि-वेदमें यौगिक शब्द ही केवल हुआ करते हैं, और लोकमें केवल रूढ, सर्वथा निर्मूल है। केवल इससे वे अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। वेदमें प्रकरण-आदिकी व्यवस्थासे रूढ भी शब्द होते हैं, यौगिक भी; योगरूढ भी शब्द होते हैं, यौगिकरूढ भी। जो कि-वे केवल यौगिकताको सिद्ध करनेके-लिए यास्कके सिद्धान्तका संकेत देते हैं; इसमें उनकी ही भ्रान्ति है; यास्क यह अवश्य कहते हैं कि-सब नाम आख्यातज होते हैं; पर वे यह नहीं कहते कि वेदमें केवल यौगिक शब्द होते हैं और लोकमें केवल रूढ। श्रीयास्कका वैसा आशय नहीं है।

श्रीयास्कके सिद्धान्तको वे जानते ही नहीं। यास्कका सिद्धान्त ठीक है कि-सब संस्कृत नाम चाहे वेदका हो, चाहे लोकका हो, आख्यात (धातु) से बनते हैं। कोई भी नाम (शब्द) चाहे वह रूढ हो वा योगरूढ-आख्यात (धातु) से रहित नहीं हुआ करता; यह श्री-यास्कका अभिप्राय है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि-वेदमें यौगिक ही शब्द हैं, भिन्न नहीं, और लोकमें केवल रूढ हैं, यौगिक नहीं।

इसका तात्पर्य तो यह है-कि न केवल वेदमें (क्योंकि-श्रीयास्कने वेदका नाम नहीं लिया, प्रत्युत सर्वत्र ही-चाहे लोक हो वा वेद-'नाम' आख्यातज हुआ करते हैं। 'अयमपीतर एतस्मादेव' (२।१७।१, २।२२।१, ४।१३।१) इत्यादि कहते हुए भी श्रीयास्क लौकिक अर्थ वाले शब्दोंको भी यौगिक बताते हैं। इसी कारण ही लौकिक 'अमरकोष' आदिकी 'सुधा' व्याख्या आदिमें रूढ-योगरूढ शब्दोंमें भी प्रकृति-प्रत्यय दिखलाकर व्युत्पत्तियाँ की गई हैं।

परन्तु जिस नाम (शब्द) में उस-उस आख्यात (धातु) के विद्यमान होनेपर भी उस आख्यातके अनुसार अर्थ नहीं मिलता, वह रूढिशब्द है अर्थात् वहाँ रूढिसे अर्थ होता है। जैसेकि-स्वा.द.जीने भी 'नामिक'के द्वितीय पृष्ठमें लिखा है-'रूढि उसको कहते हैं, जिनमें प्रकृति और प्रत्ययका अर्थ न घटता हो; किन्तु वे संज्ञादि-बोधक हों; जैसे-खट्वा, माला; शाला इत्यादि'। स्वामीजीके इस वचनसे सिद्ध होता है कि रूढि

शब्दोंमें भी अन्य शब्दोंकी तरह प्रकृति-प्रत्यय तो होते हैं, केवल उस शब्दमें प्रकृति-प्रत्ययका अर्थ नहीं मिलता। इससे हमारा पक्ष सिद्ध हुआ। वेदमें इस प्रकारके शब्द दुर्लभ नहीं हैं।

अथवा—'चित्रकर्मणि कुशलः' यहाँपर 'सर्वाणि आख्यातजानि नामानि' इस सिद्धान्तके अनुसार 'कुशान् लाति' यह आख्यातके अनुसार अर्थ है और वह मुख्य है; परन्तु वह प्रकृतमें नहीं घट सकता; तब रूढिसे कुश उखाड़नेकी चतुरताकी समतासे चतुर अर्थ हो जाता है। यही इस शब्दकी आख्यातज होनेपर भी रूढिता हुआ करती है। इसलिए 'मीमांसा-दर्शन' शाबर-भाष्यमें कहा है—'कुशलः-प्रवीण इति, बहुषु कुशानां लातुर्गुणेषु सत्सु निपुणतायामेव कुशल-शब्दो रोहन् रूढि-शब्द एव भवति। बहुषु च वीणावादस्य गुणेषु सत्सु निपुणे एव प्रवीण-शब्दो वर्तमानो रूढ इत्युच्यते। तस्मात् सत्यपि लक्षणात्वे श्रुतिसामर्थ्यात् रोहति शब्दः' (६।७।२२)। इसी प्रकार किसी अन्धेका नाम कमलनयन है। यहाँपर आख्यातजत्वके सिद्धान्तवश 'कमलनयन' पदकी व्युत्पत्ति होने पर भी उस पुरुषमें वह अर्थ न मिलनेसे वह शब्द आख्यातज होता हुआ भी रूढि-शब्द गिना जाता है। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजाराम शास्त्रीने निरुक्तकी भूमिका पृ. ८में भी यही माना है।

(३) वैयाकरणोंको मालूम होगा कि-'महाभाष्य'में प्रत्या-

ह्वाराह्निकमें 'ऋलृक्' इस शिवसूत्रमें वार्तिककारने यदृच्छा-शब्दों-का खण्डन करके जाति-शब्द, गुणशब्द तथा क्रियाशब्द ये तीन शब्द स्वीकार किये हैं। भाष्यकारने भी उनका खण्डन न करके उसमें अपनी अनुमति सूचित की है। परन्तु उस भाष्य-सन्दर्भका यह आशय नहीं कि-'यदृच्छा' शब्द (रूढिशब्द) संस्कृत-संसारमें हैं ही नहीं; वरन् यह आशय है कि-यदृच्छा शब्द भी व्याकरणानुगृहीत ही होने चाहियें; जैसे कि-'लृतक' नाम न रखकर 'ऋतक' नाम रखना चाहिये। इस प्रकार जब वे यदृच्छा-शब्द भी व्याकरणानुशिष्ट होंगे; तब उनका गुण, क्रिया अथवा जाति शब्दमें अन्तर्भाव हो जानेसे वे पृथक् नहीं गिने जाएँगे। परन्तु गुणशब्द वा क्रिया-शब्द माने जाने पर भी जिसमें वह गुण वा क्रिया न मिले, जैसे 'ऋतक' नाम-वाले पुरुषमें ऋति-क्रिया न दिखलाई पड़े; वह गुणशब्द वा क्रियाशब्द होता हुआ भी 'यदृच्छा' नामवाला या 'रूढि' नामवाला होता है। जैसे कि—

किसीका नाम 'तुलसीराम' है। यदि वह तुलसीमें वा तुलसीसे रमण (क्रीडा-मनोरञ्जन) करता है, वा तुलसीको प्रसन्न रखता है; तब तो वह गुणशब्द वा क्रियाशब्द है। यदि वैसा गुण वा क्रिया नहीं रखता; तब वह गुणशब्द अथवा क्रियाशब्द होता हुआ भी यदृच्छा-शब्द ही है। इसी कारण ही 'काव्यप्रकाश' प्रणेता भट्ट-मम्मटने द्वितीय-उल्लासमें संकेतग्रह-निरूपणमें 'न सन्ति यदृच्छा-शब्दाश्चतुर्थाः' इस भाष्योक्तिको

जानते हुए भी 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महाभाष्यकारः' यह महाभाष्यका मत दिया है। अन्यथा भट्ट-मम्मट अबोध नहीं थे कि-उनके सिद्धान्तके विरुद्ध उनका मत देते। उनका तत्त्व हमने पहले बता दिया है।

इधर 'महाभाष्य' में 'सन्ति यदृच्छाशब्दा इति कृत्वा प्रयो-जनमुक्तम्; न सन्ति-इति परिहारः। समाने चार्थे शास्त्रान्वितो-ऽशास्त्रान्वितस्य व्यावर्तको भवति। यथा-देवदत्त-शब्दो देव-दिण्ण-शब्दं व्यावर्तयति, न गाव्यादीन्' इस पूर्वपक्षका 'नैष दोषः, पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति' यह ढीला उत्तर दीखनेसे रूढिशब्दोंकी संज्ञा सिद्ध होती है। इससे स्पष्ट है कि-जो शब्द आख्यातज हो; पर उसका अर्थ तच्छब्दवाच्य-उसमें न घटे, वह रूढि-शब्द है। 'महाभाष्य' (१।१।१ सूत्र)में भी 'वेदेऽपि याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति-स्फ्यो यूपश्चषालः-इति। तत्रभवतामुप-चाराद् अन्येऽपि जानन्ति-इयमस्य संज्ञा इति' इससे भी वेदमें संज्ञाशब्द-रूढिशब्द सिद्ध हुए।

(४) 'श्री ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुने' वेद-सम्मेलन (२३।१०।१९४३) के भाषणमें वेदमें केवल यौगिकतावादकी पुष्टि करते हुए उसमें यास्ककी जो कि यह साक्षी दी है कि-'यास्क यौगिकवादका परम-पोषक है। यास्कके समस्त निर्वचन इसीके प्रमाण हैं। 'अयमपि इतरः शिर एतस्मादेव' इत्यादि वचनोंका क्या अभिप्राय है ?' यह कथन तो व्यर्थ है। यदि यास्कके अनुसार वेदमात्रमें 'शिरः' शब्द केवल आदित्यवाचक होता, 'सिर' वाचक नहीं;

तब तो जिज्ञासुजीका वचन कथंचित् ठीक था; परन्तु ऐसा है नहीं।

'इन्द्रः शिरो, अग्निर्ललाटम्' (अथर्व. ६।७।१) इत्यादि बहुत मन्त्रोंमें 'शिरः' शब्दका अर्थ लोककी तरह 'सिर' ही है। बल्कि श्रीयास्कने भी जिज्ञासुजीके अनुसार लोकप्रसिद्ध 'शिरः' शब्दमें भी वही धातु मानी है जिसे आदित्य-वाचक 'शिरः' शब्दमें माना था। इससे उसके मतमें भी लोक तथा वेदमें सभी स्थलमें यौगिकता तथा योगरूढिता है। उसके मतमें वेदमें यौगिकताका एकमात्र नियम नहीं। तब इससे जिज्ञासुजीकी कोई भी इष्ट-सिद्धि नहीं। बल्कि उनके मतमें अनिष्टापत्ति ही है; क्योंकि लोकरूढ शब्द भी वेदमें लोकरूढ अर्थमें भी देखे गये हैं। तब इससे हमारा ही अभिमत सिद्ध हुआ।

(५) आधुनिक वादी वेदाङ्ग-व्याकरणके कर्ता श्रीपाणिनिको भी माननीय मानते हैं। श्रीपाणिनिने औणादिक-शब्दोंको प्रकृति-प्रत्ययसे रहित अव्युत्पन्न माना है। इसीलिए ही तो 'अतः कृकमिकंस–' (८।३।४६) इस सूत्रमें 'कमुँ' धातुसे ही 'कंस' का ग्रहण हो सकता था, (जैसे कि–इस सूत्रके 'कृ' धातुसे 'कारः' का ग्रहण हो जाता है) तथापि वैयाकरणोंके प्रसिद्ध शत्रु 'गौरव' से भी न डरकर श्रीपाणिनिने उस 'कंस' शब्दका प्रयोग किया है; उसमें केवल यही कारण है कि–श्रीपाणिनि कई औणादिक शब्दोंको जो वेदमें भी सुलभ हैं–रूढ मानते हैं।

इस प्रकार वेदाङ्ग-व्याकरणके प्रणेता श्रीपाणिनि कृत्-तद्धितसे

भिन्न अव्युत्पन्न शब्दों की 'अर्थवदधातु–(१।२।४५) इस सूत्रसे प्रातिपदिक-संज्ञा करके उनके आगे विभक्ति लगाते हैं। तब पाणिनिके मतमें वेदमें भी रूढि-शब्दोंकी सत्ता सिद्ध हुई, क्योंकि वेदमें सभी कृदन्ती तथा तद्धितान्त शब्द नहीं। इसीलिए स्वा० दयानन्दजीने 'नामिक'के द्वितीय पृष्ठमें लिखा है, "पाणिनि आदि रूढि भी मानते हैं।"

यदि ऐसा है, और श्रीपाणिनिकी 'अष्टाध्यायी'को वादी वेदाङ्ग मानते हैं, और उसकी व्याख्याको 'वेदाङ्ग-प्रकाश' मानते हैं, और श्रीपाणिनिको वेदज्ञ भी मानते हैं, तब वेदमें भी श्रीपाणिनिके अनुसार रूढ-शब्दोंकी सत्ता सिद्ध हुई। इसीलिए ही श्रीयास्कने 'न सर्वाणि आख्यातजानि नामानि' इस पक्षका पोषक गार्ग्यको कहकर फिर 'वैयाकरणानां चैके' (निरु० १।१२।३) इस स्थलमें अपने प्राग्भव वैयाकरणों और श्रीसामश्रमीके अनुसार श्रीपाणिनिका सङ्केत किया है। इसलिए 'महाभाष्यकार ने भी 'आयनेयी' (७।१।२) इस सूत्रमें 'उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि' यह माना है। इसी प्रकार 'आदेश-प्रत्यययोः' (८।३।५९) इस सूत्रमें भी उन्होंने औणादिक-शब्दोंमें प्रकृति-प्रत्ययके विभागका व्युत्पादन है, और नहीं है–यह दो पक्ष माने हैं। इस प्रकार वेदमें भी रूढ-योगरूढ शब्द सिद्ध हुए।

इसके अतिरिक्त जिस शब्दके अर्थगत धर्म उस शब्दके वाच्यमें भी प्राप्त हों; अन्यत्र भी अतिव्याप्त हों, उनमें एकमें ही नियमन करनेपर योगरूढिता हुआ करती है। अर्थात् धातुके

होनेपर भी वह शब्द सामान्यका नाम न होकर किसी विशेषका नाम हो, वह योगरूढ़ हुआ करता है। रूढि-शब्द सिद्ध होनेपर भी जैसे वह यास्कका सिद्धान्त विघातको प्राप्त नहीं होता, वैसेही योगरूढिता माननेपर भी उक्त सिद्धान्तमें क्षति नहीं पड़ती। 'पङ्कज' पद यौगिक होनेपर कीट, कमल आदि बहुतोंका वाचक होता हुआ भी कमलमें नियमित होता है। अतएव यह शब्द आख्यातज होनेपर भी योगरूढ है। स्वा० दयानन्दजीने योगरूढका उदाहरण 'नामिक'के द्वितीय पृष्ठमें 'दामोदर' शब्द दिया है। श्रीयास्कने भी तक्षा, परिव्राजको भूमिजः' (निरुक्त १।१४।२) इस प्रकार 'बिल्वादः, लम्बचूड़कः' (नि० १।१४।७) एतदादि योगरूढ-शब्द स्वयं उदाहृत किये हैं। यहाँ उनका यह अभिप्राय है कि कई संन्यासी आदि परिव्रजन क्रियाके होने वा न होनेपर भी 'परिव्राजक' कहे जाते हैं, और कई भिन्न यात्री पुरुष व्रजन (गमन) क्रियासे युक्त होनेपर भी 'परिव्राजक' नामसे नहीं कहे जाते। एक तक्षण-क्रिया करता वा न करता हुआ भी तक्षा कहा जाता है, और दूसरा ब्राह्मणादि तक्षण (छीलना) करता हुआ भी 'तक्षा' नहीं कहा जाता है। यौगिकमात्रग्रह होनेपर कोई तक्षण-क्रिया करता-हुआ 'तक्षा' क्यों न कहा जावे? वादी यज्ञकी समिधाको तक्षण करता हुआ 'तक्षा' क्यों नहीं कहा जाता? यही योग-रूढिता हुआ करती है। आगे बिल्वका फल खानेवाला होनेपर भी, भविष्यमें लम्बी शिखावाला होनेपर भी अब उस क्रियाका

अर्थ न मिलनेसे बिल्वाद तथा लम्बचूड़क नाम रूढि होनेके योग्य हैं।

धातुज होकर वह शब्द हर एकका विशेषण हो सके, तो वह यौगिक-हुआ करता है। वेदमें यौगिक-शब्दोंको तो आधुनिक वादी आर्यसमाजी भी मानते ही हैं, पूर्व कहे हुए प्रकारसे अब उसमें रूढि तथा योगरूढि शब्द भी सिद्ध हो गये। स्वा.द. ने 'नामिक'के द्वितीय पृष्ठमें रूढि-शब्दोंके विषयमें लिखा है—'रूढि' उनको कहते हैं कि—जिनमें प्रकृति और प्रत्ययका अर्थ न घटता हो, किन्तु वे संज्ञाबोधक हों, जैसे खट्वा, माला, शाला इत्यादि'। अब देखना चाहियेकि वेदमें इनमें कोई शब्द मिलता है वा नहीं? यदि मिल जाए; तो मानना पड़ेगा कि—वेदमें भी रूढि-शब्द हैं। अब देखिये वेदमें 'शाला' शब्द। 'शालाया विश्ववारायाः' (अथर्व० ६।३।१) यहाँपर स्वा०द०जीकी 'संस्कार-विधि'का २१६ पृष्ठ देखना चाहिये। इस प्रकार अन्य शब्द भी ढूँढे जा सकते हैं।

सं.वि.के वेदारम्भ-संस्कारके ११२ पृष्ठमें स्वामीने रूढि-शब्द धन, वन आदि माने हैं। यह शब्द वेदमें भी देखिये—' वन (यजु. ४।३१), धन (अथर्व. ११।१।२८, १२।२।५१) इस प्रकार वेदमें रूढशब्द भी सिद्ध हुए। महाभाष्य (१।१ तृतीयाह्निक) में वेदमें स्फ्य, यूप, चषाल आदि संज्ञा (रूढ) शब्द माने हैं।

जो व्युत्पत्ति करने पर अन्य अर्थका वाचक हो; और रूढितामें अन्य अर्थका वाचक हो वह यौगिकरूढ हुआ करता

है। यौगिक-रूढ शब्द भी वेदमें हैं। बल्कि उसका उदाहरण वेदका ही 'उद्भिद्' पद प्रसिद्ध है। 'उद्भिदा यजेत' यह श्रुति 'मीमांसा-दर्शन' (१।४।१-२ सूत्रके भाष्य) में उद्धृत की गई है। वह 'उद्भिद्' पद यौगिकतामें वृत्तको तथा रूढितामें यज्ञविशेष-को बतलाता है। यदि वेदमें रूढि शब्द सर्वथा नहीं; तो 'अपि वा नामधेयं स्यात्' (मी. द. १।४।२) यहाँ पर मीमांसाकारने 'उद्भिद्' आदिको वेदमें कर्मविशेषका नाम कैसे माना है? तब वेदमें भी रूढ, योगरूढ, यौगिक और यौगिकरूढ ये चार प्रकार-के शब्द सिद्ध होगये। तब वेदमें केवल यौगिकता सिद्धान्तित करनेवाले वादी खण्डित होगये।

(६) वेदमें 'मर्य इव योषाम्' (अथर्व. १४।२।३७) इस मन्त्रमें यदि 'मर्य' शब्द 'मनुष्य' अर्थमें रूढ है, तो 'स मर्यः' (ऋ. १।७७।३) इस मन्त्रमें अग्निका विशेषण होनेसे 'मारक' अर्थमें यौगिक भी है क्योंकि-रूढ हो या योगरूढ शब्द; यदि किसीका विशेषण बन जावे; तो वह यौगिक हो जाता है। इस प्रकार 'यत्रा नरो देवयन्तः' (अथर्व. २०।१०७।१५) यहाँ यदि 'नृ' शब्द मनुष्य-अर्थमें रूढ है, तो 'दिवो नरः' (ऋ. १।६४।४) इस मरुत-देवताके मन्त्रमें 'नेतारः' इस अर्थमें यौगिक भी है। इसी प्रकार नृणां नृतम !' (ऋ. ६।३३।३) इस इन्द्र-देवताके मन्त्रमें 'नेतृणां मध्ये अतिशयेन नेतः !' इस तरह सायण आदियोंने यौगिक अर्थ करके युक्तता ही की है। 'पुरुषः पशुः' (अथर्व. ८।२।२५) इस मन्त्रमें यदि 'पशु' शब्द गज आदि शब्दोंमें रूढ

है; तो 'विद्वान् अनष्ट-पशुः' (ऋ. १०।१७।३) इस पूषा देवता मन्त्रमें 'पशु' शब्द 'ज्ञान' अर्थमें यौगिक है। 'अनष्ट-पशु' अर्थात् अप्रतिहत-ज्ञानवाला।

इस प्रकार 'तस्मै पावक !' १।१३।६) यहाँ पर यदि 'पावक' शब्द अग्निमें रूढ है, तो 'समुद्रार्था याः शुचयः पावकाः, आपो देवीरिह मामवन्तु' (ऋ. ७।४६।२) यहाँ पर अप् देवता होनेसे 'पावकाः' शब्द यौगिक है। 'पुरन्धिर्योषा' (वा. २२।२२) इस मन्त्रमें यदि 'योषा' शब्द स्त्रीके अर्थमें रूढ है तो 'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपः' (अथर्व. ११।१।१... इत्यादि मन्त्रोंमें 'योषित्' शब्द जलोंके अर्थमें यौगिक है। ... 'देवान्, मनुष्यान्, असुरान्, (अथर्व. ८।६।२४) यहाँपर 'असुर' शब्द देव-विरोधी दैत्य-अर्थमें रूढ है; तो 'ये च देवा ... नून् पाहि असुर ! त्वमस्मान्' (१।१७४।१) यहाँपर 'असुर' शब्द इन्द्र-देवकेलिए 'बलवान्' इस अर्थमें यौगिक रूपसे प्रयुक्त हुआ है। 'माऽप स्थातं महिषेव अवपानात्' (ऋ. १०।१०६।२) यहाँ 'महिष' शब्द 'पशुविशेष' अर्थमें रूढ है; तो 'अपासुपस्थे महिषाः' (ऋ. ६।८।४) यहाँपर 'महान्' अर्थमें वह यौगिक है जैसाकि-'निरुक्त' में 'महान्तो माध्यमिका देवगणाः' (निरु. ७।२६।१) कहा है।

यदि 'वह्नि' शब्द वेदमें 'वह्निं यशसं' (ऋ. १।६०।१) इत्यादि मन्त्रोंमें अग्नि-अर्थमें रूढ है; तो 'यदी मातरो जनयन्त वह्निं' (ऋ. ३।३१।२) इन मन्त्रोंमें 'वह्नि' शब्द 'पुत्र' अर्थमें यौगिक है।

इस प्रकार वेदमें यौगिक, रूढ, योगरूढ और यौगिकरूढ शब्द सिद्ध होगये।

जो आधुनिक वादी 'वेदमें केवल यौगिकता है' इस हठमें विराजमान हैं, उनका पक्ष अयुक्त है, वे यदि हमारी बात न मानें; तो वे अपने नेता स्वा.द.के वचनोंको सुनें। अपनी 'नामिक' पुस्तकके द्वितीय-पृष्ठमें स्वामीजीने लिखा है-'शब्द तीन प्रकारके हैं, अर्थात् यौगिक, रूढि और योगरूढि; परन्तु यास्क मुनि आदि निरुक्तकार और वैयाकरणोंमें शाकटायन मुनि सब शब्दोंको धातुसे निष्पन्न अर्थात् यौगिक और योगरूढि ही मानते हैं और पाणिनि आदि रूढि भी मानते हैं; परन्तु सब ऋषि-मुनि वैदिक-शब्दोंको यौगिक और योगरूढि तथा लौकिक-शब्दोंको रूढि भी मानते हैं'।

इसी प्रकार स्वा.द.जीने 'निघण्टु वैदिक-कोष' नामक अपनी पुस्तककी भूमिकामें भी लिखा है-'यह सब वेदमें यौगिक और योगरूढि आते हैं, केवल रूढि नहीं।' कितने स्पष्ट शब्द हैं! यहापर स्वामीजीने वेदमें योगरूढ शब्द भी माने हैं, जिन्हें कई आर्यसमाजी नहीं मानते, जिनसे हमारे पक्षकी पुष्टि होती है। वादियोंके मान्य श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीने भी 'ऐतरेयालोचन' के ३५ पृष्ठमें लिखा है-'एवमपि एवमादिषु योगरूढयैव अर्थः सर्वत्र विवक्षितः; यहाँ श्रीसामश्रमीने भी वेदमें योगरूढिता मानी है। आर्यसमाजी श्रीभगवद्दत्तजीने भी 'वैदिक वाङ्मयका इतिहास' द्वितीयभाग १०६ पृष्ठमें कहा है-'मन्त्रोंके पद यौगिक

वा योगरूढ हैं; ऐसा ही सब वेदवित् मानते हैं' यहाँ अनुसन्धान-विशारदने भी वेदमें योगरूढिता मानी है, इससे हमारा पक्ष सिद्ध हो जाता है, क्योंकि योगरूढि सामान्यका नाम न होकर विशेषका नाम हो जाता है। निरुक्तकी भूमिकामें श्रीराजारामजी शास्त्रीने भी लिखा है-'योगरूढका अर्थ संकुचित होता है। पङ्कज निरा-कमलका नाम है, कीचड़में उत्पन्न होनेवाली सब वस्तुओंका नहीं। यह यौगिक और योगरूढिका भेद है (पृ. ७) वेदमें केवल रूढि-शब्दोंको हम भी नहीं मानते, किन्तु प्रकरणवश रूढि भी, तथा योगरूढि भी, यौगिक भी और यौगिकरूढ भी। विशेषण प्रायः यौगिक होता है, विशेष्य प्रायः रूढि होता है।

उस पुस्तककी भूमिकामें स्वा.द. ने लिखा है कि-वेदमें 'पर्वत' शब्दका अर्थ यौगिकतामें 'मेघ' है, पर पौराणिक-लोग 'पहाड़' यह रूढार्थ उसमें लिया करते हैं'। पर स्वामीजीने भी वेदमें जहाँ 'पर्वत' शब्दका अर्थ 'मेघ' भी किया है, वहाँ यजुर्वेदके १७।१; १८।१३ आदि मन्त्रोंमें 'पर्वत' शब्दका 'पहाड़' यह रूढार्थ भी भाष्यमें किया है। आर्यसमाजी विद्वान् श्रीराजारामशास्त्रीने लिखा है-'जो अन्य अर्थके बिना ही समूचा शब्द किसी अर्थमें प्रसिद्ध हो वह रूढ। जैसे 'पर्व' का अर्थ जोड़ है, पर इसके अवयवोंका अर्थ नहीं निकलता लोकप्रसिद्धिसे यह अर्थ निकलता है। (निरु. पृ. ७)।

श्रीसायणाचार्यने अपने भाष्यमें 'पर्वत'का मेघ अर्थ भी

प्रकरणानुसार किया है। श्रीसायणको पौराणिक-भाष्यकार माना जाता है। इस प्रकार वहीं स्वामीजीने लिखा है कि-'वेदमें 'अहि' शब्दका 'मेघ' अर्थ है; पर पौराणिक उसमें 'सर्प' का अर्थ करते हैं' परन्तु हम कहते हैं कि वेदमें उक्त दोनों ही अर्थ हैं-'अरसास इह अहयः' (अथर्व. १०।४।६) यहाँपर 'अहि' का 'सर्प' अर्थ स्पष्ट ही है। इसी मन्त्रमें 'वृश्चिक' शब्द भी 'बिच्छू' अर्थमें रूढ है। पौराणिक कहे जाते हुए श्रीसायणने भी प्रकरणानुसार 'मेघ' अर्थ भी किया है। इससे सिद्ध है कि-यदि वेदमें यौगिक शब्द हैं, तो उसमें रूढ, योगरूढ शब्द भी हैं, अन्यथा वेदमें मिला हुआ 'वेद' शब्द भी रूढ नहीं माना जाना चाहिये, किन्तु सर्वत्र ज्ञानका पर्यायवाचक मानकर उसे यौगिक मानना चाहिये। वृषादि-गण (अष्टाध्यायी ६।१।२०३) में पढ़ा हुआ 'वेद' शब्द रूढ माना जाता है, उञ्छादि गणमें (६।१।१६०) पढा हुआ 'वेद' शब्द यौगिक माना जाता है। वेदमें 'इडा रन्ता' (यजुः ८।४३) आदि गायके संज्ञा शब्द भी आये हैं।

(७) इससे सिद्ध हुआ कि-जो वादी वेदमें पुराण-सदृशता देखकर वहाँपर यौगिकताके करनेमें परिश्रम करते हैं, उनका यह परिश्रम व्यर्थ है। कभीके आर्यसमाजी वेदोंके निष्पक्ष-भाष्यकार पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरने भी अपने वेदभाष्यमें प्रकरणानुसार रूढ, यौगिक, योगरूढ आदि सभी शब्द मानकर वैसे ही अर्थ किये हैं। उन्होंने अपनी 'महाभारत की समालोचना'के दूसरे भाग पृष्ठ ११७में लिखा है-'हमारा भी पक्ष है कि-इन

शब्दोंका यौगिक अर्थ भी है; परन्तु वह अर्थ आध्याति... तत्त्वज्ञानविषयका विचार करनेके समय उपयोगी है। ऐतिहासि... खोजकेलिए वह अर्थ लेना योग्य भी नहीं है। निरुक्तकार आध्यात्मि... अर्थकी सूचना यौगिक-अर्थके द्वारा बताते हुए ऐतिहासिक तात्पर्य... साथ-साथ बताते हैं'।

जो आधुनिक लोग अपने इष्ट अर्थकी सिद्धिकेलिए वेद... यौगिकतामात्र चाहते हैं, और वेदमें रूढि, योगरूढि... माननेवालोंपर आक्षेप करते हैं, वे ही अपने अर्थकी सिद्धिके... अपने सिद्धान्तकेलिए वेदमें रूढ अर्थ भी करनेमें संकोच... किया करते हैं। वे 'हस्तग्राभस्य दिधिषोः' (ऋ. १०।१८...) 'पुनर्भुवापरः पतिः' (अथर्व. ६।५।२८) इत्यादि मन्त्रोंमें मृतक... विशेषण 'दिधिषोः' पदका 'गर्भस्य निधातुः' इस युक्त यौगि... अर्थको छोड़कर 'पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषूः...' (२।६।२३) इत्यादि 'अमरकोष'के वचनका अवलम्बन... विशेष्य न होनेपर भी उसे रूढशब्द बनाकर रूढिसे अर्थ... लग जाते हैं। इस प्रकार 'पुनर्भू' शब्दका देखिये आर्यसमा... श्रीतुलसीरामने भास्करप्रकाशके ४र्थ समु.में नियोगके प्रकर... पुनर्विवाहमें मन्त्र देते हुए रूढ अर्थ भी किया है। इस प्र... श्रीबुद्धदेव विद्यालंकार मरुत्सूक्तोंमें 'नरः'का 'नेतारः' यह यौ... अर्थ छोड़कर रूढिसे मनुष्य-अर्थ लेने लग जाते हैं।

*क्योंकि विशेषण सदा यौगिक हुआ करता है।

अवशिष्ट यह प्रश्न रह जाता है कि-यदि वेदमें यौगिक अर्थ न किया जाय, तो वसिष्ठ आदिके वर्णनमें लगे वे वेदस्थल अर्वाचीन मानने पड़ जायँगे, इस पर निवेदन यह है कि-क्या ऐसा कहनेवाले परमात्माके ज्ञानको ऐसा शिथिल जानते हैं कि-वह भविष्यद्-दृष्टिसे वेदमें वसिष्ठ आदिका नाम वर्णित नहीं कर सकता? इस विषयमें 'वेदान्त-दर्शन'के १।३।२८ सूत्रका शाङ्करभाष्य स्मर्तव्य है। वहां लिखा है-'चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठन् तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तमर्थमनुतिष्ठति, इति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत्। तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दाः मनसि प्रादुर्बभूवुः। पश्चात् तदनुगतान् अर्थान् ससर्ज-इति गम्यते। तथा च श्रुतिः-'स भूरिति व्याहरत्, स भूमिमसृजत, (तै.ब्रा. २।२।४।२) इत्येवमादिका भूरादिशब्देभ्य एव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति'। (जब कोई किसी पदार्थको बनाना चाहता है; तब उसके वाचक शब्दका पहले स्मरण करके पीछे उस पदार्थको बनाता है, इस रीतिसे सृष्टिकर्ता ब्रह्माके भी मनमें पूर्व वैदिक शब्द प्रादुर्भूत हुए। पीछे उन वाचक शब्दोंसे वाच्य पदार्थको बनाया। इसमें एक श्रुति हैं कि-पहिले ब्रह्मा (प्रजापति)ने 'भू' इस वैदिक शब्दको स्मरण किया, फिर भू पदार्थ (पृथिवीको) बनाया।)

(८) अथर्ववेदमें 'सुहवमग्ने! कृत्तिका रोहिणी चास्तु, भद्रं मृगशिरः, शम् आर्द्रा। पुनर्वसू सूनृता, चारु पुष्यो, भानुराश्लेषा अयनं मघा मे (१९।७।२) पुण्यं पूर्वाफल्गुन्यौ, चात्र हस्तः, चित्रा,

शिवा, स्वाति सुखो मे अस्तु। राधे विशाखे, सुहवाऽनुराधा, ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्टमूलम् (१९।७।३) 'अन्नं' पूर्वा रासतां मे अषाढा, ऊर्जं देवी उत्तरा आवहन्तु। अभिजिद् मे रासतां पुण्यमेव, श्रवणः, श्रविष्ठाः (धनिष्ठा) कुर्वतां सुपुष्टिम्। (१९।७।४) 'आ मे महत् शतभिषग् वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा (पूर्वा भाद्रपदा, उत्तरा-भाद्रपदा) सुशर्म। आ रेवती चाऽश्वयुजौ (अश्विनी) भगं मे, आ मे रयिं भरण्य आवहन्तु' (अ. १९।७।५) इन मन्त्रोंमें क्रमसे २८ नक्षत्रोंके रूढि नाम हैं, और उनसे कल्याणकी प्रार्थना की गई है। 'शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा। शं नो मृत्यु-र्धूमकेतुः' (अ. १९।९।१०) यहाँ सूर्य, चन्द्र, राहु-केतु आदि ग्रहों का रूढिसे वर्णन है और उनसे कल्याणकी प्रार्थना है।

'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्, दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' (ऋ. १०।१९०।३) इसका अर्थ स्वा.द.जीने 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका'के २८ पृष्ठमें इस प्रकार किया है-'सूर्य-चन्द्रग्रहणमुपलक्षणार्थम्। यथा पूर्वकाले सूर्यचन्द्रादि-रचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीत, तथैव तेनास्मिन् कल्पेऽपि रचनं कृतम्'। यहांपर स्वामीजीने भूतकालका अर्थ किया है। स्वामी शंकराचार्यने इस मन्त्रका यह अर्थ किया है-'यथा पूर्वस्मिन कल्पे सूर्याचन्द्रमः-प्रभृति जगत् क्लृप्तम्, तथा अस्मिन्नपि कल्पे परमेश्वरोऽकल्पयत्-इत्यर्थः (वेदान्तदर्शन १।३।३०)।

'नासदासीत्, नो सदासीत् तदानीम्' (ऋ. १०।१२९।१) तम आसीत् तमसा गूल्हमग्रे, अप्रकेतं सलिलं सर्वम् आः (आसीत्)

इदम् (ऋ. १७।१२६।३) यहाँपर भी भूतकालीन वर्णन स्पष्ट है। 'अग्ने ! देवेषु प्रवोचः' (ऋ. १।२७।४) इस मन्त्रके भाष्यमें स्वा.द.ने कहा है-'हे अनन्त-विद्यामय जगदीश्वर ! देवेषु सृष्ट्यादि-जातेषु अग्नि-वाय्यादित्याङ्गिरस्सु मनुष्येषु प्रवोचः—प्रोक्तवान्।' यहां पर स्वामीजीने वेदमें ही वेदके ग्रहण करनेवाले अग्नि आदि ऋषियोंका [?]-यद्यपि वे ऋषि नहीं, किन्तु अङ्गिराको छोड़कर देवता हैं—वर्णन किया है।

अब पूर्व-मन्त्रोंको स्मरण करके यह कहना चाहिए कि (ऋ. १०।१६०।३) मन्त्र पूर्वकल्प वा इस कल्पके सूर्य-चन्द्रकी रचनासे पीछे बनाया गया ? क्या २८ नक्षत्रोंकी रचनाके बाद 'अथर्ववेद' बनाया गया ? क्या (ऋ. १।२७।४) मन्त्र ऋषियों (?) को वेद देनेके बाद बनाया गया ? यदि वहाँ भविष्यत्-दृष्टिसे समाधान किया जाय तो अन्य इतिहासोंमें भी वैसा माना जा सकता है, फिर वहाँ केवल यौगिकताका बहाना बनाकर वेद-मन्त्रार्थ-हत्या क्यों ?

इसके अतिरिक्त यौगिकतामात्र माननेपर हज़ार व्याख्याकार वेदके हज़ार अर्थ कर देंगे। अध्याहृत किये जानेवाले पदके अध्याहारमें परस्पर विवाद उपस्थित होंगे। लाहौरके दैनिक 'हिन्दी मिलाप' पत्रके पाठकोंको स्मरण होगा कि उस पत्रमें [१३।१०।३५ के अङ्कमें] श्रीचमूपति तथा श्रीप्रियरत्न-आर्षका 'यास्क-युग'के विषयमें विवाद चला था। उसमें श्रीचमूपतिजी श्रीप्रियरत्नजीको उलाहना देते थे कि आप वेदके अतियौगिक

अर्थ करते हैं, श्रीप्रियरत्नजी श्रीचमूपतिजीको यही उपालम्भ देते थे। इसके उद्धरण आगे दिये जायँगे।

कहनेका तात्पर्य यह है-यौगिकतामात्रके अवलम्बन करनेपर तरह-तरहके विवाद उपस्थित हो जायँगे। तब तो वेदमें 'भर्ता' का अर्थ 'भ्राता' तथा 'भ्राता'का 'भर्ता', 'पिता'का अर्थ 'पति' और 'पति'का 'पिता', जायाका अर्थ 'माता' और 'भगिनी'का अर्थ पत्नी-इस प्रकार अर्थ हो जायँगे। कोई व्यवस्था नहीं रहेगी, तब बहुत उपप्लव [गड़बड़ी] उपस्थित होगा। इसमें सनातनधर्मी विद्वानोंको सतर्कता अवलम्बन करनी चाहिये। अन्यथा वेद, वेद नहीं रह जायँगे, वे मानवी बुद्धियोंके नाचका अड्डा बन जायँगे।

(६) वादियोंने यह यौगिकतावादका लटका क्यों चलाया है, इसमें भी रहस्य जानना चाहिये। वह यह है कि-यदि वादी यौगिकतामात्रका अवलम्बन न करें; तो वे वेदकी इन स्वसम्मत चार पोथियोंसे अपने सिद्धान्त नहीं निकाल सकते, और वेदसे पौराणिक-छापको हटा नहीं सकते। वेदोंमें पुराणोंको स्मृत किया गया है; अतः वेदमें भी पौराणिक-छाप है। इसीलिए कहा गया है—'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः' (मत्स्यपुराण ५३।३)। इससे पुराण-ज्ञानका भी वेद-समकालीन होना सिद्ध होता है। पर ऐसा हो जानेसे उनके सिद्धान्तका भङ्ग आ पड़ता है; तब उस पौराणिक-छापको हटाने और अपने सिद्धान्तोंके निकालने-

को दृष्टि-पथमें रखकर प्रतिपत्तियोंने यौगिकतामात्र नाम वाली 'तोड़-मरोड़' की प्रणाली चालू की है। कुछ थोड़ेसे उनके सैद्धान्तिक लाभ होनेपर भी इस प्रणालीसे कई हानियाँ होनेकी आशा भी है।

अपने सिद्धान्तको बलात् निकालनेकेलिए यदि यौगिकता वेदमें सिद्ध की जाएगी; तो इसी नीतिसे जैनी, बौद्ध, ईसाई तथा मुसलमान भी वेदसे बलात् अपने सिद्धान्त निकालनेमें सक्षम हो जायेंगे। दूसरी हानि स्वयं इस सिद्धान्तके माननेवालोंकी होगी कि वे लोग अब जिन सिद्धान्तोंको मानते हैं, उसमें कारण है कि—वर्तमान-कालमें उनको उनमें सुविधा है। सुविधाप्रियोंकेलिए यदि उनकी मन-चाही सुविधा सिद्धान्तित कर दी जाए, तो भविष्यत्-कालमें उनको अबकी सुविधा भी असुविधा बन जाएगी। तब वे अन्य सुविधा चाहेंगे। तब उसे भी सिद्धान्त बना दिया जावे; तब पूर्व सुविधा उनके विरुद्ध जा बैठेगी। तब पूर्व सुविधावाले सिद्धान्तके अनुसार ही किया हुआ भी वेदार्थ तब उन्हें अग्राह्य होगा। तब वे भी इस केवल यौगिकतावादको अवलम्बन करके अपनी सुविधाके अनुसार वेद-मन्त्रार्थ करके आधुनिकोंके वेदार्थको निराकृत कर देंगे, जैसेकि आजकलके आर्यसमाजी स्वा.द.के अनुसारी वेदार्थको नहीं करते क्योंकि—स्वा.द.की की हुई सुविधा भी उनकेलिए असुविधा हो जाती है। इसीका यह फल है कि पहले जिन मन्त्रोंका नियोगपरक अर्थ स्वा.द.ने किया था; अब उन्हींका

नियोगार्थ न करके आजकलके आर्यसमाजियों द्वारा विधवा-विवाहपरक अर्थ किया जाता है। तब तो यौगिकतामात्र सिद्धान्तवालोंकी दशा बगुलेके समान होगी।

(१०) एक बगुलेके बच्चोंको उसके निकटकी बिलमें रहनेवाला साँप खा जाता था। दुःखी हुए बगुलेने साँपके मारनेकेलिए केंकड़ेसे उपाय पूछा। उसने अपना जाति-शत्रु मानकर उसे आपाततः हितजनक उपाय बताया है कि तुम नेवलेका बिल ढूँढो। उसके बिलसे आरम्भ करके साँपके बिल तक मत्स्य-माँसके टुकड़े रखते जाओ। उस मार्गसे चलकर नेवला साँपके बिलमें पहुँचकर उसे मार डालेगा। वैसा ही हुआ। उस मार्गसे जाते हुए नेवलेने साँपको तो मार ही डाला, साथ ही स्त्री-सहित बगुलेको भी खा लिया। इस प्रकार जो यौगिकताका मार्ग आधुनिकों (आ. स.) को स्वामीने स. ध. को मारनेकेलिए पहिले-पहल दिखाया होगा; तो फिर आधुनिक अपने अभीष्ट अर्थ करके स्वामीके अर्थको भी नहीं मानेंगे। फिर इसके पीछे होनेवाले व्यक्ति अतियौगिक अर्थ करके इन आधुनिकोंके अर्थ भी खण्डित कर देंगे। यही अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारना है, यह बात आधुनिक व्यक्ति नहीं सोचते।

अन्य बात यह है कि—वेदमें रूढि वा योगरूढि शब्द स्वीकार न करनेपर वेदमें सभी विशेषण शब्द ही रह जायंगे, विशेष्य एक भी न रहेगा; क्योंकि रूढ वा योगरूढ शब्द ही विशेष्य रहा करते हैं। यौगिक शब्द तो गुणवाची वा क्रियावाची होनेसे सदा विशेषण ही रहा करेंगे।

फिर अर्थकी कोई व्यवस्था ही न रहेगी, 'गौ' के अर्थ फिर साँप, बिच्छू, सिंह, व्याघ्र आदि सब निकल सकेंगे। परन्तु यह बात अनिष्ट होगी। वेदमें विशेष्य शब्द भी हैं; तब उन्हें रूढि वा योगरूढि मानना पड़ेगा। यदि वादी वेदमें रूढिशब्द न भी मानें, पर यदि स्वा.द.के अनुसार उसमें योगरूढि-शब्द भी मान लें, फिर भी इससे सनातनधर्मका ही पक्ष सिद्ध होता है।

स्वा.द.जी ने 'संस्कारविधि' में वेदारम्भ-संस्कार ११२ पृष्ठमें लिखा है—'यौगिक, योगरूढि और रूढि-तीन प्रकारके शब्दोंके अर्थ यथावत् जानें'। इसकी टिप्पणीमें स्वामीजीने लिखा है—'यौगिक जो क्रियाके साथ सम्बन्ध रक्खें; जैसे-पाचक, याजक आदि। योगरूढि जैसे-पङ्कज आदि। रूढि जैसे-धन, वन इत्यादि'। यहाँपर स्वामीजीने रूढिशब्द धन-वन आदि माने हैं। क्या ये शब्द वेदमें नहीं आते? आते ही हैं। देखिये-'वनं न स्यन्द्रम्' (ऋ. १०।४२।५) 'वनेषु' (वा. य. ४।३१)। इस प्रकार यदि आते हैं; तो वेदमें रूढि-शब्द भी सिद्ध हुए। योगरूढ तो वेदमें स्वामीजी भी मानते हैं-इस विषयमें हम उनकी साक्षी दे ही चुके हैं। उन्हीं स्वामीजीने अपने 'पारिभाषिक'के १३ पृष्ठमें २२ परिभाषामें कहा है—'उणादि प्रातिपदिक अव्युत्पन्न अर्थात् उनका सर्वत्र प्रकृति, प्रत्यय, कारक आदिसे यौगिक यथार्थ अर्थ नहीं लगता, अर्थात् उणादि शब्द बहुधा रूढि होते हैं'। यदि ऐसा है; तो उणादि-प्रातिपदिक भी वेदमें दिखलाई पड़ते हैं; तो कौन कह सकता है कि वेदमें रूढि-योगरूढ शब्द नहीं हैं?

यदि रूढि-योगरूढशब्द वेदमें न माने जाएँ; तो वेद निघण्टु-शब्दकोष ही व्यर्थ जाता है; क्योंकि निघण्टुमें वेद रूढ-योगरूढ पर्यायवाचक ही तो संगृहीत हैं। आधुनिकों मतानुसार यौगिकतामात्र माननेपर तो वह शब्द नियत-वस्तु वाचक कभी नहीं हो सकता?

जैसे 'अमरकोष' लौकिक-शब्दोंका संग्रहकोष है; वैसे ही 'निघण्टु' भी वैदिक-शब्दोंका संग्रह है। यदि उस-उस शब्दके उस-उस अर्थमें नियमन होनेसे 'अमरकोष' को रूढि-शब्दोंवाला माना जाता है; तो 'निघण्टु' में भी तो वैसा ही है। यदि 'निघण्टु' में शब्दोंके निर्वचनोंके कारण यौगिकता अथवा योगरूढिता मानी जावे; तो 'अमरकोष' में भी वैसे मानना चाहिये। देखिये-उसकी 'व्याख्या-सुधा' तथा अन्य व्याख्यायें। उनमें भी उन शब्दोंके निर्वचन किये हुए हैं। जब इस प्रकार दोनोंमें साम्य सिद्ध हुआ; तो 'अमरकोष' में केवल रूढिताका आक्षेप व्यर्थ है। महाभाष्यकार आदियोंने लोकमें भी 'न सन्ति यदृच्छाशब्दाः' कहकर रूढि-शब्दोंकी सत्ता निषिद्ध कर दी है। इसलिए श्रीभानुजीदीक्षितने भी 'अमरकोष' की व्याख्याके आरम्भमें कहा है—'यद्यपि 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इति पक्षे संज्ञाशब्देषु व्युत्पत्तिर्नावश्यकी; तथापि शाकटायनाद्यभिमत-त्रयीपक्षे व्युत्पत्तिः प्रदर्श्यते'।

इस प्रकार लोक तथा वेदमें रूढि-शब्दोंकी सत्ता तथा असत्तामें साम्य ही सिद्ध हुआ। तब 'अमरकोष' पर रूढिता-

मात्रका दोष थोपना व्यर्थ हुआ। निर्वचन तो 'सत्यार्थ-प्रकाश' 'स्वामी दयानन्द' 'परोपकारिणी सभा' 'आर्यसमाज' 'गुरुकुल' आदि शब्दोंका भी हो सकता है; तथापि ये शब्द रूढ ही माने जाते हैं; केवल यौगिकता माननेपर इनकी पृथक् सत्ता ही नष्ट हो जायगी। इन (आर्यसमाज आदि)के निर्वचन होनेपर भी इन्हें रूढ ही माना जाता है; अतः यहाँ योगरूढिता हुई। यहाँ केवल यौगिकता माननेपर तो इनकी पृथक् सत्ता ही नष्ट हो जावे। यही यौगिकताकी नीति आर्यसमाजने वेदसे पौराणिक वा उसके ऐतिहासिक अर्थको हटानेकी तथा वेदस्थित सनातन-धर्मके सिद्धान्तोंको वेदसे असम्बद्ध सिद्ध करनेकेलिए अपनाई है, जहाँ वह अनभिज्ञ-जनतामें कुछ सफलताको प्राप्त कर भी चुका है। इस पर सनातनधर्मके विद्वानोंको ध्यान देना चाहिये।

यह याद रखनेकी बात है कि-लोक हो अथवा वेद, उसमें विशेषण सदा यौगिक रहा करता है, और विशेष्य सदा रूढ वा योगरूढ। आर्यसमाजके रिसर्चस्कालर श्रीभगवद्दत्तजी बी. ए. ने भी कहा है कि-'विशेषण यौगिक होते हैं' (वैदिकवाङ्मयका इतिहास द्वितीयभाग पृ. १४५)। 'वेदोंके शब्द यौगिक वा योगरूढ होते हैं। इसीलिए विशेष्य-विशेषणकी रीतिसे विशेषण धात्वर्थमात्र ही देता है। वही विशेषण दूसरे स्थानपर स्वयं नाम अर्थात् योगरूढ बन जाता है (पृ. १५२) इससे हमारे पक्षकी पुष्टि होगई। इसमें उदाहरण 'धर्मदेव' शब्द देखिये—। जब यह विशेष्य होगा; तो रूढ वा योगरूढ होगा। यदि यह दयानन्दादि-

का विशेषण हो जाय, तो यही केवल यौगिक हो जायगा। इसके कुछ अन्य भी उदाहरण देखने चाहियें।—

(क) 'पावक' यह अग्निका नाम है, जैसेकि-अमरकोषादिमें प्रसिद्ध है। यदि यह शब्द विशेष्य हो, तो यही अर्थ होगा। जैसे कि ऋसं.में-'तस्मै पावक !' (१।१२।६)। यदि 'पावक' शब्द किसीका विशेषण हो जावे, जैसे कि-'समुद्रार्था याः शुचयः पावकाः, ता आपो देवीरिह मामवन्तु' (ऋसं. ७।४९।२) यहांपर 'पावकाः'का 'पवित्र करनेवाले' यह यौगिकरूपसे अर्थ होगा, रूढ अग्निरूपसे नहीं; क्योंकि-यहाँ विशेष्य जल हैं, 'पावकाः' तो उनका विशेषण है। (ख) 'इन्द्र' शब्द इन्द्र-देवताके अर्थमें रूढ है; पर यदि वह विशेष्य न होकर किसीका विशेषण हो जावे; तब वह 'इन्द्र' शब्द 'ऐश्वर्य' अर्थमें यौगिक होगा। जैसे कि-'इन्द्रेण [गणेन] सं हि दृक्षसे' (ऋ. १।६।७) निरुक्त (४।१२।१)में उद्धृत इस मन्त्रमें 'इन्द्रेण' यह मरुद्गणका विशेषण है; अतः वहाँ 'ऐश्वर्ययुक्तेन' यह अर्थ है।

(ग) 'स्वसा' यह 'बहिन' अर्थमें रूढ है, और 'पत्नी' स्त्री-अर्थमें, पर यही शब्द भी जब किसीके विशेषण हों; तब यौगिक हो जाते हैं। जैसे कि-ऋ.सं. (१।६२।१०)में। यह दोनों शब्द अवनि (अङ्गुलियों)के विशेषण हैं। वहां 'स्वसारः'का 'स्वयमेव सरन्त्यः' अर्थ है, और 'पत्नीः'का 'पालयित्र्यः' यह यौगिक अर्थ है। (घ) इस प्रकार 'पुनर्भू' तथा 'युवति' शब्द विशेष-स्त्रीके अर्थमें रूढ होते हुए भी ऋ.सं. (१।६२।६) के मन्त्रमें रात्रि

और उषाके विशेषण होनेसे 'पुनर्भुवौ-पुनः पुनः प्रतिदिवसं जायमाने' 'युवती-मिश्रिते अथवा नित्ययौवनोपेते' इस यौगिक अर्थमें हैं ?

(ङ) इस प्रकार 'हस्ती' शब्द 'हाथी' अर्थमें योगरूढ है। जैसे-अथर्ववेद-संहितामें 'हस्ती मृगाणाम्' (३।२२।६) यहां विशेष्य होनेसे 'हाथी' अर्थ ठीक है। पर वही 'हस्ती' शब्द 'ऋत्विक्' 'आदिका विशेषण हो जाय; तो उसका 'अच्छे हाथवाला' यह यौगिक अर्थ होता है। जैसे-'अंशुं दुहन्ति हस्तिनः' (ऋ. ३।३६।७)।

(च) इसी तरह 'योषित्' शब्द जब विशेष्य होता है; तो 'स्त्री'के नाममें रूढ होता है। पर जब किसीका विशेषण हो जाए, तब यौगिक अर्थवाला होता है। जैसे कि-'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपः' (अथर्व. ११।१।१७) यहांपर विशेष्य 'आपः' (जल) हैं; उनका विशेषण है 'योषितः'। तब वह 'सेवन करने योग्य' इस अर्थमें यौगिक होगा। इसीलिए 'शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्ते प्र पृथक् सादयामि। यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहम्' (अ. ६।१२२।५) यहां भी अप्का विशेषण 'योषितः' यह यौगिक है; 'स्त्री'वाचक नहीं। इसीलिए कौशिकसूत्र (६३।४)के अनुसार उक्त ऋचासे ऋत्विजोंके हाथ धोनेकेलिए 'जल' डाला जाता है। स्त्रियोंको उनके हाथमें नहीं डाला जाता; न ही ऋत्विजों पर स्त्रियोंका अभिषेक किया जाता है। इससे स्पष्ट हुआ कि-वेदमें केवल यौगिकता नहीं; किन्तु रूढिता भी

है। हां, वही रूढि-शब्द यदि किसीका विशेषण बन जावे, वह यौगिक हो जाता है।

फलतः वेदमें योगरूढि तथा रूढिशब्द भी हैं। तब वेद कहे;वही मानना चाहिए; अपनी इच्छानुसार बलात् यौगिक के द्वारा उससे मनमाने अर्थ निकालना अनुचित है।

---

(५) वेदके अर्थ करनेके साधन।

गत-निबन्धमें हमने 'वेदमें केवल यौगिकता भी नहीं केवल रूढिता भी नहीं है, किन्तु उसमें रूढि, यौगिक एवं योगरूढ तथा यौगिकरूढ भी शब्द हैं' इस विषयमें हम प्रकाश डाल चुके हैं, अब वेदार्थ करनेके साधनों पर विचार उपस्थित किया जाता है।

वेदमन्त्रार्थ-विधानमें पुराण-इतिहास, व्याकरण, निघण्टु अथवा कोष, ब्राह्मणभाग, विनियोग, प्राचीन-लोकव्यवहार तथा स्वयं मन्त्रभाग और उसका देवतावाद, स्मृतियां दर्शन एवं निरुक्त आदि सभी मिलकर साधन हो सकते हैं। परन्तु अर्वाचीनवादी लोग वेदमें पुराण-सदृश वर्णन देखकर उसे हटानेकेलिए पसीना बहाते हुए केवल निघण्टुकी शरण चले जाते हैं, अथवा अपनी इच्छानुसार केवल ब्राह्मणभागका उपयोग उसमें ले लेते हैं, पर ऐसा होने पर उसमें अपूर्णता ही रह जाती है।

जो केवल उस विषयमें निघण्टुपर ही निर्भर रहते हैं; कहते हैं कि-'निघण्टु वैदिक कोष है, निघण्टुमें इस पदका

अर्थ है, अतएव यहांपर यही अर्थ होना चाहिये। निघण्टुसे विरुद्ध अर्थ भला हम कैसे मानें'? पर यह बात ठीक नहीं, क्योंकि निघण्टु ही वेदके अधीन होता है, वेद निघण्टुके अधीन नहीं होता। 'निघण्टु' नामक वैदिक-कोषमें उन-उन शब्दोंके जो-जो अर्थ लिखे हैं, वे उपलक्षणमात्र ही हैं, उनपर इयत्ताके निर्धारणकी सीमा नियमित नहीं की जा सकती।

निघण्टुमें सारे वैदिक शब्द आये भी नहीं हैं, किन्तु थोड़े ही आये हैं। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न वेदोंकी बहुत संहिताओंके होनेसे निघण्टु भी बहुतसे थे। यह वर्तमान निघण्टुसे भी सिद्ध होता है; क्योंकि—वर्तमान यास्क-संगृहीत निघण्टुके कई शब्द वर्तमानमें प्रसिद्ध चार संहिताओंमें नहीं मिलते। यह 'आलोक'के ४-६-८ पुष्पोंमें देखिये। वे शब्द किसी-अन्य संहिताओंसे लिये गये होंगे। यह वर्तमान यास्कीय-निरुक्तमें सन्निविष्ट निघण्टु' कौनसी वेद-संहिताका है, इसका पूरा पता नहीं लगता। वेदमें निघण्टुसे निर्दिष्ट अर्थोंसे भिन्न, शब्दोंके अर्थ ही नहीं होते—यह बात तो ठीक नहीं। देखिये 'निघण्टु' (२।३)में 'विशः' यह मनुष्यका नाम है, परन्तु वेदमें 'विशः'का अर्थ 'गण' अथवा 'प्रजा' भी है। जैसे कि—'मानुषीणां विशां दैवीनामुत' (अथर्ववेद. शौ. सं.) (२०। ११।२) 'दैवीर्विशः' (यजु. वा. सं. ६।७) 'दैवीर्विशो मानुषीश्च' (यजु. वा. सं. १७।८६) 'मरुतो देवविशः' (यजु. शतपथ ब्रा.२।५। १।१२) यदि निघण्टुके अनुसार 'विशः,का 'मनुष्य' ही अर्थ माना

जाय, तो 'मानुषीणां विशाम्' 'मानुषीश्च विशः' यहां दोनों स्थलों पर 'मानुषी' शब्द व्यर्थ या पुनरुक्त होगा, क्योंकि—तब तो वहां 'विशः' शब्द ही पर्याप्त है। इधर 'दैवीश्च विशः' 'दैवीनां विशाम्' यहांपर भी 'विशः' शब्द देना व्यभिचरित हो जाता है, क्योंकि—उक्त मन्त्रमें (अथर्व० २०।११।२) 'उत' शब्दसे और यजुः १७।८६ मन्त्रमें 'च' शब्दसे दोनोंको पृथक्-पृथक् कहकर दोनोंको परस्पर भिन्न सिद्ध कर दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि 'विशः'का निघण्टुसे अनिर्दिष्ट 'गण' प्रजा या वैश्य अर्थ भी प्रकरणानुसार हो सकता है। स्वा.द.जीने भी अपने यजुर्वेदके भाष्यमें (१७।८६) 'विशः'का 'प्रजाजन' यही अर्थ किया है। इस विषयमें हम स्वा.द.जीकी अन्य उक्तिसे भी अपने पक्षकी पुष्टि करते हैं—यह उनके अनुयायी भी देखें।

'निघण्टु' (१।१४)में 'ब्रध्न' शब्दका अर्थ अश्व [घोड़ा] है, यह बात स्वा.द.जीके 'निघण्टु' की शब्दानुक्रमणिकाके ४८ पृष्ठमें भी देखी जा सकती है। परन्तु स्वामीने स.प्र.के ८म समुल्लास १४३ पृष्ठमें 'ब्रध्न'का अर्थ 'सूर्य' किया है। केवल 'सूर्य' अर्थ ही नहीं किया, अपितु ११वें समुल्लास १७४ पृष्ठमें 'निघण्टु'के अनुसार किया हुआ भी मैक्समूलरका 'अश्व' अर्थ खण्डित कर दिया है। देखिये इसपर स्वा.द.जीके शब्द—'युञ्जन्ति ब्रध्नं' (ऋ. १।६।१) इस मन्त्रका अर्थ मोक्षमूलर साहबने 'घोड़ा' किया है। इससे तो जो सायणाचार्यने 'सूर्य' अर्थ किया है, सो अच्छा है, परन्तु इसका ठीक अर्थ 'परमात्मा' है। मेरी बनाई

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'में देखो।'

इस विषयमें ऋभाभू.के १७० पृष्ठमें स्वा. दयानन्दजीने लिखा है—

'कचिन्निघण्टौ अश्वस्यापि 'ऋष्नारुषी' नाम्नी पठिते। परन्तु अस्मिन् मन्त्रे तद्घटना नव सम्भवति, शतपथादि-व्याख्यान-विरोधात्, मूलार्थ-विरोधात्, एक-शब्देन अनेकार्थ-ग्रहणाच्च। एवं सति भट्टमोक्षमूलरैः ऋग्वेदस्य इङ्गलण्ड-भाषया व्याख्याने यद् अश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतम्, तद्भ्रान्तिमूलमेवास्ति। सायणाचार्येण अस्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यस्य ग्रहणात् एकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं सम्यक् कृतमस्ति, परन्तु न जाने भट्टमोक्षमूलरेण अयमर्थः आकाशाद् वा पातालाद् गृहीतः ?'

अर्थात् किसी निघण्टुमें अश्वके भी 'ऋष्न' 'अरुष्' नाम पढ़े हैं, परन्तु इस मन्त्रमें वह अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि इसमें शतपथ आदिकी व्याख्यासे विरोध पड़ता है, मूल अर्थसे विरोध पड़ता है, और एक शब्दसे अनेक अर्थ भी लिये जाते हैं। जब ऐसा है तो मैक्समूलर-साहबने ऋग्वेदकी अँग्रेजी भाषाकी व्याख्यामें जो कि घोड़ेका अर्थ लिखा है, वह भ्रान्ति-मूलक ही है। सायणाचार्यने इस मन्त्रकी व्याख्यामें सूर्यका अर्थ करके एक अंशमें ठीक किया है, परन्तु न मालूम मैक्समूलर साहबने इस [घोड़ेके] अर्थको आकाशसे लिया, या पातालसे ?'

मान्य पाठकगण! आपने देखा होगा कि स्वामीजीने

निघण्टुके अनुसार किया हुआ भी अर्थ नहीं माना। इस प्रक... 'निघण्टु'के विषयमें स्वा.द.जीका अन्य मत भी देखें। 'भ्रान्ति-निवारण' [शताब्दी-संस्करण ८८२ पृष्ठ]में स्वामीजीने पं॰ महेशप्रसाद-न्यायरत्नको प्रत्युत्तर देते हुए लिखा है—'कदाचित् वे [पं० महेशजी] कहें कि 'निघण्टु'में जो ईश्वरके नाम हैं उनमें अग्नि शब्द नहीं आता। इससे मालूम हुआ कि 'अग्नि' परमेश्वरका वाची नहीं समझना चाहिये। जैसे 'निघण्टु'के अ० २ खं. २२ में जो 'राष्ट्री, अर्यः, नियुत्वान्, इनः', ये चार ईश्वरके अप्रसिद्ध नाम हैं और यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वरके 'निघण्टु'में हों, वे ही माने जांय, औरोंको विद्वान् लोग छोड़ देवें। परमेश्वरके तो असंख्यात नाम हैं, और आप क्या चार ही नाम ईश्वरके समझते और क्या 'निघण्टु'में न लिखनेसे ब्रह्म, परमात्मा आदि ईश्वरके नाम नहीं हैं ? यह पण्डितजी की बिल्कुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वरके नाम निघण्टुके, विना लिखे भी लिये जाते हैं, वैसे अग्नि आदि परमेश्वरके नाम हैं" इस स्वा.द.जीके ही कथनसे स्पष्ट सिद्ध हो गया कि—वेदोंके अर्थका अवलम्बन केवल निघण्टु पर निर्भर करना उचित नहीं।

(२) गत लेखमें हम बता चुके हैं कि जो अर्वाचीन विद्वान् वेदमें यौगिकतामात्रको मानते हैं और रूढि-रूपसे अर्थ करने वालों पर आक्षेप करते हैं, वे आक्षेप्ता भी रूढि-रूपसे अर्थ करनेसे अपने आपको नहीं बचा सकते। स्वयं वे 'हस्तग्राभस्य दिधिषोः' (ऋ. १०।१८।८) 'पुनर्भुवा परः पतिः' (अथर्व. ६।४।२८)

इत्यादिमें 'दिधिषोः' आदिका 'गर्भस्य निधातुः' इत्यादि यौगिक अर्थ छोड़कर 'पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषूः पतिः' [२।६।२३] इस प्रकार 'अमरकोष'का अवलम्बन करते हैं। परन्तु यदि कोई प्राचीन विद्वान् मन्त्रका वास्तविक अर्थ करे, तो उसके प्रभावको हटानेकेलिए कहा जाता है कि यह वेदके अर्थ करनेमें 'अमर-कोष'का अवलम्बन करता है। क्या यह 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' नहीं ?

पर वस्तुतः यह आक्षेपका स्थान नहीं। वेदमें यदि कतिपय शब्दोंमें निघण्टुका उपयोग होता है, तो शेष शब्दोंका अर्थ करनेकेलिए 'अमर-कोष' आदिका उपयोग भी अयुक्त नहीं है। क्या उक्त आक्षेपकर्ता भी वेदके दो-तीन शब्दोंको छोड़कर शेष वैदिक शब्दोंमें 'अमर-कोष' आदि लौकिक कोषोंका अवलम्बन नहीं करते ? क्या वे वैदिक-प्रक्रियासे साध्य कतिपय-प्रयोगोंके अतिरिक्त वेदस्थित प्रयोगोंकी सिद्धिकेलिए व्याकरणके लौकिक-सूत्रोंका उपयोग नहीं लेते ? यदि ऐसा वे करते हैं; तो कई वैदिक-शब्दोंकेलिए यदि निघण्टुका उपयोग किया जाता है, तो वेदके कतिपय शब्दोंके लिए लौकिक 'अमर-कोष' आदिका उपयोग भी लिया जा सकता है।

क्या निघण्टुमें वेदके सब शब्द आ गये हैं, जिससे वेदमें 'अमरकोष' आदिके अनुसार अर्थ करते हुए सनातनधर्मी विद्वानोंपर आक्षेप किया जाता है ? वस्तुतः यहाँपर वादियोंका केवल स्वार्थ ही है। स्वयं वे अपने अवसरमें निघण्टुकी उपेक्षा

करते हैं, परन्तु दूसरेकेलिए वे निघण्टुका सार्वत्रिक प्रवर्त्तन चाहते हैं। यह कहाँका न्याय है ? 'अमरकोष' भी उसके कर्ताकी स्वतन्त्र कृति नहीं है, अपि तु 'अग्निपुराण' तथा व्याकरण-के आधारसे वह बनाया गया है। इसी बातको अमरसिंह स्वयं 'समाहृत्याऽन्यतन्त्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः। सम्पूर्णमुच्यते वर्गैर्नाम-लिङ्गानुशासनम्, (अमरकोष १।१।२) इस पद्यसे कहते हैं। तब वेदके भाष्यरूप उपाङ्ग पुराणने, तथा वेदके मुख्य-अङ्ग व्याकरणने यदि वेदस्थित उन-उन पदोंके वे-वे अर्थ बताये हैं, तब उसमें अन्य किसको आपत्ति हो सकती है ? क्या हम पुराण-कोषको न मानकर वादियोंके कल्पना-कोषको ही—जो कि अप्रामाणिक है—प्रमाणीकृत करें, क्योंकि 'निघण्टु' में तो सम्पूर्ण-वैदिक शब्द हैं ही नहीं ? इसपर आक्षेप्ताओंको विचार करना चाहिये। फिर सनातनधर्मी विद्वानोंपर आक्षेप क्यों ? क्या 'अमरकोष' आदिसे निर्दिष्ट शब्द वेदमें नहीं आते ?

जिस 'अग्निपुराण' से 'अमरकोष' संगृहीत किया गया है, उसी 'अग्निपुराण' के विषयमें, स्वाध्यायशील आर्यसमाजी विद्वान् श्रीपाददामोदर-सातवलेकरजीकी सम्मति पढ़ें। वे लिखते हैं—'पुराण-ग्रन्थोंमें सम्पूर्ण प्राचीनतम कथाओंका संग्रह है, और उससे अर्वाचीन ऐतिहासिक-कथाओंका संग्रह 'रामायण' 'महाभारत' नामक इतिहास ग्रन्थोंमें किया गया है। संग्रहकी दृष्टिसे पुराणोंमें 'अग्निपुराण' और इतिहासोंमें 'महाभारत' श्रेष्ठ ग्रन्थ हैं। आजकल जिस प्रकार 'विश्वकोष' अर्थात् सारग्रंथ

बनते हैं उसी प्रकार प्राचीन ऋषि-मुनियोंके बनाये विश्व-ग्रन्थ ये हैं। सबसे प्राचीन आर्योंका विश्वकोष 'अग्निपुराण' था और उसके पश्चात् बना हुआ विश्वकोष 'महाभारत' है। (महाभारतकी समालोचना प्रथमभाग पृ. १२)

यदि ऐसा है; तो वैदिक-शब्दोंका भी यदि सनातनधर्मी विद्वान् लौकिक-शब्दोंकी तरह अर्थ करते हैं, तो इसमें निर्मूलता क्या है? 'मीमांसा-दर्शन' में 'प्रयोग-चोदनाऽभावात् अर्थैकत्वमविभागाद्' (१।३।३०) इस सूत्रके शाबर-भाष्यमें सिद्धान्तपक्ष, कहा गया है कि—'य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकाः, त एव एषामर्थाः इति। ······न तेषामेषां च विभागमुपलभामहे। अतो नान्यत्वं च वदामः। ······यदि च अन्ये वैदिकाः [शब्दा अर्था वा], तत उत्तानादीनामर्थो न गम्येत। तत्र नतरां शक्येत अविज्ञात-लक्षणं गोत्वं विज्ञातुम्। ······तस्मात् [वेदे] त एव शब्दा अर्थाश्च' यहाँपर लौकिक-वैदिक शब्दोंमें वा अर्थोंमें भेद नहीं कहा गया है। यहाँ अधिकरण भी 'लोकवेदयोः शब्दैक्याधिकरणम् (१०)' यही रक्खा गया है। 'अविशिष्टश्च वाक्यार्थः [१।२।४०] इस मीमांसा-सूत्रका शाबरभाष्य भी यही है—'अविशिष्टस्तु लोके प्रयुज्यमानानां वेदे च पदानामर्थः' इस प्रकार 'सांख्यदर्शन' में भी लिखा है—'लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थ-प्रतीतिः' (५।४०) यहाँपर भाष्य है—'न हि लोके शक्तिर्भिन्ना, वेदे च भिन्ना। य एव लौकिकाः [पदार्थाः], त एव वैदिका इति न्यायात्'। इस प्रकार हमारे पक्षकी पुष्टि हुई।

(३) कई आर्यसमाजी आदि वेदमें इतिहास-पुराणानुरूप अर्थको होता हुआ देखकर उसमें परिवर्तनार्थ ब्राह्मण-भागका आश्रय करने लग जाते हैं। इसपर हम उन लोगोंके सन्तोषार्थ स्वयं कुछ न कहकर आर्यसमाजी-विद्वान् अथर्ववेद-भाष्यकार श्रीराजाराम-शास्त्रीजीका मत देते हैं। अथर्ववेदके भाष्यकी भूमिका (१९-२० पृष्ठ)में वे लिखते हैं—

'कालकी दृष्टिसे मन्त्रोंके सबसे पुराने व्याख्यान ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं। उनका मुख्य-विषय यज्ञोंकी प्रक्रिया और उनके फलोंका वर्णन है, न कि मन्त्रोंका व्याख्यान। तथापि प्रसङ्गसे कई मन्त्रों वा मन्त्रखण्डों वा पदोंका व्याख्यान भी उनमें पाया जाता है, और यह भी कि—उनमें कहे मन्त्रोंके विनियोगसे भी मन्त्रार्थपर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार 'ब्राह्मण' हमें मन्त्रार्थ जाननेमें एक उत्तम सहायता देते हैं। पर यह ध्यान रखना चाहिये कि ब्राह्मणोंमें भक्तिवाद बहुत है। ···· यदि कोई ब्राह्मणोंके उन प्रमाणोंके आश्रयसे किसी शब्दके भक्तिवादवाले अर्थ ले, तो वह ऐसी भूल करेगा, जैसे कोई 'आयुर्वै घृतम्' (तैत्तिरीयसं. २।३।२।२) प्रमाणके सहारे पर 'आयु' का अर्थ 'घृत' और 'घृत' का अर्थ 'आयु' करे। इसलिए ब्राह्मण-भागके भक्तिवाद मन्त्रार्थके निर्धारणमें प्रमाण नहीं माने जा सकते·· सो यह स्पष्ट है कि—ब्राह्मणग्रन्थोंसे भी मन्त्रार्थका निर्धारण करनेमें पूरी सावधानता चाहिये।'

निरुक्तकारने भी इस विषयमें प्रकाश डाला है। 'वैश्वानर' शब्दके अर्थके प्रकरणमें वादीने 'आदित्योऽग्निर्वैश्वानरः' इस

ब्राह्मणभागके प्रमाणसे सूर्यको ही वैश्वानर सिद्ध करनेकी चेष्टा की थी, परन्तु उसके उत्तरपक्षमें श्रीयास्कने कहा-'यथो एतद् ब्राह्मणं भवतीति, बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति। पृथिवी वैश्वानरः [शत. १३।३।८।३] संवत्सरो वैश्वानरः [शत. ५।२।५।१५] 'ब्राह्मणो वैश्वानरः' [तै. ब्रा. ३।७।३।२] [निरुक्त ७।२४।६] इससे सिद्ध हुआ कि-ब्राह्मणभागमें भक्तिवाद [अर्थवाद] बहुत है, तब उससे कहे हुए एक अर्थमात्रको लेकर वेदसे पौराणिक अर्थ हटानेका प्रयत्न साहसमात्र है। तब वेदके अर्थ-निर्णयमें जहाँ इन सभीकी समुचित आवश्यकता है, वहाँ पुराण-इतिहास-की भी आवश्यकता है, क्योंकि इतिहास-पुराणोंने भी वेदार्थके विशदीकरणमें पर्याप्त चेष्टा की है। तब 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' [महाभा० आदिपर्व १।२६७] 'भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः' (श्रीमद्भागवत १।४।२९) इस उक्तिसे इतिहास-पुराणानुसार एक-वाक्यताकी नीतिसे किया हुआ वेदार्थ लाभदायक तथा न्याय्य होगा। यह बात विद्वानोंको याद रख लेनी चाहिये। इस विषयमें 'वैदिक-धर्म' सम्पादक श्रीपाद-दामोदर सातवलेकर महोदयकी सम्मति भी उद्धृत की जाती है। 'महाभारतकी समालोचना' के प्रथमभाग १७।१८ पृष्ठमें उन्होंने लिखा है—

'इतिहास और पुराणोंसे वेदके अर्थका प्रकाश करें, क्योंकि थोड़ी विद्या पढ़े हुए जनसे वेदको भय उत्पन्न होता है कि-यह मुझे बिगाड़ेगा। इसका तात्पर्य यह है कि इतिहास और पुराण

ग्रन्थोंमें ऐसी कथाएँ हैं कि-जो वेदके अर्थका प्रकाश करनेवाली हैं। इसलिए वेदका सत्य अर्थ जाननेकेलिए उक्त कथाओंका जानना अत्यावश्यक है। अथवा यों कहा जा सकता है कि-वेदका सत्य अर्थ जाननेके जो अनेक साधन होंगे, उनमें एक यह भी साधन है कि वेदके मूल मन्त्रोंके साथ पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओंकी तुलना करना'।

(४) व्याकरण तो वेदार्थके निर्णयार्थ मुख्य है ही। इसी कारण 'महाभाष्य' पस्पशाह्निकमें कहा गया है-'षट्सु अङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति'। अन्यथा स्वेच्छानुसारितासे अर्थका अनर्थ हो सकता है। व्याकरणके बिना तो नहीं जाना जा सकता कि वेदमें 'नताद् ब्राह्मणम्' यहाँपर 'नताद्' यह पञ्चम्यन्त है या द्वितीयान्त? 'तुरीयस्ते मनुष्यजाः' (अथर्व. १४।२।३) यहाँपर 'मनुष्यजाः' यह बहुवच-नान्त है, अथवा एकवचनान्त? तथापि व्याकरणका दुरुपयोग भी वेदके विषयमें नहीं करना चाहिये, जैसाकि आजकल आर्यसमाजी-व्यक्ति करते हैं।

(५) इस प्रकार प्राचीन-लोकव्यवहार भी कभी वेदार्थ-निर्णयार्थ उपयुक्त साधन सिद्ध होता है, क्योंकि लोग परम्परासे वेदोक्त कार्य करते रहे हैं, इसलिए 'सांख्यदर्शनमें लिखा है-'लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः' (५।४०) उसमें कहीं विपरिणाम वा कहीं ह्रास होगया हो-यह भिन्न बात है, परन्तु वैसे लौकिक-व्यवहारका ज्ञान न होनेसे कई महाशय उन मन्त्रोंका स्वेच्छा-

कल्पित अर्थ कर दिया करते हैं, इसका निम्न उदाहरण पर्याप्त होगा। अथर्ववेदके छठे काण्डमें १४०वें सूक्तका विनियोग यह है कि उत्पन्न हुए शिशुके ऊपरके दो दाँत यदि पहले उगें, तो उस दोषके परिहारार्थ धान्य, जौ तथा तिलोंका होम करना पड़ता है। धान्य, जौ, तिल तथा माषको उक्त सूक्तसे अभिमन्त्रित करके उन दाँतोंसे कटवाया जाता है। उसी सूक्तमें यह मन्त्र है—

'यौ व्याघ्रौ अवरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च। तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते ! शिवौ कृणु जातवेदः ! (अथर्व. शौ. सं. ६।१४०।१) यहाँपर अवरूढ अर्थात् ऊपरकी पंक्तिमें निम्न-मुख होकर उत्पन्न हुए दो दाँतोंका अशुभ-फल माता-पिताकी मृत्युरूप कहा है, यहाँपर उक्त दुष्फलके दूर करनेकी प्रार्थना है। ऊपरके दो दाँतोंके पहले उगनेमें दुष्फलका कारण यह है कि—पहले शिशुके निचले दाँतोंका उत्पन्न होना ही प्राकृतिक तथा शुभ-जनक है, इसीलिए 'अथर्ववेद'—'गोपथ-ब्राह्मण' में कहा गया है कि 'तस्माद् अधरे दन्ताः पूर्वे जायन्ते, परे उत्तरे' (१।३।७)। इसी-लिए ही ऊपरके उगे हुए दो दाँतोंसे निम्न मन्त्र द्वारा प्रार्थना की जाती है कि—'व्रीहिम् अत्तं, यवम् अत्तम् (युवाम्), अथो माषम् अथो तिलम्। एष\वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ ! मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च' (अथर्व. ६।१४०।२) हे ऊपरके दाँतों ! तुम धान, जौ, माष और तिल खाओ। यही तुम्हारे लिए भाग रखा गया है, माता-पिताको मत मारना, यही (माता-पिताको मारना) उन ऊपरके दाँतोंका दुष्फल है। यहाँपर उक्त विनियोग

चरितार्थ होता है। इस प्रकार आगे भी मन्त्रमें कहा है— 'अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ ! मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च (अ. ६।१४०।३) अर्थात् हे ऊपरके दो दाँतो ! तुम दोनोंका अशुभ फल कहीं अन्यत्र पड़े, तुम अपनी उत्पत्तिके दुष्फलस्वरूप माता-पिताको मत मारना।

यह बात हमारे मुलतान-जिलेकी स्त्रियाँ भी जानती हैं; क्योंकि—परम्पराका ज्ञान स्त्रियोंको भी रहा करता है। तभी तो धर्मसूत्रोंमें कहा गया है—'यत् स्त्रिय आहुस्तत् कुर्वन्ति' (आप-स्तम्ब-धर्मसूत्र २।१५।६) इसी प्रकार 'आग्निवेश्य-गृह्यसूत्र' में भी बहुत बार आया है। इसी कारण स्त्रियाँ अपने शिशुके पहले निचले दाँतोंका उगना चाहती हैं। परन्तु इस लौकिक-व्यवहारसे अनभिज्ञ पुरुष उक्त-मन्त्रका अर्थ अन्य ही करेगा। जैसे कि 'शक्तिरहस्य' पुस्तकमें श्रीयशःपाल-सिद्धान्तालङ्कारने उक्त मन्त्र (अ. ६।१४०।२) का यह अर्थ किया है। हे दांतो ! तुम धान खाओ, जौ खाओ, माष खाओ तथा तिल खाओ। यह अन्न ही तुम्हारा नियत हिस्सा है। इसके भक्षणसे तुम्हें रमणीय फल मिलेगा। तुम पितृशक्ति और मातृशक्तिसे सम्पन्न पशुओंकी हिंसा न करो' (पृ. ११७) इस मन्त्रको लेखकने बलात् मांसभक्षणके निषेधमें जोड़ दिया है। इस प्रकार अर्थ करने पर जहाँ मन्त्र-स्थित 'दन्त' शब्दका द्विवचन व्यर्थ होता है, वहाँ पर गोधूम (गेहूँ) के वर्णन न होनेसे वह अभक्ष्य भी सिद्ध हो जाता है; फिर मातृ-पितृ-शक्तिसे रहित, नपुंसक वा वन्ध्य पशुओंकी

मारना तब वैध सिद्ध हो जायगा। परन्तु यह अनिष्ट है। इस कारण मन्त्रार्थमें लोकव्यवहार भी अपेक्षित होता है।

इससे विनियोगकी व्याख्या भी हो गई। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा ब्राह्मणभाग आदिसे कहा हुआ मन्त्रोंका विनियोग भी मन्त्रार्थमें सहायक सिद्ध होता है। बहुत मन्त्र वेदमें बार-बार आते हैं। यदि विनियोग न हो, तो वेदमें पुनरुक्ति दोष हो जाय। परन्तु भिन्न-भिन्न विनियोगवश उस मन्त्रके अर्थमें भेद भी-चाहे वह थोड़ा ही क्यों न हो-अनिवार्य हो जाता है। तब पुनरुक्तिको अवकाश नहीं रहता।

इस प्रकार पदपाठसे भी अर्थमें सहायता मिलती है। 'उत शूद्रे उतार्ये' (१६।६२।१) यह मन्त्र 'अथर्ववेद'का है, यहांपर 'उत अर्ये' यह छेद है, अथवा 'उत आर्ये' यह सन्देह उपस्थित होता है। इसमें पदपाठका प्रामाण्य होता है। पदपाठ इतना प्रमाण-भूत होता है कि जिस मन्त्रका पदपाठ नहीं होता, उस मन्त्रको खैलिक माना जाता है। पदपाठने उक्त मन्त्रका 'उत शूद्रे उत आर्ये' यही छेद किया है। यही बात स्वा.दयानन्दजीने 'सत्यार्थ-प्रकाश' (८ समुल्लास १४० पृष्ठ)में स्वीकृत की है। यही श्रीनरदेव-शास्त्रीजीने अपने 'ऋग्वेदालोचन'में, श्री राजारामजी शास्त्रीने अपने 'अथर्ववेद-भाष्य'में, श्रीसातवलेकरजीने अपने 'वेदामृत' वा 'छूत-अछूत' पुस्तकमें, श्रीरामगोपालजी वैद्यने अपने 'अस्पृश्य-निर्णय'में तथा चतुर्वेद-भाष्यकार श्रीजयदेव-विद्यालंकार तथा श्रीक्षेमकरणदास त्रिवेदी महोदयने अपने अथर्ववेदके

भाष्यमें स्वीकृत की है। आर्यसमाजके स्वा. विश्वेश्वरानन्दजीने अपनी 'वैदिकपदसूचीमें 'आर्य' पद माना है 'अर्य' नहीं। ये प्रायः आर्यसमाजी विद्वान् हैं। इस प्रकार दूसरे विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। इस मन्त्रसे वेद शूद्रको आर्यसे भिन्न सिद्ध करता है। परन्तु 'जाति-निर्णय'में श्रीशिवशंकर-काव्यतीर्थने इन सबसे विरुद्धता की है। यहाँ उनने 'अर्ये' (वैश्ये) ऐसा पदच्छेद माना है। अतः उनका अर्थ भी माननीय नहीं। किसीको कोई बात पसन्द न हो; तो वह उसमें स्वतन्त्र है पर पाठ बदलनेका उसका अधिकार नहीं। यही उन्होंने बृहदारण्यकमें भी किया है। उसमें 'मांसौदनं'के स्थान 'माषौदनं' पाठ कर डाला है, यह अनधिकार-चेष्टा है। इस प्रकार पदपाठमें 'अवसाय पद्वते रुद्र मृल (ऋ. १०।१६६।१) इस मन्त्रमें 'अवस' शब्दके चतुर्थ्यन्त होनेसे अवग्रह नहीं किया जाता। 'अवसाय अश्वान्' (ऋ. १।१०४।१) यहांपर ल्यप्-अन्तवाला होनेसे भिन्न-भिन्न पद होनेके कारण अवग्रह (पदच्छेद) किया जाता है, इससे मन्त्रार्थमें सहायता मिलती है।

(८) इस प्रकार अर्थ-विधानमें 'निरुक्त'का प्रयोजन भी व्याख्यात हो गया। स्वयं 'मन्त्रभाग' भी अपने अर्थमें इस कारण प्रमाण है, क्योंकि वह एक स्थलमें जिस सिद्धान्तको कहता है, दूसरे स्थलमें भी वह कहीं उसका अनुवाद देता है वा उसका संकेत देता है। इसीलिए मीमांसामें तात्पर्य-निर्णयमें अभ्यास (द्विरुक्ति)को भी स्वीकृत किया गया है। (९) वैदिक देवतावाद तो

उस-उस मन्त्रके अर्थ-विधानमें प्राण अथवा अवलम्बभूत है— यह तो स्पष्ट ही है। इस प्रकार स्मृतियां दर्शन तथा शिक्षा-प्रातिशाख्य आदि भी जहाँ-तहाँ वेदका अनुवाद करते हैं, इस कारण ये सब भी वेदार्थमें साधन-रूपसे गणनीय हैं। इन सबके उदाहरण देनेकेलिए स्थान नहीं है।

(१०) इसके अतिरिक्त अनेकार्थक पदोंके अर्थ-निर्धारणके अवसरमें–'संयोगो १ विप्रयोगश्च २ साहचर्यं ३ विरोधिता ४। अर्थः ५ प्रकरणं ६ लिङ्गं ७ शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ८। सामर्थ्यम् ९, औचिती १०, देशः ११, कालो १२, व्यक्तिः १३ स्वरादयः १४। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति-हेतवः'। (२।३१६-३१७)।

इन 'वाक्यपदीय'से कहे हुए संयोगादियोंका भी उपयोग अवश्य करना चाहिये। इनके क्रमसे उदाहरण देखिये—

१ 'सशङ्खचक्रो हरिः' यहाँपर शङ्खचक्रके संयोगसे 'हरि' विष्णुका नाम है, वानर-आदिका नहीं। २ 'फणहीनो नागः' यहांपर फणके वियोगसे 'नाग' 'सर्प' वाचक है, 'गज' वाचक नहीं। ३ 'रामलक्ष्मणौ' यहाँ लक्ष्मणके साहचर्यसे 'राम' दाशरथि-वाचक है, बलरामादि-वाचक नहीं। ४ 'कर्णार्जुनौ' यहाँपर अर्जुनके विरोधी होनेसे 'कर्ण' सूतपुत्र प्रसिद्धि वाला विवक्षित है 'कान' नहीं। ५ 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' यहां भवच्छेद रूप प्रयोजन (अर्थ) होनेसे 'स्थाणु' शिव है, शाखा-विहीन वृक्ष नहीं। ६ 'यथाऽऽज्ञापयति देवः' यहाँपर प्रकरणा-

नुसार 'देव'का अर्थ 'राजा' है, 'देवता' नहीं। ७ 'कु
मकरध्वजः' यहाँपर 'कोप' रूप चिन्हसे 'मकरध्वज' कामदे
समुद्र नहीं। ८ 'स्थलारविन्दश्रियम्' यहाँपर 'स्थलारवि
शब्दकी सन्निधिसे 'श्रीः' यहां 'शोभा' है, 'दिव्यकमल' व
'लक्ष्मी' नहीं। ९ 'मधुना मत्तः कोकिलः' यहाँपर कोयलको
करनेकी सामर्थ्य वसन्त-रूप 'मधु'में है, शहद वा मद्यमें न
१० 'गौरेका तु मनस्विनः' यहाँपर 'गो' शब्दके गाय तथा वा
इन दोनों अर्थोंमें वाणीका अर्थ करनेमें ही औचित्य
११ 'विभाति गगने चन्द्रः' यहाँपर 'चन्द्र' आकाश-रूप दे
कारण 'चन्द्रमा' ही लिया जायगा, 'कपूर' नहीं। १२ '
चित्रभानुः' यहाँ पर रात्रिरूप काल होनेसे 'चित्रभानु' अ
मानी जायगी; 'सूर्य' नहीं। १३ 'मित्रो विभाति' यहाँ पुंल्लि
'सूर्य' तथा नपुंसक-लिङ्गमें 'सुहृद्' लिया जायेगा। अथ
'भाति रथाङ्गम्, रथाङ्गः। पुंलिङ्गमें रथाङ्ग चकवेका वा
होगा, और नपुंसकमें पहियेका। १४ 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' यहां
आद्युदात्त होनेपर बहुब्रीहि-समासका अर्थ 'इन्द्र जिस
मारनेवाला है' यह होगा, अन्तोदात्तस्वरमें 'इन्द्रका मारनेवाल
अर्थ होगा।

इन सबमें भी 'प्रकरण' बलवान् होता है। अनुक्रमणिका
कारोंने वेदमें बहुत परिश्रम करके 'देवता' शब्द द्वारा उसे व्य
किया है, अतः वेदमन्त्रार्थ भी तत्तद्-देवताके अनुसार कर
पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि वेदमें सब प्रकरण परमात्मपर

नहीं हैं, जैसे कि-आजकलके विद्वान् लगाते हैं, किन्तु वे सूक्त भिन्न-भिन्न देवताओंके हैं। यदि सब सूक्त परमात्मपरक ही हों, भिन्न-भिन्न देव-परक नहीं, तो 'सर्वानुक्रमणी' वा 'बृहद्-देवता' आदिके प्रणेताओंका परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि तब तो सब प्रकरणोंका परमात्मा ही देवता है-इस लाघवसे आदिमें सूचनीय बातको छोड़कर हमारे उन पूर्वजोंने भिन्न-भिन्न देवताओंके उपन्यासका परिश्रम क्यों किया? 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्'? आकमें यदि शहद मिल जाए, तो पहाड़ तक जानेका परिश्रम क्यों करना? इससे स्पष्ट है कि-मन्त्रोंका अर्थ उन-उन देवताओंके अनुसार हुआ करता है, स्वतन्त्रतासे नहीं, जैसे कि आजकल किया जाता है।

देवताओंके विषयमें वेदके क्या-क्या भाव हैं-इस विषयमें 'दैवत-संहिता' भी बनानी चाहिये। इससे देवताओंके बिखरे हुए भिन्न-भिन्न ऋषियोंके मन्त्रोंको इकट्ठा करनेसे वेदका देवताओंके विषयमें क्या विचार है, यह समुचित रूपसे ज्ञात हो सकता है।

फलतः वेदार्थ-विधानमें साधन पुराण-इतिहास, वैदिक देवतावाद-रूप प्रकरण, स्मृतियाँ, दर्शन, पदपाठ, श्रौत, गृह्य, धर्मसूत्र आदिसे किये हुए वेदमन्त्रोंके विनियोग, निरुक्त, निघण्टु, ब्राह्मणभाग, स्वयं मन्त्रभाग, प्राचीन लोक-व्यवहार, व्याकरण आदि सभी साधन उपादेय हैं। केवल निघण्टु वा केवल ब्राह्मण-भागके आश्रयसे वेदका अर्थ नहीं जाना जा सकता-यह बात

इस निबन्धके पढ़नेसे स्वाध्यायशील पाठकोंको मालूम हो गई होगी।

वेदोंका अर्थ मुख्यतया देवतावादके अनुसार किया जाना चाहिये, तभी उसमें यौगिक, योगरूढ, रूढि आदिकी व्यवस्था जो सभी प्रकारकी भाषाओंका प्राण है-रह सकती है, अन्यथा वेदमें देवतावादका रखना व्यर्थ हो जावेगा। देवतावाद अर्थका प्राण है।

(११) वेद-मन्त्रके स्वर* भी अर्थमें सहायता देते हैं—(क) उसमें 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' यह उदाहरण तो बहुत ही प्रसिद्ध है। यदि इसमें अन्तोदात्त-'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' हो तो 'इन्द्रका मारनेवाला' यह तत्पुरुषका अर्थ होगा। यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वर-(आद्युदात्त) 'इन्द्र-शत्रुर्वर्धस्व' हो तो बहुव्रीहिका अर्थ होगा कि-'इन्द्र है-मारने वाला जिसका'। (ख) 'गतासुमेतमुप शेष एहि' (ऋ. १०। १८।८) यहां 'उप शेषे' में 'तिङतिङः' (पा. ८।१।२८)से निघात (सर्वानुदात्त) हुआ है; अतः यहां 'शेषे' तिङ् (क्रिया) है, इसका अर्थ 'लेटती है' यह सिद्ध हुआ; पर स्वा.द.जीने यहां 'शेषे' का 'सुप्'का अर्थ 'बाकीमें' कर दिया। पतिके जलानेकेलिए आये हुए पुरुषोंमें किसी एकको पति बनानेकेलिए विधवाको स्वामीने आदेश दे दिया। पर निघात इस अर्थको काट रहा है। (ग) शत्रुवाचक 'भ्रातृव्य' पद 'व्यन्' प्रत्ययके' नित् होनेसे आद्युदात्त है, और 'भतीजा' वाचक 'भ्रातृव्य'

*टाईपमें स्वर न होनेसे उन्हें छोड़ दिया गया है।

'ल्यत्' प्रत्ययके तित् होनेसे स्वरित। यह स्वरभेदसे अर्थ-भेद पता लग जाता है। (घ) आद्युदात्त 'क्षय' शब्द 'निवास' (पा. ६।१।२०१) वाचक होता है, और 'नाश' वाचक अन्तोदात्त। (ङ) 'जठरः, जठरः' इनमें स्वर-भेद होनेसे पहला ('ठ'के ऊपर स्वरित वाला) अग्निवाचक है, दूसरा (रःके ऊपर स्वरित वाला) पेट वाचक। 'ज्येष्ठ' यह ('ठ'के ऊपर स्वरित) 'प्रशस्य' वाचक है—'ज्येष्ठः' यह (ज्ये'में अनुदात्त) बड़ेका वाचक। 'यमः' ('म' पर स्वरित) यह यमराज-वाचक है, और 'यमः' यह 'येन गच्छति' इस अर्थको बताता है। इस विषयमें विशेष-ज्ञानार्थ श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसकका 'वैदिक-स्वरमीमांसा' पुस्तक पढ़ना चाहिये।

---

(७) क्या श्रीगीता वेद एवं देवपूजाकी खण्डक है ?

वेदके विषयमें बताया जा चुका। 'भगवद्-गीता' संसार-प्रसिद्ध सनातन हिन्दु-धर्मका मुख्य ग्रन्थ माना जाता है, परन्तु प्रतिपक्षी कहते हैं कि—"उसमें सनातनधर्म-सम्मत वेदका तथा वैदिक-देवताओंकी पूजाका खण्डन है; तब या तो सनातन-धर्मियोंको तदनुसार वेद एवं देवपूजा छोड़ देनी चाहिये—या 'गीता'को ही जलमें प्रवाहित कर देना चाहिये'। इसमें प्रमाण-स्वरूप वे गीताके निम्न पद्य उद्धृत करते हैं।—

(क) "यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवाद-रताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः॥ कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म-

कर्मफलप्रदाम्। क्रिया-विशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति। भोगै-श्वर्य-प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते' (२।४२-४४) यहां पर गीताने वेद-वादमें लगे हुए लोगोंको 'अविपश्चित्' कह कर वेदोंकी निन्दा की है। (ख) 'त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' (२।४५) यहां पर गीता वेदोंका विषय तीन गुण बताकर अर्जुनको उन गुणोंको छोड़ देनेकेलिए प्रोत्साहित करके वेदोंको निन्दित करती है। (ग) 'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि' (२।५३) यहां वेदोंमें संलग्न-बुद्धि अस्थिर तथा योगमें अशक्त बताकर गीताने वेदोंको निन्दित किया है। [घ] 'वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्य-फलं प्रदिष्टम्। अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्' [८।२८] यहां वेदोक्त पुण्य-फलको घटिया बताकर वेदोंकी निन्दा की गई है। [ङ] 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः। एवं-रूपः शक्य अहं नृ-लोके' [११।४८] यहां वेदाध्ययन तथा वेदके विषय यज्ञसे परमात्माकी अप्राप्ति कहकर वेदोंकी निन्दा की गई है।

[च] 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम्' [९।२३] यहांपर गीताने वेद-सम्मत देव-पूजाको अवैध बताकर वेदोंका खण्डन किया है। [छ] 'अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्प-मेधसाम्' [७।२३] यहां देवपूजाके फलको अन्तवान् तथा देवपूजकोंको अल्पबुद्धि

कहा गया है। तब सनातनधर्मियोंको या तो वेद तथा देवपूजाको छोड़ देना चाहिये, अथवा गीताको अपना धर्म-ग्रन्थ मानना छोड़ देना चाहिये।"

इस विषय पर यदि सर्वाङ्गीण विचार किया जाय, तो लेखका आकार बहुत बढ़ जायगा। जो उसे देखना चाहें; वे 'आलोक' ग्रन्थमालाके पञ्चम-सुमनको (मूल्य १०) मंगावें। यहां स्थाली-पुलाक न्यायसे कुछ इस पर दिग्दर्शन कराया जाता है।—

यदि गीता वेदविरोधिनी होती; तो गीतोपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण अपने-आपको वेदात्मक न कहते। जैसेकि—'वेद्यं पवित्र-मोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च' (९।१७) यहां पर भगवान्ने अपने-आपको वेदत्रयात्मक कह कर वेदोंकी प्रशंसा की है। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्' (१५।१५) यहां भी भगवान्ने अपनी वेद-वेद्यता तथा वेदज्ञता बताकर वेदोंको प्रशंसित किया है। यही 'वेदानां साम-वेदोस्मि' [१०।२२] सामवेदके प्रशंसक इस पद्यमें भी समझना चाहिये। इस प्रकार अन्य भी भगवद्-गीताके बहुत पद्य उद्धृत किये जा सकते हैं।

गीतामें जो आपाततः वेदनिन्दा प्रतीत होती है, उसका कारण यह है कि—वेदका प्रधान-विषय है यज्ञ। इस विषयमें 'आलोक'का छठा पुष्प देखिये। 'यज्ञो हि देवानामन्नम्' (शतपथ-११।१।८।२) यहां पर यज्ञको देवताओंका अन्न कहा है। यज्ञ विविध कामनाओंको पूर्ण करने वाले होते हैं, और स्वर्ग भी

देते हैं। यज्ञ होता है देवताओंकी पूजा, 'यज देवपूजासङ्गति-करणदानेषु'। तब वेदसे देवपूजा सिद्ध होती है। देवपूजा है कर्मकाण्ड। कर्मकाण्ड प्रथम सोपान है। उसका फल स्वर्ग होता है, मुक्ति नहीं। स्वर्गमें जानेसे फिर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।...गतागतं कामकामा लभन्ते' [९।२१] इस प्रकार गमनागमनवश जन्म-मरणका बन्धन बना रहता है, मुक्ति नहीं होती। गीता है मुक्तिकी पक्ष-पातिनी, उसका दृष्टिकोण भी अन्तिम-कोटिका है, आदिम-कोटिका नहीं। तब अन्तिम कोटिमें आदिम-कोटिके कर्मकाण्डात्मक वेदको मुक्ति न दे सकनेके कारण छोड़ देना पड़ता है! इसका प्रमाण है—संन्यासाश्रममें वैदिक देवमूर्ति-पूजनका त्याग, वैदिक-यज्ञोंका त्याग तथा इनके मूलभूत यज्ञोपवीत—यज्ञसूत्र—उपनयन एवं शिखाका त्याग कर देना। सो गीताके उक्त पद्योंमें स्वर्गदायक कर्मकाण्डात्मक—वेदका त्याग कहा गया है, समूचे वेदका नहीं।

यद्यपि 'वेद' शब्द समुदायवाचक होता है, कर्मकाण्ड-उपासना-काण्ड, ज्ञान-काण्डके समुदायका नाम वेद है, केवल कर्मकाण्डका नाम वेद नहीं; तथापि 'समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। घृतं भुक्तम्, तैलं भुक्तम्' (समुदायवाचक-शब्द उसके अवयवका वाचक भी हो जाता है। 'घी खाया'में 'घी' शब्द यद्यपि सारे संसारके घीका वाचक होनेसे 'समुदाय-शब्द' है, तथापि यहाँ समुदायवाचकतामें अनुपपत्ति पड़नेसे वह 'अवयव-वाचक' ही माना जाता है) परपशाह्निकमें कहे हुए

महाभाष्यके इस वचनसे समुदायवाचक 'वेद' शब्द अवयव-वाचक, केवल कर्मकाण्डात्मक-वेद वाचक भी हो जाता है। सो गीताको वही वैदिक-कर्मकाण्ड हेयत्वेन इष्ट है, क्योंकि-कर्म बन्धनकारक होनेसे, केवल स्वर्गप्रद होनेसे गतागतकारक होते हैं, मुक्ति नहीं दिला सकते। परन्तु गीता 'गतागतं कामकामा लभन्ते' (९।२१) गतागतकी शत्रु है, और मुक्तिकी पक्षपातिनी है; अतः वह सारे वेदको हेय न कहकर संन्यासमें केवल कर्म-काण्डात्मक-वेदका निषेध करती है, शेष ज्ञानकाण्डात्मक-वेद गीताको हेय इष्ट नहीं।

यह एकदेशी उत्तर है। वस्तुतः यहाँ अन्य रहस्य है। वह यह कि-गीतामें यदि कर्मकाण्डका भी-चाहे वह वैदिक हो-खण्डन हो; तो फिर गीताको वैदिक-ज्ञानकाण्ड इष्ट हो जायगा। फिर गीता कर्मयोगशास्त्र-कर्मप्रवर्तक न कही जाकर ज्ञानयोगशास्त्र, वा कर्मसंन्यासशास्त्र कही जा सकेगी; जैसाकि-पुराने कई लोग मानते थे; पर यह बात गीतासे ही अनुपपन्न है, अर्जुन इसमें प्रत्यक्ष उदाहरण है। अतः यह पक्ष ठीक नहीं। इसमें गीताके प्रत्यक्षका अपलाप हो जाएगा। तब इस विषयको कैसे सुलझाया जाय, यह एक विचारणीय समस्या बन जाती है।

हमारा यह विचार है कि-गीता वैदिक-कर्मकाण्डकी शत्रु नहीं, हाँ, वह बन्धनकी शत्रु है, कर्मके फलकी, कामनाकी, वासनाकी शत्रु है, और मुक्तिकी पक्षपातिनी है। तब इस पक्षमें भी वही अनुपपत्ति जाग उठेगी कि—'कर्मणा बध्यते जन्तुः'

(महाभारत शान्ति. २४०।७)। तब तो गीताको वैदिक-कर्मका[ण्ड] यज्ञादि, स्वर्गकारक एवं गतागतकारक होनेसे अनिष्ट हुआ। फि[र] वही पूर्वप्रोक्त एकदेशी-उत्तर ही उत्तरपक्ष सिद्ध होगा। तब [य]ह क्या बना कि-गीता वेदका खण्डन भी नहीं करती; और वैदि[क] कर्मकाण्डका खण्डन भी करती है? यह तो परस्पर-विरो[ध] आ खड़ा हुआ। कैसे सङ्गति लगाई जाय? 'इतो व्याघ्रस्ततो गर्तः' इधरसे बाघ है, उधरसे गढ़ा है।

इसी विषय पर आज हमें विचार करना है। वह विषय यह है, और वह सुगम विचार है, उसमें प्रत्यक्षका अपलाप भी नहीं, कोई असङ्गति भी नहीं, वह यह कि-कर्मयोगशास्त्र गीता कर्मकी, वैदिक कर्मकी विरोधिनी नहीं। वह तो केवल कर्मफलकी विरोधिनी है। वह बिच्छूको नहीं मरवाती, साँपको नहीं मरवाती। वह जानती है कि-बिच्छू भी, और साँप भी परमात्माकी सृष्टिके प्राणी हैं। यह मनुष्योंके भंगी हैं। वे वायुमण्डलमें स्थित विषका आकर्षण करके वायुमण्डलको शुद्ध करते हैं। एक बार हमारी जन्मभूमि (शुजाबाद-मुलतान) में अपनी मौसममें काले ततैये नहीं दीख पड़े। उसके फलस्वरूप उस बार बड़े जोरका मलेरिया फैला था। एक बार चायकी एक खेतीमें रहनेवाले साँप एकदम ही मर गये। उसके फल-स्वरूप उस चायने पीनेवालोंको विषैला-प्रभाव देकर बड़ी हानि पहुँचाई थी। इससे प्रतीत हुआ कि-साँप चायका अधिकांश विष खींच लेते हैं। अतः गीताके मतमें साँप-बिच्छू आदि

मरवाना इष्ट नहीं; वह तो पुरुषोंके कष्ट देनेवाले बिच्छू-ततैये के कांटेको, तथा साँपके दाँतोंको तुड़वाकर, बिच्छूका बिच्छूपन और सर्पका सर्पत्व दूर करना चाहती है। फिर वे ही साँप-बिच्छू आपके घरमें भले ही खेला करें; उनसे आपको कोई भय नहीं।

इसी प्रकार गीता कर्मरूप-बिच्छूको न मरवाकर उसके दंशकण्टकरूप कर्मफलकी कामनाको दूर करवाना चाहती है, जिससे कष्टकारक जन्म-मरणरूप बन्धन एवं गतागत न होवें। 'गतागतं कामकामा लभन्ते' (९।२१) में गीता कामनासे गतागत कह रही है, कर्मसे नहीं। सो गीतामें जोकि 'वेदवादरता:' (२।४२) से वेदकी निन्दा झलक रही है; वहाँ वेदकी हेयता (छोड़ देना) इष्ट नहीं। यहाँ 'वेद-वाद' से वेदके अर्थवाद-फल-श्रुति हेयत्वेन (छोड़ने) इष्ट है, जिन्हें 'कामात्मान:' शब्दसे सङ्केतित किया गया है। क्योंकि-दृष्टिमें फलमात्रकी कामना रहनेसे कर्ममें विगुणता वा न्यूनता हो जाती है।

जैसे कोई किसीके कल्याणार्थ गायत्री-जपन कर रहा है। यदि वह भी सोचता जावे कि-इसकी समाप्तिके बाद मुझे चमकदार रुपये मिलेंगे, मैं उससे यह लूँगा, वह लूँगा इत्यादि। उस समय मञ्जुमुद्राके ध्यानमें लगे होनेसे जपमें कुछ विगुणता-न्यूनता अवश्य आवेगी; उसका पूरा फल नहीं मिलेगा। अथवा कोई अपने लिए गुलाबजामन बना रहा है, पका रहा है। यदि वह उसके मानसिक स्वादमें लगा हुआ उक्त

क्रिया कर रहा है; तो सम्भव है-कि पाकक्रियामें विगुणता (कमी) आजानेसे वे जल जावें। सो उनका रस आना तो दूर रहा, वे अपक वा अतिपक हो जानेसे हमें सोचे जाते हुए रससे तो वञ्चित कर दें; बल्कि उसके उपयोगके फलस्वरूप हमें बन्धनमें डाल दें, हम बीमार होकर घरमें कैद हो जावें, खाट पर पड़े रहें। सो यह बन्धन फल-कामनासे कर्ममें विगुणता (कमी) आ जानेका ही परिणाम है।

इस प्रकार हम किसी छात्रका प्रस्ताव (निबन्ध) सुन रहे हैं। यदि हम उसके शब्दपर दृष्टि डालते हैं; उसकी अशुद्धियाँ निकालनेमें लीन हो जाते हैं; तो हम तद्गत अर्थ तथा भावका परीक्षण नहीं कर पाते। अथवा उस निबन्धकी विषय-पुष्टिकी ओर ध्यान देते हैं; तो उसके शब्दोंकी अशुद्धियाँ हमसे छूट जाती हैं। उसका परिणाम यह होता है कि-हम उस छात्रको नम्बर ठीक-ठीक नहीं दे पाते। इससे हम बन्धनमें आजाते हैं। विद्वान् हमें उपहासका पात्र बना देते हैं; जिससे हम स्व-पदच्युत भी हो सकते हैं। इस प्रकार यदि हम भी कर्म करते हुए उसकी फलाकाङ्क्षामें डूब जाते हैं; तो कर्म विगुण हो जाता है; तब उसका पूर्ण-फल मुक्ति न होकर अपूर्ण-फल स्वर्ग आदि प्राप्त हो जाता है। तब उसमें गतागत वा परतन्त्रता होनेसे हम बन्धन-बद्ध रहते हैं। हमें मुक्ति नहीं मिलती, 'सावकाशविषया निर्वृत्ति' (निश्चिन्तता) प्राप्त नहीं होती। पर यदि उस कर्मके फलका विचार न रखा जावे, तब वह कर्म पूर्ण होकर, विगुण न होकर,

उसमें फलाकाङ्क्षा तथा आसक्ति-ममता आदि न होनेसे 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (४।१८) अकर्म-कर्माभाव बन जाता है; तब उसमें गतागतरहित मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा. दयानन्दजी कर्मोंसे, सत्कर्मोंसे मुक्ति मान गये हैं; तब कर्मकी अनित्यतावश उन्हें अपनी मुक्ति-में गतागत अर्थात् मुक्तिसे वापिस लौटना मानना पड़ा, अर्थात् स्वामीने स्वर्गका बाह्य-दृष्टिसे खण्डन करके उसीका नाम 'मुक्ति' रख दिया। पर कोई भी शास्त्र वा वेद-वचन मुक्तिसे पुनरावृत्ति, वापिस लौटना, गतागत नहीं मानता। यह बात हम अन्य पुष्पमें लिखेंगे। तब गीताप्रोक्त प्रकार ही इस विषयमें सर्वोत्तम माना जावेगा। वह यह कि-कर्ममें कामना न होनेसे कर्म अकर्म-कर्माभाव बन जावेगा। अभाव नित्य हुआ करता है; तब उस कर्माभाव-अकर्मरूप कर्मसे मुक्ति भी नित्य हुआ करती है। उसमें पुनरावृत्ति-गतागत (मरना-पैदा होना) नहीं हुआ करता। इसीका नाम गीताको 'कर्मयोग' इष्ट है। यही कर्मयोग ज्ञान-स्वरूप हो जाता है। 'सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते' (४।३३)। 'तत् (ज्ञानं) स्वयं योग (कर्मयोग) संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' (४।३८) तब ज्ञानसे मुक्ति होती है, यह प्राचीन प्रवाद भी सिद्ध हो जाता है। कोई इस पक्षमें अनुपपत्ति भी नहीं पड़ती; परस्पर-विरोध भी नहीं पड़ता। 'साँप भी मरे, लाठी भी न टूटे' यह न्याय भी चरितार्थ हो जाता है। इसीसे गीता-को 'अनासक्तियोग' भी कहा जाता है। यही फलासक्ति ही

सीमित-फल, अपूर्ण-फल स्वर्ग दिलाकर गतागत कराती है। गीता इसी फलासक्तिको ही छुड़ाती है. कर्मको नहीं छुड़ाती। जो कर्म फलासक्तिवश बन्धनकारक होनेसे बिच्छू बना हुआ था, पूर्वके लोग तो उस कर्मरूप बिच्छूको ही मारकर नैष्कर्म्यको मुक्तिका साधन मानते थे, 'न रही बांस, न बजी बांसुरी', पर भगवान्ने उस बिच्छूको न मरवाकर पीड़ाकारक उसका दंशकण्टक कटवाया, इससे वह बिच्छू विषमुक्त हो गया। विषमूलक-पीड़ाकी प्राप्ति अब हमें उससे हट गई। साँपके दांत काट दीजिये, अब उसे अपने घर में घूमने दीजिये, अब उससे कोई भय नहीं। अब उस बिच्छूको भी भले ही हाथ से उठा लो, भले ही वह आपके ऊपर-नीचे आवे, आपके घर में घूमता रहे, कोई भय नहीं। अब सदाकेलिए उससे निर्भयता है। अब बिच्छू बिच्छू न रहा, सांप सांप न रहा। इसी प्रकार वह बिच्छू-रूप बन्धन (जन्म-मरण)की पीड़ा करनेवाला गर्भमें, फिर स्वर्गमें गतागतकी पीड़ाकारक कर्म उस फलासक्तिरूप कांटेको निकाल देनेसे विषनिर्मुक्त हो गया। अब वह कर्म कर्म न रहा, अकर्म हो गया, जिसे भगवान्ने संकेतित किया है—'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्...स बुद्धिमान् मनुष्येषु' (४।१८), अब वह कर्माऽभाव, अभावके नित्य होनेसे नित्य-मुक्तिकारक सिद्ध हो गया। यही गीताका चरम तात्पर्य है।

पाठक इसमें यदि हमारी कल्पना मानें; तो हम कहेंगे कि-यह हमारी कल्पना नहीं है, किन्तु गीताका अन्तिम तात्पर्य भी

यही है। गीता का ही एक उदाहरण देखनेसे वह 'आलोक'-पाठकोंके हृदयङ्गम हो जावेगा। वह यह है कि-हम पूर्व कह चुके हैं कि गीता स्वर्गमें 'क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोकं विशन्ति' (९।२१) गतागत होनेसे उसका विरोध करती है। तब प्रश्न है कि-गीतोपदेष्टा भगवान्‌ने अर्जुनसे युद्ध क्यों करवाया ? युद्धका तो फल क्षत्रियकेलिए स्वर्ग प्रसिद्ध है। स्वयं भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कहा भी है-'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं' (२।३७) वेदमें भी कहा है-'ये युध्यन्ते प्रधनेषु (युद्धेषु) शूरासो ये वा तनूत्यजः' (ऋ.सं. १०।१५४।३)। इस प्रकार अन्यत्र भी बहुत कहा है ? तब स्वर्गके विरोधी भगवान्‌ने अर्जुनसे स्वर्गदायक युद्ध क्यों करवाया ? क्या यह भगवान्‌का परस्पर-विरोध नहीं है ? हिंसा भी युद्धमें हुई, मुक्ति भी न मिली। यहां तो 'भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः' (लहसुन भी खाया, व्याधि भी न गई) यह न्याय चरितार्थ हुआ। बस, इसी प्रश्नका उत्तर ही हमारे पक्षको सुस्पष्ट कर देगा।

इसे पाठक इस प्रकार समझें। कामोपभोग-फलासक्ति छुड़वाने वाले भगवान्-श्रीकृष्ण कर्मकी भांति अर्जुनको उस युद्धरूप कर्मसे नहीं हटवाना चाहते थे, किन्तु 'युद्धके फलका अपनेसे सम्बन्ध न रखकर तू युद्ध कर' उससे पूर्ववत् फलकामना ही हटवाया चाहते थे। भगवान्‌का अभिप्राय यह था कि-क्षत्रियकेलिए फलकी कामनासे रहित केवल युद्धरूप कर्मके करनेसे न तो तुम्हें गुरुओंकी हिंसाका फल मिलेगा, न पारलौकिक

गतागतकारक स्वर्गफल मिलेगा। इसी प्रकार युद्धकी भांति वैदिक देव-यज्ञों, देवमूर्ति-पूजारूप यज्ञोंका फल भी परलोकमें स्वर्ग है (गीता ९।२०), और इस लोकमें इष्ट-भोगोंकी प्राप्ति भी फल है (गीता ३।१८); तथापि भगवान्‌को उस देवपूजाको हटवाना इष्ट नहीं, किन्तु युद्ध करनेकी भांति वैदिक-देवपूजात्मक यज्ञोंका करवाना ही भगवानको इष्ट है। उसमें भी पूर्वकी भांति रहस्य यह है कि-फलकी आकांक्षाको मनमें न रखो; अथवा उस देव-मूर्तिपूजाका जो फल है, उसे भी मुझ (भगवान)में सौंप दो। उस फलसे अपना सम्बन्ध विच्छिन्न करके देवपूजन करो-इस प्रकार करनेसे सीमित इष्ट-फल स्वर्गादि, वा अनिष्ट-फल नरक वा बन्धन न मिलेगा, किन्तु असीमित, पुनरावृत्ति-परिहारक मुक्तिरूप महाफल मिलेगा। ऐसा हो जाने पर युद्ध, युद्ध नहीं रह जाता; हिंसा, हिंसा नहीं रह जाती, कर्म, कर्म नहीं रह जाता। इसीलिए उसका फल स्वर्ग भी नहीं मिलता। अकर्म होजानेसे उसके द्वारा बन्धनसे मुक्ति ही प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार देवपूजासे भगवान्‌की निष्काम-पूजा उद्दिष्ट करके भी कोई गतागतका बन्धन तथा अवैधता तथा अल्पबुद्धिता नहीं होती। इस विषयमें स्पष्टता आगे होगी।

सो 'वेदवाद-रताः' (२।४२) से कर्मकाण्डात्मक-वेदके वादों-अर्थवादोंका त्याग यहां भगवान्‌को इष्ट है, कर्मकाण्डका त्याग इष्ट नहीं। 'शब्दार्थचिन्तामणि' कोष (भाग ४ पृ. ४३५)में भी 'वेदवादरतः'केलिए लिखा है-'वेदे ये सन्ति वादाः-अर्थवादाः-

'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिना सुकृतं भवतीत्येवमादयः, तेष्वेव रतः।' यहांपर 'समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते' इस न्यायसे गीतामें वेदका वह भाग इष्ट है, जहां कर्मोंकी विविध फल-कामनाएँ जिनका परिभाषिक नाम अर्थवाद है-जो कर्मकी प्रवृत्त्यर्थ रखे गये हैं; उन्हीं फलकामनाओंका निषेध इष्ट है, क्योंकि-इससे कर्म पूर्ण नहीं बन पाता, और अकर्म भी नहीं बन पाता। जैसा कि वेदमें कहा है-'स्वर्गकामो यजेत'। सो इसमें भगवान् यज्ञको कर्तव्य-बुद्धिसे कराया चाहते हैं, स्वर्गफलकी फलकामनासे नहीं। वेदका प्रधान-विषय यज्ञ है। भगवान् उसे नहीं हटवाना चाहते, किन्तु वे तो कहते हैं— 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (१८।५) यज्ञादिको मनका शोधक मानते हैं। 'यज्ञदान-तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' (१८।५) 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य' (४।३)। जब ऐसा है, तब भगवान्‌को वेद वा वेदोक्त कर्मकाण्डकी निन्दा कैसे इष्ट हो सकती है? सो गीतामें 'पुष्पितां वाचं'से वही फलकामनाओंवाले ही वेदवचन हेयत्वेन इष्ट हैं, न वेद, न वैदिक-कर्मकाण्ड, न वैदिक-देवपूजा, बल्कि-वे वेदवचन भी अनिष्ट नहीं; क्योंकि उनकी भी चरितार्थता साधारण-जनताकी कर्मप्रवृत्तिकी प्रेरणामें हो जाती है। तब वहाँकी कामनामात्र ही अनिष्ट है, जिससे आसक्ति न हो जाय।

(ख) इस प्रकार 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!' (२।४५) इत्यादिमें भी गुणत्रयके कार्यरूप ऐहिक-आमुष्मिक समस्त भोगों, तथा

उनके साधनभूत समस्त कर्मोंकी ममता, आसक्ति एवं कामना आदिका उच्छेद ही निस्त्रैगुण्यभाव है। स्वरूपसे समस्त-कर्मोंका त्याग भगवान्‌के मतमें निस्त्रैगुण्य नहीं। कर्ममात्र त्रिगुणमूलक हुआ करता है; तब गुणातीतता न होनेसे क्या भगवान्‌के मतमें कर्ममात्र त्याज्य है? नहीं, किन्तु कर्मकी मूलभूत, प्रवृत्तिकी साधनभूत, कर्मोंकी रागादिमूलक, फलश्रुतिमें आसक्ति वा ममता ही भगवान्‌को त्याज्य इष्ट है। यदि यह बात न हो, तो त्रिगुणके कार्य अपने शरीर (गीता १८।४०) का भी त्याग भगवान्‌को इष्ट हो जायगा। पर नहीं, किन्तु भगवान् तो शरीरयात्रा चलानेका ही उपदेश देते हैं (३।८)।

फलतः तीन गुणोंके कार्य कर्मफलका ही त्याग गीताको इष्ट है; सो 'त्रैगुण्यविषया वेदाः'से अर्थवादात्मक वेद, ब्राह्मणभागका एक अंश, त्याज्य इष्ट है, जैसा कि हम पूर्व बता चुके हैं। तब इसमें केवल कामनाका त्याग इष्ट हुआ, वेदका वा वैदिक-कर्मकाण्डका त्याग इष्ट नहीं। वह कर्म रागादिके कारण मनोयोगसे होनेपर कर्म रहता है, मनोयोगसे न करनेपर केवल कर्तव्यबुद्ध्या शरीर-द्वारा करनेसे वह कर्म कर्म नहीं रह पाता। श्रीयोगवसिष्ठमें कहा है-'मनः-कृतं कृतं राम! न शरीर-कृतं कृतम्। येनैवालिङ्गिता कान्ता तेनैवालिङ्गिता सुता'। अर्थात्-केवल शरीरसे किया हुआ कार्य, कर्म नहीं होता, मनसे किया हुआ ही कर्म कर्म होता है। पुरुष अपनी स्त्रीको भी आलिङ्गन करता है, अपनी लड़कीको भी। स्त्रीके आलिङ्गनमें रागयुक्त

मनका योग होता है, लड़कीके आलिङ्गनमें नहीं। अतः आलिङ्गन-क्रिया शरीर-द्वारा समान होने पर भी लड़कीके आलिङ्गनको आलिङ्गन न कहकर मिलन कहा जाता है।

शुकदेवजी जब पिताजीके कहनेसे जनक-राजासे ब्रह्मविद्या सीखने गये, और उन्हें राजकार्य करते देखा; तो सोचने लगे कि-यह मुझे क्या विद्या देंगे, स्वयं तो यह कर्मोंमें लगे हैं, यह कैसे विदेह हैं? जनकजीने ताड़ लिया; और कड़ककर सिपाही-को हुक्म दिया कि-दूध भरकर एक गिलास लाओ। जब वह लाया; तो शुकदेवको आर्डर दिया कि-इसे उठाकर ले चलो। सिपाहीको कहा-शुकदेवको मेरी गोशाला दिखाओ, पाठशाला दिखाओ, राजभवन दिखलाओ, और मिथिला-नगरी दिख-लाओ। नंगी तलवार हाथमें रखो। यदि शुकदेवसे दूधकी एक बूँद भी गिलाससे गिरे; तो इसका सिर तलवारसे उड़ा दो। यह चाहे धीरे चले, चाहे स्वाभाविक गतिसे, इसमें रोक-टोक न करना। शुकदेव क्या करता, राजाका आर्डर था। पूरा करना पड़ा। वापिस आने पर राजाने सिपाहीसे पूछा कि-क्या दूधकी कोई बूँद गिरी? उत्तर मिला कि-यदि ऐसा होता; तो इसका सिर ही इसके धड़ पर कैसे होता?। फिर राजाने शुकदेवसे पूछा कि-कहो-मेरा राजभवन, विद्यालय, गोशाला आदि देखे? शुकदेवने उत्तर दिया कि-देखकर भी नहीं देखे। मेरी आँखोंके साथ मन नहीं था, मन तो था दूधकी बूँद न गिरनेमें।

अब राजाने आर्डर दिया-शुकदेवको षट्रस-भोजन अमुक कमरेमें खिलाया जाय। आर्डर पूरा किया गया। शुकदेव जब खाने बैठे; तो ऊपरसे आहट आई, देखा कि-पतले धागेमें नंगी तेज-तलवारें बँधी हैं। वायुसे धागा हिलता है, उसमें बँधी हुई तलवारें भी हिलती हैं। यदि धागा टूट गया, और तलवारें गिरीं; तो सीधे मेरे गले पर गिरेंगी; और गला कट जावेगा। जैसे-तैसे करके शुकदेवने भोजन खाया। उसके बाद वे राजाके पास पहुँचाये गये। राजाने पूछा कि-शुकदेव! क्या तुमने भोजन खाया? तुम्हें षट्रस भोजनमें कौनसा रस अच्छा लगा? उसने कहा-मैंने खाकर भी नहीं खाया। मुझे यह भी मालूम नहीं कि-इस भोजनकी किस-किस वस्तुमें क्या-क्या रस था? मेरा मुँह तो भोजनमें संलग्न था; पर मेरा मन उसके साथ न होकर तलवारोंके गिरनेके विचारोंमें था। जनकने कहा-ठीक, अब तुम मेरे विषयमें की हुई आशंकाका उत्तर पा गये होगे। शरीरसे मैं यह राज्यकार्य कर रहा हूँ, पर मेरा मन इसमें रागयुक्त नहीं। मनसे किया कर्म, कर्म होता है, शरीरसे किया हुआ कर्म, कर्म नहीं होता, वह अकर्म बन जाता है। आशा है-पाठकोंने इस विषयकी स्पष्टता जान ली होगी।

(ग) 'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते' गीताके इस आक्षिप्त पद्यमें 'श्रुति' से 'वेद' इष्ट न होकर वेदकी वे ही फलश्रुतियाँ (कर्मोंके अर्थवाद) इष्ट हैं; जिनका हम पहले निरूपण कर चुके हैं; जिनसे राग उत्पन्न हो जानेसे मन उन कर्मोंमें आसक्तिसे लग पड़ता है।

वहाँ वेदको पुरुषोंको उन फल-श्रुतियोंमें वस्तुतः रागमें रक्त करना इष्ट नहीं; किन्तु 'रोचनार्था फलश्रुतिः' के अनुसार उन्हें साध्य-कर्ममें प्रवृत्त करनेका साधन बनाना ही इष्ट होता है। यह न समझकर उन फलश्रुतियोंमें ही आसक्त होकर अल्पश्रुत-लोग साधनको ही साध्य समझने लग पड़ते हैं। पर ज्ञानियोंकी वह प्रवृत्ति राग न रखनेसे निवृत्तिमें ही पर्यवसित हो जाती है। जैसे कि अष्टावक्रगीतामें लिखा है–'निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्ति-रुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्ति-फलभागिनी' (१८।६१)।

(घ-ङ) 'न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः' आदि पद्य भक्तिके अर्थवाद हैं, इससे वेदकी निन्दा अभिमत नहीं; क्योंकि–'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्' निन्दा निन्द्यमान-की निन्दाकेलिए न होकर अपने इष्टकी स्तुत्यर्थ हुआ करती है। यहाँ उपासनारूप-भक्तिका प्रशंसार्थवाद है। तब गीता वेदविरो-धिनी सिद्ध न हुई. केवल रागविरोधिनी ही सिद्ध हुई।

(च-छ) इससे 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्' (९।२३) 'अन्तवत्तु फलं तेषां तद् भवत्यल्पमेधसाम्' (७।२३) इत्यादि गीताके आक्षिप्त-पद्योंकी व्याख्या भी होगई। इनमें वैदिक-देवपूजाकी अवैधता, तथा उनके फलका अन्तवाला होना अथवा देवपूजकों-को अल्पबुद्धि बताना.इष्ट नहीं।

इनमें यह आशय है कि–देवता भगवानके अङ्गविशेष हैं (अथर्ववेद १०।७।२७) (गीता ११।१५, ११।६) और भगवान् अङ्गी

(आत्मा) हैं (१०।२०)। अङ्गीकी पूजा अङ्गोंके बिना कभी नहीं हो सकती। इसलिए तो सनातनधर्ममें देवपूजाका आदर है। श्रीगीताका यह अभिप्राय है कि–यदि अङ्ग-पूजा केवल अङ्गकी पूजाके उद्देश्यसे की जावे; उसके पूजनसे अङ्गकी ही प्रसन्नता उद्दिष्ट की जावे, अङ्गीकी नहीं; तब तो वह अवश्य अविधिपूर्वक है। उसका फल स्वर्ग भी 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (९।२१) गतागतकारक होनेसे नाशवान् है। सो उस नाशवान् फलको चाहना अवश्य अल्पबुद्धिता है। पर यदि अङ्गपूजा अङ्गीकी पूजाका साधन मानी जावे, लक्ष्य भी अङ्गीकी ही प्रसन्नता हो, और उसमें फलाकाङ्क्षा न की जावे; तब वह अङ्ग-पूजन भी साध्यका साधन समझनेसे अविधिपूर्वक-अज्ञान-पूर्वक नहीं होता। गतागतकारक भी नहीं होता। उसमें अल्प-बुद्धिता भी नहीं रहती। इसे यों समझें—

दो शिष्य गुरुजीकी लातें दबा रहे थे, एक बाईं लातको, दूसरा दाहिनीको। गुरुजीने करवट बदली। लातें भी बदल गईं। अपने-अपने स्थानपर बैठनेके दुराग्रही उन मूढ-शिष्योंने यह न सहकर एक-दूसरेकी गुरुजीकी लात पर लाठी मार दी, और वे एक-दूसरेसे लड़ भी पड़े। यह सेवा उन दोनोंकी अङ्ग-सेवाकी दृष्टिसे हो रही थी कि–यह दबाई हुई (थकावट दूर की गई) लात मुझ पर प्रसन्न हो जाएगी, तो मुझे विद्या आ जाएगी। यदि वे अज्ञानी न होते; अङ्गकी सेवासे अङ्गी गुरुजी-की सेवा समझते, अङ्गकी प्रसन्नतासे अङ्गीकी प्रसन्नता समझते,

अङ्ग-सेवाको अङ्गीकी सेवाका साधन समझते, तब उन-द्वारा ऐसा अवैध काण्ड न हो पाता। यही अज्ञान भिन्न-भिन्न देवकी पूजामें परस्पर झगड़ने वालोंका होता है। सो वह 'यजन्त्य-विधिपूर्वकम्' अवश्य है, पर यदि अङ्ग-पूजासे फलाकाङ्क्षा-विरहित अङ्गीकी पूजा उद्दिष्ट हो, तो वह विधिपूर्वक ही हो जावेगी।

गुरुजीके गलेमें पुष्पमाला डालनी है, इससे अङ्गकी सेवा-प्रसन्नता उद्दिष्ट नहीं होती, किन्तु अङ्गी-गुरुजीके आत्माकी प्रसन्नता ही उसमें अभिमत होती है; क्योंकि अङ्गीके निराकार होनेसे उसपर साकार पुष्पमाला चढ़ नहीं सकती; तब उसके लिए उसके साकार-अङ्गको माध्यम बनाना पड़ता है। इससे अङ्ग-द्वारा निराकार-अङ्गीकी हमारी पुष्पमाला-स्थित निराकार-श्रद्धासे पूजा हो जाया करती है। यही मूर्तिपूजाका भी तात्पर्य होता है। पर यदि पुष्पमालासे गुरुजीके आत्माकी पूजा न समझकर उनके केवल अङ्गका प्रसादन माना जावे, तो वह पूजा जड़ चमड़े एवं रुधिर आदिकी होनेसे अवश्य अवैध होगी।

भगवान्का भाव यह है कि-'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः' (७।२०) कई कामनाओंके लोभी अपनी प्रकृतिके अनुसार अन्य देवताओंकी पूजा करते हैं, मैं भी उनके भावा-नुसार उन देवताओंमें उनकी श्रद्धा बढ़ाता हूँ—'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्' (७।२१) और वह उस देवताकी आराधनामें

तत्पर होता है; पर उसे यह मालूम नहीं होता कि—उस देवपूजा-का फल भी मैं (भगवान्) ही दिया करता हूँ—'स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्' (७।२२)। मैं ही सभी देव-पूजाओंका लेनेवाला हूँ, मैं ही सभी फल दिया करता हूँ; पर वे यह नहीं जानते, अतः वे यथार्थतासे च्युत हो जाते हैं; तो यह पूजा उनकी अवैध हो जाती है-'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। नतु माम-भिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते' (९।२४)।

यदि वे देवपूजाको मुझ अङ्गीकी ही पूजाका साधन अङ्ग-पूजा समझें, उस अङ्गको ही अङ्गी न समझ लें, साधनको ही साध्य न समझ लें, और मुझे ही उस पूजाका फलदाता समझें; तब यह मेरी पूजा होनेसे विधिपूर्वक पूजा हो जाती है। उस समय वह मुझ भगवान्की अङ्ग-पूजा होनेसे 'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि' (७।२३) भगवान्की पूजा हो जानेसे 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम' (१५।६०, ८।१५-२१) अपुनरावृत्ति प्राप्त हो जानेसे उस देवपूजाका फल नाशवान् भी नहीं होता। वह पूजा उस समय अल्पबुद्धिता भी नहीं होती। यह भगवान्का आशय है। इसमें गीताका ही दृष्टान्त समझ लें—

भगवान्ने 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं' (२।३७) से युद्धमें मरनेका फल भी स्वर्ग कहा है; और अर्जुनको 'मामनुस्मर युध्य च' (८।७) बार-बार युद्ध करनेकेलिए उत्तेजित किया है। तो क्या भगवान्

अर्जुनसे युद्ध करवाकर उसे परलोकमें अन्तवान् स्वर्ग दिलाकर अर्जुनको अपने कहे अनुसार अल्पबुद्धि बना रहे हैं ? भोगोंके शत्रु भगवान् युद्धके विजयमें इहलोकमें 'जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' (२।३७) राज्य-भोग बताकर क्या अवैधताको प्रोत्साहित कर रहे हैं ? नहीं, नहीं। किन्तु फलासक्ति, मोह-ममता छोड़नेसे उस कर्मके अकर्म हो जानेसे—चाहे अपनेसे पाप हो जावे, चाहे पुण्य हो जावे, गतागतकारक स्वर्ग-नरक न होकर उससे अपुनरावृत्ति रूप मुक्ति हो जाती है। चाहे सुख-भोग प्राप्त हो, चाहे दुःख, दोनों में समता मानकर हर्ष-विषाद न करनेसे स्वतन्त्र-विचरणरूप मुक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार देवपूजाका भी फल युद्धकी भांति परलोकमें स्वर्ग 'देवान् देवयजो यान्ति' (७।२३) तथा इहलोकमें सुखभोगकी प्राप्ति है 'इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः' (३।१२); पर इनकी फल-कामना न करके अपनेसे सम्बन्ध न रखने से, सीमित-फल, अन्तवान् फल न मिलकर, अनन्त-फलरूप मुक्ति प्राप्त हो जाती है। देवपूजाको अङ्ग-पूजा न मानकर अङ्गि-पूजा वा उसका साधन माननेसे महाबुद्धिता होगी, अल्पबुद्धिता नहीं—यह भगवान्का आशय है।

देवपूजा करना भगवानको सर्वथा अनभिमत हो—ऐसा भी नहीं। यदि भगवान्को देवपूजा सर्वथा अनिष्ट होती; तो वे देवपूजा करनेकी प्रेरणा न करते। भगवान्ने तो स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—'यज्ञ-शिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः

भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्' (३।१३) 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' (३।११)। यज्ञ देवपूजाका नाम हुआ करता है—'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' (भ्वा. उ. अ.)।

यदि भगवान्को देवपूजा अनिष्ट होती; तो वे देवयज्ञकी प्रेरणा न करते। जैसे कि उन्होंने अपने श्रीमुखसे कहा है—'काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा' (४।१२) यहाँ भगवान्ने देवपूजनसे मनुष्य-लोकमें शीघ्र सिद्धिकी प्राप्ति बतलाई है। और देखिये—'यजन्ते सात्त्विका देवान्' (१७।४) यहाँ भगवान्ने देवपूजाको सात्त्विक बतलाया है। 'नित्यसत्त्वस्थः' (२।४५)में सदा सत्त्वगुणमें स्थित होना कहा है, और फिर 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' (१४।१८) से सात्त्विकोंकी उत्तम गति बताई है। 'देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञपूजनं·· शारीरं तप उच्यते' (१७।१४) में भगवान्ने देवपूजाको शारीरिक-तपस्या माना है। 'यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' (१८।५) यहाँ भगवान्ने यज्ञको आवश्यक-कर्म बताया है। 'यज्ञ' शब्द 'यज' धातुसे बनता है, और 'यज्'का अर्थ है—'देवपूजा, यज्ञमें देवताओंका सङ्गतिकरण, और देवतानिमित्तक दान।

फलतः अङ्गरूप वैदिक-देवताओंकी पूजा भी यदि अङ्गी-परमात्मासे अभेदबुद्धि करके तथा कर्मफल एवं स्वर्गादि-फलको अनुद्दिष्ट करके की जावे, तो वह गीतासम्मत तथा वैध एवं

मुक्तिप्रदात्री हो जाती है। उसमें अन्तवान् फल न होकर आनन्त्य प्राप्त होता है। फलका उद्देश होनेपर वही स्वर्गादि एवं मनोरथपूर्ति आदि सीमित फल देनेवाली है, पर अवैध नहीं। जब ऐसा है; तब गीता वेदकी निन्दक भी सिद्ध नहीं होती। केवल वेद-प्रोक्त तत्तत्कर्मोंके अर्थवादों (फलों) में आसक्ति न रखो-यही वह बताती है। जैसेकि-श्रीमद्भागवतमें कहा है-'फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम्। श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम्' (११।२१।२३) श्रीभगवान् कहते हैं-उद्धव-जी ! यह स्वर्गादिरूप फलका वर्णन करनेवाली श्रुति मनुष्योंके लिए उन-उन लोकोंको परम-पुरुषार्थ नहीं बतलाती, परन्तु बहिर्मुख-पुरुषोंकेलिए अन्तःकरण-शुद्धिके द्वारा परम-कल्याण-मय मोक्षकी विवक्षासे ही कर्मोंमें रुचि उत्पन्न करनेकेलिए वैसा वर्णन करती है। जैसे बच्चोंसे कटु-औषधमें रुचि उत्पन्न करनेके-लिए रोचक-वाक्य कहे जाते हैं-बेटा ! प्रेमसे गिलोयका काढ़ा पी लो; तो तुम्हारी चोटी बढ़ जायगी। यह तात्पर्य है'। अन्य श्लोक यह भी हैं-'परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम्। कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा' (११।३।४४) 'नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः (४६) (यह वेद परोक्ष-वादात्मक है; जिसमें शब्दार्थ कुछ और मालूम दे, और तात्पर्यार्थ कुछ और हो। यह कर्मों (कर्मफलोंकी) की निवृत्तिके-लिए कर्मका विधान करता है, जैसे बालकको मिठाई आदिका लालच देकर औषध पिलाते हैं ? वैसे ही यह अनभिज्ञोंको

स्वर्ग आदिका प्रलोभन देकर कर्ममें प्रवृत्त करता है, इसलिए फलकी अभिलाषा छोड़कर वा फलको विश्वात्मा भगवान्को समर्पित कर जो वेदोक्त-कर्मका अनुष्ठान करता है, उसे कर्मोंकी निवृत्तिसे प्राप्त होनेवाली ज्ञानरूप सिद्धि मिल जाती है। जो वेदोंमें स्वर्गादि-रूप फलका वर्णन है, उसका तात्पर्य फलमें प्रवृत्ति कराना नहीं, वह कर्मोंमें रुचि करानेकेलिए है) यही उक्त गीता-पद्योंका भी रहस्य है, तब गीताके माननेवाले सनातन-धर्मियोंको वा अन्य किसीको वेद तथा देवपूजा एवं वेद वा वैदिक-कर्म त्यक्तव्य नहीं-किन्तु उनके फलमें आसक्ति ही त्यक्तव्य है।

(८) वेदमन्त्र-हत्याका दिग्दर्शन।

'वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः। तां तु यः स्तेनयेद् वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः' (मनु. ४।२५६) इसका अर्थ स्वा.द.जीने 'सत्यार्थ-प्रकाश'में इस प्रकार किया है—'जिस वाणी में सब अर्थ अर्थात् व्यवहार निश्चित होते हैं, वह वाणी ही उनका मूल और वाणीसे सब व्यवहार सिद्ध होते हैं; उस वाणीको जो चोरता है, अर्थात् मिथ्या-भाषण करता है, वह सब चोरी आदि पापोंका करनेवाला है' (४र्थ समु. ६६ पृष्ठ) इसके स्वामीजीके तथा उनके अनुयायियोंके उदाहरण इस निबन्धमें दिखलाये जायेंगे।

(१) वेदमन्त्रोंके अर्थ करनेमें जितना छल अर्वाचीन वैदिक-

म्मन्य-सम्प्रदायोंने किया है, उतना आजतक किसीने नहीं किया। मन्त्रोंके पदोंमें इस प्रकार तोड़-मरोड़ की है, संस्कृत-साहित्यका रूप इस प्रकार विरूप वा विकृत किया है, एक ही पदका कहीं कुछ, कहीं अन्य कुछ, इस प्रकार वे व्याख्या करते हैं—यदि आज वेदके आविर्भावकर्ता ऋषि होते; तो चहुं-धार आंसू बहाते। हा! इतना छल! इतना कपट! किसलिए? केवल इसलिए कि—उनके कृत्रिम-सिद्धान्त वैदिक कहे जाएँ; और उनकी बड़ी दूकान चलती रहे। इस 'तोड़-फोड़'से अच्छा तो यही था कि—वे वेदको ही न मानते। पुराण-आदिकी भांति उनका भी वे बहिष्कार करते। परन्तु खेदका अवसर है कि—अपठित-जनताके समक्ष 'उल्टा चोर कोतवालको डांटे'के अनुसार सत्य-बुद्धिसे अर्थ करनेवाले सनातनधर्मियोंको ही कलङ्कित किया जाता है कि—उनके अर्थ ठीक नहीं होते, और हमारे ही अर्थ ठीक हैं।

हा भगवति! सुरभारति! तू शोच्य हो गई है। तेरे कोमल शरीर पर तोड़-मोड़ करनेवाले यह वैदिकम्मन्य ऐसे कठोर-कुठार चला रहे हैं कि—इसमें हमें तुमसे हार्दिक वेदना होती है। दुःखित होते हुए भी जनताके प्रायः संस्कृतमें शिक्षित न होनेसे वा पक्षपात-कलुषितोंके चंगुलमें फँसे होनेसे और पण्डित-मण्डलके खूब निश्चिन्तीसे सोये हुए होनेसे हम कुछ भी नहीं कर सकते।

आज वैदिकम्मन्य-समाजमें श्रीराजाराम-शास्त्री वा श्रीपाद-

दामोदर सातवलेकर, वा श्रीनरदेवशास्त्रीका उतना मान नहीं; क्योंकि यह तोड़-फोड़में उतने उत्कण्ठित नहीं होते। आज उनका अधिक मान है, जो पदोंके मन्त्रोंको यथाकथञ्चित् खींचकर वा विकृत करके उनसे अपने सिद्धान्त बलात् निकाला करते हैं।

सब लोग जानते हैं कि—पुराण-इतिहास वेदके ही भाष्य हैं अथवा उनका वेदोंके साथ बड़ा सम्बन्ध है। पुराण-इतिहासोंने ही जहां-तहां वेदोंकी प्रशंसा फैलाई है। यदि पुराण-इतिहास ग्रन्थ न होते, तो वेदों वा वेदोंकी महिमाको कौन जान सकता! इसमें थोड़ी भी अत्युक्ति नहीं। इन वैदिकम्मन्य-वादियोंको ही शपथ दिलाकर पूछिये कि—क्या आपके नेताने पुराण-इतिहाससे ही वेदकी स्तुति नहीं सुनी? पुराण-इतिहास द्वारा की हुई वेद-स्तुतिसे ही क्या उनकी वेदमें श्रद्धा नहीं हुई? वेद तो अपनी महिमाको आप नहीं बताते? बतावें भी, तो उन्हें कौन माने! अपने कन्धे पर कोई चतुर भी नहीं चढ़ सकता।

तब यह मानना पड़ेगा कि—पुराणोंने ही वेदोंकी अतिशयित स्तुति करके उनमें जनताकी रुचि उत्पन्न की। फिर वे ही पुराण वेदसे प्रतिकूल कैसे चलें? पर पुराणोंकी अप्रमाणता सिद्ध करनेमें लगे हुए प्रतिपक्षियोंने जनतामें उन्हें विविध दोष लगाकर उन्हें 'गप्प' बता दिया, जिससे जनतामें उनसे घृणा उत्पन्न हो जाए, और वे वेदके मनमाने अर्थ कर सकें। उन प्रतिपक्षियोंने इतनी कृपा अवश्य की कि—अपने नेताके संकेतको जानकर स्वार्थ-सिद्धिकेलिए जनतामें वेदोंकी बड़ी प्रशंसा कर

डाली। पर पुराणेतिहासके निन्दक उन लोगोंने जब वेदोंके पन्ने पलटे, तो यह देखकर उनके आश्चर्यकी सीमा न रही कि—वेदोंमें भी वे ही बातें, वे ही सिद्धान्त, वही देवयोनिकी प्रशंसा, और वे ही इतिहास उपनिबद्ध हैं, जो पुराणोंमें हैं। बेचारोंकी 'भई गति सांप-छछून्दर केरी' यही दशा हुई। क्या करें? यदि वे वेदोंको भी पुराणोंकी भांति लोक-दृष्टिमें घृणास्पद कर दें; तो धर्मश्रद्धालु अधिकांश पुरुषोंकी आंखोंमें धूल कैसे झोंकी जा सके?

तब धर्मश्रद्धालु-जनताका उनपर अविश्वास भी हो जाए कि—'पहले यह लोग पुराणोंकी निन्दा करते थे, और वेदोंकी प्रशंसा करते थे; अब तो यह वेदोंकी भी निन्दा करते हैं? क्या पहले इन्होंने वेदोंको बिना देखे उनकी प्रशंसा की थी? यह विद्वानोंके योग्य बात कैसे हो सकती है? तब 'कहीं जनता हममें अविश्वस्त न हो जाय' यह सोचकर बहुत सोच-विचारके बाद उन्होंने धूर्ततामूलक एक युक्ति निकाली कि—वेदमन्त्रके पदोंका यथाश्रुत अर्थ छोड़कर अपनी कपोल-कल्पनानुसार अपने इष्ट अर्थ निकाले जाएँ, जिससे अपने सिद्धान्त उनसे निकल पड़ें। अथवा अपने सिद्धान्त उनसे न भी निकलें; तथापि उन मन्त्रोंमें प्रतीत होते हुए सनातनधर्मके सिद्धान्त तो अवश्य छिप जाएँ। मन्त्रका आशय वास्तवमें जो भी हो, परन्तु उसके पदोंको लेकर वहाँ उन द्वारा अपने ही आशय वर्णित कर दिये जाते हैं, चाहे मन्त्रके पद उनके अपने आशयसे तटस्थ भी हों। और वहांपर अनुवाद ऐसे गोल-मोल तरीकेसे, ऐसी निकृष्ट भाषामें

किया जाता है; जिससे पढ़े वा बेपढ़े उनसे कमसे कम सनातनधर्मके सिद्धान्तको न निकाल सकें।

'अपठित साधारण जनता 'उच्चैरुद्घुष्य जेतव्यं मध्यस्थश्चेद्-पण्डितः' इस न्यायसे ऊँचे-स्वरसे व्याख्यान कहनेमें ही, ऊँचे-स्वरसे दूसरेकी निन्दाको सुनकर ही व्याख्यानदाताको सत्यवक्ता मान लिया करती है,' यह मानकर वे प्रतिपक्षी अपनी नीतिसे विरुद्ध चलनेवाले सनातनधर्मियोंको 'पोप, पाखण्डी, स्वार्थी, उदरम्भरि, भोजनभट्ट, पक्षपाती' इत्यादि विविध-उपाधियोंसे विभूषित कर देते हैं। तब वे वेदमन्त्रोंके पदोंको 'रबड़' की तरह खींच-खांच कर विविधरूपमें चित्रित किया करते हैं। वे उनका पदार्थ अन्य ढंगका, और भावार्थ अन्य ढंगका, संस्कृतमें कुछ और, हिन्दी-अनुवादमें कुछ और—इस प्रकार दुर्नीति करने शुरू होगये। लगे-हाथ श्रीयास्कमुनिके 'सर्वाणि आख्यातजानि नामानि' (निरुक्त १।१२।२) इस सिद्धान्तको भी उन लोगोंने अपने अनुकूल समझ लिया।

(२) वस्तुतः श्रीयास्कके सिद्धान्तका यह आशय था कि—सभी शब्द चाहे रूढ हों, वा योगरूढ, वे भी आख्यातज (क्रियासे उत्पन्न) ही होते हैं, आख्यात (क्रिया) से रहित नहीं होते—यह हम 'क्या वेदमें केवल यौगिकता है' इस निबन्धमें पहले स्पष्ट कर चुके हैं। यह न सोचकर, वा सोचकर भी उससे अपने सिद्धान्तके प्रसारमें प्रतिबन्ध सोचकर, इस कारण उसमें उपेक्षा करके और उसे छिपाकर यौगिकतामात्रका बहाना करके वेद-

मन्त्रके पदोंमें बहुतसी धातुएँ निकाल-निकालकर, अध्याहार किये जाते हुए पदोंमें स्वतन्त्रता करके वे अपनी इच्छाके अनुसार उसके आशयको प्रकट करते हुए पृथिवी-आकाशके कुलाबे मिलानेको तैयार हो जाते हैं।

परन्तु वे यह नहीं सोचते कि-उक्त सिद्धान्तके प्रचारक यास्क-मुनि ही अपने निरुक्तमें 'सर्वाणि आख्यातजानि नामानि' यह सिद्धान्त बताते हुए भी ऐतिहासिक अर्थ जहाँ-तहाँ क्यों बताया करते हैं? क्यों वे 'अश्व' आदि शब्दोंकी 'अश्नुतेऽध्वानम्' इस व्युत्पत्तिमें भी उन्हें गाय, गधा, मनुष्य, बिल्ली, भैंस, हिरन, रेलगाड़ी आदि का वाचक न मानकर घोड़े आदिका नाम ही क्यों कहते हैं? क्यों वे निघण्टुमें उन-उन पदोंकी एकार्थकताका नियमन करते हैं कि-यह अमुकके नाम हैं। इससे सिद्ध होता है कि-श्रीयास्क न केवल वेदमें बल्कि-सर्वत्र शब्दोंको प्रायः योगरूढ मानते हैं, केवल यौगिक नहीं।

मीमांसादर्शन (६।८।४१) में 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' इस श्रुतिमें 'किं यः कश्चित् पशुरालम्भनीय उत छाग इति विमर्श-प्रसंगे 'छागो वा मन्त्रवर्णात्' (६।८।३१) यहाँ मन्त्रके मतमें छागका आलम्भन ही सिद्धान्तित किया है। तब वादीने ६।८।३६ सूत्रमें 'छिन्नगमनोऽश्वः स छागः, छिदेर्गमेश्च छागशब्दः प्रसिद्धः' इस प्रकार यौगिकतासे 'छाग' शब्दकी व्युत्पत्ति करके उसे अश्वार्थक सिद्ध करनेका प्रयत्न किया। परन्तु सिद्धान्तीने 'छागे-न कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्याम्' (६।८।३८) सूत्रसे 'छाग' शब्दको

वेदमें बकरे-अर्थमें रूढ माना है। वहाँपर भाष्यमें कहा है-'समुदायो हि असौ पृथगर्थान्तरे प्रसिद्धो, नासौ अवयव-प्रसिद्ध्या बाधितव्यः, तस्मान्नाश्वः छागः'। 'नच अवयव-प्रसिद्ध्या समुदाय-प्रसिद्धिर्बाध्यते' (मीमां. ६।८।४१) इस प्रकार मीमांसाके मतमें वेदमें रूढिशब्द भी सिद्ध हुए।

(३) केवल यौगिकतामें तो हजारों व्याख्याता हजारों प्रकारके अर्थ करेंगे। यही कारण है कि-इस पक्षका अवलम्बन करनेवाले आर्य-समाजियोंके भी मन्त्रार्थ परस्पर नहीं मिलते। उस मन्त्रका स्वा. दयानन्द अन्य अर्थ लिखते हैं; और उनके अनुयायी अन्य अर्थ लिखते हैं। जब वेद लोककेलिए दिये माने जाते हैं; और उनकेलिए एक विशेष भाषा दी गई है; तो भाषाका अर्थ उसी लोकके शब्दोंमें स्पष्ट रहा करता है, ऐसा न माना जावे; तो भाषा-शास्त्रपर आक्रमण हो जाता है, फिर अर्थकी कोई व्यवस्था नहीं रहती। जैसे एक 'वरुण' शब्दको लीजिये। इसका श्रीयशःपालसिद्धान्ता-लंकारने 'वैदिक-सिद्धान्तदर्पण' के ६८, १६७ पृष्ठमें 'ईश्वर' अर्थ किया है। स्वा.द.जीने 'संस्कारविधि' में 'वरुण' का अर्थ १५५ पृष्ठमें 'उत्कृष्ट व्यवहारमें विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुषके' यह अपनी आह्ला गाई है। उससे १७ पंक्ति पहले 'वरुण' का अर्थ 'उदान' किया है। 'सत्यार्थप्रकाश' ६ठे समुल्लास ८७ पृष्ठमें 'वरुण' का अर्थ 'बाँधनेवाला' किया है। अपने यजुर्वेदभाष्य (२२।६) में 'वरुणाय' का अर्थ 'श्रेष्ठकेलिए' यह किया है। संस्कारविधिके २०३ पृष्ठमें 'वरुणस्य' का 'उदानके समान सर्वशक्तिमान' किया

है। यह अर्थ अव्यवस्थाके स्पष्ट उदाहरण हैं कि-जलदेव जो आकाशमण्डलमें जलका व्यवस्थापक देवता है; उसके अर्थ करनेसे कहीं देवतावाद वा देवपूजा न सिद्ध हो जावे।

इस प्रकार यजुर्वेद (३।५८-५९-६० मन्त्रोंके भाष्य) में स्वा.द.ने 'रुद्र' का अर्थ 'ईश्वर' किया है। ३।६१ मन्त्रके भाष्यमें 'रुद्र' का अर्थ 'शूरवीर' किया है। १६।१ मन्त्रके भाष्यमें 'रुद्र' शब्दका 'राजा' अर्थ किया है। सत्यार्थप्र० के १म समुल्लासमें उसे परमेश्वरवाचक बताया है। यजुर्वेद (३३।२४) में 'इन्द्र' का अर्थ 'ईश्वर' किया है, ३३।२५ मन्त्रमें उसी इन्द्रका 'अन्नसे तृप्त होनेवाला विद्वान्' अर्थ माना है। ३३।२६-२७ मन्त्रमें उसी इन्द्रका 'नानाप्रकारके रूपवाला सभापति' अर्थ माना है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकामें 'इन्द्र' शब्दका अर्थ 'सूर्य' किया है। इसलिए कि कहीं पुराणवर्णित रुद्रदेवता तथा इन्द्रदेवता न सिद्ध हो जाएँ। इस प्रकार 'आर्याभिविनय'में 'शकुनि' का अर्थ 'ईश्वर' और ऋग्वेदभाष्यमें 'शक्तियुक्त-पुरुष' अर्थ किया है। इस प्रकार बहुत उदाहरण दिये जा सकते हैं।

आजकलके आर्यसमाजी जो कि वेदमें यौगिकतामात्रका बहाना करते हैं; उसमें गुप्त-कारण यह है कि-कहीं पुराणमें कहा हुआ अर्थ सिद्ध न हो जाए। जहाँ पुराण-सम्बन्धी कोई बात नहीं होती, वहाँ वे उन शब्दोंको रूढ, योगरूढ शब्दकी भांति व्याख्यात करते हैं। जैसे-'गोक्षीरं' (अथर्व. २।२६।४) 'सूर्यः' (अ. १०।१०।३४) 'पृथिवी' (अ. १२।१।१), 'पिप्पली'

(अ. ६।१०९।१), 'पृश्निपर्णी' (अ. २।२५।१) 'स्त्री' (ऋ. ५।६१।६) 'क्रिमिः' (अ. ५।२३।३) 'चक्रवाकः' (अ. १४।२।६४) 'गृध्रः, श्येनः' (अ. ११।१०(१२)२४), 'शरभः' (यजुः १३।५१) 'व्याघ्रः' श्वानः, सिंहः' (४।३६।६) 'उष्ट्रः' (यजुः १३।५०), 'गवयः' (यजुः १३।४९), 'आर्यः, दस्युः' (ऋ. १।५१।८) 'गौः, अजा, अश्वः, अविः' (यजुः ३।४३, ३१।८) 'वाङ्-मनः-चक्षुः-श्रोत्र' (यजुः १८।२) 'अस्थि' (यजुः १८।३) 'व्रीहिः, यवाः, माषाः, तिलाः, मुद्गाः, श्यामाकाः, नीवाराः, गोधूममसूराः' (यजुः १८।१२), 'अश्मा, मृत्तिका, गिरि-पर्वताः, सिकताः, वनस्पतिः, हिरण्यं, लोहं, सीसं, त्रपु' (यजुः १८।१३) इत्यादियोंके वे रूढ-योगरूढ अर्थ ले लेते हैं। पर यदि कहीं पौराणिक बात सिद्ध होती हैं; वहाँ वे यौगिक अर्थका व्याज करके शब्दोंका अर्दन-विमर्दन करके 'मक्खीको मल-मलकर भैंसा' बना दिया करते हैं।

कहीं तो अविद्यमान भी पदोंका अर्थ उस मन्त्रमें बलात् प्रविष्ट कर दिया करते हैं। वहाँ इन्हें न तो वेदाङ्ग-व्याकरणसे प्रयोजन है, न कोषसे। वहाँ तो इनका अपना ही कल्पना-कोष खुल जाता है। केवल हम ही इस बातको नहीं कहते; बल्कि-इसमें प्रसिद्ध आर्यसमाजियोंकी भी सम्मति है। यह 'आलोक'के पाठकगण देखें।

(४) लाहौरके आर्यसमाजके उपदेशक श्रीचमूपतिजीने श्रीप्रियरत्न आर्ष-नामक आर्यसमाजीके अर्थोंका इसलिए अनादर कर दिया था, क्योंकि-वे वेदादिके अतियौगिक-अर्थ करते

थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि-चमूपतिजी वेदोंका अतियौगिक अर्थ करनेमें दोष मानते थे। हमें इसपर बड़ा आश्चर्य हुआ कि-यौगिक अर्थ तो हुआ करते हैं, अब क्या अतियौगिक-अर्थोंका आविष्कार भी होगया !!! वस्तुतः जो अतियौगिक भी अर्थोंको करता है; वे भी अर्थ 'यौगिक' ही होते हैं, 'रूढ' नहीं हो जाते; तब चमूपतिजी प्रियरत्नजीके वेद-मन्त्रार्थोंको क्यों पसन्द नहीं करते ? और दोनों ही आर्यसमाजी हैं; अर्थात् दोनों दयानन्दजीके मतानुयायी हैं। इसका कारण केवल यही है कि-जो यौगिकतामात्रके सिद्धान्तको स्वीकृत करेगा; वह उस अर्थसे कहीं असङ्गति होती हुई देखकर वहाँ स्वार्थ-सिद्धिकेलिए अपनी कपोल-कल्पनारूप अतियौगिकताको भी करेगा। यही दशा चमूपति आदि आर्यसमाजियोंकी भी है। वे भी स्वार्थकी पूर्तिकेलिए वेदके अपने कपोल-कल्पित अतियौगिक अर्थ किया ही करते थे। इसी अतियौगिकताका अवलम्बन करके श्री-चमूपति आदि कई आर्यसमाजियोंने 'यमयमीसूक्त' को जो भाई-बहनका संवाद है, स्वा. दयानन्दजीकी नाक रखनेकेलिए 'आर्य' पत्रमें उसे पति-पत्नीसंवाद बना दिया था; जिसका प्रबल तथा युक्त खण्डन उन्हीं दिनों 'वैदिक-धर्म' पत्रमें श्रीपाददामोदर-सातवलेकरने तथा श्रीचन्द्रमणि पालीरत्न आदिने कर दिया था।

चमूपतिजी अतियौगिकताकेलिए प्रियरत्नजीको उलाहना देते थे; और प्रियरत्नजी चमूपतिजीको तदर्थ उलाहना देते थे।

समान-सम्प्रदायवाले इन दोनोंका इस विषयमें आपस-में क्यों विरोध हुआ ? उसमें अन्य कुछ कारण नहीं है, केवल यही कारण है कि-यौगिकतामात्र स्वीकृत करने पर हजार व्याख्याताओंके हजार-प्रकारके परस्पर-भिन्न अर्थ होंगे। तब उन अर्थ करनेवालोंकी आपसमें विरुद्धता होगी ही।

इसको यों समझिये—'अश्व' यह एक शब्द है, इसका रूढ वा योगरूढ अर्थ 'घोड़ा' है। यदि इसका केवल यौगिक-अर्थ 'अश्नुते योऽध्वानं सोऽश्वः' यही माना जावे; तब मन्त्रस्थित 'अश्व' पदका 'अध्वाऽशन' (मार्गमें व्याप्त होना) अर्थ होनेसे बैल भी 'अश्व' होगा, गधा भी 'अश्व', बकरी भी अश्व, रेलगाड़ी भी अश्व, वायुयान भी अश्व, गुरुकुलकाँगड़ीमें आचार्यत्वकेलिए मार्गमें व्याप्त होते हुए-चमूपतिजी भी अश्व, चमूपतिजीसे शास्त्रार्थकेलिए गुरुकुलमार्गमें जाते हुए प्रियरत्नजी भी अश्व, आर्यसमाज मन्दिरमें जाते हुए आर्यसमाजी भी अश्व हो जाएँगे। बल्कि तब यह 'अश्व' शब्द विशेष्य न रहकर विशेषण-शब्द बन जावेगा।

इस प्रकार 'गो' शब्दके विषयमें भी जानना चाहिये। 'गच्छतीति गौः' यह 'गो' शब्दका योग (व्युत्पत्ति) है. इस प्रकार तो अपने स्वामीसे विरुद्ध क्षतयोनि-विधवाके विवाह करानेकेलिए जाता हुआ आर्यसमाजी-उपदेशक भी 'गौ' हो जावेगा। निराकारकी असम्भावित उपासनाकेलिए आर्यसमाज-मन्दिरमें जाती हुई आर्यसमाजी जनता भी 'गौः' हो जावेगी। यहीं इस

अनर्थकी समाप्ति नहीं; बल्कि यौगिकतामात्रके आग्रहमें 'सूर्य'का अर्थ 'चलता हुआ मनुष्य वा पशु' और 'पशु' शब्दका अर्थ 'मनुष्य' हो जावेगा। यहीं इस अनर्थकी 'इतिश्रीः' नहीं होगी, बल्कि तब 'भ्राता'का अर्थ 'भर्ता' और 'भर्ता'का अर्थ 'भ्राता'। 'पिता'का अर्थ 'पति' तथा 'पति'का अर्थ 'पिता'। 'भगिनी'का अर्थ 'स्त्री' और 'स्त्री'का भगिनी वा माता। 'जाया'का अर्थ माता और 'माता'का अर्थ 'स्त्री' होगा। इस प्रकार बड़ी अव्यवस्था फैलेगी। तब एक ही उस सूक्तमें आये पदका अर्थ कभी कुछ, कभी कुछ किया जावेगा, और ऐसा ही वादी किया भी करते हैं। इस विषयमें 'क्या वेदमें केवल यौगिकता है' इस निबन्धमें हम प्रकाश डाल चुके हैं।

पहले हम सूचित कर चुके हैं कि—हम इस विषयमें एक आर्यसमाजी-विद्वान्के अपने शब्द उद्धृत करेंगे; वे अब उद्धृत करते हैं; पाठक सावधानतासे देखें। इसमें यह ध्यान दे देना चाहिये कि—आगे उद्धृत किया जानेवाला लेख श्रीप्रियरत्नजी आर्षका है; अब संन्यासी बन जानेसे उन्होंने अपना नाम स्वामी ब्रह्ममुनि रखा हुआ है। यह लेख श्रीचमूपति-नामक आर्यसमाजी विद्वान्के—जिनका कुछ समय हुआ देहान्त हो चुका है—के अर्थोंके दिखलानेमें आर्षजीने 'हिन्दी-मिलाप' पत्र (१३-१०-१६३५)में प्रकाशित किया था। इसका शीर्षक था—'यास्क-युगका युग'। श्रीयास्कके विषयमें एक पुस्तक श्रीप्रियरत्न-आर्षजीने लिखी थी, वह श्रीचमूपतिजीने देखी थी। फिर

चमूपतिजीने एक 'यास्कयुग' पुस्तक प्रकाशित कराई। श्रीप्रियरत्नजीने लिखा था कि—यह 'यास्कयुग' हमारी लिखित पुस्तकको देखकर उसके आधारसे प्रकाशित की गई है, पर मेरा नाममात्र भी भूमिकामें नहीं लिखा गया; इस पर चमूपतिजीने उत्तर दिया कि—आपकी पुस्तक हमने देखी अवश्य थी, पर उसका आधार हमने नहीं लिया। आप शब्दोंके अतियौगिक अर्थ लिखते हैं; अतः हमें पसन्द न होनेसे वे हमने अपनी पुस्तकमें नहीं लिखे। इस पर श्रीप्रियरत्न - आर्षजीने उक्त दैनिक-पत्रमें यह शब्द लिखे—

'अपने अर्थोंकी अपेक्षा आप मेरे अर्थोंमें अतियौगिकता बताते हैं...मेरे अर्थोंमें आपको अतियौगिकता जरूर दिखलाई पड़ेगी; क्योंकि-आपका दृष्टिविन्दु बस एक ही है [यहां प्रियरत्नजीने चमूपतिजीपर व्यक्तिगत आक्षेप भी प्रकार-विशेषसे कर दिया है। सुना जाता है कि—श्रीचमूपतिजी एकाक्ष थे] आपको अध्यात्म ही अध्यात्म दीखता है, जिसमें न व्याकरणकी जरूरत है, न धातुपाठकी, और न निघण्टु-निरुक्त आदि प्रमाणोंकी। बस एक शस्त्र आपके पास है, वह है कवि-कल्पना। फिर क्या था, जो चाहे डींग मार दी। विना आधारके जमीन-आसमानका तखता पलट दिया, कौन पूछे'।

वस्तुतः यह शब्द हृदयस्पर्शी हैं; प्रायः सत्य हैं, और सत्य-बुद्धिसे लिखे गये हैं, यह चमूपतिजीके विषयमें लिखे गये हैं। इनके विषयमें आर्यसमाजके रिसर्चस्कालर श्रीभगवद्दत्तजीने भी 'वैदिक-वाङ्मयका इतिहास' (द्वितीय-भाग)की भूमिका (ख पृष्ठ)में

लिखा है–'वैदिक-विषयोंमें उन [श्रीचमूपतिजी एम. ए.]का ज्ञान इतना परिमित और संकीर्ण है कि–इस पुस्तकमें मैंने उनके लेखोंके सम्बन्धमें कुछ नहीं लिखा। आशा है–जब वे कुछ वर्ष और वैदिक-ग्रन्थोंका मनन करेंगे, तो मेरे सदृश ही विचार धारण करेंगे'।

केवल उक्त दुष्प्रकृति [शब्दोंकी तोड़-फोड़] आर्यसमाजी श्रीचमूपतिमें ही नहीं, बल्कि दो-तीनको छोड़कर प्रायः सभी आर्यसमाजी लेखकों वा उपदेशकोंमें हैं? यही शब्दोंकी तोड़-मरोड़ हुआ करती है। इस प्रकृतिसे उक्त लेखके लेखक श्रीप्रियरत्न भी छूटे हुए नहीं–यह श्रीचमूपतिजीके लेखसे स्पष्ट प्रतीत होता है, बल्कि उसी लेखमें स्वयं भी प्रियरत्न [ब्रह्म-मुनि] जीने लिखा है। उसका अभिप्राय यह है कि–'यदि वेदमें अतियौगिकता न की जाए; तो वेदमें विद्यमान पौराणिक-संवादोंको किसी भी प्रकार हटाया नहीं जा सकता'। उक्त लेख लिखकर श्रीप्रियरत्नजीने अपनी बातकी पुष्टिकेलिए श्रीचमूपतिसे बनाये हुए 'यास्कयुग' पुस्तकसे दो-तीन उद्धरण भी उसी लेखमें दिखलाये थे। वे शब्द यह हैं—

'यास्कयुग' पृ. ७८–७९ पर 'उप प्रवद मण्डूकि! वर्षमावद तादुरि। मध्ये ह्रदस्य लवस्व विगृह्य चतुरः पदः' आपने यहां 'मण्डूकि'का अर्थ 'बुद्धि' किया है। बताइये, किस शास्त्रमें 'मण्डूकी'का अर्थ 'बुद्धि' है।·· फिर प्रत्यक्षकी कल्पना कट नहीं सकती। जबकि–वर्षा-ऋतुमें मेंडकियां जलाशयमें चारों पैर फैलाकर सुन्दर नाद करती हुई दिखलाई पड़ती हैं, तब इसको मिथ्या कैसे कर सकते हैं? 'यास्कयुग' पृ. ७१ पर 'अगस्त्य'का अर्थ 'पापी' और पृ. ७२ पर 'गुरु' किया है। कहिये–मेरे अर्थोंमें अतियौगिता है. वा आपके अर्थोंमें?'

पाठकोंने आर्यसमाजी-विद्वान् श्रीचमूपतिजीकी लीला एक आर्यसमाजी-विद्वान्‌की लेखनी-द्वारा ही सुन ली। पर यह स्मरण रखनेकी बात है कि–यह लीला केवल श्रीचमूपतिजीकी नहीं है, किन्तु प्रायः सभी आर्यसमाजियोंकी है। वे यदि ऐसा न करें, तो उनकी साम्प्रदायिक-भित्ति शीघ्र ही ढह जाए। अब वह भित्ति जिस-किसी प्रकार इसीलिए स्थिर है कि–जनता संस्कृत नहीं जानती। और शासन-समिति इन बातोंसे उदासीन है, और सनातनधर्मी-पण्डितमण्डल गाढ-निद्रामें पड़ा सो रहा है; या जागनेपर अवच्छेदकावच्छिन्नमें लग जाता है; या आपसमें ही झगड़नेमें लगा रहता है। हमारा घर दूसरों द्वारा लूटा जा रहा है; और वे हमें हमारे घरसे निकालकर स्वयं स्वामी बन बैठेंगे, यह वह नहीं जानता; अथवा इस प्रकारकी पुस्तकोंको देखनेमें उदासीन है। यदि ऐसा है; तो दूसरा उनसे कौन पूछे? इस प्रकार वे प्रतिपक्षी आगामी-पीढ़ीको कुसंस्कारोंसे दूषित कर रहे हैं, और उसमें कुछ सफलता प्राप्त करते हुए भी देखे जा रहे हैं। उनमें भी जो पढ़े हुए लोग पहले हमें 'लकीरके फकीर' वा रूढिवादी–यह घृणासे नाक सिकोड़कर कहा करते थे; वे अब स्वयं अन्धपरम्परामें संलग्न, और पक्षपाती और

यथाकथञ्चित् छल-कपटसे भी अपने पक्षको सिद्ध करनेमें लग गये हैं। यदि वे ऐसे न करें; तो उनकी मतकी भित्ति फट गिर पड़े। जनताका जब उनपर अविश्वास होगया; तो उन समाजोंके कोशोंमें अपठित एवं उनके व्याख्यानमात्रसे प्रभावित जनताकी धनग्रन्थियाँ कैसे पड़ें ?

केवल श्रीप्रियरत्नजी ही ऐसे व्यक्तियोंका रहस्योद्घाटन नहीं करते; प्रत्युत इनके नेता श्रीपाददामोदर-सातवलेकर जिनकी सम्भवतः दयानन्द-शताब्दीके अवसरपर वैदिक-पण्डित रूपसे आर्यसमाजियों द्वारा प्रतिष्ठा की गई थी; इनकी निर्भत्सना करते हैं। उनकी 'महाभारतकी समालोचना' के द्वितीयभागमें यह शब्द हैं—

'पुराणों और इतिहासोंकी कथाओंका [वेदादिमें] मनन करनेके समय यौगिक-अर्थको वीचमें मरोड़कर लाकर भी कई लोग इनका इतिहासिक सत्य नष्ट-भ्रष्ट करनेका निन्दनीय यत्न करते हैं, उनके प्रयत्नका निकृष्टरूप भी इस लेखमें व्यक्त हो जायगा। हम यह कदापि नहीं कहते कि-इन देव आदि शब्दोंके यौगिक भावं नहीं हैं। हमारा भी पक्ष है कि-इन शब्दोंका यौगिक अर्थ भी है, परन्तु वह अर्थ आध्यात्मिक तत्त्व-ज्ञान विषयके विचार करनेके समय उपयोगी है। इतिहासिक खोजकेलिए वह अर्थ लेना योग्य भी नहीं। निरुक्तकार आध्यात्मिक अर्थकी सूचना यौगिक-अर्थके द्वारा बताते हुए, ऐतिहासिक तात्पर्य भी साथ-साथ बताते हैं, इसका कारण भी यही है' (पृ. ११७)

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि-वेदादिमें केवल यौगिक-अर्थोंको करनेवाले समाजोंका प्रयत्न निन्दनीय है। केवल श्रीसातवलेकरजीका ही नहीं; लाहौरके आर्यसमाजी नेता पं० राजाराम शास्त्रीजीका मत भी यही है। उन्होंने यौगिकतामात्रका हठ छोड़कर अथर्ववेदका भाष्य यथाश्रुत-अर्थोंमें किया है। उनके भाष्यकी प्रशंसा करते हुए श्रीचारुदेवजी शास्त्री M. A. M. O. L. ने उसमें यही युक्ति दी कि-इस भाष्यमें अन्य आर्यसमाजियोंकी भाँति 'तोड़-मरोड़' नहीं है। वस्तुतः यह प्रकृति उन आर्यसमाजियोंकी है; जो अपने सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वा.द.की आँखसे ही सभी-कुछ देखते हैं; और उनके सिद्धान्तोंको ही मान्य और अन्तिम कोटिका मानते हैं; और उसकेलिए मरने तक लड़ाइयाँ करनेमें लगे रहते हैं। पर उनमें ऐसे विद्वानोंका भी अभाव नहीं है; जो पहले वेदादि-शास्त्रोंको देखते हैं, फिर स्वा.द.जीके सिद्धान्तोंको तोलते हैं; पर तुलनाके अवसर पर वे अत्यन्त हैरान होते हैं कि-ऐं! वैदिक-सिद्धान्त और स्वामीके सिद्धान्तोंका आकाश-पातालकी भांति बड़ा अन्तर है? यह देखकर कई आर्यसमाजको छोड़ देते हैं। कई इसमें अपना लाघव मानकर उसे न छोड़कर अपनी स्पष्ट सम्मति बता दिया करते हैं; पर आर्यसमाज ऐसे विचारकोंका आदर नहीं करता; कोई कलङ्क लगाकर उनके वहिष्कारकी घोषणा कर देता है। कई उसमें अपने नेताके दोष न बताकर और स्पष्ट शब्द न कहकर केवल अपना अभिमत बता दिया करते हैं। इनमें

श्रीसातवलेकर तथा श्रीराजारामशास्त्री आदि मुख्य हैं।

इस 'तोड़-मरोड़' की दुष्प्रकृतिको आर्यसमाजी नेता श्रीनरदेवशास्त्रीजीने भी 'आर्यसमाजका इतिहास' (प्रथमभाग) में पर्याप्त निन्दित किया है। उसका उद्धरण 'आलोक' पाठक भी देखें।—

'मनुष्यको अधिकार है कि—वह अपना जो चाहे, मत रक्खे, पर उसको यह अधिकार कदापि नहीं कि—वह वक्ता या ग्रन्थकर्ताके आशयको मनमानी-रीतिसे तोड़-मोड़कर उस ग्रन्थकर्ताके आशय या अभिप्रायसे विरुद्ध जो चाहे निकाले। कतिपय [आर्य-समाजी] महानुभावोंको ऐसी बातोंकी बड़ी धत थी। कभी कहते कि—कृष्ण कोई हुआ ही नहीं। कभी रामायणका अभिप्राय ही और का और निकालते। कभी पुराणोंकी कथाओंको अलङ्कारके सांचेमें ढालकर सब पुराणोंको एकदम आर्यसमाजकी लायब्रेरी बनाते; पर अनुभवने उन्हें सचेत कर दिया है। ...इन आर्यसमाजिक टीका-टिप्पणीकारोंमें हम पं० राजाराम शास्त्रीजी श्री पं० भीमसेन शर्माजी आगरा-निवासीको विशेष—सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। ये न तो अपनी ओरसे मूल ग्रन्थोंमें कुछ मिलाते हैं, न कुछ अपने इच्छानुसार निकालते ही हैं। मूलग्रन्थका तदनुसार ही व्याख्यान कर जो कुछ स्वतन्त्र वक्तव्य हो, वह पृथक् देते हैं। 'प्रक्षिप्त, अनुक्षिप्त और विक्षिप्त' का प्रत्येक ग्रन्थमें अड़ंगा लगाने वाले हमारे आर्य भाई भी 'गीता' का नाम लेते ही चुप हो जाते हैं, और सिर झुकाते हैं'... (पृ. २३६-२३७)

तथापि इस दुष्प्रकृतिको आर्यसमाजी नहीं छोड़ते। यदि वे

छोड़ें, तो आर्यसमाजी-सिद्धान्तोंका वेदमें अत्यन्ताभाव हो जावे। तब उस सिद्धान्तके भक्त उनसे विरक्त वा विभक्त हो जावें।

(५) पहले हमने जिन प्रियरत्नजी आर्ष (स्वा. ब्रह्ममुनि)का उद्धरण दिखलाया है, वे चमूपतिजीकी इस विषयमें निन्दा करते हुए भी स्वयं भी इस दुष्प्रकृतिसे मुक्त नहीं हैं। चमूपतिजीने जो इनकेलिए अपने लेखमें लिखा था कि—आप वेदोंके अतियौगिक अर्थ करते हैं, मैं उन्हें नहीं मानता—यह बात भी झूठी नहीं थी। श्रीप्रियरत्नजी भी 'बिना आधारके जमीन-आसमानका तख्ता पलट दिया' इस अपनी उक्तिके स्वयं भी उदाहरण हैं। गुरुकुलके श्रीमङ्गलदेव 'तडित्कान्त' विद्यालंकारने १९३० सन्में 'यम और पितर' पुस्तक प्रकाशित की। उनने १५०० वेदमन्त्रोंको उद्धृत करके सिद्ध किया कि—यमराज तथा मृतक-पितृश्राद्धकी कल्पना वैदिक है। यह पुस्तक श्रीपाददामोदर सातवलेकरने प्रकाशित की; और उसे गुप्तरूपसे २०० आर्यसमाजी विद्वानोंके पास सम्मति-केलिए भेजा। गुप्तरूपसे भेजनेका कारण यह था कि—सनातनधर्मी इससे आर्यसमाजकी हानि न कर सकें। पर किसी भी आर्य-समाजी विद्वान्ने उनके विरुद्ध सम्मति नहीं भेजी। परन्तु पूर्वोक्त प्रियरत्नजी महाशयने 'यमपितृपरिचय' पुस्तक उसके खण्डनरूपमें प्रकाशित की। इससे आर्यसमाजियोंको प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिये थी; पर वैसा न हुआ। उस पुस्तककेलिए काङ्गडी-गुरुकुलके भूतपूर्व आचार्य श्रीदेवशर्माने विरुद्ध मति दी।

उन्होंने लिखा कि–'बहुत स्थानोंमें खण्डन जबर्दस्ती किया गया है। बहुतसे मन्त्रोंके अर्थ इसमें बलात् किये गये हैं। यह चीज मुझे साफ-साफ खटकती है। कई जगह खण्डन मेरी समझमें ठीक भी नहीं, वह...ठीक नहीं।...वास्तविक खैंचातानी है। यथा–'अग्निदग्धाः' वाला मन्त्र है।' यह उनके शब्द हैं। इसीलिए श्रीचमूपतिजीने भी उसमें सम्मति देनेमें उदासीनता प्रकट कर दी, क्योंकि–वे भी प्रियरत्नजीके अर्थोंमें अतियौगिकता अर्थात् जबर्दस्ती जानकर उनका आदर नहीं करते थे।

केवल श्रीचमूपतिजीने ही नहीं; किन्तु एक अन्य आर्यसमाजीने भी श्रीप्रियरत्न (अब स्वा. ब्रह्ममुनि) की शैलीकी आलोचना की थी। उसकेलिए लाहौरके 'हिन्दी-मिलाप' पत्रका २७-१०-३५ का दीपमालाङ्क देखना चाहिये। उसमें उस आर्य-समाजीने लिखा कि–श्रीप्रियरत्नजीने जो कि अपनी पुस्तकमें श्रीरामचन्द्रसे मारे गये हुए सुवर्णमृगको 'शेर' सिद्ध किया है–जिससे श्रीरामचन्द्रपर कलङ्क न आवे कि–वे दीन-मृगोंको मारा करते थे–इसमें उन्होंने जबर्दस्ती की है।

(६) पाठक इसका आशय जान गये होंगे। श्रीप्रियरत्नजीने सिद्ध किया था कि–'मारीच-मृग शेर था; क्योंकि–'मृग'का अर्थ 'शेर' भी होता है, जैसे कि–'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' यहां निरुक्तमें श्रीयास्कने 'मृग'का अर्थ 'सिंह' किया है। यह लिखकर श्रीप्रियरत्न (स्वा. ब्रह्ममुनि) जीने 'संस्कृत मोमकी नाक है, जिधर घुमाओ घूम जाती है' वर्तमान लोगोंकी इस बातको

सर्वात्मकतासे सिद्ध कर दिया। उस पर यह बात याद रख लेनी चाहिये कि–मृगका अर्थ 'पशु' भी होता है; और श्रीयास्कने 'भीमो मृगः'में भीम शब्दके साहचर्यसे ही 'भयानक पशु'से 'शेर' अर्थ कर दिया है; केवल 'मृग' शब्दसे कहीं भी 'शेर' अर्थ नहीं होता; या तो विशेष पशुओंमें 'मृग' 'हिरन'का नाम होता है, या फिर सामान्य-पशुओंका; विशेष-पशुओंमें, बिना-कोई विशेष शब्द साथ रखे 'शेर'का नाम नहीं हो जाता। पर श्रीप्रियरत्नजीने रामायणके 'मृग'को भी 'शेर' बना दिया। हम उनकी ईमानदारी पर अविश्वास भी नहीं करते, अपनी समझ में उन्होंने श्रीराम पर आते हुए कलङ्कका अर्थान्तर करके मार्जन कर दिया–एतदर्थ हम उन्हें धन्यवाद भी देते हैं; पर यह उनकी जबर्दस्ती अवश्य है; जिनकेलिए उनके सहवर्गी एक सत्यप्रिय-आर्यसमाजीको भी कलम चलानी पड़ी।

यह याद रखने की बात है कि–जहां रामायणमें उक्त 'मृग' का वर्णन आया है, वहाँ 'विचरन् गच्छते शष्पं शाद्वलानि समन्ततः' (अरण्यकाण्ड ४२।२१) 'विटपीनां किसलयान् भक्षयन् विचचार ह' (४२।२२) यह भी कहा गया है कि–वह हिरन घास-पत्ते खा रहा था। यह तथा अन्य पद्य भी मारीचकी मृगताके परिचायक प्रमाण हैं; क्योंकि–शेर शष्प-किसलय (घास-पत्ते) नहीं खाता; किन्तु हिरन ही। यह प्रसिद्ध पद्य है–'वनेपि सिंहा मृगमांसभक्षा बुभुक्षिता नैव तृणं चरन्ति'। परन्तु श्रीप्रियरत्नजीके 'तोड़-मरोड़' यन्त्रके सामने वेचारे शष्प-किसलय आदि क्या हैं? वे तो उन्हें

भी तोड़-मोड़कर उनका अतियौगिकतासे 'मांस' अर्थ कर डालेंगे ! यदि वे ऐसे यन्त्रका आविष्कार न करें; तो पुस्तकोंसे अपना 'मनचाहा अर्थ' कैसे कर सकें ? वेदमें विद्यमान सनातनधर्मकी छाप कैसे मिटा सकें ?

इस विषयमें उक्त आर्यसमाजी श्रीइन्द्र एम. ए. गुजरांवाला आर्यसमाजके प्रधानने २७-१०-३५ तिथिमें 'हिन्दी मिलाप' (लाहौर) में लिखा था—'पण्डित प्रियरत्नजी·· सहस्रों वर्षोंसे प्रचलित विचारोंका केवल नवीनता उत्पन्न करनेकी खातिर सर्वथा खण्डन कर देना अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य है। ···मृगेन्द्र-शब्द शेरका पशुओंके स्वामी होनेसे प्रसिद्ध है; न कि शेरोंके स्वामी होनेसे। 'मृगयूथानि गच्छति' (अरण्य ४२।२६) सिंह यूथोंमें नहीं रहता, अकेला ही रहता है। 'मृगाश्चरन्ति सहिताश्च-मराः सृमरास्तथा' (४३।११) वह मृग मेरे खेलनेका साधन बनेगा [४३।१०] (सीता कहती है) 'हमारे आश्रममें पहलेही कई चमर, सृमर आदि मृग हैं'। सिंहसे खेलना सम्भव नहीं। चमर-सृमर आदि नाम 'अमरकोष' के सिंहादि-वर्गके १०-११ श्लोकोंके अनुसार हिरनके हैं। उनमें हिरन ही रक्खा जा सकता है, न कि शेर। श्रीरामचन्द्रका सुवर्णमृगको मारना इसलिए क्षम्य हो सकता है कि–वह जानते थे–ये मृग नहीं, परन्तु राक्षस है [३।४३।३८]। लक्ष्मणने भी उन्हें कह दिया था कि–'तमेवैनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम्' (अरण्य. ४३।५) इस तरह मृग मारनेसे श्रीरामचन्द्रजीके विशुद्ध-चरित्रमें कलङ्ककी सम्भावना नहीं,

जिससे डरकर ऐतिहासिक-सत्यताका खून किया जावे'।

यहाँपर 'ऐतिहासिक-सत्यताका खून किया जावे' यह शब्द सचमुच मर्मस्पर्शी हैं। यह श्रीप्रियरत्न (स्वा. ब्रह्ममुनि) आदि ऐसा ही किया करते हैं। स्वार्थ-सिद्ध्यर्थ ऐतिहासिक सत्यताकी हत्या-के लिए यह सदा प्रयत्न किया करते हैं, जिससे सनातनधर्मका अभिभव हो जावे।

पाठकगण ! आपने अभिप्राय समझ लिया होगा कि–आर्य-समाजियोंकी इस मतके ग्रहणके साथ ही यह 'तोड़-मरोड़' की प्रकृति जाग जाती है, जिससे उनके अर्वाचीन-सिद्धान्तकी पुष्टि हो जावे। इस प्रकृतिका प्रयोग प्रायः वेदादिमें वहाँ करते हैं; जहाँ पौराणिक-अर्थ वा सनातनधर्म-सम्मत अर्थ हो। जैसेकि-स्वा.द. 'स्वर्गलोके' शब्दका 'स्वर्गे सुख-विशेषे लोके-द्रष्टव्ये भोक्तव्ये' ऐसा अर्थ करके स्वर्गलोकको उड़ानेका निन्द्य-यत्न किया करते हैं; परन्तु 'लोक' शब्द 'लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगा-यतनेषु भाष्यते-मनुष्यलोकः, पितृलोको, देवलोक इत्यादि' (वेदान्तदर्शन शाङ्करभाष्य ४।३।४) आदिके अनुसार यह भुवन-विशेषकी संज्ञा हुआ करती है, जहाँ प्राप्त होकर जीव कर्मका फल भोगा करते हैं, 'लोक' का 'द्रष्टव्य' अर्थ कभी भी नहीं हो सकता; क्योंकि–यहाँ कोई कृत्य-प्रत्यय नहीं है। यह एक उदाहरण इनकी नीयतका पाठक 'स्थाली-पुलाक' न्यायसे जान सकेंगे।

केवल वेदमें ही इन लोगोंका ऐसा प्रयत्न नहीं हुआ करता;

बल्कि मनुस्मृतिमें भी इनका ऐसा प्रयत्न देखा जाता है, देखिये उसके नियोगखण्डन-प्रकरणमें श्रीतुलसीराम-स्वामीकी अर्थोंमें 'तोड़-मरोड़'। केवल उसीमें नहीं, भगवद्गीता तथा निरुक्तादिमें भी अपना मनमाना अर्थ निकालनेकी चेष्टा करते हैं। निरुक्तमें श्रीचन्द्रमणि-पालीरत्न (गुरुकुल काँगड़ीके स्नातक) ने 'गन्धर्वाः, पितरो, देवाः, असुराः, रक्षांसि' (३।८।१) इन देव-पञ्चजनोंका अर्थ ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासाश्रम तथा अनाश्रमका विचित्र अर्थ कर दिया है ?। गीतामें 'तदात्मानं सृजाम्यहम्' के अर्थमें कैसी चतुरताएँ करते हैं ?। जहाँ इन लोगोंका यह यन्त्र कुण्ठित हो जाता है, वहाँ प्रक्षिप्ततारूप नये यन्त्रसे उस वाक्य वा प्रमाणका ही बहिष्कार कर डालते हैं। जहाँ उसके बहिष्कारमें यह लोग अपनी सफलता नहीं देखते; वहाँ आलङ्कारिकताका बहाना बनाकर उसकी वास्तविकताको छिपा दिया करते हैं।

(७) अब हम पाठकोंका अधिक समय न लेकर कई आर्यसमाजियोंके अर्थ उपस्थापित करते हैं। विद्वान् लोग परीक्षण करें कि-क्या उनसे किये अर्थ ठीक हैं ? हम यहाँ नमूना-मात्र दिखलाएँगे। पहले आर्यसमाजके नेता स्वा. दयानन्दजीके ही अर्थोंका आदर्श देखिये—

संस्कारविधिके १५४ पृष्ठमें 'इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (१४।१।५४) यह अथर्व.का मन्त्र विवाह-

प्रकरणमें स्वा.द.जीने उद्धृत किया है। इसमें इन्द्र आदि देवताओंसे विवाहित-नारीकी प्रजावृद्धि प्रार्थित की गई है। यह स्पष्ट मन्त्र है—इन्द्राऽग्नी, द्यावापृथिव्यौ, मातरिश्वा, मित्रावरुणौ, भगः, उभौ अश्विनौ, बृहस्पतिः, मरुतः, ब्रह्म, सोमः [एते देवाः] इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' यह अन्वय है।

लेकिन इसमें पुराणसमर्थित देवयोनि तथा उसकी पूजा-प्रार्थना वैदिक सिद्ध होती है। इस अर्थके स्वीकार करने पर स्वा.द.की अपनेसे निषिद्ध देवपूजाके सिद्ध हो जानेसे वे व्याघातदोषग्रस्त हो जाते हैं। अतः स्वामीजीने सोचा कि ऐसी चतुराईसे अर्थ करना चाहिये कि—अपने मतकी हानि भी न हो, और अर्थ भी हो जाए। इधर यह स्वप्रमाणित वेदमन्त्र है, पुराणका यह श्लोक नहीं कि—'यह प्रक्षिप्त है' कहनेसे इससे जान छूट जावे। वेदमें स्वामीने प्रक्षिप्तता मानी नहीं। यदि वे वेदमें भी प्रक्षिप्तता मान जाते; तो चेलोंको बहुत सुविधा हो जाती। कई ऐसे मन्त्र आ जाते हैं, जिनके अर्थपरिवर्तनमें सुविधा न होनेसे चेलोंकी शास्त्रार्थोंमें बहुत दुर्दशा होती है। (यद्यपि आजकल कई चेले बालखिल्य, कुन्तापसूक्त, सामवेदके आरण्यक पर्व आदिको प्रक्षिप्त मानने शुरू होगये हैं) यह सोचकर स्वा.द.जीने संस्कारविधिमें उक्त मन्त्रका अर्थ विचित्र किया। संस्कृतज्ञ विद्वान् स्वामीके अर्थकी युक्तायुक्तताको सूक्ष्मतासे सोचें।

वह अर्थ यह है—'हे मेरे सम्बन्धी लोगो ! जैसे इन्द्राग्नी-

बिजुली और प्रसिद्ध अग्नि, द्यावापृथिवी-सूर्य और भूमि, मातरिश्वा-अन्तरिक्षस्थ वायु मित्रावरुणा-प्राण और उदान तथा भगः-ऐश्वर्य, अश्विना-सद्-वैद्य और सत्योपदेशक, उभा-दोनों, बृहस्पतिः-श्रेष्ठ न्यायकारी बड़ी प्रजाका पालन करने हारा राजा, मरुतः-सभ्य मनुष्य, ब्रह्म-सबसे बड़ा परमात्मा और सोमः-चन्द्रमा तथा सोमलता ओषधीगण, सब प्रजाकी वृद्धि और पालन करते हैं, वैसे इमां नारीं-इस मेरी स्त्रीको प्रजया-प्रजासे बढ़ाया करते हैं; वैसे तुम भी वर्धयन्तु-बढ़ाया करो'।

अब पाठक देखें। क्या मन्त्रमें 'जैसे-वैसे' अर्थ बतानेवाला 'यथा-तथा' पद है? क्या स्वामीने परमात्माकी यह त्रुटि निकाली? यहाँ अब स्वामीका 'इन्द्रं मित्रं वरुणं' (ऋ. १।१६४।४६) मन्त्र कहा गया कि-वेदमें इन्द्र, अग्नि आदि शब्दोंसे परमात्माका बोध होता है, देवविशेषोंका नहीं, और प्रार्थना परमात्मासे होती है, देवविशेषोंसे नहीं। मन्त्रका 'वर्धयन्तु' देवताओंसे प्रार्थना करा रहा है, यद्यपि स्वामीने उसका गलत अर्थ कर दिया है।

'इन्द्र' का यहाँ स्वामीने 'विजुली' अर्थ कर दिया। मेध्य गौके प्रशंसा-सूक्तमें 'इन्द्रः शिरो' (अथर्व. ९।७+१।१) 'विद्युद् जिह्वा' (अ. ९।७+१।३) यहाँ इन्द्रको गायके सिरमें तथा बिजुली-को उसकी जिह्वामें स्थित कहा है; अतः इन्द्र और विद्युत् भिन्न वस्तु सिद्ध हुए। ऋग्वेदमें बहुतसे सूक्त इन्द्रके हैं; तो क्या यह विद्युत्की स्तुतिसे पूर्ण हैं? यदि ऐसा है; तो मूर्तिपूजा वैदिक

सिद्ध होगई। फिर मूर्तिपूजा करनेवाले सनातनधर्मियोंको अवैदिक कैसे कहा जाता है? 'इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' यहाँ वर्धन-क्रियाके कर्ता इन्द्र आदि हैं; और यहाँ प्रार्थनामें लोट् है। तब स्वयं जड़पदार्थसे सीधा, वा परमात्माके उद्देश्यसे जड़पदार्थ वा देवतासे प्रार्थना करानेवाले वेदको भी स्वामी अवैदिक मान लेंगे?। क्या स्वामी जड़के पूजक वा प्रार्थक होकर वैदिक हो जाते हैं; और जड़के अधिष्ठातृदेवकी पूजा-प्रार्थना करनेवाले सनातनधर्मी अवैदिक हो जाते हैं; क्या यह अपने घरका राज्य है, जो चाहा अर्थ कर दिया?।

यदि जड़की प्रार्थना, स्तुति, नमस्कार वेदकी शैली कही जावे; तो मूर्तिपूजा भी वैदिक होगई; नहीं तो वेदको भी मिथ्या-ज्ञानप्रसारक मानना पड़ेगा। 'दिव्' का अर्थ 'सूर्य' इसलिए किया गया है कि-द्यु-स्वर्गलोक कहीं वैदिक न हो जावे? मित्र-वरुणका प्राण-उदान अर्थ इसलिए कर लिया कि-कहीं मित्र, वरुण नामक देवता सिद्ध न हो जावें।

यदि कहा जावे कि-स्वामीजीने अपने किये अर्थमें बिजुली-अग्नि आदिसे प्रार्थना नहीं की; किन्तु सम्बन्धियोंसे प्रार्थना की है; तब तो हमारी वह बात कि-'स्वा.द. तथा उनके अनुयायी स्वेच्छानुसार वेदार्थको 'तोड़-मरोड़' यन्त्रसे विकृत कर दिया करते हैं' सत्य होगई। स्वामी वा उनके अनुयायिओंसे प्रष्टव्य है कि-स्वामीने 'मेरे सम्बन्धी लोगो!' यह पद कहांसे लिया! वेदमन्त्रमें तो वह है नहीं; क्या परमात्माकी भूलसे छूट गया!

अथवा क्या वे इस मन्त्रके देवता हैं ? क्योंकि–प्रतिपाद्य 'देवता' हुआ करता है। और 'वर्धयन्तु' इस प्रार्थनात्मक लोट्-क्रियाके मन्त्रमें प्रतिपाद्य इन्द्र आदि हैं, वा सम्बन्धी ? क्या यहाँ इस चालाकीका यह कारण नहीं कि–सनातनधर्मसम्मत देवताओंकी प्रार्थना यहाँ सिद्ध न हो जाए, क्योंकि–प्रयत्न करनेपर भी यहाँ इन्द्र आदिका 'परमेश्वर' अर्थ सिद्ध नहीं होता। अब यहाँ 'जहाँ-जहाँ स्तुति, प्रार्थना...आदि लिखे हों, वहाँ-वहाँ इन [इन्द्र आदि] नामोंसे परमेश्वरका ग्रहण होता है' (स.प्र.१ पृ. ३) अपने इस नियमको स्वामीने व्यभिचारी सिद्ध कर दिया। यदि वह इन्द्र आदि देवविशेषोंको यहाँ मानें; तो उनका स्ववचन-विघात गला पकड़ता है।

'हे सम्बन्धी लोगो ! जैसे···मरुतः–सभ्य मनुष्य···इस मेरी स्त्रीको प्रजासे बढ़ाया करते हैं···वैसे तुम भी बढ़ाया करो' यह स्वामीजीका उक्त-मन्त्रका अर्थ भी विचित्र है। देवपूजाके उड़ानेमें लगे हुए स्वामीने इस अर्थमें हो रहे हुए अनौचित्यको नहीं देखा ! क्या वरकी स्त्रीको अन्य सभी मनुष्य [क्योंकि यहाँ वर कह रहा है] भी सन्तानसे बढ़ाते हैं ? वैसे ही सम्बन्धी भी वरकी स्त्रीको सन्तानसे बढ़ावें ? वह स्त्री वरकी पत्नी है, वा बाकी सभी सम्बन्धियोंकी भी कि–वे उसे सन्तानसे बढ़ावें ? अथवा क्या वर नपुंसक होता है कि–वह अपनी पत्नीको सन्तान द्वारा बढ़ानेकी सम्बन्धियोंसे प्रार्थना करता है ? क्या वाराङ्गनाके साथ वरका विवाह होता है कि–अन्य सभ्य-मनुष्य

['मरुतः' का स्वामीने 'सभ्य-मनुष्य' अर्थ किया है] पहले उस पत्नीको प्रजासे बढ़ाते हैं; फिर सम्बन्धी उसे प्रजासे बढ़ाते हैं, फिर पति उसे प्रजासे बढ़ाता है। स्वामीजी धन्य हैं ! शायद यहाँ भी वैवाहिक-मन्त्रस्थित 'देवृकामा' (ऋ. १०।८५।४४) पदके निज-कल्पित अर्थकी भांति 'नियोग' का अर्थ स्मृतिमें आ जानेसे उनने वरको अपनी स्त्रीमें अन्योंसे सन्तानकी प्राप्त्यर्थ प्रेरणा की हो; यह है वैदिकता !!!

वास्तवमें मरुत् देवविशेष हैं, मनुष्य नहीं, यह 'मरुतोंके देवत्वका विचार' हमारे अन्य निबन्धमें देखना चाहिये। 'अश्विनौ' का स्वामीने 'सद्वैद्य और सत्योपदेशक' अर्थ कैसे किया ? क्या यह छल देवयोनिसे अपना गला छुड़ानेकेलिए नहीं है ? क्या स्वामी अब अपने मान्य निरुक्तको भी नहीं मानते; जिसमें 'अथातो द्युस्थाना देवताः, तासामश्विनौ प्रथमागामिनौ' (निरु. १२।१।२) उन्हें द्युलोकके देवता कहा है। 'सत्योपदेशक' अर्थ तो कपोलकल्पनामात्र है; देवविशेष अर्थ क्यों नहीं किया; क्या इसलिए कि–सनातनधर्मकी मानी हुई देवयोनि सिद्ध होती है ?

'मरुतः'का 'सभ्य मनुष्य' अर्थ कहांका आविष्कार है ? यहाँ भी स्वामीने 'अथातो मध्यस्थाना देवगणाः, तेषां मरुतः प्रथमागामिनो भवन्ति' (निरुक्त ११।३।१-२) 'सप्त-सप्त (४९) हि मारुतो गणः' (शतपथ २।५।१।१३) यह निरुक्त-शतपथ आदिके पन्नोंसे आंख बन्द कर ली। क्या मनुष्य ४९ होते हैं ?

'मरुतो देवता' (यजुः १४।२०) इस मन्त्रमें स्वामीने नज़र क्यों नहीं डाली कि—मरुत् देवता हैं, मनुष्य नहीं।

'वैसे इस मेरी स्त्रीको प्रजासे बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी बढ़ाया करो' यह दो बार लिखे हुए 'वैसे' शब्दको स्वामीने मन्त्रके किस पदसे लिया? 'बृहस्पति'का 'राजा' अर्थ कैसे किया? यहां 'बृहस्पतिर्देवता-इन्द्रो देवता' (यजुः १४।२०) 'तद्-बृहतोः करपत्योश्चोर-देवतयोः' (वा. ६।१।१५७) इन वेद-वेदाङ्गके वचनोंको भी लोक-दृष्टिसे छिपा लिया !!! इसी पाण्डित्य पर आर्यसमाजियोंको गर्व है कि—स्वामीजी वेदोंके बड़े विद्वान्, बल्कि—महर्षि तथा आप्त थे। अन्य भी इस मन्त्रार्थमें असङ्गतियां तथा अन्य मन्त्रोंसे विरुद्धताएँ हैं, पर विस्तारभयसे हम छोड़ते हैं।

(८) ऐसे ही अर्थोंसे स्वा.द.जीका यजुर्वेदभाष्य भरा हुआ है। स्वामी द्वारा 'अग्नि'का अर्थ कहीं परमात्मा, कहीं भौतिक 'अग्नि' कहीं विद्वान्, कहीं कुछ अन्य अर्थ कर दिया जाता है। एक स्थान असत्य कहने पर दूसरे स्थान पर कई बार असत्य बोलना पड़ता है—यह स्वाभाविक है। इसी प्रकार उनके भाष्यमें 'इन्द्र'का अर्थ कहीं परमात्मा, कहीं ऐश्वर्ययुक्त नियोगी पुरुष, कहीं बिजुली, कहीं सूर्य, कहीं राजा, कहीं आत्मा, कहीं वायु (सं.वि.पृ. २१८) और कहीं अन्य अर्थ कर दिया जाता है। इसी प्रकार 'अश्विनौ' का एक स्थान 'स्त्री-पुरुषो !' (स.प्र. ७१ पृष्ठ), अन्य स्थान 'सद्वैद्य और सत्योपदेशक' (सं.वि.पृ. १५५), अन्यत्र 'सूर्य-चन्द्रको

जिसने उत्पन्न किया है, उस परमात्माकी' (सं.वि.पृ. २०३) यह अर्थ किया है। इस प्रकार स्वामीने 'पितृ' शब्दका अर्थ 'प्रजाके रक्षक' (यजुः १६।४५) 'पिता आदि बड़े लोग' (१६।४६) 'पितर लोग' (१६।५७) 'अन्नविद्या आदिके रक्षक जनक-अध्यापक लोग' (१६।५६) यह अर्थ किया है। यह दशा है एक प्रकरणकी। कहीं 'पितृ'का उनने 'विद्वान्' अर्थ किया। 'यम'का अर्थ कहीं 'यथावन्न्यायकारी राजा' (यजुः १६।४५) और कहीं 'न्याय और योगसे युक्त सन्तान' (१६।५१), कहीं 'मैजिस्ट्रेट' और कहीं 'वायु' और कहीं परमात्मा अर्थ कर दिया कि—यमराजकी सिद्धि न होने पावे।

इस प्रकार स्वामीने सारे वेदको कलङ्कित कर डाला है। कोई विद्वान् खाली हो; तो उसे ऐसी सूची बनानी चाहिये कि-इन्द्र आदि देवोंका स्वामीने वेदके समान-सूक्तोंमें, भिन्न-भिन्न सूक्तोंमें, संस्कारविधि, सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-आदिमें क्या-क्या भिन्न अर्थ किये हैं, और वेदके एक ही मन्त्रका कहाँ-कहाँ एक-दूसरेसे भिन्न अर्थ किया है। इससे पता चल जायगा कि—निजकल्पित सिद्धान्तकी रक्षाकेलिए ही स्वामीने यह कल्पनाएँ की हैं; क्योंकि—हम यह पहले ही कह चुके हैं कि जो न्यायालयमें जाकर प्रश्न करने पर असत्य बोलता है; तब उस असत्यके बचावकेलिए उसे स्थान-स्थान पर परस्पर-विरुद्ध असत्य-भाषण करना पड़ता है; तब वह चतुर वकीलोंसे निगृहीत कर लिया जाता है। यही स्वा.द. कृत अर्थोंकी दशा है। वेदमें

सनातनधर्म ओत-प्रोत है। उसके प्रभावके दूरीकरणार्थ—जिससे अपनी दुकानदारी जम जावे—स्वामीने कल्पित अर्थ कर दिये, और उनके अनुयायी दो-कदम उनसे भी आगे बढ़ गये, क्योंकि—इस दुकानदारीसे उनको मान तथा धन प्राप्त होता था।

इस सारी कल्पना तथा एक शब्दके भिन्न-भिन्न अर्थ करनेका कारण वही है, जिसे हम पहले कह चुके हैं कि—जिस मन्त्रमें स्पष्टरूपसे सनातनधर्मके सिद्धान्तकी मुद्रा हो; वहां यौगिकताका बहाना बनाकर प्राचीन-भाष्योंसे विरुद्ध, मन्त्रके देवतासे विरुद्ध, शब्दोंको तोड़-मोड़कर रबड़की भांति उन्हें खींच-खांचकर, बालकी खाल निकालकर निज कपोल-कल्पित अर्थ कर दिये जाते हैं।

(६) अब 'आलोक'के पाठकगण स्वामीजीका वेदभाष्य-'निरुक्त'के शब्दार्थपर कलम-कुठार चलता हुआ देखें। पहले हम निरुक्तका पूर्वापर दिखलाते हैं, जिससे पाठकोंको आगे समझने-में सुगमता रहेगी।

निरुक्तमें तीन देवता गिनाये गये हैं—'अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः (७।५।२) यहां अग्नि-देवताको पृथिवीस्थानी कहा है, यह लौकिक अग्नि है। फिर इन्द्रको अन्तरिक्षस्थानी (मध्यम) माना है। यह बिजुलीका अधिष्ठाता देवता है। सूर्यको द्युस्थानी (उत्तम, सबसे ऊपर द्युलोकमें रहने वाला) माना है, जहां ग्रह-नक्षत्रादि हैं। यह इन अवर (अग्नि), मध्यम (विद्युत्), उत्तम (सूर्य) ज्योतियोंका वर्णन है।

फिर निरुक्तकार-श्रीयास्कने 'अग्निः पृथिवीस्थानः, तं प्रथमं व्याख्यास्यामः' (७।१४।२) इसमें पृथिवीस्थानी अग्नि (वन्हि)के वर्णनकी प्रतिज्ञा की है। उसके तीन नाम बताये हैं—'अग्निः, जातवेदाः, वैश्वानरः, इति त्रीणि पदानि' (७।२१।१) यह तीनों श्रीयास्कके मतमें 'अग्नि'के नाम हैं। फिर इनमें पहले 'अग्नि' शब्दपर शङ्का उठाई गई है कि—'स न मन्येत-अयमेव अग्निरिति, अपि एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते' (७।१७।१) इसका भाव यह है कि—कोई पूर्वपक्षी 'अग्नि' शब्दसे पार्थिव-अग्निको न लेकर ऊपरकी दो ज्योति—बिजुली और सूर्यको—ले ले; क्योंकि—'ततो नु मध्यमः' 'अग्नि' शब्द 'अभिप्रवन्त समनेव योषाः....अग्निं' इस मन्त्रमें बिजुली (मध्यम) अर्थमें भी देखा गया है (निरु. ७।१७।१)। 'समुद्रादूर्मिर्मधुमान् उदारत्' इस अग्निलिङ्गक-मन्त्रमें 'अग्नि'का अर्थ 'सूर्य' भी देखा गया है' (नि. ७।१७।२); तो अग्निका केवल 'पृथिवीस्थानी-अग्नि' ही अर्थ कैसे हो ?

इस आशङ्काका श्रीयास्कने समाधान इस प्रकार दिया है कि—'यस्तु सूक्तं भजते, यस्मै हविर्निरुप्यते, अयमेव सोऽग्निः। निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते' (७।१८।२) इसका अर्थ यह है कि—जिस अग्निका वेदसूक्तोंमें 'अग्नि' शब्दसे वर्णन आता है, और जिसे हवि दी जाती है, वह तो यही पार्थिवाग्नि ही मुख्यरूपसे है। हां, कहीं यदि 'अग्नि' शब्दसे ऊपरकी ज्योतियों—विद्युत् वा सूर्य—का ग्रहण आ जाता है, वह अर्थ मुख्यरूपसे न होकर गौण (निपात) रूपसे आता है।

पाठकोंने देख लिया कि–यहां 'अग्नि' शब्दसे परमात्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं; किन्तु आग, विजुली और सूर्यका प्रकरण है, किन्तु स्वा.द.जी यहां परमात्माका अर्थ करते हैं–यह आगे देखिये। आ.स. श्रीमङ्गलदेवजीने निरुक्तमें परमात्माका वर्णन नहीं माना।

इसी प्रकार अग्निवाचक 'जातवेदाः'में भी वैसी शङ्का उठाई गई है कि–'स (शिष्यो) न मन्येत अयमेव अग्निः [जातवेदाः] इति। अपि एते उत्तरे ज्योतिषी जातवेदसी उच्येते' (७।२०।३) अर्थात् 'जातवेदाः' ऊपरकी दो ज्योतियाँ–विजुली-सूर्य–भी हो सकते हैं; केवल पार्थिव-अग्नि ही अर्थ क्यों किया जाय? उसमें विद्युत्-वाचक 'जातवेदाः'का मन्त्र 'अभिप्रवन्त...हर्यति जातवेदाः' यह उपस्थित किया गया है, और 'सूर्य' वाचक 'जातवेदाः'का 'दुत्यं जातवेदसम्' मन्त्र उपस्थित किया गया है (नि. ७।२०।३)। इसका भी श्रीयास्कने वही पूर्वोक्त उत्तर दिया है कि–'यस्तु सूक्तं भजते, यस्मै हविर्निरुप्यते, अयमेव सोऽग्नि-र्जातवेदाः। निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते' (७।२०।४) इसका भी अर्थ वही पूर्व-जैसा ही है कि–'जातवेदाः' मुख्यतया तो 'पार्थिव-अग्नि'का नाम है; हाँ, कहीं मध्यम–अग्नि (बिजुली) और उत्तम-अग्नि (सूर्य)का नाम यदि 'जातवेदाः' आया भी है; तो वह गौणरूपसे है।

फिर तीसरा वैश्वानरकेलिए भी यही प्रश्न उपस्थित किया गया है। उसमें 'मध्यम इति आचार्याः' (७।२२।३) कहकर

'वैश्वानरो दस्युं' मन्त्रमें वैश्वानरको विद्युद्-वाचक आशङ्कित किया गया है (नि. ७।२३।१)। फिर पूर्व-याज्ञिकोंका मत सूर्य-वाचक बताया गया है, उसमें भी बहुत मन्त्र तथा तर्क दिये गये हैं; यह वहां शास्त्रार्थ है। श्रीयास्कने शाकपूणिके मतको लेकर 'वैश्वानर'को 'अग्नि'वाचक बताया है, और पूर्वोक्त-शङ्काका वही पूर्व-जैसा उत्तर दिया है कि–'यस्तु सूक्तं भजते, यस्मै हविर्निरुप्यते, अयमेव सो–(पार्थिवो)ऽग्निर्वैश्वानरः। निपातमेव एते उत्तरे (विद्युत्-सूर्यौ) ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते' (७।३१।४) इसका भी अर्थ वही पूर्व-जैसा ही है कि–वैश्वानर मुख्य तो पार्थिव-अग्निका नाम है। यदि कहीं उत्तर-ज्योतियों-विद्युत् या सूर्य अर्थमें आ गया है; तो वह गौणतासे है।

अग्निका मन्त्र श्रीयास्कने 'अग्निमीळे पुरोहितं' दिया है। इसमें श्रीयास्कको पार्थिव-अग्नि इष्ट है, पर स्वा.द.जीने मूर्ति-पूजाके डरसे इसका अर्थ 'परमात्मा' कर दिया। इसपर पं० महेशचन्द्र-न्यायरत्न (प्रिंसिपल आफिशियेटिङ्ग संस्कृत कालेज कलकत्ता)ने आक्षेप किया था कि–स्वामीजीने यहां अपने मान्य निरुक्तकारकी भी अवहेलना कर दी; क्योंकि–इस तथा 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः' इस मन्त्रमें उनने श्रीयास्कानुसार पार्थिव-अग्नि अर्थ न करके परमात्माका अर्थ कर दिया। परन्तु स्वामीने 'भ्रान्ति-निवारण' निबन्धद्वारा उनका प्रत्युत्तर दिया था। वहां 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति, अग्निः पृथिवीस्थानः, तं प्रथमं व्याख्यास्यामः, स न मन्येत अयमेव अग्निरिति, अपि

एते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते, उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते' इन नैरुक्त-वाक्योंका ऐसा अर्दन-विमर्दन किया और बिजुली-सूर्यका प्राकरणिक अर्थ छोड़कर इनसे अप्राकरणिक 'परमेश्वर' अर्थ करके 'मक्खीको मल-मलकर भैंसा' बना देनेकी चरितार्थता कर दी है। पाठक देखें कि-एक बड़ी जमात खोलने-वाले लीडरने शब्दोंके अर्थमें कैसी तोड़-मरोड़ की है ? प्रकरण-को भी छिपा दिया है, पूर्वपक्षको भी उत्तरपक्ष बना दिया है।

'भ्रान्तिनिवारण' में स्वामीने श्रीमहेशचन्द्रजीका पूरा पक्ष नहीं दिया। उनके निबन्धसे कहीं कुछ दे दिया, और उसपर कुछ लिख भी दिया, जनताको दिखला दिया कि-हमने प्रत्युत्तर दे दिया; वस्तुतः यह उत्तराभास ही है, यथार्थ उत्तर नहीं; यह विद्वान् पाठक स्वयं जान लेंगे।

'अग्निर्वै सर्वा देवताः' (निरु. ७।१७।४) यह ब्राह्मणभागका प्रमाण निरुक्तमें इसलिए दिया गया था कि-'अग्नि' शब्द केवल अग्निवाचक नहीं है किन्तु इन्द्र (विद्युत्), सुपर्ण गरुत्मान् (गरुडकी भांति तेज चलनेवाले सूर्य) आदि सभी देवताओंका वाचक भी होता है। इसी ब्राह्मणकी बातको पुष्ट करनेकेलिए श्रीयास्कने 'इन्द्रं मित्रं···' आदि मन्त्र भी उपस्थित किया। अन्तमें श्रीयास्कने वही पूर्व-प्रोक्त उत्तर दिया कि-यह ठीक है कि-इन्द्र, सूर्य आदि देवताओंकी स्तुति 'अग्नि' शब्दसे आती है, पर प्रधानरूपसे नहीं, किन्तु गौणरूपसे आती है-'निपातमेव एते उत्तरे ज्योतिषी (विजुली और सूर्य) एतेन नामधेयेन भजेते' (७।१८।२)

पाठकोंने अब यह प्रकरण सब समझ लिया। अब इसपर स्वामीजीका मत देखें। वे लिखते हैं—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः···अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' इसमें 'अग्नि' का पाठ दो बार है। इसका अभिप्राय यह है कि-'अग्नि' शब्दसे भौतिक अग्नि और परमेश्वर दोनों अर्थोंका ग्रहण होता है'। पर यास्कके इस प्रकरणमें परमेश्वरका थोड़ा भी वर्णन नहीं। वहाँ तो अग्नि, विद्युत्, सूर्य-यही तीन ज्योतियाँ (देवता) प्राकरणिक हैं, ईश्वरका कुछ भी वर्णन नहीं। उक्त मन्त्रका देवता वैदिकयन्त्रालय-अजमेरकी ऋ.संमें 'सूर्य' है, परमेश्वर नहीं। तब यास्कका नाम लेकर अपना मनमाना अर्थ करना-यह स्वामीजीका निरुक्त-कण्डिकासे बलात्कार है।

स्वामी लिखते हैं-'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते' (नि. ७।१८) इसका यह अर्थ है कि-अग्नि नाम करके भौतिक और परमेश्वर यह दो उत्तर-ज्योति गृहीत होते हैं, (भ्रान्तिनिवारण)

यहाँ जनताकी आंखोंमें धूल झोंकी गई है। प्रकरणको तो छिपाया गया ही है, वहाँ का पाठ भी पूरा नहीं दिया गया है। यहाँ दो उत्तर-ज्योति बिजुली और सूर्य प्राकरणिक हैं, परमेश्वर नहीं-यह पहले हम प्रमाण देकर बता चुके हैं। भौतिक पार्थिव-अग्नि भला उत्तर-ज्योति कैसे हो सकती है, जबकि वह यास्कको इष्ट नहीं। यह है स्वामिकृत अर्थोंका दिग्दर्शन !!! दुकान चल निकली है, जो कुछ कहते जाओ; अपने अनुयायी आँख मूँदकर मान ही लेंगे, समर्थन भी कर देंगे, परन्तु विद्वानोंकी दृष्टिमें यह

असह्य अपराध है।

'अग्निर्वै सर्वा देवताः—इति निर्वचनाय' इस वचनका अर्थ निरुक्तकार करते हैं जिनको बुद्धिमान लोग अनेक नामोंसे वर्णन करते हैं, जो कि अद्वितीय सबसे बड़ा सबका आत्मा है; उसीको अग्नि कहते हैं' यह स्वामीजीके शब्द हैं, ऐसा निरुक्तकारने कहीं भी अर्थ नहीं किया। यहाँ तो निरुक्तकारको बड़े आकारवाला सूर्य इष्ट है, प्राकरणिक भी वही है, उक्त मन्त्रका देवता भी 'सूर्य' है।

"इस अग्निनामधेयसे दोनों उत्तर-ज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञान-प्रकाशयुक्त परमेश्वर और जो विद्युत्रूप भौतिक अग्नि है, इन दोनोंका यथावत् ग्रहण होता है" यह स्वामीजीके शब्द उनकी कपोल-कल्पनासे निकले हैं। 'निपातं' का अर्थ निरुक्तमें 'गौणता' होता है; ऊपरकी प्राकरणिक ज्योति 'सूर्य' को स्वामीजीने निगल लिया; उसके स्थान परमेश्वरको बिठा दिया, यह है सच्चे अर्थोंका दिग्दर्शन (?)।

पार्थिव-अग्निका निर्वचन श्रीयास्कने 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति' यह किया है, इसपर स्वामी लिखते हैं—'अग्नि' शब्द परमेश्वर और भौतिक पदार्थमें लिया जाता है—यह निरुक्तका अभिप्रायार्थ है'। जबकि यहाँ निरुक्तमें परमेश्वरका कोई प्रकरण नहीं; तब स्वामीका तद्विरुद्ध अर्थ करते जाना क्या निरुक्त-कण्डिकासे बलात्कार करना नहीं ?।

'अग्निः पृथिवीस्थानः' इस निरुक्तके वाक्यमें इसी लौकिक

अग्निका वर्णन चालू है, यह हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं; पर स्वामी प्रत्यक्ष पर भी धूल झोंकते हैं। लिखते हैं—'क्या परमेश्वर व्यापक होनेसे पृथिवी-स्थान नहीं हो सकता' पहले स्वामी परमात्माको उत्तर-ज्योति बना रहे थे; अब परमेश्वरको अधर-ज्योति पृथिवीस्थानी बनाते हैं। उन्हें धन्यवाद देना चाहिये कि—उन्होंने मूर्तिपूजा भी स्वीकार कर ली। जब कि परमेश्वर स्वामीके अनुसार पृथिवीस्थानी भी है, 'यस्य पृथिवी शरीरम्' (शत.) पृथिवीकी मूर्ति उसका शरीर है; तो परमेश्वरकी पूजा पार्थिव-मूर्तिमें भी उसके व्यापक होनेसे इष्ट होगई।

वस्तुतः 'पृथिवीस्थानः' में श्रीयास्कको यही पार्थिव-अग्नि उक्त प्रकरणमें इष्ट है, परमात्माका वहाँ गन्ध भी नहीं। 'यस्य पृथिवी शरीरम्' (शत.) का अर्थ स्वामीने 'भ्रान्तिनिवारण' में किया है—'जिस परमेश्वरके शरीरके समान पृथिवी है, जो पृथिवीमें व्यापक होकर उसको नियममें रखता है' यहाँ स्वामीने परमात्माका शरीर भी मान लिया, और उस परमेश्वरके शरीरके समान पृथिवीको माना, सो उस पृथिवी-मूर्तिके द्वारा वे ईश्वरके शरीरकी पूजा करके मूर्तिपूजक-सनातनधर्मी बन जाएं। निरुक्तकारने 'यस्मै हविर्निरुप्यते' (७।१८।२) कहकर उस अग्निको हवि देना भी कहा है; तो परमेश्वरको भी इससे हवि देकर स्वामीजी पूर्ण मूर्तिपूजक बनें। अथवा—यदि वे अग्निमूर्ति-द्वारा 'वरुणाय स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा' आदि मन्त्रोंसे इन नामों वाले परमेश्वरको हवि देते हैं; तब भी वे मूर्तिपूजक बने, क्योंकि

सनातनधर्ममें भी यही बात होती है, मूर्तिकेद्वारा देव वा देवदेवकी पूजा-अर्चना बलि आदि करनी मूर्तिपूजा होती है।

स्वामीजी आगे लिखते हैं-'स न मन्येत अयमेव अग्निरिति, अप्येत (?) उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते' इसका अर्थ यह है कि-वह अग्नि जो परमेश्वरका वाचक है, चूल्हेमें प्रत्यक्ष जलने वाला नहीं है, किन्तु जो कि-अपने व्याप्यमें व्यापक विद्युत्रूप और जो उत्तर अर्थात् कारणरूप ज्योतिःस्वरूप और सबका प्रकाशक है" यहाँ भी निरुक्तके उक्त वाक्यका अर्थ गलत, अपना मनमाना ही किया गया है, उक्त शब्दोंका न तो यह अर्थ है और न यह तात्पर्य, और यह है भी पूर्वपक्षका ही वाक्य, इसका आगे उत्तर दिया गया है कि-'निपातमुत्तरे ज्योतिषी' इस पर हम पहले स्पष्टता कर चुके हैं-यह विद्वान-पाठकोंने स्वामीके अर्थ करनेकी शैली देख ली कि-वे प्रमाण तो पुस्तकका दे देते हैं; पर अर्थ अपनी इच्छासे करते हैं। या तो उनको निरुक्तके अर्थ करनेका ज्ञान नहीं था, या फिर असत्यका डर नहीं था कि-जो चाहो अर्थ करते रहो। यही शब्दकी हत्या हो जाती है। यह है 'शब्दार्थहत्याका दिग्दर्शन'। ऐसे उनके हजारों अर्थ दिखलाये जा सकते हैं; पर यहाँ उतना अवकाश कहाँ ? स्वामीजी अपना एक सिद्धान्त बना लिया करते हैं, चाहे वह वेदके विरुद्ध भी पड़ता हो; पर उसे वेदसे बलात् निकालनेकी चेष्टा करते हैं, बलात् निकालनेमें तोड़-मरोड़ करते हैं, अथवा मन्त्रमें अविद्यमान उस बातको बलात् शब्दका अध्याहार करके उसे

उसमें ठूँस देते हैं। एक उदाहरण हम उनका नियोगके मन्त्रार्थ-का देकर आगे चलेंगे।

(ख) 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य ! प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि' इस मन्त्रमें नियोगका कहीं गन्ध भी नहीं है-यह आगे बताया जायगा; पर स्वामीजीने यहाँ मन्त्रोंमें अविद्यमान भी पद वा वाक्य मन्त्रार्थमें ठूँसे हैं; यह हम '(?)' इस चिह्नसे बतावेंगे।

'इयं नारी-इयं विधवा नारी, प्रेतं-मृतं पतिं विहाय (?) पति-लोकं-पति-सुखं (?) वृणाना-स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती, मर्त्य ! हे मनुष्य ! त्वा-त्वामुपनिपद्यते-त्वां पतिं प्राप्नोति (?)। तव समीपं नियोग-विधानेन आगच्छति (?) तां त्वं गृहाण (?) अस्यां सन्ता-नानि उत्पादय (?)। कथंभूता सा, धर्मं पुराणं-वेदप्रतिपाद्य' सनातनं धर्ममनुपालयन्ती सती, त्वां नियोगेन पतिं वृणुते (?) त्वमपि इमां वृणु (?)। तस्यै-विधवायै इह-अस्मिन् समये लोके वा, प्रजां धेहि-त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु। द्रविणं-द्रव्यं वीर्यं च (?) अस्यां धेहि अर्थात्-गर्भाधानं कुरु (?) (ऋ. भा. भू.)

यहाँ पर (?) इस चिन्हवाले पद स्वा. दयानन्दजीने वेद-मन्त्रार्थमें प्रक्षिप्त कर दिये हैं, मन्त्रमें इनका गन्ध भी नहीं है। इस विषयमें स्पष्टता भिन्न निबन्धमें देखें। अब सत्यार्थप्रकाशमें स्थित 'उदीर्ष्व नारि ! अभि जीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसम्बभूथ' इस मन्त्रका भी स्वा.द.का किया अर्थ देखें।

(ग) हे नारी–विधवे, तू, एतं गतासुम्–इस मरे हुए पतिकी आशा छोड़के (?) शेषे–बाकी पुरुषोंमेंसे (?) अभि, जीवलोकम्–जीते हुए दूसरे पतिको (?) उपैहि–प्राप्त हो (?), और उदीर्ष्व–इस बातका विचार और निश्चय रख (?) कि–जो हस्तग्राभस्य दिधिषोः–तुझ विधवाके पुनः (?) पाणिग्रहण करनेवाले नियुक्त (?) पतिके सम्बन्धकेलिए नियोग होगा (?) तो इदं–यह जनित्वम्–जना हुआ बालक (?) उसी नियुक्त (?) पत्युः-पतिका होगा। और जो तू अपने लिए नियोग करेगी; तो वह सन्तान (?) तव–तेरा होगा। ऐसे निश्चययुक्त हो (?)

यहां स्वामीजीके ऐसे अप्रासङ्गिक वा गलत अर्थ करनेपर बड़ा खेद होता है।

(१०) अब हम ऐसा आदर्श स्वा.द.जीके अनुयायियोंका भी दिखलाते हैं। श्रीभगवद्दत्तजी अनुसन्धाता बी.ए. अपने 'वैदिक-वाङ्मयका इतिहास' द्वितीयभाग (प्र. सं.) ६२ पृष्ठमें ४।१।६२ न्यायसूत्रके वात्स्यायन-भाष्यको उद्धृत करते हैं; और उसका अर्थ करते हैं।—

'प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेन इतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते। ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरसः एतदितिहास-पुराणमभ्यवदन्··य एव मन्त्र-ब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च, ते खलु इतिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति' अर्थात् प्रमाणरूप-ब्राह्मणसे इतिहास और पुराणकी प्रामाणिकता जानी जाती है। वे यह अथर्वाङ्गिरस थे, जिन्होंने इतिहास-पुराण कहा था (?)। जो मन्त्र

और ब्राह्मण अर्थात्–मन्त्रार्थके द्रष्टा हैं, वही प्रवक्ता हैं इतिहास पुराण और धर्मशास्त्रके' यहाँ अनुसन्धाताजीने बिन्दुएँ देकर 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति', यह पाठ छिपा दिया। इस पाठसे ही सारे इस वाक्यका अर्थ हुआ करता है। इसका यह अर्थ है–'ते वा खलु एते अथर्वाङ्गिरसः–अथर्ववेद (अथर्ववेदके ब्राह्मण) ने एतद् इतिहासपुराणम् 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेद इति अवदन्–इतिहासपुराणको पञ्चमवेद माना है। इस प्रकार प्रमाणभूत अथर्ववेदने जब इतिहासपुराणको 'पाँचवाँ वेद' कहकर प्रमाण माना है; तब पुराण-इतिहासको अप्रमाण मानना अयुक्त हैं' यह पूर्वापर सारे प्रकरणका अर्थ है। लेकिन श्रीभगवद्दत्तजीने उसे पाँचवाँ वेद मानना छिपा दिया था, 'वे यह अथर्वाङ्गिरस थे, जिन्होंने इतिहास और पुराण कहा था' यह अर्थ कितना अशुद्ध है?'। जब बी. ए. जी मन्त्र-ब्राह्मणमें द्वन्द्व मानते हैं; तब उनका 'मन्त्रार्थका द्रष्टा' यह अर्थ ठीक नहीं। 'द्रष्टारः प्रवक्तारश्च' यह दोनों ही पद मन्त्र-ब्राह्मणके साथ सम्बद्ध हैं। तभी समुच्चय करानेवाला 'च' सार्थक है। 'प्रवक्तारश्च ते खलु इतिहासपुराणस्य' से 'प्रवक्तारः' का सम्बन्ध होनेपर दो चकार व्यर्थ होते। वास्तवमें 'द्रष्टारः प्रवक्तारश्च' यह दोनों ही पद मन्त्र-ब्राह्मणसे अन्वित हैं, और इन दोनोंका ही इतिहास-पुराण धर्मशास्त्रोंमें भी अनुषङ्ग है। सो अनुसन्धाताजी-का प्रयत्न आर्यसमाजके बचावकेलिए ही है; क्योंकि-अथर्ववेद (ब्राह्मण) के द्वारा इतिहास-पुराण पञ्चमवेद सिद्ध हो जावे; तब

आर्यसमाजी इतिहास-पुराणका खण्डन कभी कर न सकें; अतः उन्होंने अर्थ-परिवर्तन कर दिया।

(ख) एक अन्य नमूना भी अनुसन्धाताजीका देखें। 'वैदिक-वाङ्मयका इतिहास' द्वितीयभाग २११ पृष्ठमें 'ब्राह्मण-ग्रन्थोंका प्रतिपादित विषय' इस प्रकरणमें 'पृथिवीकी पूर्वावस्था' इस शीर्षकसे वे 'काठकसंहिता' का यह प्रमाण लिखते हैं-हम बीच-बीचमें उसका अर्थ भी देंगे। 'प्रजापतेर्वा एतद् ज्येष्ठं तोकं (सन्ततिः) यत् पर्वताः। (पहाड़ प्रजापतिकी ज्येष्ठ सन्तान थे)। ते (पर्वताः) पक्षिणः (पक्षवन्तः) आसन् (उन पहाड़ोंके पंख हुआ करते थे।) ते [पर्वताः] यत्र-तत्र अकामयन्त, तत् परापातमासत (प्रपतिता भवन्ति स्म) (वे [पहाड़] जहाँ चाहते थे, वहीं जा पड़ते थे)। अथ वै इयं (पृथिवी) तर्हि शिथिला आसीत् (इससे वहाँकी पृथिवी ढीली हो जाती थी)। तेषामिन्द्रः पक्षान् अच्छिनत् (इन्द्रने उन पहाड़ोंके पंख काट दिये)। तैः (पर्वतैः) इमाम् (पृथिवीम्) अदृंहत (उन पहाड़ोंसे इस पृथिवीको प्रजापतिने दृढ कर दिया)। ये [पर्वतानां] पक्षा आसन्, ते जीमूता (मेघा) अभवन् (जो पहाड़ों-के पंख थे, वे बादल बन गये) तस्मात् [पर्वतानां पक्षसत्त्वात्] ते [जीमूता] गिरिम् उपप्लवन्ते (प्राप्नुवन्ति) (पहाड़ोंके ही पंख होनेसे वे बादल पहाड़ों पर रहते हैं)। योनिः (उत्पत्तिस्थानं) हि एषां [मेघभूतानां स्वपक्षाणाम्] एषः [पर्वतः] (यह पहाड़ अपने पंखोंका उत्पत्तिस्थान है)। तस्माद् [मेघानां योनित्वादेव] गिरौ भूयिष्ठं वर्षति (इसलिए ही पहाड़ पर बादल बहुत बरसते हैं)

(काठकसं. ३६।७) इसी प्रकार मैत्रायणी-संहिता (१।१०।१३) में भी है। हमने ब्रेकेटमें उक्त वचनोंका सम्भवी अर्थ लिख दिया है।

इस वेदवाक्यसे पर्वतोंके पक्ष भी सिद्ध होते हैं, जिनका मन्त्रभागकी अन्य-संहिताओंमें भी वर्णन है। यह हमारे अन्य निबन्धोंमें देखा जा सकता है। परन्तु आर्यसमाजी लोग यह न मानकर उसमें अर्थ बदलते हैं। हम श्रीभगवद्दत्तजीका अर्थ उनकी उक्त पुस्तकसे उद्धृत करते हैं; और ब्रेकेटमें उसकी समालोचना करते हैं। वे लिखते हैं—

प्रजापति=सूर्य के बड़े पुत्र हैं, जो बादल हैं [जबकि उक्त वचनमें पहाड़ और जीमूत (बादल) अलग-अलग कहे गये हैं; तब पर्वत का बादल अर्थ कैसे किया गया ?] वे पक्षियोंके समान पंख रखते थे (अर्थात् उड़ने वाले हैं) ['वे पक्षियोंके समान पंख रखते थे, यह अर्थ ही असम्बद्ध है, 'आसन्'का पहले 'थे' करके फिर 'हैं' अर्थ कैसे किया गया ? जबकि यह पृथिवीकी सृष्टिकी आदिम अवस्था है—यह वादी भी मानते हैं]। वे जहां-जहां कामना करते हुए [बादलोंकी कामना कैसे हो सकती है ? पर्वतोंको तो जीव-विशेष तथा ब्रह्माकी ज्येष्ठ-सन्तान बताया गया है, वहां कामना सङ्गत ही है], वहीं पर (वर्षा-रूपमें) गिरकर ठहरे [यहां पर 'वर्षारूपमें' यह ग्रन्थकारसे अनभीष्ट अध्याहार कैसे ?]। तब यह पृथिवी शिथिल थी, इसका ऊपरका भाग कठिन नहीं हुआ था) [यह किन शब्दोंका अर्थ है ? यहां तो भारी पहाड़ोंके पृथिवीपर गिरनेसेही पृथिवीकी शिथिलता बताई गई है; अर्थात् वह उनके गिरनेसे

हिल जाती थी]।

इन्द्र अर्थात् वायु और विद्युत्ने उन बादलोंका उड़ना बन्द करके उन्हें बरसाया [वायु और बिजलीका बादलोंको उड़ना बन्द कर देना संगत नहीं, और संहिताके वाक्यमें बादलों का बरसना नहीं कहा गया, किन्तु इन्द्र द्वारा पहाड़ोंके पंखका काटना ही कहा है।] और इस पृथिवीको जलमय करके इसे दृढ किया 'जलमय करके' यह किस शब्दका अर्थ है ? यहां तो यह लिखा है कि-इन्द्रने पर्वतोंके पंखोंको काटा, इससे वे पर्वत गिर गए, गिरे हुए पर्वतोंसे पृथिवीका भार सम करके उस हिलती-जुलती पृथिवीको दृढ़-स्थिर कर दिया। इसलिए ही पहाड़के नाम महीध्र, कुध्र, गोत्र, महीधर, भूधर आदि हैं। वादीके पक्षमें 'पृथिवीको दृढ किया' की कोई सङ्गति नहीं। जब वादीके अनुसार पहले ही बादल वर्षारूपमें गिरे, तब पृथिवीको दृढ होजाना चाहिये था, पर उसे शिथिल कैसे कहा गया ? वस्तुतः यह कल्पित अर्थ करनेका दुष्परिणाम है।] (तब पृथिवीका ऊपर-का भाग ठण्डा होकर सख्त हो गया) [यह अर्थ संहिताके किस वाक्यसे निकाला गया है ? पहले पृथिवीकी उष्णता संहिताके वचनमें कहाँ कही गई है, जो कि यहाँ वादीने उसकी शीतलता कही ?]

जो उन बादलोंके पर थे [बादलोंके पंख कौनसे थे ? पहले तो वादीने 'पक्षों'का अर्थ 'उड़नेवाले' किया; यहाँ 'पर' कहाँ आगये ? , वहां [पृथिवीमेंसे] पर्वत बने [यहाँ अनुसन्धाताजीने

पर्वत अर्थ कहाँसे किया ? 'जीमूत'का अर्थ 'पहाड़' कैसे किया ? 'पर्वत'का अर्थ आपने 'पहाड़' न करके बादल किया, और बादल-वाचक 'जीमूत' शब्दका 'बादल' अर्थ न करके 'पहाड़' अर्थ कर दिया, यह कैसे ?] इसलिए बादल पर्वतोंको दौड़ते हैं, पर्वत ही बादलोंकी योनि (उत्पत्तिस्थान) हैं। यहां 'जीमूत'के परामर्शक 'ते'का आपने 'बादल' अर्थ कैसे किया; पहले तो 'जीमूत'का अर्थ 'पहाड़' किया; अब 'जीमूत' वाचक सर्वनाम 'ते'का उससे भिन्न अर्थ कैसे किया ? जिन पर्वतोंका संहिताके वाक्यमें पहले वर्णन था, उसीका पर्यायवाचक 'गिरि' शब्द आगे रखा गया है, तब अनुसन्धाताजीने पूर्वकी भांति यहां भी 'गिरि' शब्दका 'बादल' अर्थ क्यों नहीं किया ? 'गिरि'का रूढिसे 'पहाड़' अर्थ कैसे किया ? क्या आपकी इच्छा हुआ करती है कि-एक स्थान उस शब्दका दूसरा अर्थ कर दिया जावे; उसीके आगे उसीके पर्यायवाचका अन्य अर्थ कर दिया जावे ?]

इसीलिए पर्वतमें बहुत वर्षा होती है। ['तस्माद् गिरौ भूयिष्ठं वर्षति' यह संहिताका उपसंहारवाक्य है। उपसंहार उपक्रमकी अपेक्षा कर रहा होता है। पहाड़ोंमें बादलोंकी बहुत वर्षाका कारण पहले दिखलाया है कि-पर्वतोंके काटे गये पक्ष ही मेघ बने। यही काटे गये पर्वतोंके बादलरूप बने पंख फिर-फिर अपने उत्पत्ति-स्थान पहाड़ पर आते हैं, इसलिए पर्वतपर बहुत वर्षा होती है'। यदि पहले स्थान 'पर्वत' शब्दका 'मेघ' अर्थ किया जावे; तब मेघोंके पर्वतोंपर आने तथा उनपर बहुत वर्षा

होनेमें कोई उपपत्ति नहीं रह जाती। संहिताके वाक्यमें तो पर्वतोंके पंखोंसे बादलकी उत्पत्ति कही है, बादलोंके पंखोंसे पर्वतोंकी उत्पत्ति कहीं नहीं कही गई। बी. ए. जीने यहाँ उल्टा अर्थ कैसे कर दिया? पर्वतोंके पंख जो काटे हुए बादल बन गए, उनका अपनी योनि पर्वतोंपर फिर-फिर आना और उन पर बरसना संहिताके अनुसार संगत है, क्योंकि संहितामें ही कहा है-'ते-छिन्नाः पक्षाः, स्वयोनिं गिरिम् पर्वतम् उत्प्लवन्ते-उत्प्लुत्य गच्छन्ति'। इसमें संहिताप्रवक्ता हेतु कहते हैं-'योनिर्हि एषामेषः' अर्थात् पर्वतोंके छिन्न-पक्ष जो बादल बन गये थे, पर्वत उनकी योनि-उत्पत्तिस्थान हैं। परन्तु 'पर्वत' शब्दके 'बादल' अर्थ करने-पर उनके पंख जीमूतोंका 'पर्वत' अर्थ करनेपर जहाँ अपनी कल्पनासे अर्थ विपरीत करना पड़ता है, वहाँ पर संहितानुसार कोई उपपत्ति वा स्वारस्य कुछ भी नहीं रहता।

यदि श्रीभगवद्दत्तजीके अनुसार बादलोंके पंख पर्वत बने, तब 'मेघ' ही 'योनि' सिद्ध हुए, उनके पक्षरूप पर्वत उनके पुत्र बने। तब पंख बने हुए पहाड़ोंको ही अपनी योनि बादलोंमें जाना चाहिये था क्योंकि-संहिताप्रवक्ताने 'तस्मात् ते गिरिमुप-प्लवन्ते, योनिर्हि एषाम् (स्वपक्षाणां) एष (पर्वतः)' यह लिखा है। पर्वतोंके पंखोंकी योनि 'पर्वत' स्पष्ट ही है, क्योंकि-वे पहाड़से ही उत्पन्न अङ्ग हैं; आपने भी लिखा है-'पर्वत ही बादलोंकी योनि (उत्पत्तिस्थान) है' यदि ऐसा है, पर्वत अपने पंखोंकी जब योनि हैं, और पंख बने मेघ, और पक्षोंकी योनि पर्वत ही है, तब उक्त-

संहिताके वाक्यमें पर्वतोंका पंख और उन पर्वतोंका सृष्टिकी आदिमें उड़ना सिद्ध हो ही गया।

उपक्रममें श्रीभगवद्दत्तजीने आधारभूत मेघोंके आधेयभूत पंखोंका पहाड़ बनना दिखलाया; इस प्रकार पहाड़ तो आधेय बन गये, और मेघ आधार (योनि, उत्पत्तिस्थान) बने; तब आधेय पर्वतोंका ही अपने आधार-योनि बादलोंमें जाना युक्त था, पर फिर उपसंहारमें भगवद्दत्तजीने पहाड़ोंको ही मेघोंकी योनि उत्पत्तिस्थान वा आधार दिखलाया-यह उनका परस्पर विरोध भी सिद्ध हुआ। इसका कारण यही है कि-शब्दोंका सम्भवी अर्थ छोड़कर जिसकेलिए भाषा बनाई गई हैं-उनके अपने मनके अर्थ करना यही शब्दोंकी हत्या हो जाती है। और यह दशा प्रायः समस्त आर्यसमाजियोंमें पाई जाती है। अब कुछ नमूना अन्य आर्यसमाजियोंका भी पाठक देखें।—

(११) अब एक अन्य आर्यसमाजीकी लीला भी देखें। 'ये निखाता ये परोप्ता ये दग्धा ये चोद्धिताः। सर्वान् तान् अग्न! आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे' (अथर्व. १८।२।३४) यह मन्त्र प्रायः सुगम-शब्दों वाला है। यहां मृतकपितरोंका श्राद्ध बताया गया है। इसमें अग्निसे मृत-पितरोंके आह्वानकी प्रार्थना है कि-हे अग्ने! ये-जो मरे हुए पितर निखाताः-आपत्ति आदिके समय गाड़े गये, ये परोप्ताः-जो कारणवश वन आदिमें छोड़ दिये गये, ये दग्धाः-जो जला दिये गये, ये चोद्धिताः-जो युधिष्ठिरादि-की भांति अपनी शक्तिसे या राकेटों द्वारा सशरीर ऊपर

स्वर्गादिमें चले गये, अग्ने–हे अग्नि! तान् सर्वान् पितृन्–उन सब पितरोंको हविषे अत्तवे–हविके खानेकेलिए आवह–बुलाओ।

यहाँपर 'हविषः' इस षष्ठीके स्थानमें 'हविषे' चतुर्थी आई है। 'अत्तवे' कृदन्ती प्रयोग है, इसके योगमें 'कर्तृ-कर्मणोः कृति' (पा. २।३।६२) सूत्रसे 'तवेन्' प्रत्ययके योगमें षष्ठी होनी चाहिये। 'तवेन्' प्रत्यय 'तुमर्थे सेसेन्···तवेङ्तवेनः' (पा. ३।४।९) इस सूत्रसे हुआ है। फिर उस 'हविषः' इस षष्ठीके स्थानमें 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' (वा. २।३।६२) से चतुर्थी होकर 'हविषे' बना है। यहाँ गाड़े हुए, जले हुए आदि दशाओं वाले पितरोंके आह्वानार्थ अग्निसे प्रार्थना की है; क्योंकि–हव्य-कव्य उसी (अग्नि)के द्वारा देवता और पितरोंको दिया जाता है। इसकी स्पष्टता 'मृतक-श्राद्धसिद्धि' में किसी पुष्पमें की जाएगी।

इस मन्त्रका अर्थ आर्यसमाजी श्रीतुलसीरामस्वामीने इस प्रकार किया है, 'ये निखाताः–जो दब गये, ये परीप्ताः–जो इधर-उधर पड़े रह गये। ये दग्धाः–जो केवल फुंक गये; और जो उद्धिताः–ऊपर उड़ गये, अग्ने–अग्नि तान् सर्वान् पितृन्–उन सब मृत-पितृशरीरावयवोंको हविषे अत्तवे–होमके पदार्थ खानेकेलिए आवह प्राप्त करता हूँ, वा करावे'। यहाँ 'पितृ'का अर्थ करनेमें कुछ चालाकी की गई है, पर शेष अर्थ प्रायः ठीक है, अब एक 'व्रजमोहनझा' नामक आर्यसमाजी उपदेशककी इसपर करतूत देखिये। उनने कानपुरके हुए लिखित शास्त्रार्थमें इसका अर्थ यों लिखा—इस मन्त्रका ठीक अर्थ यह है कि–हे अग्ने!

परमात्मन्! जो पृथिवीमें कन्दादिक पैदा होते हैं, और जिन्हें हम बोते हैं, जो दग्ध–भूने हुए पदार्थ हैं, उन सबको खानेकेलिए प्राप्त कराइये'।

इसमें उस उपदेशकसे प्रष्टव्य है कि–'कन्दादि-पदार्थ' यह मन्त्रके किस पदका अर्थ है? यदि 'पितृन्' का यह अर्थ है; तो 'पितृ' पदका 'कन्द' अर्थ किस कोष वा किस निघण्टु वा व्याकरणमें है? क्या यह धूर्तता इस कारण नहीं है कि–यहाँ पर सनातनधर्मसम्मत मृत-पितरोंको भोजन अग्नि वा अग्निके सहोदर ब्राह्मणद्वारा देना सिद्ध न हो जाए, जिससे आर्यसमाजके पक्षका विध्वंस हो जाए? कन्द आदि खानेमें आप ईश्वरको क्यों खींचते हैं? क्या वह आपका नौकर है, जो दग्ध (दग्धका अर्थ 'जलाया हुआ' है, 'भुना हुआ' नहीं, उसकी संस्कृत तो 'भृष्टाः' होती है।) कन्दादि-भोजनको आपको खिलावेगा! क्या पृथिवीमें गाड़े हुए कन्दादिको पृथिवीसे निकालकर वह आर्यसमाजियोंको खिलाता है? यदि ऐसा है; तब तो उसके खानेवाले आर्यसमाजी धन्य हैं।

यदि जनता पठित एवं निष्पक्ष होती; तो ऐसे अर्थ करनेवालेका अपमान करती। यदि मनुका राज्य होता; तो ऐसे उपदेशकको कड़ा दण्ड मिलता। हा! कैसा है यह छल कि–कहीं अपठित जनतामें हमारा मान-भङ्ग न हो जाए? वेदका भले ही अङ्ग-भङ्ग हो; पर इन्हें इससे क्या?

अथर्ववेदके इसी सारे १८वें काण्डमें प्रायः 'पितर' देवता

हैं। तो क्या वहाँ भोज्यपदार्थ ही देवता हैं ? 'न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः' (१३।१२।१) इस निरुक्तके वाक्यको भी भुलाकर, प्रकरणका अनादर करके वादीने स्वतन्त्रता (पृथक्त्व) से अर्थ किया है। क्या समूचे प्रकरणमें 'कन्द' अर्थका समन्वय है ? इसके साथ वाले 'ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। त्वं तान् वेत्थ यदि ते जातवेदः ! स्वधया यज्ञं स्वधितिं जुषन्ताम्' (अ. १८।२।३५) इस मन्त्रमें भी 'ये तान्' इससे 'पितर' ही लिये जाते हैं; तो क्या यहाँ भी जले हुए कन्द आदि ही पितर हैं ? वे द्युलोकके बीचमें स्वधासे कैसे हर्षित होते हैं ?' क्या भोज्य पदार्थ द्युलोकमें निराधार ही ठहरते हैं ? वे तो स्वयं भोज्य पदार्थ हैं; तो स्वधा (अन्न)से कैसे तृप्त होते हैं ? यह है वेदमन्त्र-हत्याका आदर्श !!!

(१२) अब हम एक अन्य आर्यसमाजीकी भी लीला दिखलाकर विस्तारके डरसे इस विषयको समाप्त करते हैं।—

'वाराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय विजिहीते मृगाय' (अथर्व. १२।१।४८) इस मन्त्रमें वराहावतारका सङ्केत है, जिसने प्रलयके बाद पृथिवीका उद्धार किया था। यशःपाल नामक एक आर्यसमाजीने अपनी पुस्तक 'वैदिक-सिद्धान्तदर्पण' में इसका अर्थ किया है—'वाराहका अर्थ मेघ है, वराहस्येदं वाराहम् अर्थात् जल। सूकर-सूर्य सुष्ठु करा रश्मयो यस्य स सुकरः-छान्दसं दीर्घत्वम्। विजिहीते-जाता है। ओहाङ् गतौ इतिधातोः

लटि प्रथमपुरुषस्यैकवचने रूपम्। संविदाना-सम्यक् गच्छन्ती। मृगाय-मृजु शुद्धौ, मार्ष्टि-शोधयतीति मृगः। शुद्ध करने वाला (यजुः ५।२० महीधर) अर्थात् जलके साथ भली-भांति मिली हुई पृथिवी सब पदार्थोंके शोधक सूर्यके चारों ओर घूमती है'।

गया विचारा शब्दकोष ! शोचनीय है तू संस्कृत-साहित्य ! पण्डितो ! समाप्त होगये हो। आप लोगोंके सामने ही संस्कृत-भाषापर कुल्हाड़े चलाये जा रहे हैं। यशःपालजीसे प्रष्टव्य है कि-'सूकर' का अर्थ 'सूर्य' कहांसे लिया ? 'यदि वेदमें यौगिक-शब्द हैं, रूढ वा योगरूढ नहीं' यही इस अर्थ करनेमें कारण है; तो 'पृथिवी' शब्दका जमीनमें रूढ अर्थ कहांसे लिया ? केवल यौगिक अर्थ माननेपर यशःपालजी भी 'सूकर' बन जावेंगे, क्योंकि-इनका हाथ अच्छा है, जो कि-अपनी लेखनीसे अपने मतको बलात् सिद्ध कर देता है ? 'पृथिवी' का अर्थ 'विस्तीर्ण-कीर्ति' ले लिया जाय, वह सूकर यशःपालजीको प्राप्त होती है। वाराहेण संविदाना-वह कीर्ति उत्तम आहारप्रदानसे मिली हुई है अर्थात्-ऐसा अर्थ करनेसे आर्यसमाजी यशःपाल-जीका यश भी करते हैं; और उत्तम आहार (वृत्ति) भी इन्हें देते हैं। और यह मृग भी हैं, इधर-उधर उपदेशार्थ घूमा भी करते हैं, वा अपने आसामियोंको ढूँढा भी करते हैं। अपने मतका मण्डन किया करते हैं, अतः वे मण्डूक भी हैं; दूसरोंका अर्थ चुराया करते हैं; अतः मूषक भी हैं। कैसा अन्वित अर्थ है ?।

अरे छलियो ! छलको छोड़ो, कुछ परमात्माके दण्डसे भी डरो। यदि यौगिक होनेसे 'सूकर' का 'सूर्य' अर्थ करते हो; तो दूसरा अर्थ क्यों नहीं करते ? 'सूकर' से हाथी लीजिये, शोभनः करो यस्य। 'पृथिवी' से मोटी हथनी ले लीजिये। वाराहेण– 'अच्छे आहारसे युक्त' यह अर्थ क्यों नहीं करते ? 'सूकराय' का 'सूर्यके चारों तरफ़' यह अर्थ कैसे किया ? 'वाराहेण' का 'जल' अर्थ निकालना कितना जबर्दस्तीका है ? 'मृगाय' के अर्थ करनेमें महीधरको प्रमाण मान लिया, पर महीधरने अपने भाष्यमें 'सूर्य' अर्थ नहीं किया। तब वादीने महीधरका नाम देकर अपनी कल्पना कैसे की ? उसी मन्त्रमें महीधरने 'कुचरः-मत्स्य-कूर्मादिरूपेण इन्द्रः पृथिव्यां चरति–' यह अवतारवादका अर्थ किया है। कूर्म–आदिके साथ तीसरा अवतार वराह है; तो 'वाराहेण' इस पूर्वोक्त मन्त्रमें 'वराहावतार' अर्थ क्यों नहीं मान लेते, जबकि वह वहाँपर ठीक संगत होता है ? इस कारण यहाँ हमारी वह बात सिद्ध होती है कि–यह लोग यौगिकताके बहाने मन्त्रोंके पदोंकी तोड़मरोड़ करके निज-कल्पित अर्थ कर दिया करते हैं, यही होती है 'वेदमन्त्रहत्या'।

(१३) इसी प्रकार स्वामी दयानन्द आदि मन्त्रोंमें देवतावाद मानकर भी अर्थ उसका देवतावादसे विरुद्ध कर डालते हैं। वहाँ स्वप्रमाणित निरुक्तादिका भी अनादर कर दिया करते हैं। जैसे कि–'द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं' (ऋ. १।१६४।४८) इस मन्त्रका देवता 'संवत्सरात्मा कालः' है, उन्होंने अपने वेदभाष्यमें तथा

स्वप्रकाशित मूलवेदमें भी यही देवता माना है। इसका व... यह हुआ कि–इस मन्त्रमें ३६० दिन तथा १२ मासों ... संवत्सर (वर्ष) का वर्णन है। निरुक्तमें भी इस मन्त्रकेलिए ... लिखा है–'द्वादश प्रधयः–इति मासानाम्' ·'षष्टिश्च ह वै त्रीणि शतानि संवत्सरस्य अहोरात्राः' (४।२७।१) पर स्वा.द.जी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृ. २०७) में 'हवाई-जहाज़' का अ... कर डाला; उसकी ३६० कीलें और १२ दर्वाजे बता दिये। ... की है कपोल-कल्पना !!!

सो यह विद्वानोंका कर्त्तव्य है कि–यौगिकताके बहाने ... वेदमन्त्रोंकी हत्या की जा रही है, अपने अर्वाचीन दयानन्दी वा मनमाने सिद्धान्त जो उनसे तोड़-मरोड़ करके निकाले जा रहे हैं; इनको रोकें। नहीं तो वेदोंकी दुरवस्था हो जाएगी–और इन लोगोंकी इस कार्यवाहीसे वेदोंको ही लोग अप्रमाण मानने लग जाएँगे।

---

(६) क्या सनातनधर्ममें परिवर्तन हो सकता है ?

सनातनधर्म संघटनका विरोधी नहीं है, इसका स्वरूप ही संघटनमय है। सनातनधर्मके द्वारा इतनेसे ही संघटन प्रत्यक्ष है कि–हम दूसरे वर्णके धर्म-कर्म एवं वृत्तिपर डाका न डालते हुए अपने-अपने वर्णके धर्म एवं कर्त्तव्य एवं वृत्तिका अनुसरण करते हुए संसार-यात्राका निर्वाह करते हैं। सनातनधर्म के स्वरूप पर हमें विचार करना है। सनातनधर्म आदि-अन्तवाला धर्म

नहीं है। हम उस धर्मके अनुयायी हैं, जिसका उदय-अस्त कभी नहीं होता।

सुधारक कहते हैं कि-सनातनधर्म क्या वस्तु है? सनातनसे आते हुए धर्मका अनुसरण ठीक नहीं है। यह तो 'लकीरका फकीर' होना है। समय परिवर्तनशील होता है; अतएव बदलता रहता है। समयकी परिवर्तित परिस्थितिके अनुसार धर्म भी बदलता रहता है'।

इसपर कुछ विचार किया जाता है। यह ठीक है कि-आज पुराना समय नहीं है। कभी मट्टीका दीया, देसी तेल, रूईकी वत्ती द्वारा साधारण प्रकाश दिया करता था। इसमें अनेक परिवर्तन हुए। आज बिजलीकी लाईट मिलती है। सुधारकोंका कहना है कि-क्या आज भी टिमटिमाते हुए मट्टीके दीपकका आश्रयण बुद्धिमत्ता है? कभी बैलगाड़ी चलती थी, यही एकमात्र सवारी थी। आज रेलगाड़ी, ट्राम, मोटर, हवाई-जहाज आदि विद्यमान हैं। आजकी पुरानी लकीरको पीटते हुए क्या बैलगाड़ी से यात्रा करनी चाहिये? सुधारक कहते हैं-देखिये-समयका प्रवाह बहुत प्रबल होता है, उसके अनुसार जो धर्म चलेगा; वह स्थिर रहेगा। समयकी गतिसे विरुद्ध चलनेवाला धर्म स्थिर नहीं रह सकता। समय उसे उठाकर परे फेंक देगा'।

जो लोग ऐसा कहते हैं, उनके दृष्टिकोणमें धर्म एक सामयिक कानून है। कानून परिस्थितिके अनुसार बदलते रहते हैं।

उनके परिवर्तनार्थ व्यवस्थापक सभाएँ नियत की जाती हैं। इसलिए वे कहते हैं कि-इस बीसवीं शताब्दीमें सृष्टिकी आदि-की मनुस्मृति प्रमाण नहीं हो सकती। नवशिक्षित मनुस्मृति तथा सनातनधर्मके नामसे ही संकुचित होते हैं। वे नवयुगकी शिक्षाको पसन्द करते हैं, और कहते हैं कि-जब तक सनातन-धर्ममें परिवर्तन न होगा, तब तक उसमें कोई सार नहीं रहेगा। यूनान, मिश्र आदि देशोंकी प्राचीन संस्कृति तथा प्राचीन धर्मको प्रमाणित करके वे कहते हैं कि-वहांके धर्मोंमें परिवर्तन होगये हैं; तब हमारे धर्ममें भी परिवर्तन क्यों न हो?

(२) 'आलोक' पाठक सोचें कि-क्या ऐसा कहने वाले सच कहते हैं? यदि हम इस विषयमें गम्भीरतासे विचार करें; तब सबसे पूर्व विचारणीय यह होगा कि-धर्म है क्या? क्या धर्ममें परिवर्तन होता है; अथवा धर्म सनातन होता है? यदि धर्म बदलता रहने वाला पदार्थ है; तो हमें भी उसमें परिवर्तन करना पड़ेगा; परन्तु देखा यह जाता है कि-सनातन-धर्मका तब तक परिवर्तन नहीं होता; जब तक धर्मी (धर्मवाले) का लोप न हो जाए। तभी कहा गया है-'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः'। यह ठीक भी है; क्योंकि-'धर्म' शब्द संस्कृत-भाषाका है; उसकी सिद्धि धृञ्-धातुके आधार पर है। संसारकी प्रत्येक जड़-चेतनात्मक वस्तुका स्वरूप अपने धर्मके आधार पर अवलम्बित है। यदि वस्तुका धर्म न रहे; तब वह वस्तु अपने स्वरूपसे

गिर जाती है; इसी कारण धर्म-विरुद्ध कर्मको पातनका कारण होनेसे 'पातक' कहा जाता है।

देखिये—अग्निके बिना किसीका भी कार्य-निर्वाह नहीं होता। उस अग्निके प्रकट करनेके भी कई-तरहके प्रकार होते हैं। पहले अग्नि अरणिमन्थनके द्वारा प्रकट की जाती थी जैसेकि—आजकल यज्ञ आदियोंमें की जाती है। अग्निके प्रकट करनेके प्रकार कैसे-कैसे बदले; इसमें प्रमाण इतिहासमें भरे पड़े हैं। आज विज्ञानने दियासलाईके घिसनेसे अग्नि प्रकट करनेका प्रकार आविष्कृत किया है। आगे इससे भी अच्छा प्रकार ढूँढा जावेगा। आजकल 'लाईटर' से सिगरेट जला ली जाती है; आजकल 'हीटर' में बिजलीका बटन दबाकर आगको प्रकट करके उससे यथायोग्य कार्य ले लिया जाता है। पर यह सब परिवर्तन केवल प्रकारोंमें हुआ है। अग्निके धर्ममें परिवर्तन कुछ भी नहीं हुआ। अग्निका सनातन-धर्म उष्णता है; वह अब भी वैसा है। बाह्य साधन तो बदल सकते हैं; पर धर्म नहीं। वह तो सनातन है।

अब जलकी प्राप्तिके साधनोंमें भी बड़े परिवर्तन होगये हैं; पर धर्म जलका भी वही सनातन है, जो लाखों वर्षोंसे था। उसका धर्म प्यास बुझाना और शीतलता है। क्या उसमें परिवर्तन हुआ है ? नहीं; वह तो यथावत् है। प्रकाशके भी प्रकार बदल गये हैं। प्रकाशका धर्म है अन्धेरेको दूर करना। वह भी सनातन-धर्म अब भी वैसा है। जब कोई भी जड़ वा

चेतन, पशु वा पक्षी अपने सनातन-धर्मको नहीं बदलता; तब क्या मनुष्य ही ऐसा निकृष्ट है कि—वह अपने सनातन-धर्मको छोड़ देता है ?। यदि ऐसा करता है; तो उसे अपना आत्मा प्रिय नहीं है, वह उस आत्माके भोग-साधन शरीरको अकालमें ही कालकवलित कराना चाहता है। इससे सिद्ध है कि—मनुष्यको भी अपना सनातनधर्म न छोड़ना चाहिये। अपने सनातनधर्मके त्यागसे अग्नि, अग्नि नहीं रह जाती, भस्म हो जाती है; जल, जल नहीं रह जाता, कीचड़ वा भाप बन जाता है। वृक्ष अपने धर्म पुष्प-पत्रादिसे रहित होकर स्थाणु (ठूँठ) हो जाता है। तब मनुष्य अपने सनातनधर्मके त्यागसे मनुष्य कैसे रह सकता है ? धर्म वही है जो एक स्वरूपमें रहे।

गाय सनातनसे घास खाती है और दूध देती है। शेर सनातनसे ही शिकारको पसन्द करता है। कोयलकी मधुर भाषा अनादिकालसे वैसी चली आ रही है। इस प्रकार जब जड़-चेतन किसी भी वस्तुका सनातनधर्म कभी भी नहीं बदलता; तब क्या मनुष्य ही एक निम्न है, जो बार-बार धर्मका परिवर्तन करे ? यह ठीक नहीं, उसे भी धर्ममें दृढ रहना चाहिये; अन्यथा वह अपने स्वरूपका नाश कर बैठेगा। प्रकारका भी परिवर्तन उचित नहीं होता। मट्टीके दीपकको छोड़कर जो कि—बिजुलीका दीपक लिया जाता है, उसमें कैसी पराधीनता है ? बिजलीके इञ्जनके विकृत होनेपर दीपावलीके दिन सारा नगर ही अन्धकारमय हो जाता है। चक्कीको छोड़कर गेहूँ पीसनेकी मशीनके

होनेपर उसमें विकृति आनेपर घरमें अन्न होते हुए भी भूखा रहना पड़ेगा; अथवा उसका निस्सार जला हुआ आटा खाना पड़ेगा, जिससे अपेक्षित पुष्टि नहीं होगी।

नियम बदलते रहते हैं। सरकारके प्रतिनिधि राष्ट्रपति आदिका शासनकाल पाँच वर्षोंके बाद बदल जाता है। यदि नया प्रतिनिधि आकर परिस्थितिमें परिवर्तन देखे, अथवा पहलेके कानूनके बनानेके समयमें की गई असावधानताका विश्लेषण करे; तब जाकर कानून बदलता है; नहीं तो कानून भी नहीं बदलता।

धर्मको ही लीजिये। ईसाइयोंसे पूछिये कि-आपके पूर्वज किस धर्मको मानते थे?। वे कहेंगे कि-उनके पूर्वज यहूदी धर्मको माननेवाले थे। पर अब वे उस धर्मको नहीं मानते। यह क्यों? इसलिए कि-नये पैगम्बर 'ईसा' के आनेके पीछे पहलेके धर्ममें परिवर्तन होगया। मुसलमान पहले ईसाई-धर्मको मानते थे। आज भी वे ईसाको पैगम्बर मानते हैं; परन्तु हज़रत मुहम्मदके इस्लामधर्मके प्रचारके पीछे वे आवश्यक मानते हैं कि-पुराने धर्मका अनुसरण न करके नये 'इसलाम' धर्मका अनुसरण किया जावे। इसका यह अभिप्राय हुआ कि-नये पैगम्बरके आनेपर पुराने पैगम्बरके स्थापित धर्ममें परिवर्तन हो सकता है।

परन्तु हमारे सनातनधर्मका 'पैगम्बर' कहाँ है? इसका तो कोई भी 'नबी' वा 'पैगम्बर' नहीं। यदि है भी; तो वह

अनादि-सिद्ध परमेश्वर है। उसका नया 'पैगम्बर' नया परमेश्वर जब तक न आवे; तब तक सनातनधर्ममें परिवर्तन नहीं हो सकता। न तो ईश्वर बदलता है; न ही उस-द्वारा धर्म बनानेके समय कोई त्रुटि रही। तब उस ईश्वरसे जारी किये सनातनधर्ममें भी परिवर्तन क्यों वा कैसे हो? सनातनधर्म नहीं बदलता। हाँ, सम्प्रदाय वा मत बदलते रहते हैं; क्योंकि-वे मनुष्योंसे प्रवर्तित किये जाते हैं। वह मानुषी धर्माभास स्वयं ही परिवर्तनशील रहेगा; किन्तु सनातनधर्म प्रकृति-सिद्ध ईश्वरीयनियमनियन्त्रित धर्म है; इसी कारण इसमें परिवर्तन भी कभी नहीं होता।

जो पदार्थ पहले तमोगुणी थे; वे अब भी वैसे हैं; इसलिए मद्य आदि तमोगुणी पदार्थ जो वर्जित हैं; वे आज भी वैसे ही छोड़ने योग्य हैं। तब फिर धार्मिक-बन्धनोंमें शिथिलता कैसे हो? हम देखते हैं कि-सनातनधर्मकी छोटीसे छोटी बातको भी जब वैज्ञानिक-कसौटीमें कसा जाता है; तब वह खरी उतरती है। जैसे गोबरके लेपको ही ले लीजिये। तीस-चालीस वर्षोंसे पहले हमपर उपहास किया जाता था कि-हिन्दुओंके पूर्वजोंने यह पशुकी टट्टी लेपकेलिए क्यों नियमित की है? कोई उत्तम वस्तु उन पूर्वजोंके ध्यानमें नहीं आई; तब वे गोबरसे कार्य न करते; तो किससे करते? उनको गोबरके स्थान सीमेण्टसे कार्य लेना चाहिये था; जिसके उपयोगको न जानते हुए ही पुराने लोग गोबरका उपयोग करने लगे' पर आज वैज्ञानिकोंने

सिद्ध कर दिया है कि—गोबरमें ऐसा अद्भुत विशेष गुण विद्यमान है जो कि—बाहरी दोषको संक्रान्त करनेका अवसर ही नहीं देता। वैज्ञानिकोंके ध्यानमें यह बात अभी आई है; पर हमारे प्राचीन-महानुभाव तो यह सनातन-कालसे ही जानते थे; इसीलिए गोबरका लेप करते थे।

जिस घरमें शालग्राम तथा तुलसी और गाय न हो; उस घरको हमारी सभ्यतामें श्मशानके समान माना जाता है। बङ्गालमें एक यूरोपियनने कुछ भूमि खरीदी थी। उसमें बगीचा लगाना चाहा। उसने देखा कि—मजदूर लोग वहां दो दिन काम करनेमें ही मलेरिया-बुखारसे पीड़ित हो जाते हैं। अपने एक भारतीय-मित्रकी सम्मतिसे उसने बगीचेके चारों ओर तुलसी लगाई। ऐसा करनेपर उस स्थानसे मलेरियाका प्रकोप हट गया। यह बात यूरोपियनोंकेलिए नई हो सकती है; पर सनातनधर्मी लोग तो तुलसीको सनातनसे ही तीन प्रकारके तापोंको दूर करने वाली मानते हैं।

(३) अब वर्णव्यवस्थाको ही लीजिये। प्रत्येक वर्णके खान-पान एवं आचारके नियम अलग-अलग हैं। एक वर्णका सम्बन्ध यदि दूसरे वर्णके साथ हो; तो वर्णसङ्करता हो जाती है, जिसे आजकल गाली माना जाता है। आजकल इस वर्णसङ्करताकेलिए कई व्यक्तियोंकी उत्कट अभिलाषा रहती है। वे इसीमें भारतकी उन्नति समझते हैं। डा० गौडने वर्णसङ्करी कानूनको पारित करनेकेलिए महान् परिश्रम किया था। अन्तमें वह उसे पास

कराकर ही प्रसन्न हुए थे। अमेरिकाके डा० इब्राहीमने इ विषयमें ३५ साल तक निरन्तर रिसर्च करके एक यन्त्र आविष्कार किया था। यह यन्त्र रक्त-परीक्षा करके बताता है कि—अमुकका स्वभाव कैसा है ? वह अपने माता-पितासे पैदा हुआ-हुआ है या नहीं ? इस यन्त्रमें दो 'पेण्डुलेम' हैं। इनमें यदि सगोत्र स्त्री-पुरुषका रक्त डाला जावे, तो उसका स्पन्दन रु जाता है। विभिन्न दो जातियों का रक्त डालें; तो उनकी गति अत्यन्त तीव्र होती है। पर जिस रक्त-सम्बन्धमें शास्त्रकी अनुमति है, वहां कुछ भी विशेष परिवर्तन नहीं होता।

इसमें उक्त डाक्टरने यह परिणाम निकाला था कि—नैकटिक सम्बन्धसे या तो कुल लुप्त हो जाता है, या सन्तान निर्बुद्धि होती है। दूसरे प्रकारके सम्बन्धसे उत्पन्न सन्तानमें माता-पिताके अवगुण तो सारे आएँगे; परन्तु गुण नहीं आवेगा। तीसरे शास्त्रानुमत-सम्वन्धमें सब ठीक रहता है। मनुस्मृतिमें भी देखिये—यही लिखा है या नहीं ? बींसवीं शताब्दीका विज्ञान आज जो कुछ कहता है; सनातनधर्मने उसीकी लाखों वर्षोंसे पूर्व ही शिक्षा दे रखी है।

(४) और देखिये—जितने देवता हैं, सभीकेलिए पृथक्-पृथक् स्तोत्र हैं, जिनका भक्त लोग ध्यानपूर्वक उच्चारण करते हैं, आप यहां कहते हैं कि—यह किसलिए ? इसपर सुनिये—

एक यूरोपियन-स्त्री काला बोर्ड और चाक तथा बिजुलीकी तारको जोड़कर मनो-विनोदार्थ गानेकेलिए शुरू हो गई। कुछ

समयके बाद उसने आश्चर्यसे देखा कि–काले बोर्ड पर विशेष रेखाएँ बन गई हैं। विचारनेसे उसने जाना कि–यह गीतकी मूर्ति है। तब उसने अपना धार्मिक गाना गाकर फिर परीक्षा शुरू की। ईसाई धर्मका गाना गाया। उससे काले बोर्ड पर एक स्त्री और एक शिशुका चित्र बन गया दिखाई दिया, जिसे उसने ईशु तथा उसकी माता मरियमका चित्र जाना।

उसने अनुसन्धान करके एक भारतीयको बुलवाया, और अपना धार्मिक गाना गानेकेलिए उसे प्रेरित किया। उसने टूटा-फूटा 'कालभैरवाष्टक' गाया। अष्टककी समाप्तिमें काले तख्तेपर खण्डित कालभैरवका चित्र बना हुआ दिखाई पड़ा। शब्द करनेसे बिजलीके तारमें स्पन्दन होता था; उससे बँधा हुआ चाक हिलकर बोर्डपर रेखाएँ करने लग जाता था। इससे यह सिद्ध हुआ कि–उपासना वा ध्यान वैज्ञानिक हैं। जैसे-जैसे हमारी साधना पूर्ण होती जाती है; वैसे-वैसे आकाशमें हमारे इष्टदेवका चित्र बन जाता है। कभी वह प्रकट होकर हमें वर देता है।

जब इस प्रकार अनुसन्धानके परीक्षणोंके बाद हमारे सिद्धान्त सत्य निकल रहे हैं; तब हम अपने सिद्धान्तोंको क्यों छोड़ें? कीटाणुओंका संक्रमण आप डाक्टरोंके कहनेसे मानते हैं; पर ऋषि-मुनियोंकी इस बात पर आप विश्वास नहीं करते कि–पास ठहरनेसे, स्पर्शसे और बातचीतसे पापका संक्रमण हुआ करता है।

सनातनधर्मके संघटनकेलिए उसके सिद्धान्तोंका प्रचार

अत्यावश्यक है। अब दो सभ्यताओंका संघर्ष हो रहा है। हमारी सभ्यता पारलौकिकताको आश्रित करती है, और पाश्चात्य सभ्यता ऐहलौकिकताको। नवशिक्षित-समुदाय धर्मानभिज्ञ होनेसे अशिक्षित-वर्गको सनातनधर्मसे च्युत करता है। वह उन्हें पाश्चात्य-गढ़ेमें गिराना चाहता है; आप उन्हें धर्मका रहस्य समझावें; तब वे ठीक मार्ग पर स्वयं आ जाएँगे। इससे अन्य भी धर्मारूढ होंगे।

ईसाइयोंकी बाईबलका घर-घरमें प्रचार किया जाता है; तदर्थ सभा-सोसायटियाँ बनी हुई हैं; जो उनकी लाखों पुस्तकें प्रकाशित करके सभीके हाथों पहुँचाती हैं। दूसरे अर्वाचीन समाज भी अपना-अपना प्रचार-कार्य किया करते हैं; परन्तु सनातनधर्मकी ओरसे ऐसा उद्योग नहीं होता। आपके धार्मिक सिद्धान्तोंके खण्डनार्थ अगणित ट्रेक्ट प्रचारित किये जाते हैं। पर उनके खण्डक एवं अपने सिद्धान्तोंके मण्डक ट्रेक्टोंका अभाव ही है। हम पुरुषार्थ स्वीकार नहीं करना चाहते। धर्मकी रक्षा तो वही परमात्मा ही करेगा, जिसने रक्षाकी प्रतिज्ञा की हुई है, पर आप लोग सिद्धान्तोंका प्रचार एवं आचरण तो करें!

—(श्री गि. शा. च.)

फलतः सनातनधर्म अपरिवर्तनशील है। अथर्ववेदमें कहा गया है—'सनातनमेनमाहुः उताद्य स्यात् पुनर्णवः। अहोरात्रे प्रजायेते अन्योअन्यस्य रूपयोः' (शौ.सं. १०।८।२३) इस मन्त्रमें सनातनधर्मकी व्याख्या की गई है कि–जो पदार्थ पुराना होता

हुआ भी आज भी नया दिखलाई पड़ता है; वही सनातन होता है। इस मन्त्रमें उसकेलिए उत्तम दृष्टान्त दिया गया है। हम नित्य देखते हैं कि-रातके बाद दिन और दिनके बाद रात्रि आती है। यह प्रवाह अनन्तकालसे चलता है। एक दिन वैसा होता है, जैसा कि दूसरा दिन। एक रात वैसी होती है; जैसी दूसरी रात। सब दिन और सब रातोंके रूपोंमें कोई अन्तर नहीं होता। इसलिए यह कहा जाता है कि-यह प्रवाह सनातन है। समयका परिवर्तन इनके रूपमें परिवर्तन करनेमें समर्थ नहीं होता। इसी कारण सनातनधर्मको त्रिकालाऽबाधित-धर्म भी कहते हैं। ईश्वरको भी सनातन इसलिए कहा जाता है कि-पुरानेसे पुराना भी वह नयेसे भी नया है। उसमें पुरानेपनकी जर्जरता नहीं। तब उससे कहा हुआ धर्म भी सनातनधर्म हुआ करता है। इस विषयमें छठा पुष्प देखें।

वह सनातनधर्म पुराना होता हुआ भी नया है, और नया भी वह पुराना है; अर्थात् उसमें कुछ भी नहीं बदलता, न बदलना सम्भव है। दो पुरुष और दो पुरुष मिलकर चार पुरुष होते हैं। दो रोटियां और दो रोटियां मिलकर चार रोटियां होती हैं। दो घर और दो घर मिलकर चार घर होते हैं। यह सनातनधर्म है, क्योंकि-किसी भी युग वा किसी भी देशमें यह बदल नहीं सकता। इसमें पुरुष, रोटी तथा घर तीनों ही बदलने वाले हैं। इनमें प्रतिक्षण कुछ परिवर्तन होता ही रहता है। अतः इनको सनातन नहीं कहा जा सकता; परन्तु दो-दो

मिलकर चार बनते हैं, यह धर्म पुरुष-शरीरोंके परिवर्तनके अन्तर्गत नहीं होता; न रोटियोंके और न घरोंके परिवर्तनके अन्तर्गत हैं। वह धर्म तो भूत एवं भविष्यत्से भी अतीत एवं अबाधित है। इसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता; इसलिए वह नित्य-सनातन है। हम ऐसे किसी भी देश-कालकी कल्पना नहीं कर सकते; जहां वा जब दो-दो मिलकर चार न बनते हों, या चार न बने हों; या चार न बनेंगे। हमारा विज्ञान दिनोंदिन उन्नत हो रहा है, नये-नये उसमें अन्वेषण हो रहे हैं, फिर भी दो-दो मिलकर आज भी चार ही बनते हैं। उसमें उन्नतिका कोई अवकाश नहीं; इस कारण यहां सनातनता है।

सामयिक-नियम बदलता है, सनातन नहीं। उनको रस्मो-रिवाज कहते हैं, धर्म नहीं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि-मनुष्यका जो मुख्य-धर्म है, वह मनुष्यकी विभिन्न परिस्थितियोंमें भी समान ही रहता है। उसीको वेदादिशास्त्रोंमें 'सनातनधर्म' कहा है। पुरुषोंकी परिस्थितियां विकृत वा परिवर्तित हो सकती हैं, धर्म नहीं। उन परिस्थितियोंमें भी यदि गम्भीर सूक्ष्म-दृष्टि डाली जावे; तब भी एकता एवं सनातनता प्रतीत होगी। मनुने संसारके व्यवस्थापक धर्मके दस अङ्ग कहे हैं—'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्' (६।९२) यह दसों धर्मलक्षण युगविशेष वा देश-विशेषमें सीमित नहीं हैं। यद्यपि यह संन्यासीकेलिए मुख्यतया हैं; तथापि सामान्यतया सबकेलिए हैं। ऋतुओंका परिवर्तन

इतको नहीं बदल सकता। शीतकाल वा उषाकालसे प्रभावित नहीं हुआ करते। इन धर्मलक्षणोंमें पौरस्त्य वा पाश्चात्य देशोंकी अपेक्षा नहीं है। तब हम कह सकते हैं कि-मनुप्रोक्त यह धर्म तथा इस धर्मके आश्रयसे ऋषि-मुनियोंसे बनाये हुए नियम सनातनधर्म है।

प्रायः लोग नियम और परिस्थितिमें भेद नहीं जानते; अतः वे भ्रममें रहते हैं। तब वे भिन्न-भिन्न देशकालोंमें भिन्न-भिन्न धर्मोंकी कल्पनाएँ कर रहे होते हैं। इससे अर्थके स्थानमें अनर्थ हो जाता है। अनेक भ्रामक विचार जनतामें चल पड़ते हैं। उसका मुख्य कारण है कि-अतत्त्व तथा तत्त्वमें भेद करनेकी शक्ति प्रत्येक पुरुषमें नहीं हुआ करती। यह सच है। अतः मनुष्योंसे बनाये हुए जो नियम भिन्न-भिन्न देशकालोंमें परिस्थितिके अनुसार प्रचलित दीखते हैं; वे त्रुटि-पूर्ण हुआ करते हैं। उनका आधार है पुरुषविद्याकी अपूर्णता। तब हमें उचित है कि-पुरुषप्रणीत नियमोंको छोड़कर हम सनातनधर्मके नियमों-का अनुसरण करें, जो श्रुति-स्मृतियोंमें बताये गये हैं; जिनका 'श्रीसनातनधर्मालोक'में हम वर्णन कर चुके हैं; या कर रहे हैं, और करेंगे भी। उनसे ही हमारा कल्याण होगा।

(१०) "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" (छ)*

(वर्णव्यवस्था-विषयमें प्राचीन और अर्वाचीन पक्षका तारतम्य)

वेद और सनातनधर्म पर हम बहुत विचार कर चुके; आजकल सनातनधर्मके मूल-सैद्धान्तिकविषय वर्णव्यवस्था विषय पर बहुत प्रहार चलता रहता है; अतः अब वर्णव्यवस्थापर विचार किया जाता है।

आजकल यह प्रश्न बहुत चालू है कि-ब्राह्मणादि वर्ण गुण-कर्मसे हैं, अथवा जन्मसे? इसपर अर्वाचीनपक्षका यह मत है कि-ब्राह्मणादि वर्ण गुण-कर्मसे हैं। प्राचीनपक्ष इसपर यह कहता है कि-ब्राह्मणादि वर्ण तो जन्मसे होते हैं, पर उनका सम्मान अपने-अपने गुण-कर्मसे होता है। यह दोनों ही पक्ष अपना मत वेदानुगृहीत बताते हुए इस विषयमें यह मन्त्र देते हैं—

'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत' (यजुः वा. सं. ३१।११, यजुःकाण्व. ३५।११, ऋसं. १०।९०।१२, अथर्व. १९।६।६, कृ. य. तैत्तिरीयार. ३।१२।१३)

(१) आजका अर्वाचीन-पक्ष इस मन्त्रका यह अर्थ करता है कि-ब्राह्मण उस पुरुष-समाजका मुख था, और क्षत्रिय बाहु था।

---

* इस विषयका पूरा ज्ञान करनेकेलिए 'आलोक' का ४र्थ पुष्प ९) तथा षष्ठ पुष्प १०) मँगाइये। उनमें 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' (क, ख, ग, घ, ङ, च) देखिये। (छ) में उनकी स्पष्टता होगी।

वैश्य उसका ऊरू था, और शूद्र उसका पाँव था। इससे वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मकृत है। मुखवाले गुण-कर्म ज्ञानादि जिसमें हों, वह ब्राह्मण; जिसमें बाहु, ऊरू और पाँव वाले बल, घूमना-घामना, मूर्खता आदि गुणकर्म हों; वे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं। इससे वर्णव्यवस्था गुणकर्मसे है।

(ख) प्राचीन-पक्ष उक्त मन्त्रका यह अर्थ करता है कि-'ब्राह्मण उस पुरुष (परमात्मा) के मुखसे उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय उसके बाहुसे उत्पन्न हुआ, वैश्य उसके ऊरूसे हुआ, और शूद्र उसके पाँवोंसे उत्पन्न हुआ'। यहाँ ब्राह्मणादि-वर्ण सृष्टिकी आदिमें परमात्माके उन-उन अङ्गोंसे उत्पन्न हुए बताये गये हैं, अतः वर्ण-व्यवस्था भी उत्पत्तिसे-जन्मसे हुआ करती है।

(२) इस पर अर्वाचीन (आजकलका) पक्ष कहता है कि-इस मन्त्रसे पूर्व मन्त्र यह है-'यं पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत्, किं बाहू, किमूरू पादा उच्येते' (यजुः ३१।१०) इस मन्त्रमें प्रश्न है कि-पूर्व-अभिहित पुरुषका अर्थात्-मानव-समाजका मुख क्या था? बाहु क्या थे? ऊरू-पाँव क्या थे?। इसमें यह नहीं पूछा गया कि-परमात्माके मुखसे क्या उत्पन्न हुआ? उसके बाहु, ऊरू तथा पाँवसे क्या पैदा हुआ? जब पैदा होनेकी बात ही नहीं; तब वर्ण-व्यवस्था उत्पत्तिसे-जन्मसे कैसे हो सकती है?। तब 'मुख क्या था?' का उत्तर दिया गया है कि-ब्राह्मण मुख था, अर्थात् मुखके समान अच्छे गुण-कर्मों वाला था। बाहु, ऊरू क्या थे-का उत्तर क्षत्रिय-वैश्य-

बाहु-ऊरू थे। 'कौ पादा उच्येते' पाँव क्या थे-का उत्तर हुआ-'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' अर्थात्-शूद्र पाँव था, पाँवोंके गुण-कर्मों वाला था। यहाँ पञ्चमीके अर्थके आनेकी कोई गुञ्जायश नहीं; अतः मन्त्रमें पञ्चमी प्रथमाविभक्तिके अर्थ वाली है। तब वर्ण-व्यवस्था भी गुणकर्मसे ही वेदसम्मत हुई।

(ख) इसपर प्राचीनपक्ष कहता है कि-यदि 'अस्य मुखं किम् आसीत्...पादौ कौ उच्येते' का यही अर्थ है कि-'मुख क्या था, और पाँव कौन'? तब 'पादौ कौ' का 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' यह पञ्चमी-विभक्तिसे उत्तर कैसे दिया गया? वेदको यहाँ व्यर्थ ही पञ्चमी-विभक्ति रखनेका स्वप्न कैसे आगया? 'पादौ शूद्रो अजायत' इस प्रकार प्रथमासे क्यों नहीं कहा गया? यहाँ 'पञ्चमी' विभक्तिसे सिद्ध हुआ कि-'दालमें कुछ काला है' अर्थात् अन्तिम-पाद तो उपसंहार एवं निष्कर्षका निर्णायक हुआ करता है-उसमें पञ्चमी-विभक्ति देनेसे सिद्ध हुआ कि-सब पादोंमें पञ्चमी-विभक्तिका अर्थ करना चाहिये। जब ऐसा है तो पञ्चमी-अर्थके कारण वर्णोंकी व्यवस्था भी जन्मना हुई।

(३) इसपर अर्वाचीन-पक्ष कहता है कि-उत्तरमन्त्रका अन्तिम एक पाद भला उत्तरमन्त्रके तीन पादोंको तथा प्रश्नमन्त्रके अन्तिम दो पादोंको कैसे खैंच लेगा? बल्कि-वह तो स्वयं ही प्रश्नमन्त्रके दो पादों तथा उत्तरमन्त्रके तीन पादोंसे खिंचता हुआ चला आवेगा। अतः यहाँ प्रथमाका अर्थ ही रहेगा, पञ्चमीका नहीं। तब वर्ण-व्यवस्था भी जन्मना न रह सकेगी।

(ख) प्राचीनपक्ष इसपर प्रत्युत्तर देता है कि—चतुर्थपाद मन्त्र-का अन्तिम चरण है; तब उसे भला पञ्चमी रखनेका स्वप्न कैसे आया ? अन्तिम-वक्तव्य वा उपसंहार ही निर्णायक हुआ करता है। उससे वक्तव्यके निचोड़का पता लगता है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि-मन्त्रको यहाँ सर्वत्र पञ्चमीका अर्थ इष्ट है। पञ्चमी अर्थ सिद्ध हो जानेसे वर्ण-व्यवस्था भी जन्मना सिद्ध हुई।

न केवल यही अन्तिम पाद ही पञ्चमी अर्थका साक्षी है, बल्कि-इससे अग्रिम सम्पूर्ण दो मन्त्रोंकी भी पञ्चमी अर्थमें साक्षी है। जैसेकि—'चन्द्रमा मनसो जातः, चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च, मुखाद् अग्निरजायत' (३१।१२)। 'नाभ्या आसीद् अन्तरिक्षँ, शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः, श्रोत्रात् तथा लोकान् अकल्पयन्' (३१।१३) पूर्वपक्षके साधक तो पाँच पाद थे, पर उत्तरपक्षके साधक नौ पाद हैं। तब नौ पादोंसे पाँच पाद स्वयं खिंच आवेंगे। सबसे बड़ी बात यह है कि यह सूक्त सृष्टिसूक्त है। सृष्टिसूक्तमें स्वभावतः परमात्माका ही वर्णन और सृष्टिके मन्त्रमें पञ्चमी-विभक्ति होना स्वाभाविक है। सृष्टि परमात्मा ही करता है, मनुष्य सृष्टि नहीं बनाता। अतः पुरुषसूक्तका 'पुरुष' परमात्मा ही इष्ट है, पुरुषसमाज नहीं।

(ग) ऋग्वेद सबसे पहला वेद माना जाता है। उसकी संहितामें पुरुष-सूक्तके जो मन्त्र हैं, और जो क्रम है, पहले उसकी साक्षी भी देख लेनी होगी। ऋग्वेदसं.में सप्तम मन्त्र है— 'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः' (१०।९०।७)। यहां

पुरुषको 'यज्ञ' बताया गया है, सो यज्ञ-पुरुष यजनीय-पुरुष 'यज्ञो वै विष्णुः' (शत. १।१।२।१३, निघं. ३।१७) विष्णु भगवान् ही हैं; अतः यहां पुरुष-समाज अर्थ नहीं हो सकता। फिर अष्टम-मन्त्र है—'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतं' इसमें सबसे आहूयमान यज्ञ-पुरुष वही विष्णु-भगवान् इष्ट हैं। फिर नवम-मन्त्र 'तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (ऋ सं० १०।९०।९) यह है। यहां भी उसी यज्ञ-पुरुष विष्णुसे वेदोंकी उत्पत्ति बताई गई है, और पञ्चमी-विभक्ति ही दी गई है, पुरुष-समाजसे नहीं।

यदि 'पुरुष-समाज' अर्थ यहां किया जावेगा, तो वेद भी पुरुषकर्तृक-पौरुषेय हो जावेंगे। परन्तु यह अनिष्ट है। आदिमें 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (ऋ. १०।९०।१) कहा गया है; तो ऐसा पुरुष परमात्मा ही है। उसीसे ही वेदोंका प्राकट्य कहा गया है। आगे दशम-मन्त्र 'तस्माद् अश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्माद्, तस्माज्जाता अजावयः' यह है। इसमें उसी यज्ञपुरुषसे अश्व आदि पशुओंकी उत्पत्ति बताई गई है; और इसमें भी पञ्चमी-विभक्ति ही दी गई है। पशुओंकी इस उत्पत्तिमें मनुष्यकी उत्पत्तिका कोई प्रसङ्ग नहीं; तब तदर्थ कई व्यक्तियोंका प्रयत्न उनके 'ब्राह्मणोऽस्य'में प्रथमा-विभक्तिके पक्षकी शिथिलताको प्रमाणित करता है। पशुओंकी उत्पत्ति भी परमात्मासे यहां कही गई है, मनुष्य-समाजसे नहीं।

इसके बाद ग्यारहवां अव्यवहित-मन्त्र यह है जोकि प्रकृत है—

'यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन। मुखं किमस्यासीत्, किं बाहू, किमूरूपादा उच्येते' यहाँ उसी यज्ञपुरुष-विष्णुभगवान्के मुख-आदिका कार्य पूछा गया है। अतः यहाँ प्रथमा दीख रही है। भाव इसका भी पञ्चमी-विभक्तिका ही निकलता है—'अस्य-सहस्र-शीर्षे पुरुषस्य मुखात् किम्—उत्पादनम्, आसीत्? कि बाहुभ्याम्? ऊरु-पादाभ्यां किमुत्पन्नमुच्यते?

फिर बारहवां—मन्त्र पूर्व प्रश्न-मन्त्रका उत्तर है—'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्'। अब अर्थ यह हुआ कि—'ब्राह्मणोऽस्य मुखाद् आसीत्'। इसमें साक्षी है—'मुखाद् अग्निरजायत' (यजुः ३१।१२) अग्नि और ब्राह्मणको एक-वर्ण माना जाता है; अतः जब अग्निके कारणमें पञ्चमी है; तब ब्राह्मणके कारणमें भी पञ्चमी स्वतः-सिद्ध है।

इसी प्रकार आगे 'बाहुभ्यां राजन्यः कृतः, ऊरुभ्यां यद् अस्य, तद् वैश्यः; इनमें भी पञ्चमी अर्थ ही है! आगे 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इसमें तो पञ्चमी स्पष्ट है ही। 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा. १।४।३०) जन धातुके योगमें जायमान शूद्रके हेतु पांवकी अपादान-संज्ञा होकर अपादानमें पञ्चमी हुआ करती है। तब जो व्यक्ति यहां चतुर्थी-विभक्तिका अर्थ करते—हैं; वे अपने पक्षकी शिथिलता स्वयं प्रमाणित कर रहे हैं। निमित्तार्थमें पञ्चमी कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि—वह 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' (पा. २।३।२५)से गुणमें होती है, पांव आदि यहां गुण नहीं। यही मन्त्रोंका ऋग्वेद-जैसा क्रम 'तैत्तिरीयारण्यक'में भी है।

सो इन प्रश्नोत्तर-मन्त्रोंमें पञ्चमीका ही अर्थ वेदको इ हुआ; क्योंकि—इधरसे इन ११–१२ ऋङ्मन्त्रोंमें ऋसं. पञ्चमी वाले 'तस्माद् यज्ञात्... जज्ञिरे, तस्माद् अश्वा अजायन्त' इन पूर्वके दो (६।१०) वेदोत्पत्ति तथा पशूत्पत्तिके प्रतिपादक मन्त्रोंका दबाव पड़ रहा है, उधरसे 'चन्द्रमा मनसो जातः, नाभ्या आसीत्' यह १३–१४ संख्यावाले देवोत्पत्ति-प्रतिपादक अगले दो मन्त्र पञ्चमी—अर्थका दबाव डाल रहे हैं। इधर अपने १२ वें मन्त्रके उपसंहारभाग 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'की पञ्चमी भी दबाव डाल रही है, उसमें 'पद्भ्यां भूमिः' (यजुः ३१।१३, ऋ. १०।६०।१४, अथर्व. १६।६।८) मन्त्रकी साक्षी भी है; तब बीचके सवा मन्त्र (११ वें के अन्तिम दो पाद 'मुखं किमस्यासीत्, किं बाहू, किमूरूपादा उच्येते' तथा १२ वेंके तीन पाद 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः'की प्रथमा भी दबकर पञ्चम्यर्थक ही हो जावेगी। अथर्ववेदसं.में 'यत्पुरुषं व्यदधुः'से पूर्व 'पुरुष एवेद ँ' यह मन्त्र है, सो यह उस 'सहस्रशीर्ष-पुरुष परमात्मासे' ही ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति सिद्ध हुई, पुरुष-समाजसे नहीं, इससे वर्ण-व्यवस्था भी उत्पत्ति (जन्म) मूलक ही सिद्ध हुई।

(४) इसपर अर्वाचीनपक्षका आक्षेप होता है कि—'मुखं किमस्य'का 'मुखात् किमस्य', 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्'का 'ब्राह्मणोस्य मुखाद् आसीत्' ऐसा अर्थ करनेमें प्रमाण क्या है! और पञ्चमीका ही अर्थ यदि वेदको इष्ट था; तो 'मुखं किम्, ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' आदिमें वेदने प्रथमा-विभक्ति कैसे

दी ? और फिर परमात्मा 'अकाय'-निराकार होता है, उसके अङ्ग मुख आदि जब होते नहीं; तब ब्राह्मणादिकी मुखादिसे उत्पत्ति कैसे ? अतः यह आलङ्कारिक वर्णन है। यहां पुरुष-समाजके मुखादिके गुणोंसे ब्राह्मणादिकी तुलना है।

(ख) प्राचीनपक्ष इसपर कहता है कि—हम पहले सिद्ध कर चुके हैं कि-यहां यज्ञ (विष्णु)का वर्णन है। यजनीय होनेसे विष्णु 'यज्ञ' है, उस यज्ञको पुरुष बताया गया है (ऋ. १०।९०।७)। उस पुरुषको ऋ.सं.में 'सहस्रशीर्षा, सहस्रपात्' (१०।९०।१) और अथर्ववेदसं.में 'सहस्रबाहुः' (१६।६।१) कहा है; अतः यहां यजनीय परमात्मा तथा उसके दिव्य-अङ्गोंका ही अर्थ है। पुरुष-समाजका नहीं। और निराकारका अनिवर्चनीय (दिव्य) आकार वाला अर्थ है, आकार-रहित नहीं। पुरुषसमाज यजनीय, नहीं कहा जाता। नहीं तो उस पुरुषसे नवम-मन्त्रमें कही हुई वेदोत्पत्ति तथा दशममन्त्रमें कही हुई पशुओंकी उत्पत्तिरूप सृष्टि पुरुषसमाजसे ही माननी पड़ेगी; पर यह अनिष्ट है।

(ग) इसके अतिरिक्त वेदके अर्थ करनेमें वेदके अङ्ग भी सहायक हुआ करते हैं; उनमें भी वेदका मुखस्थानीय प्रधान-अङ्ग व्याकरण विशेष-सहायक होता है। अब वेदाङ्ग-व्याकरणकी साक्षी भी इसमें देखिये—'सुपां च सुपो भवन्ति' (७।१।१।३९) इस महाभाष्यस्थित-वार्तिकसे 'मुखं' में 'मुखात्' यह पञ्चमीके स्थान प्रथमा है; तब अर्थ पञ्चमीका ही हुआ। इसमें साक्षी 'मुखाद् अग्निरजायत' (यजुः ३१।१२) यहाँ 'मुख' अङ्गमें पञ्चमी

है। इस प्रकार प्रश्नमन्त्र 'मुखं किमस्यासीत्'में भी यही अर्थ है—'अस्य-परमात्मनो मुखं-मुखात् किमासीत्—किमुत्पन्नम्' ? 'आसीत्' का 'उत्पन्नम्' अर्थ करनेमें साक्षी 'नाभ्या आसीदन्त-रिक्षम्' (यजुः ३१।१३) इस मन्त्रकी है। और 'उत्पत्ति' अर्थमें पञ्चमी होती ही है, जैसे कि—'जनिकर्तुः प्रकृतिः' (पा. १।४।३०) 'भुवः प्रभवः (पा. १।४।३१); चाहे वहाँ 'सुपां सुलुक्' (पा. ७।१।३९) इस छान्दसताके कारण पञ्चमीमें प्रथमा होगई हो।

हाँ, यदि वेद स्वयं 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' में तथा 'चन्द्रमा मनसो जातः' आदि मन्त्रोंमें पञ्चमी न लगाता; तो 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' का कदाचित् किसीको पञ्चमी-अर्थ प्रतिभात भी न होता; पर अब तो उस अन्तिम-पादने चुगली करके तथा इसके आगेके पञ्चम्यन्त दो मन्त्रोंने सिद्ध कर दिया कि—यहाँ सर्वत्र उत्पत्ति अर्थ तथा पञ्चमी अर्थ है।

(घ) जब ऋग्वेदमें पहले वेदोंकी उत्पत्ति बताई गई, (ऋ. १०।९०।९), पशुओंकी उत्पत्ति बताई गई (ऋ. १०।९०।१०)। फिर देवताओंकी उत्पत्ति बताई गई (ऋ. १०।९०।१३-१४); तब शेष मनुष्य-सृष्टिमें प्रसिद्ध-वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रोंकी उत्पत्ति क्यों न बताई जाती ? वह बताई गई है मध्यके मन्त्रों (ऋ. १०।९०।११-१२) में। अन्यत्र वेद, पशु, देवताओंकी सृष्टि (उत्पत्ति) में जबकि पञ्चमी-विभक्ति प्रयुक्त की गई है; तब उनके साथ वाले वर्ण-व्यवस्थापक मन्त्रमें भी वर्णोंकी उत्पत्तिमें पञ्चमी ही प्रयुक्त हो; यह वेदकी शैलीके अनुरूप है, स्वाभाविक है, तथा

प्राकरणिक है, जिसकी साक्षी 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इस चतुर्थ-पादने दे दी है।

(ङ) शेष प्रश्न है कि-प्रश्नोत्तर-मन्त्रोंमें मुखं, बाहू, ऊरूमें पञ्चमी क्यों नहीं आई, प्रथमा क्यों आई है? इसपर उत्तर यह है कि-पञ्चम्यर्थक-उत्पत्तिको प्रथमाविभक्तिसे कहे जानेका प्रकार भी होता है। इसमें एक प्रसिद्ध उदाहरण भी प्रतिपक्षी देख लें-'आयुर्घृताद् जायते' यह पञ्चमीमें कहना हो कि-'आयु घी से पैदा हुआ करती है', तो 'आयुर्घृतम्' यह प्रथमासे भी कहा जाता है कि-'घी आयु है'। इसका कारण यह है कि-कार्य-कारणका अभेद भी माना जाता है। घृत कारण है, आयु कार्य है, अतः यहाँ प्रथमा भी पञ्चमीके ही अर्थको बतलाने वाली हो जाती है। इसी प्रकार 'ब्राह्मणोऽस्य मुखाद् आसीद्' के स्थानमें कार्य-कारणके अभेदवश 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' भी कहा जाता है। अर्थ वही पञ्चमीका निकलता है। इसमें अन्य भी बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं, एतदर्थ पाठक 'आलोक' के ४र्थ तथा ६ठे सुमन देखें।

(५) इसपर फिर प्रतिपक्ष कहता है कि-वेदने 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' और 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इनमें भिन्न-भिन्न विभक्ति रखकर विवाद खड़ा कर दिया या करवा दिया। सो यदि आप पञ्चमी अर्थ करके उत्पत्ति अर्थ करते हैं, और इससे वर्ण-व्यवस्था जन्मसे सिद्ध करते हैं; तब हम व्यत्ययसे पञ्चमी-को प्रथमा करके गुणकर्मणा ही वर्ण-व्यवस्था सिद्धान्तित करेंगे।

(ख) इसपर प्राचीन-पक्ष कहता है कि-वेदने एक ही मन्त्रमें प्रथमा तथा पञ्चमी भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ रखकर सिद्ध कर दिया कि-पहले अन्तिम-पादके अनुरोधसे सर्वत्र पञ्चमी-विभक्तिका अर्थ कर दीजिये, (इसलिए स्वा.द.जीने भी ऋभाभू.में प्रश्नमन्त्र तथा उत्तरमन्त्र दोनोंमें उन प्रथमान्त पदोंका भी पञ्चमी-अर्थ ही किया है, अर्थमें भले ही उन्होंने कपोल-कल्पना कर दी; पर पञ्चमी-विभक्तिका अर्थ करके उन्होंने हमारा पक्ष तो सिद्ध कर ही दिया; अतः प्रतिपक्षी इस कारण हमारे आगे मुख नहीं खोल सकते); फिर पहले पादोंकी प्रथमाके अनुरोधसे सर्वत्र प्रथमा-विभक्तिका भी अर्थ कर दीजिये। अब विवाद समाप्त होगया। प्रथमा-विभक्ति अर्थ करने पर भी 'आयुर्घृतम्' की भांति पञ्चमी-विभक्तिके अर्थमें ही पर्यवसान हो जाता है। अथवा-हम प्रतिपक्षियोंके अनुसार ही शुद्ध प्रथमा-विभक्तिका ही अर्थ मान लें कि-इस मन्त्रमें एक व्यक्तिके शरीरके अङ्गोंके साथ ब्राह्मणादि-वर्णोंकी तुलना है, तब भी इससे वर्ण-व्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध होती है, गुणकर्मसे नहीं, क्योंकि-उस जात-ब्राह्मणको स्व-नियत कर्मोंका निषेध तो है नहीं। पहले वह भी मुखकी भांति उत्पन्न होगा, फिर अपने नियत कर्मोंको करेगा, अथवा न करेगा; तो निन्दाका पात्र बनेगा। इससे जन्मना वर्ण-व्यवस्था ही तो सिद्ध हो जाती है। सनातनधर्म जन्मजात तत्तद्वर्णोंके स्वनियत गुण-कर्मोंके अनुसरणका निषेध नहीं करता। उत्पत्ति तो उनका स्वरूप वा लक्षण होगा, उत्तम-गुणकर्म उसके उत्कर्षाधायक

होंगे, अधम-गुणकर्म उसके अपकर्षाधायक होंगे; और स्वनियत गुण-कर्मोंका त्याग उसका निन्दाधायक होगा। फिर भी प्रतिपक्षी यदि 'ब्राह्मणोस्य' के यथाश्रुत प्रथमाके अर्थसे जन्मना वर्ण-व्यवस्थाकी सिद्धिमें सन्देह करें कि-'यह कैसे ?' तब वे निम्न पंक्तियाँ पढ़नेका कष्ट करें।—

(ग) मान भी लिया जाय कि-'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' में प्रश्नमन्त्रानुसार प्रथमा-विभक्तिका ही अर्थ है, और एक व्यक्तिके शरीरके अङ्गोंके साथ ब्राह्मणादि-वर्णोंकी तुलना है, इसपर यह जानना चाहिये कि-मुख, बाहु, ऊरु, पाद, अङ्ग जन्मसे ही उत्पन्न होते हैं, गुणकर्मसे नहीं। यह धीरे-धीरे पुष्ट होते हैं; तभी इनमें वे गुण होते हैं, और अपने कर्म उनसे किये जाते हैं, और जन्ममूलक ही उन अभिव्यक्त अङ्गोंका वह-वह नाम हुआ करता है, गुण-कर्मसे यह नामकरण नहीं। जन्मसे शुरू करके भस्मता तक उनका यही नाम हुआ करता है, चाहे मुख मुखवाला कर्म करे वा न करे। जैसे मुख बाल्यावस्थामें जन्मके समय निरक्षर शब्द करता है, फिर भी उसे मुख ही कहा जाता है, उस समय मुख-स्थित आँखोंमें अक्षर आदि पहचाननेकी शक्ति नहीं होती—जो उसका गुण-कर्म है; फिर भी उसका नाम चक्षु हुआ करता है। इस प्रकार वृद्धावस्थामें भी। यौवनमें भी रोगविशेष होनेपर, वा दुर्बलतावश मुख आदि अङ्ग मुख आदि वाला कर्म न करते हुए भी, वह गुण न धारण करते हुए भी मुख आदि ही कहे जाते हैं, पाद आदि नहीं। मुखमें वा उसके मस्तिष्कभागमें

मूर्खता होने पर भी उसे पाँव नहीं कहा जाता, वा मुखको वहांसे काटकर पाँवकी जगह और पाँवको वहांसे काटकर मुखके स्थानमें नहीं रखा जाता; वैसा करने पर पुरुषकी मृत्यु हो जायगी। यदि मुखका कार्य वेदवचनोंका पढ़ना माना जावे और यही मुखसे उपमित ब्राह्मणका माना जावे; तो अर्वाचीन-पक्षके अनुसार वेद पढ़नेका काम क्षत्रिय-वैश्यका सर्वथा हट जावेगा, शूद्रका तो हटेगा ही। यह प्रतिपक्षियोंका अनिष्ट उपस्थित होगा।

बाल्यावस्थामें बाहुमें रक्षणकी शक्ति नहीं रहती, वार्धक्यमें भी। यौवनमें भी बाहुमें दुर्बलतावश रक्षण-शक्तिरूप गुण-कर्म न होनेपर भी उसका नाम 'बाहु' ही होता है। इसी प्रकार ऊरु-कमर तथा पाँव भी बाल्य तथा वार्धक्यमें अपने गुण-कर्मोंके अनुसरणकी शक्तिको धारण नहीं करते, दुर्बलतावश यौवनमें भी। फिर भी इन्हें यथापूर्व ऊरु और पाँव ही कहा जाता है। इस प्रकार निरक्षर भी ब्राह्मण-बालक और वृद्धके अथवा दुर्बल-शक्तिवाले युवाके मुखकी भांति ब्राह्मण ही रहता है। जैसे नेत्र आदिसे युक्त मुख शिथिल होनेपर भी उसके स्थानमें सबल भी बाहु, ऊरु या पादको नहीं रखा जाता; वैसे ही ब्राह्मण निरक्षरतामें भी ब्राह्मण ही रहता है, उसके स्थानको साक्षर भी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नहीं ले सकते। उस ब्राह्मणका पुत्र वा बन्धु ही वहाँ रखा जा सकता है। इसी तरह क्षत्रिय निर्बल होनेपर भी क्षत्रिय ही माना जाता है। इस प्रकार ऊरु, वा पाँवकी

निर्बलतामें भी जान लेना चाहिये।

(६) इसपर अर्वाचीन-पक्ष कहता है कि-उक्त मन्त्रमें पञ्चमी-विभक्ति मान भी ली जावे कि-सृष्टिकी आदिमें जो परमात्माके मुखसे उत्पन्न हुआ वह ब्राह्मण है, पाँवसे पैदा हुआ शूद्र वर्ण है, किन्तु यह वर्ण बदलते नहीं-इसमें क्या प्रमाण है?

(ख) प्राचीनपक्ष इसपर उत्तर देता है कि-मुखादिसे उत्पत्ति-वश ब्राह्मणादि नाम हुआ; वह उत्पत्ति तो हो चुकी; और ब्राह्मणादि भी हो चुके; उनकी यह जाति बन चुकी। अब उसमें परिवर्तन कैसे हो? वह मुख-प्रसूत अब जबकि पांओंसे उत्पन्न हुआ नहीं; तब वह शूद्र कैसे हो जाएगा? 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इस न्यायसे जो क्रिया हो चुकी, मुखसे उत्पत्ति हो चुकी; वह ब्राह्मण बन चुका; अब उसमें नया व्यापार न हो सकनेसे वह परिवर्तित नहीं हो सकता।

(७) इसपर अर्वाचीन-पक्ष आक्षेप करता है कि-मान भी लिया कि-उक्त-मन्त्रमें पञ्चमी है और जो परमात्माके मुखादिसे सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न हुए; वे ही ब्राह्मण-आदि जाति वाले हैं; पर उस ब्राह्मणादिके लड़के तो परमात्माके मुखादिसे उत्पन्न होते नहीं; तब वे ब्राह्मणादि जातिके कैसे माने जा सकते हैं?

(ख) प्राचीनपक्ष इसका इस प्रकार परिहार करता है कि-वेदके अर्थके प्रकाशक मुख्य-अङ्ग व्याकरणमें लिखा है—'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' (वा. ४।१।६३) एक बार कहनेसे कि-यह मुखोत्पत्तिसे ब्राह्मण है, उसके अपत्य-सहोदरादिमें वही

(ब्राह्मणता) ग्राह्य होती है, वह जाति हुआ करती है; तब उसके मुखसे उत्पन्न होनेसे, वेदानुसार ब्राह्मण कहे जानेसे उसके आगेकी पीढ़ियोंमें होनेवाले पुत्र-पुत्रादि सभी ब्राह्मण-जातीय माने जाते हैं; अतः वर्ण वा जाति जन्ममूलक ही हुआ करती है।

(८) इसमें अर्वाचीन पक्ष कहता है कि-वर्ण-व्यवस्था जन्मसे मान भी ली जावे, परन्तु गुण-कर्महीन ब्राह्मणका सम्मान हमारी समझमें नहीं आता कि-उसे गुणकर्मसहित क्षत्रियादिसे उच्च क्यों माना जावे? इस प्रकार तो समाजमें बड़ी हानि पड़ेगी। कोई भी अपने गुणकर्मोंका अवलम्बन नहीं करेगा।

(ख) इसपर प्राचीन-पक्षका यह कहना है कि-सभी शास्त्र वर्ण-व्यवस्थाको तो जन्मसे मानते हैं, पर यह नहीं कहते कि-ब्राह्मणादिको स्वनियत गुणकर्म आश्रित नहीं करने चाहियें। वे तो ब्राह्मणादिको अपने गुण-कर्मोंके अवलम्बन करने पर बल देते हैं, और उनका अवलम्बन न करने वाले ब्राह्मणादिकी परलोकमें दुर्दशा दिखलाते हैं। देखिये इस पर मनुस्मृति (१२।७०-७१-७२)। अतः सब वर्णोंके स्वनियत गुण-कर्मोंमें अवस्थित होने पर समाज बिल्कुल ठीक रहेगा; पर फिर भी जो गुणकर्महीन-ब्राह्मणकी हमारे सनातन-हिन्दुधर्ममें प्रशंसा वा अन्य-वर्णोंसे उच्चता बताई जाती है, उसका कारण यह है कि-वर्णव्यवस्था तो जन्मसे है; पर उस जन्ममें कारण पूर्वजन्मके उत्तम गुण-कर्म हुआ करते हैं। सनातन-हिन्दुधर्म आस्तिक-धर्म है; नास्तिक नहीं। नास्तिक लोग परलोक, पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म

नहीं मानते। कई अर्वाचीन हिन्दु-सम्प्रदाय अपने-आपको आस्तिक कहते हुए भी पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्मको केवल आडम्बरमात्रमें, कथनमात्रमें मानते हैं, यथार्थरूपसे नहीं। पर सनातन-हिन्दुधर्म इनकी सत्ता मानता है—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' (योग. साधन. १३) 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्-योनिजन्मसु' (गीता १३।२१)। सनातन-हिन्दुधर्मका यह सिद्धान्त है कि—जिस आदिम-ब्राह्मणने सृष्टिकी आदिमें परमात्माके मुखसे जन्म लिया; वह पिछले जन्मके उत्तमगुण-कर्मोंके कारण। इसी प्रकार जिसने उस ब्राह्मणके कुलमें जन्म लिया; वहां भी मूल पूर्वजन्मके उत्तम-गुणकर्म होते हैं।

अब हम जो उसका सम्मान करते हैं; वह हम उस व्यक्तिका सम्मान नहीं कर रहे, किन्तु उसके पूर्व-जन्मके उत्तम गुण-कर्मों तथा उससे प्राप्त शरीरका सम्मान कर रहे हैं। इससे फिर उसको अपने उत्तम गुणकर्मोंके आश्रयणमें प्रोत्साहन प्राप्त होगा। यदि वह इस जन्ममें उत्तम-गुणकर्मोंको आश्रित नहीं करेगा; तो यह उसी व्यक्तिका अपना अनिष्ट होगा; अग्रिम-जन्ममें वह असद्-जातिमें जन्म लेगा, दुःख उठाएगा। पर हमारा तो कर्तव्य हो जाता है कि-हम उस पूर्वजन्मके कर्मोंके कारण उत्पन्न हुए उस शरीरका सम्मान करें। इससे जहां हमारी पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्मपर आस्था बढ़ेगी, वहां शुभकर्मोंके आश्रयणका प्रोत्साहन भी प्राप्त होगा।

(ग) सो जैसे कोई 'शास्त्री' बनता है; उसमें प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, तथा तृतीय श्रेणी होती है; वहाँ उच्च-अध्यापकतामें शास्त्री प्रथम-द्वितीय श्रेणीका ही रखा जाता है, तृतीय-श्रेणीका नहीं। तृतीय-श्रेणीका भी शास्त्री अच्छी योग्यता सञ्चित करने पर वह भी उच्च-अध्यापनमें निर्वाचित कर लिया जाता है, वैसे ही जन्मजात-ब्राह्मण भी तीन श्रेणियोंका होता है, उत्तम, मध्यम, और अधम। सो जहाँ कर्मकाण्डादिमें वा अन्य सम्मानित उच्च कर्ममें ब्राह्मणकी आवश्यकता पड़ती है; वहाँ उत्तम वा मध्यम ब्राह्मणको लिया जाता है, तृतीय-श्रेणी वाले ब्राह्मणको नहीं। तृतीय-श्रेणी वालेसे भोजनादि पकवानेका काम लिया जा सकता है। पर जब तृतीय-श्रेणी ब्राह्मण भी प्रथम-द्वितीय श्रेणी वालेका सम्मान देखकर स्वयं भी प्रथम-द्वितीय श्रेणी जैसी योग्यता सञ्चित कर ले; तब उसका भी वही सम्मान होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि-जहाँ शास्त्रोंमें ब्राह्मणका वर्णन आता है, वहां स्वजाति-जात तथा फिर उत्तम-गुणकर्मवान ब्राह्मण इष्ट होता है। अन्यजातिजात एवं उत्तम गुणकर्म वाला भी ब्राह्मणेतर वर्ण वहाँ ब्राह्मण इष्ट नहीं होता, और उसका ब्राह्मण-जैसा सम्मान भी इष्ट नहीं होता।

इस वेदानुगृहीत निबन्धसे सम्यक् सिद्ध हो गया कि वर्ण-व्यवस्था जन्मसे ही हुआ करती है; वही 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' मन्त्रमें भी इष्ट है, चाहे वहाँ पञ्चमी-विभक्तिका अर्थ हो, चाहे प्रथमाका। यदि उस जन्मवाले ब्राह्मणादिमें स्वनियत गुण-कर्म होंगे; तो 'सोना और सुगन्ध' होगा। अन्यवर्णजातको अन्य-

वर्णके गुणकर्म ग्रहण करके कभी अव्यवस्था उत्पन्न नहीं करनी चाहिये। जन्म-ब्राह्मणको भी उचित है कि-वह अपने गुण-कर्ममें खरा उतरे। तब उसपर किसी भी अब्राह्मण अथवा गुणकर्म-वादीकी शक्ति नहीं कि-उसपर आक्रमण कर सके। इस विषयमें जो स्पष्टता देखना चाहें; वे 'आलोक'का ४थं तथा छठा सुमन मंगा लें।

---

(११) वर्ण-व्यवस्थागत भ्रान्ति-परिहार।

'वर्ण-व्यवस्था' के विषयमें कुछ भ्रामक प्रमाण पूर्वपक्षियों-की ओरसे दिये जाते हैं; उनमें 'कुछ भ्रमोंका परिहार' *चतुर्थ-पुष्पमें किया जा चुका है। अब अन्य भ्रान्तियोंका परिहार यहाँ किया जाता है। यह स्मरण रहे कि-प्रतिपक्षी प्रायः कर्म-प्रशंसक अर्थवाद-वचनोंका संग्रह कर अपने पक्षको पुष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं। वस्तुतः अर्थवादमें किसीकी स्तुति-निन्दामें तात्पर्य हुआ करता है, यथाश्रुत-अर्थमें नहीं-यह हम आगे स्थल-स्थल पर स्पष्ट करेंगे।

(१) पूर्वपक्ष-'वृत्तं स्मृतं ब्राह्मणलक्षणं तु' (ब्राह्मपर्व ४१।८) भविष्यपुराणके इस श्लोकमें वृत्त (आचारवत्ता) को ही ब्राह्मणत्व-का कारण बताया गया है; तब जन्म-सिद्ध वर्ण-व्यवस्थाका खण्डन सिद्ध हुआ, और गुण-कर्मोंसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हुई।

उत्तरपक्ष—भविष्यपुराणके ब्राह्मपर्वके एतद्विषयक श्लोकोंका

हम *चतुर्थपुष्पमें समाधान कर चुके हैं, पाठक उसीमें देखें; वर्ण-व्यवस्था तो जन्म-सिद्ध ही होती है; एतदर्थ चतुर्थपुष्पके ६-७-८-९-१० विषयोंका तथा +छठेपुष्पमें-की सैद्धान्तिक-चर्चाके १७-१८-१९-२०-२१-२२ विषयोंका पाठक पारायण करें। अब प्रकृत-आक्षेपों पर विचार किया जाता है।

यहाँ वेदाध्ययनकी अपेक्षा वृत्त (आचारवत्ता) की प्रशंसामात्र की गई है, क्योंकि-इसका पूर्वार्ध है-'शिल्पं हि वेदाध्ययनं द्विजानाम्' वेदाध्ययन तो ब्राह्मणोंका शिल्प है। तब 'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते, किन्तु विधेयं स्तोतुम्' इस न्यायसे यहां अर्थवाद है। निन्दा निन्दित वस्तुकी निन्दार्थ नहीं होती; किन्तु वक्तासे इष्ट वस्तुकी स्तुतिकेलिए होती है।

जैसे-(क) 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'...'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (ऋसं. १।१६४।३९) यह मन्त्र ब्रह्मज्ञान वा ओंकार-ज्ञानका अर्थवाद है, इससे ऋग्वेदकी निन्दा नहीं होती। (ख) अथवा जैसे-'क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोतियजतिक्रियाः। अक्षरं त्वक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः' (मनु. २।८४) यहाँ ओङ्कारका वैदिक-यज्ञ की अपेक्षा प्रशंसार्थवाद है; इससे वैदिक यज्ञादि-क्रियाका खण्डन यहाँ इष्ट नहीं। (ग) अथवा जैसे-'ये पाक-यज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञ-समन्विताः। सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्' (मनु. २।८६) यह श्लोक जपका अर्थवाद है; वैदिक-यज्ञोंका इससे निषेध इष्ट नहीं। (घ) अथवा जैसे-

---

*चतुर्थपुष्पका मूल्य ६) है। +छठे पुष्पका मूल्य १०) हैं।

'एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी। क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान्' (महाभारत उद्योग. १३३।३३) यहाँ अमर्षी (असहनशील) पुरुषकी प्रशंसा है; क्षमा वाले पुरुषका वास्तवमें नपुंसक होना इष्ट नहीं; वैसे ही उक्त भविष्य-पुराणके पद्यमें ब्राह्मणकेलिए वृत्त (आचारवत्ता) का उत्कर्ष इष्ट है; इससे जन्मना-वर्ण व्यवस्थाका निषेध इष्ट नहीं, यह ध्यानमें रख लेना चाहिये।

तब यहाँ यही अभिप्राय है कि-ब्राह्मण वृत्त (आचारवत्ता)में अन्य वर्णोंकी अपेक्षा अधिक ध्यान रखते हैं, वा रखें। इसीलिए ब्राह्मणकेलिए वृत्तकी प्रशंसामें एक पद्य प्रसिद्ध है-'वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः। अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः' (महा. वनपर्व ३१३।१०६) 'आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः स पूर्णफलभाक् स्मृतः' (मनु. १।१०६) यहाँ आचारसे च्युत ब्राह्मणको भी ब्राह्मण स्वीकृत किया गया है। इसलिए भविष्य-पुराणके उक्त पद्यमें ब्राह्मणोंके चिह्न होनेसे आचारवत्ताको भी ब्राह्मणके लक्षणमें रखा गया है।

केवल आचारवत्तासे ब्राह्मणत्व माना जावे; तो शेष तीन वर्णोंकी आवश्यकता ही नहीं रहती; क्योंकि-क्या वृत्तकी शेष वर्णोंमें आवश्यकता नहीं? यदि ऐसा नहीं; तो इससे प्रतिपक्षियोंकी कुछ भी इष्ट-सिद्धि नहीं। इसलिए 'शृणु यक्ष! कुलं तात! न स्वाध्यायो न च श्रुतम्। कारणं हि द्विजत्वे च

वृत्तमेव न संशयः' (वनपर्व ३१३।१०८) यह पद्य भी वृत्तका गुणवादरूप अर्थवाद है। इस प्रकार 'चतुर्वेदोपि दुर्वृत्तः स शूद्राद् अतिरिच्यते' (३१३।१११) यह भी दुर्वृत्तकी निन्दारूप-अर्थवाद है। इसी कारण ब्राह्मणकेलिए वृत्त आदि होनेपर ही पात्रता मानी गई है। जैसेकि-'न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता। यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्।' (याज्ञवल्क्यस्मृति १।२००) इससे विद्या आदि द्वारा वर्ण होना नहीं कहा गया; किन्तु केवल पात्र बन जाना ही कहा गया है।

इससे 'न कुलेन न जात्या वा [द्वाभ्यां वा ब्राह्मणो नहि] क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्। चाण्डालोपि [व्रतस्थश्चेत्] हि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर! शूद्रोपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्। ब्राह्मणोपि क्रियाहीनः शूद्रात् प्रत्यवरो [प्रत्यनन्तरं] भवेत्। न जातिर्दृश्यते तावद् गुणाः कल्याणकारकाः' (महा. वन. अनुशा. ?) इत्यादि काचित्क श्लोकोंकी भी व्याख्या होगई। यह श्लोक अर्थवाद हैं। अर्थवाद होनेसे इनका अक्षरार्थमें तात्पर्य नहीं, किन्तु वृत्तकी स्तुतिमें ही तात्पर्य है। 'शूद्रात् प्रत्यवरो भवेत्, क्रियाहीनो ब्राह्मणः' इत्यादि शब्द क्रियाहीन-ब्राह्मणकी शूद्रता नहीं बताते; किन्तु शूद्रसे भी उसे निकृष्ट बताकर उसकी निन्दामात्र बताते हैं, जैसेकि-'साहित्य-सङ्गीत-कलाविहीनः, साक्षात्-पशुः पुच्छविषाणहीनः' (नीतिशतक १२) यहाँ पर साहित्य-संगीतकलासे विहीन पुरुषको साक्षात्-पशु कहना अथवादसे है, वस्तुतः नहीं। जैसे-'अपना वतन कश्मीर है,

अपना देश ही स्वर्ग है' इस वाक्यसे स्वदेश वास्तवमें कश्मीर वा स्वर्ग नहीं हो जाता; किन्तु कश्मीर वा स्वर्गके समान उसका सुखदायक होना इष्ट होता है; वैसे प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

इस प्रकार 'न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः। कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्। वृत्ते स्थितश्च शूद्रोपि ब्राह्मणत्वं [नियच्छति] स गच्छति' (महा.अनु. १४३।५०) एतदादिक पद्य भी वृत्तके अर्थवाद हैं, (क) जैसे कि–'न तेन वृद्धो भवति, येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाप्यधीयानः तं देवाः स्थविरं विदुः' (मनु. २।१५६) यहां अध्ययन करनेवाले युवाको भी अर्थवादसे वृद्ध और अध्ययन-रहित सुफेद बालों वाले वृद्धको भी वृद्ध न मानना अर्थवादसे है। (ख) जैसे 'पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि अन्नमापः सुभाषितम्। मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते' (चाणक्यनीति १४।१) इस पद्यमें अन्न आदिको रत्न कहना और रत्नको रत्न न कहना अर्थवादसे है। (ग) जैसे 'योऽर्थे शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः' (मनु. ५।१०६) यहां जल-मिट्टी आदिसे शुद्धको शुद्ध न मानकर अर्थ-शुद्धिवालेको शुद्ध अर्थवादसे माना है; नहीं तो 'मृत्तोयैः शुध्यते शोध्यं' (५।१०८) यह मनुका मट्टी-पानीसे शुद्धता बतानेवाला अपना वाक्य अपनेसे विरुद्ध हो जावे। (घ) जैसे–'निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्। ब्रह्मचार्येव भवति यत्र-तत्राश्रमे वसन्' (मनु. ३।५०) इसमें नियममें स्थित गृहस्थीको भी ब्रह्मचारी अर्थवादसे कहा है, नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रमको पृथक् आश्रम ही न

माना जा सके। (ङ) जैसे कि–'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः' में गाय-घोड़े आदिसे भिन्न पशुओंको अपशु मानना अर्थवादसे है; नहीं तो प्रत्यक्षका व्याकोप हो जावे; वैसे ही महाभारतके उक्त-पद्यमें भी योनिसे द्विजत्वके निषेधमें तात्पर्य नहीं है। वहां पर श्रुत (अध्ययन) तथा संस्कारको भी द्विजत्वका निषेधक कहा है। यदि वहां अर्थवाद न माना जावे; तो प्रतिपक्षियोंका पक्ष भी इससे खण्डित हो जावेगा। तब अर्थवादवश इन पद्योंसे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं। 'शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः। शूद्रोपि द्विजवत् सेव्यः' (महा. १३।१४३।४८) स्वभावः कर्म च शुभं यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति। विशिष्टः स द्विजातेर्वै' (४६) इत्यादि पद्य स्पष्ट अर्थवाद हैं; नहीं तो द्विजसे भी शूद्रको बढ़ा देना क्या माने रखता है?

इस प्रकार 'न कुलेन न जात्या वा क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्। चाण्डालोपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर!' (महा. अनु. २१६।१४?) इत्यादि पद्य भी वृत्तके प्रशंसात्मक अर्थवाद ही हैं। महाभारतके 'न च मे ब्राह्मणोऽविद्वान्...ब्राह्मणा मे स्वकर्मस्थाः' (७७।११-१२) एतदादिक पद्योंमें शूद्रका ईर्ष्या-द्वेष छोड़कर तीन वर्णोंकी सेवा करना अपना कर्म कहा है। इससे स्पष्ट है कि महाभारत प्रतिपक्षीके पक्षको पुष्ट नहीं करता। आशय यह है– 'न कुलेन न जात्या वा, क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्' यह महाभारतका श्लोक वृत्त तथा क्रियाका अर्थवाद ही है।

इस श्लोकके उपस्थित करनेवालोंने यह सुप्रसिद्ध श्लोक सुना

ही होगा कि-'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्' (हितोपदेश-मित्रलाभ १८५) अर्थात् शास्त्रोंको पढ़कर भी लोग मूर्ख हुआ करते हैं, क्रियावान् ही पुरुष विद्वान् हुआ करता है। तब क्या प्रतिपत्ति-गण इस पद्यसे विद्वत्ताका मूलकारण क्रियाको ही मानेंगे, शास्त्राध्ययनको नहीं? यदि ऐसा हो; तो जो विद्वत्ताकेलिए द्विजोंका अध्ययनाध्यापन आदिष्ट है, उसका भी बहिष्कार करना पड़ेगा। परन्तु यदि वादी इस श्लोक में क्रियाके अर्थवादको मानकर क्रियाके साथ शास्त्राध्ययनको ही विद्याका कारण मानें; वैसे ही 'न कुलेन न जात्या वा क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्' यहां भी क्रियाके अर्थवादको जानकर क्रिया-सहित ब्राह्मण-कुलको वा उसकी जातिको ही ब्राह्मणत्वका कारण समझें। यहां जातिसे वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हो गई। तब प्रतिपक्षियोंका यह प्रयास असफल सिद्ध हुआ।

इसी प्रकारका आक्षिप्त 'वृत्तं स्मृतं ब्राह्मणलक्षणं तु' यह भविष्य-पुराणका पद्य वृत्तका अर्थवाद है, (क) जैसे कि-'योऽर्थे शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः' (मनु. ५।१०६) यहां अर्थशुचित्वका अर्थवाद है, मट्टी-जलसे शुद्धकी शुद्धताका इससे निराकरण इष्ट नहीं। (ख) जैसे कि-'न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारस्तिरस्क्रिया। नेदृशा राजसम्माना वृत्तमावरणं स्त्रियाः' (वाल्मी. ६।११४।२७) यह पद्य स्त्रीके वृत्त (सदाचार)का अर्थवाद है; इससे स्त्रीका वस्त्रादि द्वारा अपने अङ्गोंके आवरणका निषेध तात्पर्य-विषय नहीं; नहीं तो सदाचारिणी स्त्रीका नङ्गा घूमना भी

इससे विहित हो जावे। (ग) जैसे-'पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि अन्नमापः सुभाषितम्। मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते' (चाणक्य) यह पद्य सुभाषित आदिको रत्न तो बताता है; पर इससे हीरे आदि मणियोंका रत्न होनेका निषेध इष्ट नहीं।

(घ) अथवा अन्य प्रमाण देखिये-'न तत्त्व-वचनं सत्यं नातत्त्व-वचनं मृषा। 'यद् भूतहितमत्यन्तं तद्धि सत्यं प्रकीर्तितम्' इस पद्यमें प्राणियोंके हितकी प्रशंसा इष्ट है; सत्यवचनकी असत्यता यहां प्रत्यक्ष कही हुई भी तात्पर्य-विषय नहीं; वैसे 'न कुलेन न जात्या च क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्' इस पद्यमें भी क्रियाको अतिशयित बताना इष्ट है। जैसे कि-'वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः' (महा. ३।३१३।१०६) इत्यादि पद्य स्वयं ही यह बता रहे हैं। इससे जाति एवं कुल द्वारा ब्राह्मणत्वका खण्डन इष्ट नहीं। तब यहां वृत्तका ही अर्थवाद फलित हुआ। (ङ) एक उदाहरण अन्य भी देखिये—'ते (माता, पिता और आचार्य) एव हि त्रयो लोकाः, त एव त्रय आश्रमाः। त एव हि त्रयो वेदाः, त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः' (मनु० २।२३०) 'तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते' (२। २२९) यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं (धर्मं) समाचरेत्। तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात् प्रियहिते रतः' (२।२३५) 'एष धर्मः परः साक्षाद् उपधर्मोऽन्य उच्यते' (२३६) यहां माता, पिता तथा आचार्यकी सेवाका अर्थवाद कहा गया है; यहां वेदोंका अध्ययन तथा अग्नि-होत्रादिको उपधर्म तथा माता आदिकी सेवाको परमधर्म कहा गया है।

'आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः। माता पृथिव्या मूर्तिस्तु' (२।२२६) तो क्या माता-पिता तथा आचार्य आदिके जीवन तक अन्य धर्मोंको छोड़ देना चाहिये ? तब तक ब्रह्मचर्य आदि तीन आश्रमोंका, तीन वेदोंका तथा तीन अग्नियोंका सेवन न करना चाहिये ? और ब्रह्म आदिकी उपासना नहीं करनी चाहिये ? ऐसा नहीं। जैसे यहां माता, पिता आदिकी सेवाके साथ वेदादिका सेवन भी इष्ट है; वैसे ही क्रियाके अर्थवादमें क्रियाके साथ जाति-कुल आदि भी ब्राह्मणत्वका कारण सिद्ध हुआ—यह 'आलोक' पाठकोंने ठीक-ठीक समझ लिया होगा।

(२) पूर्वपक्ष—'शूद्र-ब्राह्मणयोर्भेदो मृग्यमाणोपि यत्नतः। नेक्ष्यते सर्वधर्मेषु संहतैस्त्रिदशैरपि' (भविष्य. ब्राह्म. ४१।३९) यहां शूद्र एवं ब्राह्मणका भेद ढूंढनेपर देवताओंको भी नहीं मिलता; यह कहा गया है; तब ब्राह्मणादि गुणकर्मसे ही सिद्ध हुए।

उत्तरपक्ष—इस पद्यसे हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं; क्योंकि-उनका बाह्य-शरीरसे कोई भेद नहीं कह सकता। भेद तो वही बता सकेगा; जो उनके पूर्वजन्मके कर्मोंको जानता हो, वा उनके भीतरी सूक्ष्म-शरीरको जानता हो। तभी तो भगवान्-रामने तपस्या करते हुए भी शम्बूकको शूद्र जान लिया; और नारदजीने भीलोंमें रहने वाले भी वाल्मीकिको ब्राह्मण जान लिया। उक्त पद्यमें बाहरी शारीरिक-भेदका न जाना जा सकना कहा है। शारीरिक-भेद तो बहिन और पत्नीका भी ज्ञात नहीं हो सकता;

तब क्या उनमें सर्वथा अभेद मान लिया जावे ? कर्मसे यदि भेद कहा जावे; तब क्या सनातनधर्म ब्राह्मणोंके कर्म नहीं कहता ? शूद्रके कर्म नहीं कहता ? केवल उसका यह कहना है कि-वर्ण जन्मसे होता है; तब उस वर्णके उस वर्ण वाले कर्म नियुक्त किये जाते हैं। इसमें तो सनातनधर्मके पक्षकी पुष्टि ही है।

(३) पूर्वपक्ष—'ममानुस्मरणं नित्यं भक्त्या श्रद्धापुरस्कृतम्। षोडशाङ्गा भक्तिरियं यस्मिन् म्लेच्छेपि वर्तते। विप्रेन्द्रः स मुनिः श्रीमान् स जात्या स च पण्डितः। न मे पृथक् चतुर्वेदो मद्भक्तः श्वपचोपि यः। तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स हि पूज्यो यथा ह्यहम्' (भविष्य. ब्राह्मपर्व १५२।२७-२८-२९) इससे भक्तिसे चाण्डालको द्विजेन्द्र होना कहा गया है।

उत्तरपक्ष—आर्य-समाजने भक्तिसे ब्राह्मणत्व कभी नहीं माना; नहीं तो वे भी भक्त-अछूतको बुलाकर क्यों उनके द्वारा विवाहादि-संस्कार नहीं कराते ? उन्हें अपनी लड़कियाँ क्यों नहीं देते ? उन्हें अपना अध्यक्ष क्यों नहीं बनाते ? इससे स्पष्ट है कि-इस प्रकारके अर्थवादात्मक श्लोकोंका केवल भक्तिकी प्रशंसामें तात्पर्य है। 'शिखा ते वर्धते वत्स ! गुडूचीं श्रद्धया पिब' यहां गुडूची पीनेसे शिखा बढ़नेका कुछ सम्बन्ध न होनेपर भी जैसे यह कह दिया जाता है कि-बच्चे ! गुडूची (सत्त-गिलोय) पी ले, तेरी चोटी बड़ी हो जावेगी, वैसे उक्त श्लोकमें भी जान लेना चाहिये। यहां मीमांसादर्शनका एक

उदाहरण भी देख लेना चाहिये—'अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः, पशवो गोअश्वाः' एतदादिषु विध्यर्थवादसन्देहे अर्थ-वत्त्वाद् विधय इति प्राप्ते अभिधीयते—यदि विधयो भवेयुः, गो-अश्वा एव पशवः स्युः; अन्येषां पशूनामुत्पत्तिरनर्थिका स्यात्। विध्यन्तरं च नावकल्पेत। अतः स्तुत्यर्थे संवादः। गोअश्वान् प्रशंसितुमन्येषां पशूनां निन्दा।''यथा यद् अघृतम्, अभोजनं तत्। यद् मलिनम्, अवासस्तद्-इति' (१।४।२६)।

इस प्रकार पुराणके उक्त पद्यके भी अर्थवाद होनेसे भक्ति-रहित ब्राह्मणकी जो निन्दा प्रस्तुत हो रही है; उसमें भी मीमांसादर्शनकी यह बात याद रख लेनी चाहिये कि—'नहि निन्दा-निन्दितं निन्दितुं प्रयुज्यते, किं तर्हि ? निन्दिताद् इतरत् प्रशंसितुम्। तत्र न निन्दितस्य प्रतिषेधो गम्यते, किन्तु इतरस्य विधिः' (२।४।२०) इससे अर्थवादकी स्थिति पर प्रकाश पड़ता है कि—अर्थवादमें केवल तात्पर्यको देखना चाहिये; सब शब्दोंके अर्थका वहां कुछ भी सम्बन्ध नहीं हुआ करता।

पुराणके उक्त-श्लोकोंको उपस्थित करने वाले प्रतिपक्षियोंसे पूछना यह है कि—दूसरोंके मतको दूषित करनेकेलिए आप पुराणोंको प्रमाण मानते हैं; वा सर्वसाधारणरूपसे ? पहली बात ठीक नहीं; क्योंकि—वादी-प्रतिवादी दोनोंसे सम्मत ही प्रमाण वादके उपयोगी होता है, नहीं तो आप भी पुराणोंको प्रमाण-कोटिमें मानिये। दूसरी बात भी ठीक नहीं; तब तो पुराणोंमें प्रतिपादित मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्ध, विधवाविवाहका

खण्डन-आदि आपको भी मानने पड़ेंगे, पर आप लोग नहीं मानते।

वास्तवमें आक्षिप्त श्लोक केवल कर्म वा भक्तिकी प्रशंसाको ही सूचित करते हैं। पूर्व आचार्योंने इस अभिप्रायसे कहीं-कहीं भक्ति वा कर्मके अर्थवाद लिखे हैं कि—ब्राह्मण गुण-कर्म वा भक्तिसे च्युत न हो जाएँ; और गुण-कर्मोंसे च्युत हुए-हुओंका सम्मान न होवे। गुणकर्म-व्यवस्थामें भी पूर्व-जन्मके ही गुणकर्म इष्ट हुआ करते हैं, इस जन्मके नहीं। इस जन्मके गुणकर्म तो अग्रिम-जन्मके शरीरको बनाने वाले होते हैं।

प्रतिपक्षियोंको यह सनातनधर्मका सिद्धान्त भी याद रख लेना चाहिये कि—श्रुति, स्मृति तथा पुराणमें विरोध हो; तो श्रुतिकी, स्मृति तथा पुराणमें विरोध हो, तो स्मृतिकी बातें मानी जाती है। सबसे अविरोध होनेपर ही पुराणकी बात मानी जाती है—'श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौतं प्रमाणं तु द्वयोर् (स्मृति-पुराणयोर्) द्वैधे स्मृतिर्वरा' (व्यासस्मृति १।४) सनातनधर्म केवल पुराणोंपर अवलम्ब नहीं रखता; तथापि हमने पुराणके श्लोकोंकी व्यवस्था भी बता दी है।

(४) पूर्वपक्ष—क्षत्रिय भी विश्वामित्र ब्राह्मण होगये; जैसे कि—'ततो देवो ददौ तस्मै विश्वामित्राय धीमते। इहैव तेन देहेन ब्राह्मणत्वं सुदुर्लभम्'। तब वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मसे है, जन्मसे नहीं।

उत्तरपक्ष—यह प्रतिपक्षीसे दिया हुआ पद्य उसीके पक्षको

काट रहा है। यहाँ कहा है-'इहैव तेन देहेन सुदुर्लभं ब्राह्मणत्वं ददौ'। इस प्रकार महाभारतमें भी कहा है-'देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत्' (महा. अनुशासन. ३।१७) इससे स्पष्ट है कि-इसी जन्ममें, इसी शरीरसे क्षत्रिय-आदिका ब्राह्मण आदि होना सामान्यशास्त्र नहीं। इसलिए महाभारतमें कहा है-'एवमेतत् परं स्थानं ब्राह्मण्यं नाम भारत! तच्च दुष्प्रापमिह वै महेन्द्रवचनं यथा' (अनुशासन. २९।२६) सो दूसरे शरीरमें दूसरा वर्ण मिलना सामान्य-शास्त्र होनेसे सिद्धान्त ही है। विश्वामित्रका वर्णपरिवर्तन तो अपवाद है। अपवाद-वचनसे सार्वत्रिक-व्यवस्था कभी नहीं हुआ करती।

वस्तुतः विश्वामित्रकी क्षत्रियत्व-प्रसिद्धि भी असत्प्रसिद्धि (गलत) ही थी। 'नह्यमूला जनश्रुतिः' (जनश्रुति सर्वथा निर्मूल भी नहीं हुआ करती; उसका भी कुछ कारण अवश्य होता है) इस न्यायसे उसकी क्षत्रियत्व-प्रसिद्धिमें कारण यह है कि-उसका पिता गाधि क्षत्रिय था; उसकी माता भी क्षत्रिया थी। इस बाहरी प्रसिद्धिके कारण ही विश्वामित्रको जहाँ-तहाँ क्षत्रिय भी कहा गया है। जैसा कि-ऐतरेयब्राह्मणमें उसे शुनःशेपने 'राजपुत्र' (५।३३) कहा था। जैसे कि मतङ्ग, ब्राह्मण माता-पिताके होनेसे, बाहर ब्राह्मण प्रसिद्ध था; अथवा कंस बाहिरसे उग्रसेनके पुत्र होनेसे क्षत्रिय प्रसिद्ध था; वास्तवमें उसकी मातासे कालनेमि दैत्यने वनमें बलात्कार कर लिया था-यह कथा ब्रह्मवैवर्त आदिमें स्पष्ट है। इस प्रकार मतङ्गकी वास्तविकताका पता भी पीछे लगा कि-उसकी ब्राह्मणी-माताका शूद्र-नाईसे संयोग हुआ था; तभी उसे

चाण्डाल समझा गया।

परन्तु विश्वामित्र अपने माता-पिताके मैथुनसे उत्पन्न नहीं हुए थे। उनकी उत्पत्ति तो ऋषिसे दिये हुए ब्राह्मण-चरुसे हुई थी। इसी-लिए वे जन्मसे ही ब्राह्मण थे। तभी तो ब्रह्माने भी उसे 'ब्रह्मर्षि' का वर देते हुए उसे जन्मसे ब्राह्मण सोचकर ही 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (अविद्यमानकी सत्ता नहीं होती; विद्यमानका अभाव नहीं होता) इस न्यायसे उसे वैसा वर दिया था; नहीं तो बार-बार तपस्या करने पर भी इन्द्रने मतङ्गको ब्राह्मण क्यों नहीं बनाया? अथवा अन्य तपस्यामें लग्न भी, ब्रह्मज्ञानी भी जनक आदि ब्राह्मण क्यों नहीं माने गये, वा हुए? तब स्पष्ट है कि-जनक आदि जन्मसे क्षत्रिय थे, परन्तु चरु-द्वारा विश्वामित्र-को जो जन्मसे ब्राह्मणता प्राप्त हुई थी; उसीने उसे मातासे आये हुए क्षत्रियत्वको हटानेके लिए प्रेरणा दी। वाल्मीकि-रामायणमें इनकी उत्पत्तिका वर्णन नहीं लिखा; इसलिए बहुतसे व्यक्ति विश्वामित्रको क्षत्रिय समझते हैं। इनकी जन्मकी कथा तो महाभारत-में कही गई है, जिसके देखनेसे इस विषयका संशय रहता ही नहीं।

विश्वामित्रकी पूरी कथा महाभारतके अनुशासनपर्व (४र्थ अध्याय) में देखनी चाहिये। संक्षेपसे यहाँ भी कहते हैं। राजा गाधिकी कन्या सत्यवतीका ऋचीकनामक ब्राह्मण-मुनिसे विवाह हुआ। सत्यवतीकी सेवासे प्रसन्न हुए मुनिने उसे वर माँगनेको कहा। सत्यवतीने अपने तथा अपनी माताकेलिए पुत्रका वर माँगा। इसे मानकर ऋचीक-मुनिने दो चरुओंको अभिमन्त्रित

करके कहा कि—इस चरुको तो तुम खा लो, और दूसरा चरु माँको दो। क्योंकि—

'मया हि विश्वं यद् ब्रह्म त्वच्चरौ संनिवेशितम्। क्षत्रवीर्यं च सकलं चरौ तस्या (त्वन्मातुः) निवेशितम्' (महा. अनुशा. ४।३८, शान्ति. ४९।१९) तुम्हारे चरुमें मैंने ब्राह्मणत्व रखा है; और तुम्हारी माताके चरुमें मैंने क्षत्रवीर्य (क्षात्रबल) रखा है; अतः तू त्रिलोकीमें विख्यात ब्राह्मणको पैदा करेगी, और तेरी माता उग्र-बल वाले को उत्पन्न करेगी—'त्रैलोक्यविख्यातगुणं त्वं (सत्यवती) विप्रं जनयिष्यसि। सा च (गाधिपत्नी) क्षत्रं विशिष्टं वै तत एतत् कृतं मया' (४।३९) परन्तु भोली-लड़की सत्यवतीने माताके वरगलानेसे चरुको बदल लिया, अर्थात्—अपना ब्राह्मण-त्वसे मिला हुआ चरु तो अपनी माँ (गाधिकी स्त्री) को दे दिया, और स्वयं क्षात्रतेजयुक्त चरु खा लिया। यह जानकर मुनिने कहा—'व्यत्यासस्तु कृतो यस्मात् त्वया मात्रा च ते शुभे! तस्मात् सा (गाधि-भार्या) ब्राह्मणं श्रेष्ठं माता ते जनयिष्यति' (४।४०) 'मातुस्ते ब्राह्मणो भूयात्, तव च क्षत्रियः सुतः' (शान्तिपर्व ४९।२१) 'क्षत्रियं तूग्रकर्माणं त्वं भद्रे! जनयिष्यसि' (४।४१) कि—तेरी माता-का लड़का तो श्रेष्ठ ब्राह्मण होगा; और तेरा उग्रकर्मा क्षात्र-बलधारी।

इससे स्पष्ट होगया कि—गाधिकी स्त्रीने जो ब्राह्मणोत्पादक चरु खाया था; उससे उसकी सन्तान भी ब्राह्मण ही होनी थी। तभी कहा है-'विश्वामित्रं चाजनयद् गाधिभार्या यशस्विनी। ऋषेः प्रसादाद्

राजेन्द्र! ब्रह्मर्षिं ब्रह्मवादिनम्' (महा. अनु. ४।४७) इससे विश्वा-मित्र जन्मसे ब्राह्मण सिद्ध हुए; और प्रतिपक्षियोंका आक्षेप सर्वथा हट गया। जो व्यक्ति इतिहासमें लिखी उनकी जन्मसे ब्राह्मणताको न माने; वह विश्वामित्रको भी इतिहासके बिना सिद्ध नहीं कर सकता कि विश्वामित्र भी कोई थे। तब उसका आक्षेप ही खण्डित होगया; क्योंकि—पूर्वपक्षी इतिहासके अवलम्बनसे ही तो क्षत्रियका ब्राह्मण बन जाना सिद्ध करना चाहता है। जब उसके मतमें इतिहास ही प्रमाण नहीं; तब वह कह नहीं सकता कि—अमुक-अमुक व्यक्ति निम्न वर्णसे उन्नत होगया। यदि वह पूर्वपक्षको सिद्ध करनेकेलिए इतिहास आदिको प्रमाण मानता है; तब विश्वामित्रका इतिहास-प्रोक्त जन्मसे ही ब्राह्मण होना भी उसे मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार प्रतिपक्षीका पक्ष कट गया।

विश्वामित्र गाधिके वीर्यसे उत्पन्न नहीं हुए थे; इसलिए उनका पिताके वर्णसे भी सम्बन्ध नहीं था। वह तो ब्राह्मणसे दिये हुए ब्राह्मणत्वसे अभिमन्त्रित चरु-द्वारा उत्पन्न हुए थे; इस कारण वे जन्मसे ही ब्राह्मण थे; हाँ उनमें कुछ अपूर्णता अवश्य थी। उनके क्षत्रिय-पितासे सम्बद्ध क्षत्रिय-माताके शरीरसे जन्म होने-से 'यो भर्ता सा स्मृताङ्गना' (मनु. ९।४५) कुछ क्षत्रियत्व भी था। इस ब्राह्मणत्वकी अपूर्णताके कारण तपस्या-समाप्तिसे पूर्व उनका माता-पितृमूलक क्षत्रियत्व भी प्रसिद्ध था। इसीलिए उन्हीं-दिनों मेनकासे विश्वामित्रकी जो शकुन्तला नामकी कन्या उत्पन्न

हुई थी, क्षत्रिय-राजा दुष्यन्तने उसे अपने विवाह-योग्य समझा, क्योंकि-वह ब्राह्मणीसे तो उत्पन्न हुई नहीं थी। उन दिनों विश्वामित्रके शरीरसे उसके क्षत्रिय पितासे सम्बद्ध क्षत्रिया-माताके परमाणु पूरे नहीं निकल पाये थे; क्योंकि-मेनकाने तब उनकी तपस्यामें विघ्न कर दिया था; परन्तु तपस्या-समाप्तिके बाद उनकी क्षत्रिया-माताके परमाणु शरीरसे सर्वथा निकल गये; तब मुनिके ब्राह्मणत्वाधायक-चरुका पूर्ण विकास हो जानेसे उनकी पूर्णता एवं शुद्ध-ब्राह्मणता होगई। इसलिए ब्राह्मणोंका विश्वामित्र-गोत्र भी सुना गया है।

जो कि-कई क्षत्रियोंका भी विश्वामित्र-गोत्र हुआ करता है; उसमें कारण अग्निपुराणमें कहा गया है-'वैश्यक्षत्रिय-शूद्राणां गोत्रं च प्रवरादिकम्। तथा सङ्कर-जातीनां येषां विप्राश्च याजकाः' अर्थात्-यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणोंका जो गोत्र था; यजमान क्षत्रियोंने भी विद्या-वंश मानकर वही ब्राह्मणोंका गोत्र ले लिया।

बीज और योनिमें प्रधानता बीजकी होती है, मनुस्मृतिमें लिखा है—'बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते। सर्वभूत-प्रसूतिर्हि बीजलक्षण-लक्षिता' (९।३५) 'तस्माद् बीजं प्रशस्यते' (१०।७२) बीज था यहाँ ब्राह्मणत्वसे अभिमन्त्रित चरु; तब उससे विश्वामित्रने ब्राह्मण बनना ही था; परन्तु माताके रजके परमाणुओंके कारण प्राप्त हुए क्षत्रित्वको दूर करनेकेलिए विश्वामित्रने १५ सहस्र वर्ष तपस्या करके उन परमाणुओंको पृथक् कर दिया। पुरुषकी आयु १०० वर्षकी मानी जाती है; उस समय उसके शरीरमें

परिवर्तन होकर नया शरीर मिलता है, तब गत-जन्मके कर्मा-नुसार वर्ण बदल जाता है। यहाँ तो १५ सहस्र वर्षोंमें विश्वामित्र के न मालूम कितने जन्म तथा शरीर परिवर्तित होगये; तब क्षत्रियत्वके अभिमानके ढकनेसे छिपा हुआ उसका ब्राह्मणत्व ढकना हटा देनेसे प्रकट होगया।

यदि प्रतिपक्षियोंके सिद्धान्तके अनुसार विद्वत्तासे ब्राह्मणता होती, तो विश्वामित्र पूर्ण-विद्वान् तो थे ही; तब उन्हें ब्राह्मणत्व-की प्राप्त्यर्थं घोर-तपस्याकी क्या आवश्यकता थी-अतः स्पष्ट है कि-गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था नहीं हुआ करती। यदि तपस्याको भी कर्म माना जावे; और उससे ब्राह्मणता सुलभ मानी जावे; तो भगवान्-रामने तपस्या करते हुए शूद्रको क्यों मारा? क्या वह तपस्यासे ब्राह्मण नहीं हुआ था? तपस्या करते हुए मतङ्गको ब्राह्मण-त्व क्यों नहीं दिया गया? इससे स्पष्ट है कि-विश्वामित्र ऋचीकमुनि द्वारा दिये हुए ब्राह्मण्य-चरुके कारण जन्मसे ही ब्राह्मण थे; केवल मातासे प्राप्त क्षत्रिय-परमाणुओंको दूर करनेकेलिए उन्होंने तपस्या करके उन परमाणुओंको दूर करके शुद्ध-ब्राह्मणता प्राप्त की। तभी वसिष्ठ-आदिने भी उन्हें 'ब्रह्मर्षि' माना।

शेष प्रश्न यह बच गया कि-सत्यवतीने जो क्षत्रियत्वाभि-मन्त्रित चरु खाया था; उसकी क्या गति हुई-इसपर यह उत्तर है कि-उसने पतिको कहा था-'प्रसादं कुरु विप्रर्षे! न मे स्यात् क्षत्रियः सुतः। (अनुशासन. ४।४४) कामं ममोग्रकर्मा वै पौत्रो भवितु-मर्हति। न तु मे स्यात् सुतो ब्रह्मन्! एष वै दीयतां वरः (४।४५)

अर्थात्-मेरा पुत्र क्षत्रिय न हो। मेरा पोता भले ही उग्रकर्मा होवे। मुनि समर्थ थे; उन्होंने वैसा ही वर दे दिया; इस पीढ़ीके कर्मको अगली पीढ़ीमें सरका दिया। 'एवमस्त्विति प्रोवाच स्वां भार्यां सुमहातपाः। ततः सा जनयामास जमदग्निं सुतं शुभम्' (अनु. ४।४६, शान्ति. ४९।२९) उसका लड़का जमदग्नि शान्त-ब्राह्मण हुआ; उसके चरुकी क्षत्रियता (उग्रधर्मता) भी विनष्ट कर दी। 'यो भर्ता सा स्मृताङ्गना' (९।४५) इस मनुवचनसे उसकी स्त्रीका भी यहां अन्तराय न रहा। तब उसका पुत्र परशुराम भी ब्राह्मण हुआ; पर माताके वरके कारण उग्रकर्मा हुआ। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि-यह वर्णव्यवस्थाका नियम भी सामान्यतया मैथुन योनिवालोंमें ही हुआ करता है; अमैथुनयोनि वालोंमें जैसे सृष्टिक्रमका अतिक्रमण हुआ करता है; वैसे कहीं जन्मना वर्ण-व्यवस्थारूप सृष्टिके व्यवहारका भी अतिक्रमण हो जाया करता है। पर उससे मैथुन-योनिवालोंमें वैसा व्यवहार प्रसक्त नहीं होता। इतिहासमें जैसी व्यवस्था लिखी है; उसे मानना ही पड़ता है; नहीं तो इतिहासके ही गप्प हो जानेसे उसपर कोई प्रश्न ही न हो सके।

चरुसे गर्भमें असम्भव भी नहीं मानना चाहिये। पुत्रेष्टियज्ञमें तैयार किया जाता हुआ चरु भी दशरथ-जैसे अतिवृद्ध पुरुषोंकी स्त्रियोंमें, बिना भी वीर्यसे गर्भ कर देता है; इसीलिए तो पिण्ड-पितृयज्ञमें मध्यम-पिण्ड खिलानेसे 'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम्' (यजुः मा.सं. २।३३) इस मन्त्रकी साक्षी तथा

मनुस्मृति (३।२६२-२६३) के प्रमाणसे पत्नी गर्भवती हो जाती है; यह बात आर्यसमाजी 'वैदिक-सम्पत्ति'के प्रणेता श्रीरघुनन्दन-शर्मा भी मान गये हैं-यह 'आलोक'के पञ्चमपुष्पके 'मृतकश्राद्ध-विज्ञान (६)में देखें। उसमें गर्भका कारण चरु वा पिण्ड होता है; इसलिए 'प्रशस्तपादभाष्य' आदिमें अयोनिज शरीरोंकी सत्ता मानी जाती है। सीता, द्रौपदी, कर्ण, धृष्टद्युम्न आदि भी अयोनिज थे। योगसिद्धिरूप-तपोबलसे असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं। फलतः विश्वामित्रके दृष्टान्तसे वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मणा कभी सिद्ध नहीं हो सकती।

आर्यसमाजियोंके मान्य श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीजीने अपने 'ऐतरेयालोचन' (१६ पृष्ठ)में 'विश्वामित्रकी जन्मसे क्षत्रियत्व-कथा' 'आमूलकल्पित' मानी है। वे वहां लिखते हैं-'न च महर्षिर्विश्वा-मित्रः कदाप्यासीद् अब्राह्मणः...नैव स तपः-प्रभावाद् ब्राह्मण-त्वमाप'। १४ पृष्ठमें उन्होंने लिखा है - 'जातिर्जन्मेति पर्याय-शब्दौ इति जन्मानुसारिण्येव जातिरित्येव सर्वसम्मतम्। सम्प्रति तदन्यथा-करणे जात्युच्छेदप्रसङ्गः स्यादिति'। यह उन्होंने अपना मत दिखलाया है। जो कि-उन्होंने आगे कर्मसे जात्य-न्तरता भी 'धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः, शूद्रो ब्राह्मणतामेति' इस आपस्तम्ब तथा मनुके वचनोंसे दिखलाई है; उनका समाधान हम 'आलोक'के चतुर्थ पुष्प (९-१०, निबन्ध)में कर चुके हैं।

(५) पूर्वपक्ष—मतङ्ग चाण्डाल-कुलसे ब्राह्मण हो गया-यह सत्यार्थप्रकाशके ४र्थ समुल्लास ५१ पृष्ठमें स्वा.द.जीने लिखा है।

स्वा. वेदानन्दजीने मोटे सत्यार्थप्रकाशके ८०-८१ पृष्ठकी टिप्पणीमें महाभारतका यह श्लोक और अर्थ दिया है-'स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यमालभद् भरतर्षभ ! चाण्डालयोनौ जातौ हि कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्' (अनु. ३।१६) अर्थात्-हे भरतश्रेष्ठ ! यह उचित ही है कि-मतङ्गने ब्राह्मणता प्राप्त की, चाण्डालयोनिमें उत्पन्न होकर भी उसने कैसे ब्राह्मणता प्राप्त की'। इससे मतङ्गका चाण्डालसे ब्राह्मण बनना सिद्ध होता है।

उत्तरपक्ष—इसका उत्तर 'आलोक' (तृतीय-पुष्प) में 'मतङ्गका ब्राह्मण बनना' (३० पूर्वपक्ष)में पाठक देखें। मतङ्गका ब्राह्मण बनना महाभारतमें कहीं नहीं लिखा; तब उससे विरुद्ध लिखनेवाले दोनों 'सत्यार्थप्रकाश' 'असत्यार्थ-प्रकाश' सिद्ध हुए। अनुशासनपर्वके २७-२८-२९ अध्यायमें मतङ्गोपाख्यान प्रत्यक्ष है। 'गुरु तो गुड़ चेला चीनी हो गये' इस न्यायके अनुसार चेले स्वा. वेदानन्दजीने महाभारतके पाठको भी बदलकर अपना मनमाना अर्थ कर दिया। वहां पाठ था-'स्थाने मतङ्गो ब्राह्मण्यं नालभद् भरतर्षभ ! चाण्डालयौनौ जातो हि, कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्' इस पद्यके 'ब्राह्मण्यं नाऽलभद्'को स्वा. वेदानन्दजीने 'ब्राह्मण्यमालभद्' बना दिया। यह कितना छल एवं कितनी प्रवञ्चना है ! जबकि महाभारतमें 'मतङ्गको ब्राह्मणत्व नहीं मिला' यह स्पष्ट लिखा है; तब वहां 'ब्राह्मण्यमालभद्' पाठ कैसे हो सकता है ? इस पद्यका अन्वय इस प्रकार है-'चाण्डालयोनौ जातो हि मतङ्गः ब्राह्मण्यं न अलभद् [इति] स्थाने' इसका अर्थ है कि-'यह ठीक है कि चाण्डाल-

योनिमें प्राप्त मतङ्ग ब्राह्मणताको प्राप्त न कर सका। ... विश्वामित्र किस प्रकार बिना दूसरा जन्म लिए ब्राह्मण बना ? यह युधिष्ठिरका प्रश्न था। इनमें 'चाण्डालयोनौ जातो हि' (३।१६) का सम्बन्ध मतङ्गसे है, पर 'कथं ब्राह्मण्यमाप्तवान्' (३।१६) ... सम्बन्ध पहलेके चालू विश्वामित्रके, बिना दूसरे देहके ब्राह्मण बननेके प्रकरणसे है। वह पद्य यह है-'देहान्तरमनासाद्य कथं स ब्राह्मणोऽभवत' (३।१७)। इसमें 'मतङ्गस्य यथातत्त्वं तथैव... वदस्व मे' (३।१८) मतङ्गकी कथा भी पूछी गई है, और विश्वामित्र की भी। सो विश्वामित्रकी कथा तो ४र्थ अध्यायमें कही गई, फिर कई प्रासङ्गिक-प्रश्न पूछे गये 'यत्र यत्र ... सन्देहो भूयस्ते राजसत्तम ! तत्र तत्र च मां ब्रूहि च्छेत्तास्मि ... संशयान्' (४।६२), फिर मतङ्गकी कथा २७-२८-२९ अध्यायोंमें कही गई है; पर स्वा. श्रीवेदानन्दजीका कितना परस्पर-विरुद्ध अर्थ है-पहले तो लिखते हैं—'यह उचित ही है कि मतङ्गने ब्राह्मणता प्राप्त की; पर फिर इससे विरुद्ध लिखते हैं-'चाण्डाल-योनिमें उत्पन्न होकर भी उसने कैसे ब्राह्मणता प्राप्त की' यह परस्पर-विरुद्धता ग्रन्थकारसे विरुद्ध अर्थ लिखनेके कारण हुई है।

मतङ्गके माता-पिता तो प्रत्यक्षमें ब्राह्मण थे, अतएव मतङ्ग भी पहले प्रत्यक्ष ब्राह्मण प्रसिद्ध था; पर वह अपनी मातामें शूद्रसे उत्पन्न हुआ था; अतएव प्रतिलोम-संकर होनेसे वस्तुतः चाण्डाल था; पहले यह बात किसी को पता नहीं थी; पीछे मतङ्गको ज्ञात हुई। तब उसने ब्राह्मणताकी प्राप्त्यर्थ तपस्या की; पर इन्द्रने उसे

निषेध कर दिया, और कहा—

'ब्राह्मण्यं प्रार्थयानस्त्वमप्राप्यमकृतात्मभिः। विनशिष्यसि दुर्बुद्धे! तदुपारम मा चिरम्' (अनु. २७-२८) देवतासुरमर्त्येषु तत् पवित्रं परं स्मृतम्। चाण्डालयोनौ जातेन न तत् प्राप्यं कथञ्चन' (३०) मतङ्गने फिर दो-तीन बार उग्र-तपस्या की; पर अन्तमें इन्द्रने निर्णय दिया कि–तुम ब्राह्मण नहीं बन सकते–'तदुत्सृज्येह दुष्प्रापं ब्राह्मण्यमकृतात्मभिः। अन्यं वरं वृणीष्व त्वं, दुर्लभोऽयं हि ते वरः' (अनु. २९।१२-१३) 'बह्वीस्तु संविशन् योनीर्जायमानः पुनः पुनः। पर्याये तात! कस्मिँश्चिद् ब्राह्मणो नाम जायते' (२९।११) यह वहांपर सिद्धान्तपक्ष बताया गया है कि–बहुत योनियोंमें घूम-फिर कर तब कहीं ब्राह्मणयोनिमें उत्पन्न होता है।

जो व्यक्ति गुण-कर्मसे सद्यः ब्राह्मणता मानते हैं; मतङ्गके पक्षपाती वे मतङ्गके ही वचनको याद रखें–'एकारामो ह्यहं शक्र! निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः' (२९।१७) अहिंसा-दममास्थाय कथं नार्हामि विप्रताम्? दैवं (पूर्वजन्मका कर्म) तु कथमेतद् वै यदहं मातृदोषतः' (१८) एतामवस्थां संप्राप्तो धर्मज्ञः सन् पुरन्दर! नूनं दैवं (प्रारब्धकर्म) न शक्यं हि पौरुषेण (ऐहिक-कर्मसे) ऽतिवर्तितुम्।' (१९) यदर्थं यत्नवान् (शुभ-गुणकर्मरतोपि) न लभे विप्रतां प्रभो' (२०) इससे स्पष्ट है कि–मतङ्ग अहिंसा, दम आदि ब्राह्मणयोग्य-गुणकर्मवाला भी, प्रत्यक्षमें ब्राह्मणका पुत्र भी, अपनी माताके नाईसे संयोग-द्वारा उत्पन्न होनेसे जन्मसे चाण्डाल होनेसे बहुत प्रयत्न करनेपर भी ब्राह्मण न माना गया; और न वह बन सका। हां, अपने गुणकर्मोंसे

उसका सम्मान हुआ (२९।२४)'। इससे प्रतिपक्षियोंका पक्ष विच्छिन्न हो गया।

(६) पूर्वपक्ष—श्रवणकुमार जन्मसे शूद्र होनेपर भी मुनिपुत्र एवं ब्राह्मण माना गया है; उसके मारनेसे दशरथने ब्रह्महत्या होनी मानी थी–इससे भी वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मसे ही है (श्रीशिवशंकरकाव्यतीर्थ)।

उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं। यह कथा वाल्मीकि-रामायणके अयोध्याकाण्डमें है। वह शूद्र-स्त्रीमें वैश्यसे अनुलोमसङ्कर उत्पन्न हुआ था। राजा दशरथके शब्दवेधी बाणसे वह विद्ध होकर मरा। राजा दशरथ को उसकी ब्राह्मणताका सन्देह हुआ; अतः उसे ब्रह्महत्याका भय होगया। पर श्रवणकुमारने उसे स्वयं ही दूर कर दिया, इस विषयमें 'आलोक'के तृतीयपुष्पमें 'श्रवण-कुमार आदिका कुल' ३२ पूर्वपक्षमें देखना चाहिये। श्रवणने कहा था–'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ; किन्तु वैश्य-शूद्राका सङ्कर हूँ। जब वह स्वयं अपनेको शूद्र कह रहा है, तब पूर्वपक्षियोंका उसे ब्राह्मण कहना निष्प्रमाण है। यह 'मुदई सुस्त, गवाह चुस्त' कहावतको चरितार्थ करना है। केवल यह प्रश्न शेष है कि–श्रवणके पिताको 'तपोधन-मुनि' कहा है, और श्रवणको 'तापस तथा महातेजाः' कहा है, तो वह ब्राह्मण होगा; पर ऐसा नहीं। इस शब्दसे उसकी ब्राह्मणता सिद्ध नहीं होती। श्रवण तो शूद्र ही है, पर मतङ्ग जो वास्तवमें चाण्डाल था; उसे भी तपस्वी वा मुनि कहा गया है। तपस्वी क्षत्रिय, वैश्य आदि भी हो सकते हैं। ब्राह्मण

भी निन्दित हो सकता है। तब इससे वादियोंकी कुछ भी इष्ट-सिद्धि नहीं। विशेष तृतीय-पुष्पमें देखें।

(७) पूर्वपक्ष—अजामिल भी शूद्रसे ब्राह्मण बन गया था।

उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं; वह जन्मसे ही ब्राह्मण था। जैसे कि-श्रीमद्भागवतमें—'कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद् दासीपतिरजामिलः' (६।१।२१) दासीपति होनेसे शूद्रता नहीं हो जाती। ब्राह्मणका शूद्राके साथ विवाह भी स्मृतियोंमें अभ्यनुज्ञात किया गया है, यद्यपि वह निन्दित है।

(८) पूर्वपक्ष—महाभारतके वनपर्वमें सर्प और युधिष्ठिरके संवादसे गुणकर्मणा वर्णव्यवस्था बहुत ही स्पष्ट है; तब जन्मना वर्ण-व्यवस्था शास्त्रीय नहीं।

उत्तरपक्ष—हम उन श्लोकोंको-जिनपर वादियोंको गर्व है-देकर इस विषयको स्पष्ट करते हैं। वहांपर 'शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेत् शूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः' (१८०।२५) इस पद्यको तो वे (पूर्वपक्षी) कामधेनु मानते हैं। इस विषयपर मीमांसा की जाती है—

पहले सर्पने पूछा कि—'ब्राह्मणः को भवेद् राजन् ! वेद्यं किं च युधिष्ठिर !' (१८०।२०) अर्थात् ब्राह्मण कौन होता है ? इसपर युधिष्ठिरने उत्तर दिया कि-'सत्यं दानं क्षमा शौचमानृशंस्यं तपो घृणा। दृश्यते यत्र नागेन्द्र ! स ब्राह्मण इति स्मृतः' (३।१८०।२१) यहां वर्णसङ्करताकी आशङ्कामें ब्राह्मणको जाननेकेलिए ब्राह्मणके साधारण चिन्ह बताये गये हैं; वैसी वर्ण-व्यवस्थाकेलिए नहीं— यह युधिष्ठिर

स्वयं आगे कहेंगे। यदि सत्य, दान, क्षमा आदि गुणकर्मोंसे सचमुच ही शूद्र-क्षत्रियादिकी ब्राह्मणता इष्ट हो; तो प्रतिपक्षियों-को कहना चाहिये कि-युधिष्ठिरमें तथा भगवान् कृष्णमें तथा राजर्षिजनक आदियोंमें इनमें किन गुणोंकी न्यूनता थी ? यदि नहीं थी; तब वे ब्राह्मण क्यों नहीं कहे गये ? क्यों स्पष्टरूपसे क्षत्रिय माने गये ? परशुराममें, द्रोणाचार्यमें, कृपाचार्यमें और अश्वत्थामामें कौनसे क्षत्रिय-गुणकर्म नहीं थे ? फिर भी वे स्पष्टरूपसे ब्राह्मण क्यों कहे वा माने गये ?

वादियोंको जानना चाहिये कि-सर्प-युधिष्ठिर संवाद तो संवादमात्र है, वास्तवमें ग्रन्थकार ग्रन्थमें अपना ही अभिप्राय दिखलाता है। यदि ऐसा है; तो महाभारतकार-श्रीवेदव्यासका 'जन्मना-वर्ण व्यवस्था'के सम्बन्धमें जो उत्तरपक्ष है, वह हम 'आलोक'के ४थें पुष्प (२३४–२४० पृष्ठ)में बता चुके हैं; तब यह न्याय नहीं हो सकता कि-श्रीवेदव्यासजी अपने ग्रन्थमें परस्पर-विरुद्धता रखें। बल्कि-प्रतिपक्षी लोग तो महाभारतीय मूल-इतिहासको ही श्रीवेदव्यास-कृत मानते हैं; शेष उपाख्यानों वा संवादोंको वे श्रीव्यासकृत नहीं मानते; इसी प्रकारका सर्पयुधिष्ठिर-संवाद भी प्रतिपक्षियोंके मतानुसार अवैयासिक है; पर फिर भी हम उसका समाधान करते हैं। यदि यही गुणकर्मकृत–वर्णव्यवस्थाका ही सिद्धान्त महाभारतकारको वास्तविक इष्ट होता; तब यदि वह जहां शूद्रको वादियोंके मतानुसार क्षमा, सत्य, दया, तप आदि द्वारा ब्राह्मण बताता है; तब उन गुणकर्मोंसे, क्षत्रिय-युधिष्ठिर आदिको तो अवश्य ही

ब्राह्मण बताता; पर नहीं बताता है, इससे स्पष्ट है कि यह उसका सिद्धान्तपक्ष नहीं, किन्तु यहाँ गुणकर्मोंका अर्थवाद तथा सङ्करता-में उनके द्वारा वर्णपरीक्षा अभिमत है, वैसा वर्ण बनाना नहीं।

तभी तो ग्रन्थकारने आगे सर्पके द्वारा कहलवाया है—'चातुर्वर्ण्यं प्रमाणं च सत्यं च ब्रह्म चैव हि। शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च' (१८०।२३) आनृशंस्यमहिंसा च घृणा चैव युधिष्ठिर !' (१८०।२४) यहां स्पष्ट है कि-महाभारतकारको जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्था सिद्धान्तपक्ष इष्ट है; नहीं तो वह इस पद्यमें शूद्रों तथा अन्य-वर्णोंमें भी सत्य, दान, क्षमा, दया आदि न दिखलाता; वह वैसे गुण वालेको शूद्र नामसें ही न बुलाता। इससे स्पष्ट है-महाभारतका जन्मना वर्ण-व्यवस्था हृदय है।

तब युधिष्ठिरने कहा—'शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेत् शूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः' (१८०।२५) यह वही प्रतिपक्षियोंका प्रिय पद्य है। यदि ब्राह्मणादि-जाति जन्मसे न होती; तो "क्षमा, दया आदि गुणों वाला शूद्र, शूद्र नहीं होता; और उक्त गुणोंसे रहित ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं होता" यह वाक्य ही असम्भव होता; क्योंकि-दीवारमें ही चित्र होता है। यदि जन्मना वर्ण-व्यवस्था असम्भव होती; तो युधिष्ठिर वैसे गुणवालेका नाम शूद्र ही न रखता। इससे स्पष्ट है कि-उक्त श्लोकमें पहले कहे हुए शूद्र एवं ब्राह्मण शब्द जन्मसे जातिको बताते हैं, गुणकर्मसे नहीं। गुणकर्मोंके होनेपर तो वहां प्रथम कहे हुए शूद्र और ब्राह्मणशब्दका उपन्यास असम्भव होता। तब उसका शूद्र-ब्राह्मणताका निषेध भी निराधार होता; इसपर प्रतिपक्षियों वा तटस्थोंको सूक्ष्म-दृष्टि डालनी चाहिये। तब स्पष्ट है कि-पूर्व कहे हुए शूद्र, ब्राह्मण-शब्द 'जाति-शब्द' हैं।

दूसरे-शूद्र, ब्राह्मणादि शब्द विधेय-विशेषण वाचक हैं, जातिशब्द नहीं। जैसे किसी मथुराके आर्यसमाजी क्षेत्रपाल शर्माने व्यापार-कार्य शुरू किया; तो कहा जाता है कि-यह वैश्य-ब्राह्मण है। स्मृतियोंमें चाण्डाल-ब्राह्मण, शूद्र-ब्राह्मणादिके भी लक्षण कहे गये हैं। जैसेकि—

'देवो, मुनिर्द्विजो राजा, वैश्यः, शूद्रो, निषादकः। पशुर्म्लेच्छोपि, चाण्डालो विप्रा दशविधाः स्मृताः' (अत्रि-स्मृति ३७१) देव-ब्राह्मण कौन है ? मुनि-ब्राह्मण कौन है ? ब्राह्मण-ब्राह्मण कौन है ? क्षत्रिय-ब्राह्मण कौन है ? वैश्य-ब्राह्मण कौन है ? शूद्र-ब्राह्मण कौन है ? पशु-ब्राह्मण कौन है ? म्लेच्छ-ब्राह्मण कौन है ? चाण्डाल-ब्राह्मण कौन है ? इनके लक्षण अत्रिस्मृतिके ३७२-३७३-३७४-३७५-३७६-३७७-३७८-३७९-३८०-३८१ श्लोकोंमें देखने चाहियें। इस प्रकार 'चाणक्यनीति'के ११।११ पद्यमें ऋषि-विप्रका, ११।१२ पद्यमें द्विज-विप्रका, १३वें में वैश्य-विप्रका, १४वेंमें शूद्र-विप्रका, १५वेंमें मार्जार-विप्रका, १६वेंमें म्लेच्छ-विप्रका, १७वें पद्यमें चाण्डाल-विप्रका लक्षण देखना चाहिये। इस प्रकार महाभारतके शान्तिपर्वमें ७६वें अध्यायमें भी है।

जैसे 'नरपशु' शब्द मनुष्यके लिए प्रयुक्त हुआ-हुआ उसे 'पशु' नहीं बताता, किन्तु पशु-सदृश बताता है; वैसे ही

ब्राह्मणादिकेलिए प्रयुक्त किया हुआ 'शूद्र' शब्द भी उसे वास्तविक-शूद्र नहीं बताता, किन्तु शूद्रके सदृश बताता है; नहीं तो क्या 'नरपशु'को वादी खली-भूसा आदि खिलाया करेंगे ? ऐसा नहीं है। वैसे ही उक्त गुण-कर्मसे हीन ब्राह्मणकी शूद्रता इष्ट नहीं होती; किन्तु उसकी शूद्र-सधर्मता इष्ट होती है; अथवा वह स्मृतिप्रोक्त पारिभाषिक-शब्द इष्ट होता है। इसलिए इस प्रकारके शब्द लुप्तोपमा-वाचक जानने चाहियें; नहीं तो इनके साथ ब्राह्मण-शब्द साथ न होता। इसलिए महाभाष्यमें कहा है—'अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। यथा एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह, तेन मन्यामहे—ब्रह्मदत्तवद् अयं भवति' (१।१।२३) जो ब्रह्मदत्त न हो; उसे ब्रह्मदत्त कहा जावे; तो उसका भाव यह होता है कि—यह ब्रह्मदत्तके समान है। इस प्रकार शूद्रको जब अशूद्र, ब्राह्मण कहा जावे; तो उसका भाव भी यह होता है कि—यह ब्राह्मणके समान है, ब्राह्मण नहीं। सो 'न वै शूद्रः शूद्रो भवेत्, ब्राह्मणो-ब्राह्मणो न भवेत्' यहांका 'नञ्'शब्द 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः'के तथा 'अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति' (महाभाष्य २।२।६, ५।१।११)के नञ् की भान्ति अर्थवाद है, केवल स्तुति-निन्दा आदिमें उसका पर्यवसान होता है, वह निषेधवाचक नहीं।

इस प्रकार 'यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प ! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः। यत्रैतन्न भवेत् सर्प ! तं शूद्रमिति निर्दिशेत्' (१८०।२६) इस युधिष्ठिरके वचनमें भी जानना चाहिये। यहाँ 'ब्राह्मण' शब्द 'ब्राह्मणवत्' अर्थमें, और 'शूद्र' शब्द शूद्रवत्ता (शूद्रकी तरह) अर्थमें विश्रान्त

है; जैसेकि—'अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते' ('बहुगणवतु-सूत्र-स्थित) यह महाभाष्यका वचन हम पूर्व उपस्थित कर चुके हैं। तब सर्पने पूछा कि—'यदि ते वृत्ततो राजन् ! ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः। वृथा जातिस्तदायुष्मन् ! कृतिर्यावन्न विद्यते' (१८०।३०) (हे राजा ! यदि तुम सदाचरणसे ब्राह्मणता मानते हो; तब जाति तो व्यर्थ हुई, जब तक कर्म न हो ?) यह प्रश्न जन्मना जातिमें ही उपपन्न हो सकता है। गुण-कर्मसे जाति-पक्षमें तो यह प्रश्न ही उन्मत्त-प्रलाप होगा। तब युधिष्ठिर अपने पूर्वके कथनमें वास्तविक-कारण बताते हैं—'जातिरत्र महासर्प ! मनुष्यत्वे महामते ! सङ्करात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः' (१८०।३१) इससे युधिष्ठिरने जातिकी व्यर्थता नहीं बताई। इसका यह भाव है कि—वास्तवमें ब्राह्मणादि-जन्म ही जाति होनेमें मूलकारण है। पर जब उसमें सङ्कर हो जावे; जैसे कि-मतङ्ग, ब्राह्मणकी ब्राह्मणी पत्नीमें नाईके सम्बन्धसे हुआ था—(महा. अनु. २७।१७), पर प्रत्यक्षतामें सब यही समझते थे कि-यह ब्राह्मण माता-पिताका लड़का है; अतः सब उस लड़केको भी ब्राह्मण समझते थे। युधिष्ठिरका इसपर यह कथन है कि-जातिमें प्रायः सङ्करता हो जानेके कारण वह ठीक-ठीक परीक्षित नहीं की जा सकती, अतः सङ्करताकी आशंकामें ब्राह्मणत्व आदि जातिकी परीक्षार्थ पूर्वप्रोक्त गुण देखने चाहियें; क्योंकि-'पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा। न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति' (मनु. १०।५६) अर्थात् या तो जात-पुत्र उत्पादकके

स्वभावको धारण करता है-या माताके; वह दुर्योनि व्यक्ति अपनी प्रकृतिको नहीं छिपा सकता। इसका यह भाव हुआ कि-शूद्रमें ब्राह्मणों वाले गुण असम्भव हैं—'अब्राह्मणे नहि ब्रह्म ध्रुवं तिष्ठेत् कदाचन' (महा. शान्ति. ३।३१)। ब्राह्मणमें उक्त गुण अवश्य होते हैं। यदि उसमें विपरीतता दीखे; तब समझना चाहिये कि-शूद्रामें ब्राह्मणका, वा ब्राह्मणीमें शूद्रका शारीरिक, वा प्रबल मानसिकसंयोग-मूलक व्यभिचार हुआ है। उसी वर्णसङ्करताकी आशंकामें यह गुण-कर्मकी परीक्षा करनी चाहिये; परीक्षासे उस शूद्रको ब्राह्मणसे उत्पादित समझना चाहिये; वा ब्राह्मणका प्रत्येक समयका संसर्ग समझना चाहिये।

यदि ऐसा है; तो ब्राह्मण-द्वारा उत्पत्तिसे ही शूद्रमें ब्राह्मण-सदृश गुण सिद्ध हुए; शूद्र-द्वारा उत्पत्तिसे, वा शूद्रके संसर्गसे ही ब्राह्मणमें शूद्र-सदृश गुण सिद्ध हुए। इसी प्रकार किसी हिन्दु-नेतामें अपनेसे विरोधी मुसलमान-जातिसे पक्षपात दीखे; तो वहाँ था तो उसकी मुसलमानसे उत्पत्ति समझनी होगी; अथवा गर्भके आधानके समय मुसलमानसे संसर्ग होनेके कारण ऐसा हुआ समझना चाहिये। इसी प्रकार किसी मुसलिम-नेताका हिन्दु-जातिसे पक्षपात हो, उसकी हिन्दु-बीजसे उत्पत्ति समझनी चाहिये। यह हमने समझनेकेलिए उदाहरणमात्र दिया है। लोग भी उस मुस्लिम-पक्षपाती हिन्दु-नेताकेलिए कहते हैं, यह मुस्लिम-बीज है, और वैसे मुस्लिमकेलिए भी कहते हैं-यह हिन्दु-बीज है। यही यहाँ महाभारतमें इष्ट है। सो इसमें भी

जन्ममूलक जाति ही सिद्ध हुई, गुणकर्ममूलक नहीं। क्योंकि—वे-वे गुण ब्राह्मण-शूद्र आदि द्वारा उत्पत्तिसे ही हुए, स्वयं स्वतन्त्रतासे नहीं-यह है हृदय महाभारतके उक्त-वचनोंका। जैसे कि मतङ्ग प्रकटतामें तो ब्राह्मणका ही लड़का था; पर वस्तुतः वह अपनी मातामें शूद्र-नाई द्वारा उत्पन्न हुआ था। जब वह गर्दभीके रथपर चढ़ा, इतनी निर्दयतासे उसके बच्चेको बार-बार पीटने लगा कि-उसके नथुनेमेंसे रक्त बहने लगा; तब उसकी इस बहुत निर्दयताके गुणसे अनुमान हुआ कि-यह किसी अन्यका संकर है। तब गर्दभीने कहा कि-यह ब्राह्मण नहीं है, किन्तु शूद्रसे ब्राह्मणीमें उत्पादित है; अतः चाण्डाल है। इस प्रकार संकरता होनेपर गुणकर्मसे जातिकी परीक्षाका अवसर हुआ करता है-यह युधिष्ठिरका अभिप्राय है।

यही बात मनुजी अपनी स्मृतिमें सूचित करते हैं—'कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद् योनिसंकरः। संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु' (१०।६०) (अच्छे कुलमें उत्पन्न होनेपर भी जिसका योनि-संकर हो जाता है; वह थोड़ा-बहुत अन्यका शील ले ही लिया करता है। धनिकोंके घर कभी नौकरों-आदि द्वारा गुप्त-रूपसे सन्तानें उत्पन्न हो जाती हैं; पर प्रकटरूपसे कोई नहीं जानता, क्योंकि-संयोग एकान्तमें परोक्षतामें होता है; तब उन निम्न-नौकरोंसे उत्पन्न वे सन्तानें पिताके समान गुणकर्म वाली कैसे हो सकती हैं? उनमें उन नौकरों वाले गुण भी होंगे। इसीलिए ही क्षत्रिय-गाधिकी स्त्रीमें ऋचीकके ब्राह्मण-चरुसे

उत्पन्न विश्वामित्र क्षत्रियताका संकर ब्राह्मण ही हुए। इसीलिए इस विषयमें पूर्ण-प्रमाण मिलनेपर उत्पादकका वर्ण ही उससे उत्पन्न बालकमें प्रयुक्त करना चाहिये; केवल प्रकट-सम्बन्ध वाले पिताका नहीं—यही युधिष्ठिरका अभिप्राय है। इसलिए आगे युधिष्ठिर इसे स्पष्ट कर देते हैं—'सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः। वाङ्मैथुनमथो जन्म मरणं च समं नृणाम् (१८०।३२) इदमार्षं प्रमाणं च 'ये यजामहे' इत्यपि। तस्मात् शीलं प्रधानेष्टं विदुर्ये तत्त्वदर्शिनः' (३३) इससे वर्णव्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध हुई।

इसका यह तात्पर्य है कि—ब्राह्मणका शूद्राके साथ, या शूद्रका ब्राह्मणीके साथ, इस प्रकार क्षत्रिय आदियोंका मैथुन समानतासे ही होता है, मैथुन हो जानेपर कोई विशेष मुहर नहीं लग जाती; उस स्त्रीके बिना, कोई न देखनेवाला अन्य नहीं बता सकता कि—इसका अमुकसे मैथुन हुआ। इसलिए मनुजीने भी ऐसी श्रुति दिखलाई है—'यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता। तन्मे रेतः पिता वृङ्क्तां—श्रुतिरत्र निदर्शनम्' (९।२०)। मैत्रायणीसंहितामें भी कहा है—'न वै तद् विद्म, यदि ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा वा' (कृष्ण-यजुर्वेद १।४।११।४७)। इस प्रकार जन्म-मरण आदिमें भी भिन्न-वर्णोत्पन्नोंका कोई भेद नहीं दीखता, इसलिए युधिष्ठिरने जातिकी दुष्परीक्ष्यतामें यही कारण दिखलाया है, कि—सबमें सब सन्तानें उत्पन्न किया करते हैं—'सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नराः'। यह कारण नहीं दिखलाया कि—जाति गुणकर्मसे हुआ करती है, जन्मसे नहीं। किन्तु 'जनयन्ति' शब्दसे जाति जन्म-जात

बताई गई है'। तब इस प्रकारकी सङ्करतामें किसका बीज प्राप्त हुआ है—यह परीक्षणसे अनुमान हुआ करता है; क्योंकि—'यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्। तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः' (मनु० ९।९) 'पित्र्यं वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा। न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति' (मनु. १०।५९) कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद् योनिसङ्करः। संश्रयत्येव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु' (मनु. १०।६०) (जैसे (जिस जाति वाले) पुरुषको स्त्री सेवित करती है, वैसा लड़का पैदा करती है।)

इससे स्पष्ट है कि—सङ्करताकी आशङ्का होनेपर ही युधिष्ठिरके मतमें गुणकर्मोंकी आवश्यकता अपेक्षित होती है, साधारणरूपसे नहीं। इसीलिए तो उसने आगे कहा है—'कृतकृत्याः पुनर्वर्णा यदि वृत्तं न विद्यते। संकरस्तत्र नागेन्द्र! बलवान् प्रसमीक्षितः' (महा. वन. १८०।३६) इसका अर्थ श्रीपाददामोदर सातवले-करने इस प्रकार लिखा है—'हे नागेन्द्र! सब वर्णोंकी संस्कार आदि क्रिया किये जानेपर भी यदि उनमें सच्चरित्रता न रहे; तो संकरत्वको बलवान् निश्चय करे'। 'यत्रेदानीं महासर्प! संस्कृतं वृत्त-मिष्यते। तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम! (१८०।३७)। जब यह सिद्ध हुआ कि—ग्रन्थकारका जन्मसे जातिखण्डनमें अभिप्राय नहीं; तब यह सद्वृत्तका प्रशंसार्थवाद और यह ब्राह्मणका धर्म सिद्ध हुआ। इससे जन्मसिद्ध-वर्ण-व्यवस्थाका विध्वंस इष्ट नहीं; नहीं तो युधिष्ठिर, जनक, श्रीकृष्ण आदि

ब्राह्मण, और अश्वत्थामा आदि क्षत्रिय कहे जाते; पर नहीं कहे गये; तब वे युधिष्ठिर आदि ब्राह्मणकी भान्ति प्रशंसनीय सिद्ध हैं; अश्वत्थामा आदि क्षत्रियकी भान्ति शूर ही सिद्ध हुए, युधिष्ठिर आदिको कहीं ब्राह्मण और अश्वत्थामा आदिको क्षत्रिय कहीं कहा नहीं गया—यह वस्तुस्थिति है।

इसीलिए ही सर्पने, वास्तवमें नहुषने आगे ब्राह्मणोंके गुणोंकी प्रशंसार्थ कहा है— 'ततो (अगस्त्यशापेन)मे विस्मयो जातस्तद् दृष्ट्वा तपसो बलम्। ब्रह्म च ब्राह्मणत्वं च येन त्वाऽहमचूचुदम्' (प्रश्नोत्तरणार्थम्) [१८१।४२] सत्यं दमस्तपो दानमहिंसा धर्मनित्यता। साधकानि सदा पुंसां न जातिर्न कुलं नृप' (१८१।४३) इस उपसंहारपद्यसे स्पष्ट है कि—सर्प सब वर्णोंमें इन गुणोंको चाहता है, और उन्हें पुरुषोंका साधनरूप मानता है; इससे वह जन्मना वर्णव्यवस्था खण्डित नहीं करता; नहीं तो उसके मतसे इस श्लोकके अनुसार एक ब्राह्मणवर्ण ही होता, अन्य वर्ण न होते। इससे स्पष्ट है कि—इस प्रकरणमें केवल उक्त-गुणोंका 'साधकानि' (३।१८१।४३) इस शब्दसे प्रशंसार्थवाद ही कहा गया है, वैसा वर्णपरिवर्तन नहीं। उन गुणोंको सब 'पुंसां' (१८१।४३) पुरुषोंकेलिए अवलम्बनार्थ कहा गया है। 'न जातिर्न कुलं' में 'नञ्' अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः'की भान्ति गुणकर्मकी अपेक्षा जातिको कुत्सित बताना इष्ट है, सर्वथा जातिका निषेध नहीं। इससे सूचित किया है कि—जाति तथा उसके गुणकर्म दोनों ही आवश्यक हैं—उसीसे ब्राह्मणादिकी

पूर्णता होती है।

(६) पूर्वपक्ष—एक ईश्वर ही सबका पिता है, हम सब उसके पुत्र होनेसे सहोदर हैं; तब हममें जातिभेद वा वर्णभेद कैसे ? एक पिताके पुत्र भिन्न-भिन्न जाति वाले नहीं हुआ करते।

उत्तरपक्ष—यदि एक पिताके पुत्र समान-जाति वाले होते हैं, तो परमात्माके सब पुत्र भी समान मनुष्य-जाति वाले हों! क्यों उससे पशु, पक्षी, वृक्ष आदि भिन्न-भिन्न जाति वाले हुए ? वास्तवमें माता-पिताके शुक्र-शोणितसे उत्पन्न हुए हीं सहोदर हुआ करते हैं। हम परमात्माके शुक्रसे उत्पन्न नहीं हुए। पहले मानसिक-सृष्टि हुई, मैथुनी नहीं। पीछे साङ्कल्पिक-सृष्टि हुई। यह मैथुनी-सृष्टिसे उत्पन्न भाईकी भान्ति नहीं होते। नहीं तो यदि हम सभी ईश्वर-पुत्र होनेसे भ्राता हैं; तो सभी लड़कियाँ भी हमारी बहिन बनीं। तब उनके साथ हमारा विवाह-सम्बन्ध भी न होना चाहिये, भाई-बहिनोंका आपसमें विवाह-सम्बन्ध नहीं हुआ करता। हाँ, यदि दूसरे परमात्माकी कोई लड़कियाँ होवें; तब हमारा उनके साथ विवाह-सम्बन्ध हो सकता है; पर यदि सांकल्पिक-सृष्टिमें ऐसा नहीं माना जाता; तब समानवर्णता ही कैसे मानी जावेगी ? वस्तुतः परमात्माके भिन्न-भिन्न मुख-बाहु आदि अङ्गोंसे उत्पन्न होनेसे यह जातियां भी भिन्न-भिन्न वर्णकी हुईं। मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए, बाहुसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए; तब जातिभेद स्वाभाविक है। इस विषयमें 'ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्' (क-ख-ग-घ-ङ-च.) यह

निबन्ध 'आलोक'के ४र्थ और ६ठे तथा (छ) प्रस्तुत (८म) पुष्प (पृ. २७९ से २९६ पृ. तक) में देखना चाहिये।

(१०) पूर्वपक्ष—'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' (मनु. २।२८) यहांपर गुणकर्मोंसे ब्राह्मण बन जाना कहा गया है (स. प्र. ३य समुल्लास)

उत्तरपक्ष—यहां 'ब्राह्मी'का 'ब्रह्मपद (ब्रह्मलोक)की प्राप्तियोग्य' अर्थ है। यदि ब्राह्मण-जाति अर्थ इष्ट होता; तो 'ब्राह्मणीयं क्रियते तनुः' होता, क्योंकि—जाति-अर्थमें टि का लोप नहीं होता। इसी प्रकार स्वा.द. जीने भी अपने 'स्त्रैणताद्धित'में 'ब्राह्मोऽजातौ' (६।४।१७१) इस पाणिनिसूत्रके व्याख्यानमें १६५ पृष्ठमें ऐसा कहा है—'ब्राह्मम् अस्त्रम्, ब्राह्मं हविः, ब्राह्मो नारदः' इत्यादि।

यहाँ सर्वत्र ब्रह्मन् शब्दका टिलोप निपातनसे किया है। अपत्यसंज्ञक अण प्रत्यय परे हो, तो जाति अर्थमें ब्रह्मन् शब्दके टिभागका लोप न होवे, जैसे—'ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः'। इससे स्वामीने सिद्ध किया है कि—'ब्रह्मणोऽपत्यम्' यह अर्थ हो; परन्तु जातिका नाम न हो; तो वहाँ टि का लोप होकर 'ब्राह्मो नारदः' बनता है। यदि जातिका तो अर्थ हो; परन्तु अपत्यका अर्थ न हो; तब भी टि का लोप होकर 'ब्राह्मी ओषधिः' बनता है। जब साधारण अर्थ हो 'ब्रह्मसम्बन्धी', तब भी टि का लोप होकर 'ब्राह्मम् अस्त्रम्, ब्राह्मं हविः' बनेगा; परन्तु जब अपत्य अर्थ भी होवे और जातिका अर्थ भी हो; तभी 'ब्राह्मणः' बनेगा। तब

इस वेदाङ्गके सूत्रके अनुसार उक्त मनुके पद्यमें 'ब्राह्मी तनुः' यहाँपर भी टि-लोप दीखनेसे, अपत्य तथा जाति अर्थ न होनेसे ब्राह्मण-जातिका अर्थ सिद्ध न हुआ।

इसी कारण ही प्रकृत मनुके श्लोककी व्याख्यामें श्रीमेधातिथिने भी कहा है—'ब्रह्म-परमात्मा कारणपुरुषः, तस्य इयं सम्बन्धिनी तनुः-शरीरम्, एतैः श्रौतस्मार्तैः सर्वैः कर्मभिः क्रियते'। यही सर्वज्ञ-नारायणने भी लिखा है—'या तनुः-देहः, सा ब्राह्मी-ब्रह्मप्राप्तियोग्या क्रियते'। यही श्रीकुल्लूकभट्टने कहा है—'ब्राह्मी-ब्रह्मप्राप्तियोग्या इयं तनुः-तन्ववच्छिन्न आत्मा क्रियते। एतत्कर्म-सहकृतेन ब्रह्मज्ञानेन मोक्षावाप्तेः'। यही राघवानन्दने कहा है—'ब्राह्मी-ब्रह्मप्राप्तियोग्या तनुः क्रियते'। यही नन्दनने कहा है—'ब्राह्मी-ब्रह्मप्राप्त्यर्हा'। यही श्रीरामचन्द्रने लिखा है—'ब्राह्मी-ब्रह्मप्राप्तियोग्या तनुः क्रियते'। यह ठीक भी है; क्योंकि जातिसे भिन्न अर्थमें 'ब्राह्मी' इस प्रकार वेदाङ्ग-व्याकरणके अनुसार टि का लोप होता है।

जो कि सत्यार्थप्रकाशमें इस श्लोकार्थसे पूर्व स्वा.द.जीने ४१ पृष्ठमें कहा है—'रजवीर्यके योगसे ब्राह्मण-शरीर नहीं होता' यह बात तो निर्मूल है। स्वामीजीके ही मान्य श्रीमनुजीने कहा है—'सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु। आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते' (१०।५) यहाँपर ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें उत्पन्नको माता-पिताके समान वर्णवाला कहा है। तो यह रज-वीर्यसे ही तो उत्पत्ति सिद्ध हुई है, ब्राह्मणीका रज और

ब्राह्मणका वीर्य। इसलिए भिन्न-भिन्न वर्णवाले पति-पत्नीके वीर्य एवं रजके संयोगमें शास्त्रोंमें वर्णसङ्करकी उत्पत्तिमानी गई है; और अवर्ण पति-पत्नीके शुक्र-शोणितके योगसे उस अवर्णकी ही उत्पत्ति कहनेसे मनुजीके मतमें शुक्र-शोणितके द्वारा ही ब्राह्मण शरीर-की उत्पत्ति कही गई है, गुणकर्म-द्वारा नहीं। तब 'ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' इस मनुके पद्यके अर्थमें स.प्र.में 'ब्राह्मी'का 'ब्राह्मणका' यह अर्थ करना अशुद्ध ही है। 'संस्कारविधि'के २३७ पृष्ठमें स्वामीने उक्त मनुपद्यके 'ब्राह्मी' पदका 'ब्रह्म-सम्बन्धी' अर्थ शुद्ध ही किया है।

(११) पूर्वपक्ष—[ऋषभदेवस्य] एकाशीतिः'''(पुत्राः) कर्म-विशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः' (भाग. ५।४।१३) यहाँ क्षत्रियपुत्रोंको 'ब्राह्मण' कहनेसे गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था सिद्ध हुई।

उत्तरपक्ष—यहाँपर 'ब्राह्मणाः'का 'ब्रह्म जानाति-इति ब्राह्मणः' यह 'शाब्दिक-ब्राह्मण' अर्थ है। विशेष स्पष्टता अन्यत्र देखनी चाहिये।

यह भी जानना चाहिये कि–कहीं ब्राह्मणमें भी 'अब्राह्मण' शब्दका प्रयोग देखा जाए; वहाँ उसकी निन्दामात्र इष्ट होती है। कहीं अब्राह्मणमें भी 'ब्राह्मण' शब्दका प्रयोग देखा जाए; वहाँ स्तुतिमात्र इष्ट होती है, वैसा वर्ण-परिवर्तन नहीं। २।२।६ तथा ५।१।११ पाणिनिके सूत्रमें महाभाष्यमें कहा गया है–'सर्वे एते शब्दा गुणसमुदाये वर्तन्ते–ब्राह्मणः, क्षत्रियो, वैश्यः, शूद्र इति'। (यहाँपर ब्राह्मणादिको गुणोंका समुदाय कहा है; वह गुणोंका

समुदाय यह है—) 'तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्। तपः-श्रुताभ्यां यो हीनो जाति-ब्राह्मण एव सः' [यहाँ 'योनि'का अर्थ 'ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें जन्म' यह है, ऐसा कैयटने लिखा है–] तथा गौरः, शुच्याचारः, पिङ्गलः, कपिलकेश इत्येतानपि अभ्यन्त-रान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति'।

इससे स्पष्ट है कि–जो ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न हुआ है; और जो तपस्वी एवं श्रुत (अध्ययन) सम्पन्न है; वही पूर्ण-ब्राह्मण है। जिसमें योनि (ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें जन्म) तो हो; परन्तु तप और श्रुत न हो, वह जाति-ब्राह्मण कहा जाता है। 'गुणसमुदाय-रूपमें ही ब्राह्मणत्व सिद्ध होनेपर योनिरूप गुणके अवयवमें ब्राह्मण-शब्दका प्रयोग कैसे हो सकता है–इस प्रश्नमें भाष्यकार कहते हैं—'समुदायेषु च वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते (समुदायवाचक शब्द अवयववाचक भी होता है)। तद् यथा–पूर्वे पञ्चालाः, तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्, शुक्लो, नीलः, कपिलः, कृष्ण इति ('घी' यद्यपि समुदायवाचक–सारे संसारके घीका वाचक है; तथापि 'घी खाया'में 'घी' थोड़े घीका भी नाम होता है)। एवमयं समुदाये ब्राह्मणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्तते–जातिहीने गुणहीने च' (इस प्रकार योनि, तप और श्रुतका समुदायवाचक भी ब्राह्मणशब्द इन तीन गुणोंकी पूर्णता न होनेपर भी 'ब्राह्मण' नामसे कहा जाता है)

इससे स्पष्ट है कि–गुणसमुदायसे हीन योनिमात्र-ब्राह्मणमें भी 'ब्राह्मण' शब्द प्रवृत्त होता है। गुणहीनमें भाष्यकार उदाहरण

देते हैं—'अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति, अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् भक्षयति' यहाँ ब्राह्मणमें भी प्रयुक्त हुआ नञ् 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः' यह अप्रशस्त-अर्थवाला है; नहीं तो भाष्यकारका 'समुदायेषु वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते' यह वाक्य व्यर्थ हो जावे, 'अब्राह्मणोऽयम्' यह वाक्य उक्त-न्यायका ही उदाहरण है। इसलिए यहाँ कैयटने लिखा है-'तपः-श्रुतयोरभावाद् निन्दयाऽत्र अब्राह्मणशब्द-प्रयोगः [न तु ब्राह्मण-जात्यभावात्], तत्र जातिमात्रे अवयवे समुदायरूपारोपाद् ब्राह्मणशब्द-प्रयोगः, नञा तु स्वाभाविकी तपः-श्रुतयोर्निवृत्तिर्द्योत्यते' अर्थात् यहाँपर तप और अध्ययन न होनेसे उसे निन्दासे अब्राह्मण कहा है। जातिरूप एक अवयवको समुदाय मानकर उसे ब्राह्मण कहा गया है, नञ् यहाँ उसके तप और श्रुतके अभावको बता रहा है।

इससे सिद्ध हुआ कि-जहाँ ब्राह्मणकेलिए भी अब्राह्मणशब्दका प्रयोग हो; वहाँ उसकी गुणहीन होनेसे निन्दा ही इष्ट होती है। वह होता जाति-ब्राह्मण ही है—'तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः' इस महाभाष्यके प्रमाणमें यहाँ योनि वाले ब्राह्मणकेलिए वैसा कहा गया है; नहीं तो तपः-श्रुतसे हीनकेलिए 'जातिब्राह्मण' शब्द न होता, किन्तु 'शूद्र' शब्द होता।

तब प्रश्न उपस्थित होता है-कि जैसे भाष्यकारने तप और श्रुतसे हीन ब्राह्मण-योनिजातको ब्राह्मण माना है; निन्दासे उसे

अब्राह्मण शब्दसे कहा है; वैसे ही उसके मतसे योनिहीन परन्तु तप और श्रुतसे युक्त क्षत्रियादिमें भी ब्राह्मण-शब्दका प्रयोग इष्ट हो सकता है; इस विषयमें भाष्यकार कहते हैं—'जातिहीने सन्देहाद् दुरुपदेशाच्च ब्राह्मणशब्दो वर्तते' यहाँ भाष्यकारका यह आशय है कि-तप और श्रुतसे युक्त परन्तु योनिहीन क्षत्रिय आदि वास्तवमें तो जातिब्राह्मण नहीं होता; क्योंकि-जैसे 'तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः' यहाँ योनि वाले परन्तु तप-श्रुतसे रहित ब्राह्मणकेलिए जातिब्राह्मण कहा है, वैसे योनिहीन परन्तु तप-श्रुतसे युक्त क्षत्रियादि जातिब्राह्मण हुआ करता है-यह भाष्यकारने कहीं नहीं कहा; इसलिए वह होता तो जातिक्षत्रियादि ही है, क्योंकि-उसमें मुख्य आधार योनि (ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें जन्म) नहीं होता; परन्तु उसमें स्तुतिकेलिए गुणब्राह्मण वा कर्म-ब्राह्मण शब्द आता है (जैसा कि-ऋषभदेवके पुत्रोंकेलिए 'कर्मविशुद्धाः' शब्द है) वा ब्राह्मणशब्द आता है; तो वहाँ उपचार (गौणता) होता है, वास्तविकता नहीं। वहाँ उच्च शब्द [ब्राह्मण] प्रशंसार्थवाद होता है, और निकृष्ट (शूद्रादि) शब्द निन्दार्थवाद होता है। योनि, तप, श्रुत इन तीन गुणोंमें आधारभित्ति वा प्रधानगुण योनि क्षत्रियादिमें न होनेसे उसे ब्राह्मण उपचारसे कहा जाता है; इसीलिए महाभाष्यके मर्मज्ञ श्रीकैयटने भी उक्त-वाक्यके व्याख्यानमें कहा है-'तत्र स्तुत्या ब्राह्मणशब्दस्य प्रवृत्तिरध्ययनादि-गुणसद्भावप्रतिपादनाय'। यहाँ भाष्यकारने योनिको गुणसमुदायरूप माना है, जैसेकि-परमाणु पदार्थके

प्राणप्रद-धर्म होनेसे यद्यपि जाति-शब्द हैं; तथापि वैशेषिकदर्शन-में अपनी परिभाषासे उन्हें 'गुण' शब्दसे कहा गया है (देखिये काव्यप्रकाश २य उल्लास), वहाँ 'गुण' शब्द भाक्त (गौण) होता है; वैसे इस महाभाष्यके वचनमें योनि, पदार्थका प्राणप्रद-धर्म होनेसे जातिशब्द है; तथापि उसे गौणतासे 'गुण' कहा गया है।

फलतः क्षत्रिय-ऋषभदेवके पुत्रोंमें भी 'ब्राह्मण' शब्द स्तुति-मात्रसे कहा गया है; वह वैसा वर्ण-व्यवस्थापक नहीं; इसलिए वहाँ 'कर्मविशुद्धा ब्राह्मणाः' शब्द आया है। बल्कि—महाभाष्यकार तो कहते हैं—जातिहीने सन्देहाद् भवति ब्राह्मणशब्द-प्रयोगः, दुरुपदेशाद् वा' (जातिहीनमें सन्देह (शक) से वा गलत कहनेसे ब्राह्मणशब्दका प्रयोग होता है। इसमें महाभाष्यकार उदाहरण देते हैं—) 'सन्देहात् तावद्—गौरं शुच्याचारं पिङ्गलं कपिल-केशं दृष्ट्वा अध्यवस्यति-ब्राह्मणोऽयमिति। अमुष्मिन् अवकाशे ब्राह्मणोऽयमिति; तत्र सन्देहाद् ब्राह्मणशब्दो वर्तते। जातिकृता (जात्यभावकृता—इत्यर्थ इति कैयटः) चार्थस्य निर्वृत्तिः' इस भाष्यके सन्दर्भसे शुद्ध आचारसे ब्राह्मण होनेका खण्डन कर दिया गया है। यहाँ भाष्यकारने अच्छे आचार वाले तथा कपिल-केश में (जो ब्राह्मणकी निशानी है) ब्राह्मणशब्दका प्रयोग सन्देहसे माना है। इससे स्पष्ट है कि—उसके मतमें योनि वाला (ब्राह्मणसे ब्राह्मणीमें उत्पन्न) ही ब्राह्मण होता है।

आगे भाष्यकारने अब्राह्मणमें ब्राह्मणशब्दका प्रयोग किसीके गलत कहनेके कारण माना है—'दुरुपदेशाच्च-दुरुपदिष्टमस्य

भवति—अमुष्मिन् अवकाशे (स्थाने) ब्राह्मणः, तम् आनय। स तत्र गत्वा यं पश्यति, तमध्यवस्यति—ब्राह्मणोऽयमिति। ततश्च पश्चादुपलभते—नाऽयं ब्राह्मणः। अब्राह्मणोऽयमिति निर्ज्ञातं तस्य भवति। तत्र दुरुपदेशाच्च ब्राह्मणशब्दो वर्तते, जातिकृता च अर्थस्य निर्वृत्तिः। आतश्च सन्देहाद् दुरुपदेशाद्वा' इस सन्दर्भसे गुणकर्म-कृत वर्ण-व्यवस्था जो प्रतिपक्षियोंको इष्ट है—खण्डित हो जाती है।

इस प्रकार जानना चाहिये कि—जहाँ ब्राह्मणमें भी अब्राह्मण-शब्दका प्रयोग है, वहाँ निन्दार्थवाद विवक्षित होता है, और जहाँ अब्राह्मणमें भी ब्राह्मणशब्दका प्रयोग हो; वहाँ स्तुत्यर्थवाद, वा सन्देह, वा गलत कथन समझना चाहिये; क्योंकि—वहाँपर 'ब्राह्मणः-ब्राह्मणस्य अपत्यं जातिर्ब्राह्मणः' यह वास्तविक अर्थ कभी किया नहीं जा सकता। इस कारण वहाँ ब्राह्मण वा अब्राह्मण शब्दको यौगिक वा पारिभाषिक ही जानना चाहिये, वास्तविक नहीं।

(१२) पूर्वपक्ष—'तस्मान्न गोश्ववज्जातिभेदोस्ति देहिनाम्' (भविष्य. ब्राह्म. ४०।३४) इस प्रमाणसे निश्चित है कि—मानवोंमें ब्राह्मणादि जातिभेद नहीं; क्योंकि—गाय-घोड़ेमें भिन्न-भिन्न आकृति-भेद जैसे है, वैसे ब्राह्मण-शूद्रादिमें नहीं।

उत्तरपक्ष—यदि गाय-घोड़े आदिकी भांति ब्राह्मणादिमें जाति-भेद नहीं; तब इसमें हमारा भी आग्रह नहीं; परन्तु अवान्तर-जातिभेद तो है ही। जैसे गाय-घोड़े की पशुजाति समान है, वैसे

ब्राह्मण-शूद्रकी भी मनुष्य-जाति समान है। जैसे पशु-जातिकी समानतामें भी अवान्तर गाय-घोड़ा यह जातिभेद है; वैसे ब्राह्मण-शूद्रके मनुष्यत्व-जातिकी समानतामें भी अवान्तर ब्राह्मण-शूद्रत्व जातिभेद भी है ही। इसीलिए महाभाष्यमें भी 'आकृति-ग्रहणा जातिः' यह जातिका सामान्य-लक्षण होनेपर भी ब्राह्मण और शूद्रके जातिभेदको बतानेवाला 'सकृदाख्यात-निर्ग्राह्या' यह भिन्न जातिका लक्षण किया गया है। इसमें स्पष्टता अन्यत्र देखें।

पूर्वपक्ष—परन्तु कई लोग यह न मानकर कहते हैं कि—जातिका लक्षण 'समानप्रसवात्मिका जातिः' (२।२।७०) यह न्यायदर्शनमें किया है। इसका यह अर्थ है—जो धर्म अनेक व्यक्तियोंमें समान बोध पैदा करता है, वह जाति है। यह गौतममुनिसे प्रोक्त जाति-लक्षण ब्राह्मण-आदि वर्णोंमें संगत नहीं होता, क्योंकि—जिनसे जातिका बोध हो सकता है, वे अवयव-संस्थान ब्राह्मण आदियोंमें अन्य क्षत्रियादिसे विलक्षण नहीं। जैसे मनुष्यत्व जातिके बोधक कान, नाक आदि अङ्ग-संस्थान मनुष्योंमें समानरूपसे मिलते हैं, वे अन्य वानरपशु आदियोंसे विलक्षण हैं। इनसे प्रत्येक मनुष्य-व्यक्तिमें स्थिर मनुष्यत्वरूप एक धर्म प्रकट होता है, जिसे जाति कहते हैं। परन्तु ब्राह्मण-आदि वर्णोंमें वैसे एक-दूसरेसे विलक्षण अवयव-संस्थान नहीं प्राप्त होते, जिनसे ब्राह्मणत्वादिरूप धर्म प्रकट होवें, जिन्हें हम जाति कह सकें। अतः ब्राह्मणादि जाति नहीं।

उत्तरपक्ष—वस्तुतः उक्त गौतमसूत्रका यह अर्थ है कि—जो धर्म अनेक व्यक्तियोंमें अर्थतः वा शब्दतः एकाकार बुद्धिको प्रसूत करे, उसे जाति कहते हैं। घी, तेल, लाख, वृक्ष, पत्थर आदि अनेक व्यक्तियोंमें होने वाले द्रव्यत्व-रूप एक धर्मको नैयायिक लोग जाति मानते हैं, परन्तु पूर्वपक्षीकी की हुई उस सूत्रकी व्याख्या-रीतिसे उक्त जातिलक्षण घट न सकनेसे उदाहरणमें अव्याप्त हो जाता है। सिद्धान्तमें भिन्न-भिन्न आकारतामें घी द्रव्य है, तैल द्रव्य है, लाख द्रव्य है-इत्यादि शब्दगत एक आकारको लेकर समान बुद्धि उत्पन्न हो जानेसे श्रीगोतम-कृत जातिका लक्षण ठीक घट जाता है, किन्तु अर्थगत एकाकारकी बुद्धिके स्थलमें उन धर्मोंके प्रकाशक अवयवसंस्थान हुआ करते हैं। शब्दगत एकाकारकी बुद्धिस्थलमें उन धर्मोंके बोधक शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न रीतिसे वर्णित किये गये हैं। जैसे-घी, लाख आदि कार्य, भिन्न-भिन्न जिन अपने कारणोंसे उत्पन्न हुए; वे अवश्य एक-दूसरेसे विलक्षण होंगे। अभिन्न-कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति माननेपर कभी जलसे भी घी उत्पन्न हो जावे; पर ऐसा नहीं। तब कारणोंकी भिन्नताकेलिए जो भेदक धर्म स्थिर किये जावेंगे; वे सभी जातिरूप ही होंगे। इस अनुमान प्रमाणसे द्रव्यत्व-आदि जातियोंकी सिद्धि हो जाती है।

इस प्रकार ब्राह्मण आदि जातियोंका बोधन जिस उपायसे किया जा सकता है; वह 'लिङ्गानां च न सर्वभाक्, सकृदाख्यात-निर्ग्राह्या' इस व्याकरणके वार्तिकसे कहा गया है। जो शब्द

सर्वलिङ्गी न हो; जैसे–शुक्ल आदि शब्द विशेष्यनिघ्न होकर तीनों लिङ्गोंमें रहते हैं, इनसे भिन्न हों, एक व्यक्तिमें संकेत करनेसे उसके अन्य व्यक्तियोंमें कहनेके बिना भी जो शब्द व्यवहृत हो; वह जाति कही जाती है। अर्थात् वे शब्द जाति-बोधक होते हैं, जैसे–ब्राह्मण आदि शब्द। कभी यह संकेत किया जावे कि–यह देवदत्त ब्राह्मण है, पीछे उसके परिवारकेलिए यह संकेत दिया जावे कि–यह इसका पुत्र वा भाई है; तब श्रोता बिना ही कहनेके उन सभीको ब्राह्मण मान लेगा। इस कारण ब्राह्मण आदि जाति-शब्द सिद्ध होगये।

शुक्ल आदि शब्द तीनों लिङ्गोंमें प्रयुक्त होते हैं; अतः वे पूर्व-कथनानुसार जातिशब्द नहीं; किन्तु गुणशब्द हैं। इस प्रकार विशारद, शास्त्री, बी. ए., एम. ए. आदि शब्दोंमें 'सकृदाख्यात-निर्ग्राह्यता (अर्थात् बी. ए. के पुत्र भ्राता आदि बी. ए. नहीं कहे जा सकते) न होनेसे यह भी जातिशब्द नहीं हैं; किन्तु अनेक व्यक्तियोंमें प्रयोज्य उपाधि-शब्द हैं। निष्कर्ष यह है कि–जो शब्द समान-श्रेणीके अनेक व्यक्तियोंका बोधक हो; जैसे गाय-घोड़ा आदि; वे जातिशब्द कहे जाते हैं। जैसे गोशब्द सास्ना (गल-कम्बल) आदि सदृश अवयव वाली अनेक व्यक्तियोंका बोधक है; जैसेकि–द्रव्यशब्द पृथिवी भी द्रव्य, घी भी द्रव्य, जल भी द्रव्य, इन समान-श्रेणी वाले वस्तुओंका बोध कराता है; इस प्रकार ब्राह्मणशब्द देवदत्तमें ब्राह्मणत्व-संकेतके बाद उसके पुत्र, पौत्र, सहोदर आदि समान-श्रेणी वाले अनेक व्यक्तियोंका बोध

कराता है; इस प्रकार क्षत्रिय आदि शब्द भी वैसे ही (जातिशब्द) हैं। तब यह सब गोत्व, द्रव्यत्व तथा ब्राह्मणत्व आदि गोतम-सूत्रके अनुसार भी जाति ही हैं। शेष उक्त गोतमके जाति-सूत्रकी स्पष्टता पाठक 'आलोक'के छठे पुष्पके २१वें निबन्धमें देखें।

(१३) पूर्वपक्ष—'एभिस्तु कर्मभिर्देवि ! शुभैराचरितैस्तथा। शूद्रो ब्राह्मणतां याति वैश्यः क्षत्रियतां तथा।' (महा. अनुशा. १४३।२६) इस प्रमाणसे कर्मसे शूद्रकी ब्राह्मणता और वैश्यकी क्षत्रियता कही है; तब वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मसे सिद्ध हुई।

उत्तरपक्ष—'एभिस्तु कर्मभिः' इस पद्यमें शूद्रादिकी ब्राह्मणता, क्षत्रियता कही है। यहाँ तल् प्रत्यय है, 'ब्राह्मणतां याति'का 'ब्राह्मणभावं गच्छति, तद्धर्मं प्राप्नोति' यह अर्थ है–'ब्राह्मणो भवति' यह अर्थ नहीं। 'अलर्कदंशनेन अलर्कतां याति' यहाँ अलर्क–पागल कुत्तेका नाम है। सो उसके काटनेसे मनुष्यका 'अलर्कता' इस तल् प्रत्ययसे 'उस धर्मवाला' अर्थ होता है, वह साक्षात् कुत्ता नहीं बन जाता। 'तद्भिन्न होनेपर उसके बहुत धर्मों वाला होना तद्भाव हुआ करता है, 'तस्य भावस्त्वतलौ' (पा. ५।१।११९) तल् प्रत्यय तद्भाव अर्थमें हुआ करता है। तद्भाव सादृश्यका नाम भी होता है। जो जातियाँ जिस-जिस जातिके धर्मों वाली होती हैं; वे उन-उनके सदृश हो जाती हैं; वह-वह नहीं हो जातीं। पशुके आचारसे 'पुरुषकी 'पशुता' पशु-सदृशता-को बताती है, साक्षात् पशु होनेको नहीं। पापाचार होनेसे पाप-जातीयके समान हो जाता है, प्रायश्चित्तसे वह शुद्ध हो जाता है।

कुत्तेके विषसे दूषित हुआ-हुआ पुरुष उपचारसे स्वस्थ हो जाता है। वस्तुतः उक्त महाभारतीय-पद्य जन्मान्तरकेलिए है, इस जन्मकेलिए नहीं—यह उस प्रकरणमें स्पष्ट है। वहाँ कहा है—'एते योनिफला देवि ! स्थानभागनिदर्शकाः' (१४३।५३) यहाँ यह सब योनिके फल दिखलाये हैं। योनिप्राप्ति जन्मान्तरमें होती है।

(१४) पूर्वपक्ष—'शूद्रोपि-आगम सम्पन्नो द्विजो भवति संस्कृतः। एतैः कर्मफलैर्देवि ! न्यूनजाति-कुलोद्भवः' (महा. अनु. १४३।४६) यहाँ तो स्पष्ट ही शूद्रका ब्राह्मण बन जाना कहा है; यहाँ तो 'तल्' प्रत्यय भी नहीं। अतः वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मसे ही है।

उत्तरपक्ष—यह पद्य 'साहित्यसङ्गीतकला-विहीनः, साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः' (नीतिशतक १२) इस पद्यकी भांति अर्थवाद-मात्र है, अतः यहाँ अक्षरार्थमें तात्पर्य नहीं। इसके अतिरिक्त 'लोकवृत्तमितिहास-पुराणस्य, लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं धर्म-शास्त्रस्य विषयः। तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते—इति यथाविषय-मेतानि प्रमाणानि इन्द्रियादिवत्' (इतिहास-पुराणका विषय है लोकोंका आचरण बताना, परन्तु लोक-व्यवहारकी व्यवस्था बताना धर्मशास्त्रका विषय है। एकसे सारी व्यवस्थाएँ नहीं हुआ करतीं; अतः पुराण तथा धर्मशास्त्र आदि अपने-अपने विषयमें अधिक प्रमाण हैं' ४।१।६२) इस 'न्यायदर्शन'के कहनेसे तथा 'तयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (पुराण तथा स्मृतिके विरोधमें स्मृति-वचन अधिक माननीय होता है' १।४) इस 'वेदव्यासस्मृति'के

वचनसे, तथा 'अथ हाऽस्य वेदमुपशृण्वतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्र-प्रतिपूरणम्' (गोतमस्मृति १२।१) 'एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्। ··शुश्रूषामनसूयया' (मनु. १।९१) 'न शूद्राय मतिं दद्याद्·· न चास्योपदिशेद् धर्मं' (मनु. ४।८०) इत्यादि धर्मशास्त्रके वचनोंसे उक्त-इतिहासका वचन बाधित हो जाता है।

इसी कारण 'वेदान्तदर्शन (१।३।३८) के शाङ्करभाष्यमें श्रीव्यासका आशय शूद्रके वेदाध्ययनके निषेधमें प्रकट किया गया है—'इतश्च न शूद्रस्याधिकारः, यदस्य स्मृतेः श्रवणाध्ययनार्थ-प्रतिषेधो भवति। वेद-श्रवण-प्रतिषेधो वेदाध्ययनप्रतिषेधस्तदर्थ-ज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते। श्रवण-प्रतिषेधस्तावद् 'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपरिपूरणम्'। पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यत् शूद्रः, तस्मात् शूद्र-समीपे नाध्येतव्यम् इति। अतएव अध्ययन-प्रतिषेधः। यस्य हि समीपेपि नाध्येतव्यं भवति, स कथमश्रुतमधीयीत ? भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति। अतएव च अर्थाद् अर्थज्ञानानुष्ठानयोः प्रतिषेधो भवति। 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इति। द्विजातीनामध्ययनं दानमिति' (अपशूद्राधिकरणमें) इस विषयमें स्पष्टता 'आलोक'के तृतीय-पुष्पमें तथा अन्यत्र देखें।

इस प्रकारका शूद्र आगम-सम्पन्न ही कैसे हो सकता है! और संस्कृत-द्विज कैसे हो सकता है ? वस्तुतः उक्त महाभारतका पद्य भी जन्मान्तरमें वर्ण-परिवर्तन बताता है, इस विषयमें अनुशासनपर्वका १४३ अध्याय देखना चाहिये, इस प्रकार अर्थ

पुराण २२३वाँ अध्याय भी देखना चाहिये।

(१५) पूर्वपक्ष—'शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः। वैश्यत्वं लभ्यते ब्रह्मन्! क्षत्रियत्वं तथैव च। आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते' (महा. वनपर्व. २१२।११) इस वचनसे एक ही जन्ममें वर्णपरिवर्तन सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्म' यह महाभारतका अनुशासनपर्वका पद्य भी कर्मणा वर्ण-व्यवस्थाको बताता है; इस प्रकार 'जात्या न क्षत्रियः प्रोक्तः' इत्यादि महाभारतके पद्य भी इसी पक्षको सिद्ध करते हैं।

उत्तरपक्ष—यहां भी वर्णपरिवर्तन जन्मान्तरमें इष्ट है, क्योंकि—महाभारतके सिद्धान्तमें अन्य-जन्ममें ही वर्णपरिवर्तन होता है, इस जन्ममें नहीं। इसकी स्पष्टता अनुशासनपर्वमें इन्द्र-मतङ्ग-संवादमें मिलती है। उसके पद्य यह हैं—'तिर्यग्योनिगतः सर्वो मानुष्यं यदि गच्छति। स जायते पुल्कसो वा चाण्डालो वाऽप्य-संशयः' (२८।६) पुल्कसः पापयोनिर्वा यः कश्चिदिह लक्ष्यते। स तस्यामेव सुचिरं मतङ्ग! परिवर्तते। (७) ततो दशशते काले लभते शूद्रतामपि। शूद्रयोनावपि ततो बहुशः परिवर्तते (८)। ततस्त्रिंशद्गुणे काले लभते वैश्यतामपि। वैश्यतायां चिरं कालं तत्रैव परिवर्तते। ततः षष्टिगुणे काले लभते ब्रह्मबन्धुताम्' (१०)।

इनका अर्थ श्रीसातवलेकरने इस प्रकार लिखा है—'तिर्यक्-योनिके जीव यदि मनुष्यत्व प्राप्त करें, तो वे पहले पुल्कस अथवा चाण्डाल होके जन्म ग्रहण करते हैं।...फिर वह उस ही योनिमें

बहुत समय तक बार-बार भ्रमण किया करता है। फिर सहस्र-वर्षके अनन्तर शूद्रत्व लाभ करता है। शूद्रयोनिमें भी वह अनेक बार परिभ्रमण करता है, फिर तीसगुणा समय बीतनेपर वैश्यत्व प्राप्त होता है; वैश्य-योनिमें भी बहुत समय तक उसे बार-बार जन्म लेना पड़ता है। अनन्तर साठ गुणा समय बीतनेपर क्षत्रिय होकर जन्म लेता है, क्षत्रिययोनिमें भी बहुत समय तक उसे परिभ्रमण करना होता है (९-१०) अनन्तर षष्टिगुणा समय बीतनेपर ब्रह्म-बन्धुता प्राप्त होती है'।

जब महाभारतका यह सिद्धान्त है; तब उससे विरुद्ध आभासित होनेवाले पद्योंकी भी अर्थवाद होनेसे जन्मान्तरमें वर्णपरिवर्तनमें चरितार्थता समझनी चाहिये। और फिर 'शूद्रयोनौ हि जातस्य' यह वचन वादीके पक्षको काटता भी है, क्योंकि—यहांपर वर्ण-व्यवस्था जन्मसे सिद्धान्तित की गई है। 'जात्या न क्षत्रियः प्रोक्तः' इत्यादि अविज्ञातस्थल वाले पद्य कर्मप्रशंसाके अर्थवाद हैं। 'शूद्रे चैतद् भवेद् लक्ष्म'के विषयमें अग्रिम-उत्तरपक्षमें देखें।

(१६) पूर्वपक्ष—(क) 'यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततो-त्थितः। तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः' (महा. वन. २१६।१४) इस पद्यसे वृत्त-द्वारा शूद्रकी ब्राह्मणता बताई गई है। (ख) 'शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेत् शूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः' (शान्तिपर्व १८९।८) इन महाभारतके प्रमाणोंसे गुणकर्मणा वर्णव्यवस्थाकी स्पष्ट पुष्टि है।

उत्तरपक्ष—यहां प्रतिपक्षियोंको बताना चाहिये कि–महाभारतको क्या गुणकर्मसे वर्ण-परिवर्तन सिद्धान्त इष्ट है ? उन्हें इसमें स्पष्ट मानना पड़ेगा कि–नहीं। प्रतिपक्षी लोग महाभारतीय इतिहासको तो वैयासिक (व्यासकृत) मानते हैं; पर उपाख्यानोंको अवैयासिक मानते हैं। वे जिन एतद्विषयक पद्योंको बड़े संरम्भसे दे रहे होते हैं; वे मूल-इतिहासोंके न होकर उपाख्यानोंके होते हैं; तब वे पद्य उनके ही मतानुसार अवैयासिक होनेसे प्रमाणभूत कैसे हो सकते हैं ? अथवा प्रमाण हों भी; तथापि उनकी मूल-इतिहाससे सङ्गति लगा कर अर्थ करना पड़ेगा। मूल-इतिहासको देखिये—। महाभारतने क्षात्रकर्म स्वीकृत किये हुए भी द्रोणाचार्य और कृपाचार्यको क्षत्रिय न कहकर उन्हें जन्मसे ब्राह्मण होनेसे ही ब्राह्मण कहा है। अश्वत्थामामें तो न ब्राह्मणोचित कर्म थे न गुण ही। उसने क्षत्रियगुण-कर्म ही स्वीकृत कर रखे थे। उसका स्वभाव ही इतना क्रूर था कि–उसने सोते हुए ही द्रौपदीके पुत्रोंको मार दिया और पाण्डवोंको निर्वंश करनेकेलिए उत्तराके गर्भपर भी अस्त्र छोड़ दिया, और धृष्टद्युम्नको पशुकी भांति मार डाला। ब्राह्मणोंका गुणकर्म तो शम, दम, क्षमा आदि होता है, वह उसमें नहीं था, यह स्पष्ट है; ऐसा होनेपर भी महाभारत ने उसे क्षत्रिय नहीं माना, बल्कि 'ब्राह्मणस्य सतश्चैव' (सौप्तिकपर्व १६।१७) उसे जन्म-ब्राह्मण होनेसे पाण्डवोंने मनु (८।३८०) के अनुसार नहीं मारा।

और देखिये—महाभारतके मुख्यपात्र पाण्डव हैं; उनमें

युधिष्ठिरके ही गुणकर्म देखिये। क्या उसमें शम, दम, क्ष... धर्म, क्षमा आदि ब्राह्मणके योग्य गुणकर्म नहीं थे, जिसके... भीमसेनने भी कहा था—'घृणी (दयालुः) ब्राह्मणरूपोसि क... क्षत्रेषु जायथाः' (महा. वन. ३५।२०) (तुम दयावाले ब्राह्मण... समान हो, क्षत्रिय-जातिमें कैसे पैदा हुए ? (कितना यहां स्प... रूपसे वर्ण-व्यवस्थाकी जन्म-मूलकतामें प्रकाश डाला गया है। भीमसेन तो पूर्णक्रोधी था; परन्तु महाभारतने विरुद्ध गुणकर्म... वाले भी दोनोंको क्षत्रिय ही माना है; बल्कि–'युद्धे चाप्यपलायनं' (गीता १८।४३) इस महाभारतसे समर्थित क्षत्रिय-कर्मसे विरुद्ध कर्ण आदिके युद्धमें भागते हुए भी युधिष्ठिरको महाभारत-द्वारा क्षत्रिय ही माना गया है।

कर्णको देखिये—क्या उसमें पूर्ण-क्षत्रियके गुणकर्म नहीं थे; वह तो था ही जन्मसे क्षत्रिय; परन्तु उत्पत्तिका रहस्य ज्ञात न होनेसे सर्वसाधारण उसे जन्मसे सूतपुत्र मानते थे। इससे स्प... है कि–महाभारतको वर्णव्यवस्था जन्मसे ही इष्ट है, गुण-कर्मसे उसको वर्ण-परिवर्तन इष्ट नहीं। अन्य देखिये–महाभारत... में आदिपर्वमें २९ अध्यायमें अपने धर्म-कर्मसे हीन तथा निषादोंके आचार वाले ब्राह्मणको भी ब्राह्मण माना गया है; और उसके निगलनेके समय गरुड़के गलेमें दाह दिखलाया गया है।

अन्य भी महाभारतका अभिप्राय देखिये—'ब्राह्मणो मध्य-देशीयः कश्चिद् वै ब्रह्मवर्जितः। ग्रामं वृद्धियुतं वीक्ष्य प्राविशद् भैक्ष्यकाङ्क्षया' (शान्तिपर्व १६८।३०) यहाँ ब्राह्मणकर्मसे वर्जित...

को भी ब्राह्मण माना गया है। इसलिए उस ब्राह्मणने स्वयं भी कहा था—'निर्धनोस्मि द्विजश्रेष्ठ ! नास्मि वेदविदप्यहम्। वित्तार्थमिह सम्प्राप्तं विद्धि मां द्विजसत्तम !' (१६८।५०)। वहाँ एक 'सर्ववर्णविशेषविद्, ब्रह्मण्य, सत्यसन्ध, और दानमें लगे हुए भी अन्त्यज-शबरको ब्राह्मण नहीं कहा गया, किन्तु दस्यु (१६८।३१) कहा गया है। उस ब्राह्मणका एक विधवासे रमण भी दिखलाया गया है-'प्रादात् तस्मै स विप्राय...नारीं चापि वयोपेतां भर्त्रा विरहितां तथा। एतत् संप्राप्य हृष्टात्मा दस्योः सर्वं द्विजस्तथा। तस्मिन् गृहवरे राजन्! तया रेमे स गौतमः' (१६८।३४)। १६८।३७ पद्यमें उसी ब्राह्मणको हिंसापटु, दयाहीन, प्राणियोंके वधमें लगा हुआ, और दस्युओंके समान दिखलाया है; फिर भी उसे ब्राह्मणके पर्यायवाचक 'विप्र' (४६) तथा 'द्विज' (४८) शब्दसे कहा गया है।

उसके पास शूद्रान्नपरिवर्जक, ब्रह्मण्य, और वेदपारग एक ब्राह्मण आया (१६८।४०-४१-४२) इस शुभकर्माको भी महाभारतमें 'ब्राह्मण' कहा गया है, और उस दुष्टगुणकर्मा गौतमको भी ब्राह्मण कहा गया है—'विप्रोऽगच्छत गौतमः' (१६६।११)। वह ब्राह्मण उस गौतम-विप्रको डांटने लगा—'किमिदं कुरुषे मोहाद् विप्रस्त्वं हि कुलोद्भवः। पूर्वान् स्मर द्विजज्ञातीन् प्रख्यातान् वेदपारगान्। तेषां वंशेऽभिजातस्त्वमीदृशः कुलपांसनः' (१६८।४६-४७)। उस गौतम-ब्राह्मणने अपने आश्रय एवं धनदाता पक्षीका वध भी कर दिया (१७२।३-४); इस प्रकार कृतघ्न (१७२।२) भी,

पापाचार, पापकर्मा, पापात्मा, पाप-साधन (१७२।१८) भी, ब्रह्मवर्चसहीन, स्वाध्यायसे उपरत, केवल गोत्रको जाननेवाले (१७१।३, १७२।८) भी शूद्रा-पुनर्भू द्वारा सन्तान उत्पन्न करनेसे नरकाधिकारी (१७३।१६-१७) भी उस गौतमको उसी महाभारतने 'अयं वै जन्मना विप्रः' (१७१।७) द्विजाधम (१७२।८) 'सिक्त्वाऽमृतेन तं विप्रं' (१७३।१३) इस प्रकार ब्राह्मण कहा है, शूद्र नहीं।

इससे महाभारतके मतमें भी वर्णव्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध होती है। गुण-कर्मसे वर्णपरिवर्तन महाभारतको इष्ट नहीं। तब उससे विरुद्ध प्रतीत होनेवाले कई पद्य यदि महाभारतमें मिलें; तब स्पष्ट है कि—वे अर्थवाद हैं। उनका केवल कर्मकी प्रशंसामात्रमें तात्पर्य इष्ट है, वर्णपरिवर्तनमें नहीं।

अब 'यस्तु शूद्रो दमे सत्ये...तं ब्राह्मणमहं मन्ये' इस महाभारतीय पद्यकी महाभारतसे ही कही हुई उक्त कसौटीसे परीक्षा कीजिये। यह पद्य महाभारतका सिद्धान्तपक्ष नहीं है, किन्तु 'तं ब्राह्मणमहं मन्ये' से एक व्यक्तिका कथन है-यह स्पष्ट है। और 'तं ब्राह्मणं मन्ये' का अर्थ भी 'ब्राह्मण मानता हूँ' यह नहीं है, किन्तु 'ब्राह्मणवत् मन्ये' है, कि—मैं उसे ब्राह्मणकी भाँति मानता हूँ। यदि प्रश्न किया जाय कि—इसमें 'वति' प्रत्यय नहीं है, तब विना भी वति प्रत्ययके 'भाँति' अर्थ कैसे माना जाए ?' इसका उत्तर यह है कि-'वति' प्रत्ययके विना भी 'वति'का अर्थ हो जाता है। देखिये इसपर महाभाष्य—'अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। तद् यथा-एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह,

तेन मन्यामहे-ब्रह्मदत्तवद् अयं भवति' इति (१।२।१,२।३।६६) जो ब्रह्मदत्त नहीं था; उसे ब्रह्मदत्त कहा गया; इसका भाव यह माना गया कि-वह ब्रह्मदत्तकी भांति है। इस प्रकार एक अब्राह्मण शूद्रको जो कि ब्राह्मण कहा गया; इससे वह ब्राह्मणवत् (ब्राह्मण-के समान) माना जाता है, वास्तविक ब्राह्मण नहीं। इसीलिए तो उक्त-पद्यके वक्ताने कहा था-'कर्मदोषश्च वै विद्वन्! आत्मजाति-कृतेन वै। कश्चित् कालमुष्यतां वै ततोसि भविता द्विजः' (२१६।१२) अर्थात् तुम मरनेपर अन्य जन्ममें ब्राह्मण बनोगे। नहीं तो ब्राह्मणयोग्य गुणकर्मवाला होनेपर उसे अभी ही ब्राह्मण क्यों नहीं कहा गया ?।

यदि प्रतिपक्षी कहे कि-यह आपकी जबर्दस्ती है कि-आपने 'तं ब्राह्मणमहं मन्ये' का 'ब्राह्मणवत' अर्थ कर दिया ? वह न तो वक्ता पात्रको विवक्षित है, न महाभारतकारको; इसपर हम कहते हैं-ऐसा नहीं। हमारा ही अर्थ वक्ता, महाभारतके पात्रको भी विवक्षित है, और महाभारतकारको भी विवक्षित है। परन्तु प्रतिपक्षी-जैसे व्यक्ति दूसरोंके ट्रैक्ट देखकर उसकी लिखी बातको अपना सिद्धान्त बना लिया करते हैं। उस प्रमाणको मूलग्रन्थमें नहीं देखते। यदि देखते भी हैं; तो उसका पूर्वापर-प्रकरण नहीं देखते। यदि उसे भी देखते हैं; तब वहाँ स्वयं निष्पक्ष विचार नहीं करते। वे तो अपने अशुद्ध पक्षको सरसरी नजरसे उस पद्यमें देखकर इतने प्रसन्न हो जाते हैं कि-उनमें निष्पक्ष विचारकी शक्ति ही नहीं रह जाती। जब प्रतिपक्षी

निष्पक्ष दृष्टि डालेंगे; तब उन्हें प्रत्युत्तर स्वयं सूझेंगे। अब प्रतिपक्षी देखें कि-उस पद्यसे हमारा ही पक्ष सिद्ध होता है।

वक्ता पात्र के २१६।१४ इस प्रतिपक्षीसे दिये पद्यमें 'तं (शूद्रं) ब्राह्मणमहं मन्ये' यहां 'ब्राह्मणं'का पूर्वोत्तर-प्रकरणसे 'ब्राह्मण-सदृश' ही अर्थ इष्ट है। देखिये-इससे पूर्वका पद्य-'ब्राह्मणः पतनीयेषु वर्तमानो विकर्मसु। दाम्भिको दुष्कृतः प्राज्ञः शूद्रेण सदृशो भवेत्' (२१६।१३) यहांपर निकृष्ट-गुणकर्मा भी ब्राह्मणको शूद्र नहीं कहा; किन्तु 'शूद्रेण सदृशः' 'शूद्रके समान' कहा है; तब इसके अग्रिम-पद्य 'तं ब्राह्मणमहं मन्ये' (२१६।१४) में भी वक्ता-पात्रको अपने पूर्वके पद्यके अनुरोधसे, तथा महाभाष्यके पूर्वोद्धृत वचनके अनुसार 'ब्राह्मण-सदृशम्, ब्राह्मणवत' यह अर्थ इष्ट है-यह अतीव स्पष्ट है। नहीं तो वही वक्ता पूर्वपद्यमें भी वैसे ब्राह्मणको 'शूद्रसदृशं' न कहकर 'शूद्रं' कहता; पर वैसा नहीं कहा।

अब प्रतिपक्षी अपना सारा बुद्धिबल लगाकर प्रत्युत्तर दे; यहां 'सदृश' शब्द साक्षात् दीख रहा है। सदृश होनेपर भी सभी वे-वे व्यवहार नहीं हुआ करते। 'साहित्य-संगीतकला-विहीनः साक्षात्-पशुः पुच्छविषाणहीनः' (नीतिशतक १२) 'विद्या-विहीनः पशुः' (नीतिशतक १२) इन श्लोकोंके अनुसार विद्यादि-हीनको साक्षात् पशु मानकर उसे खली-भूसा आदि नहीं खिलाया जाता, अथवा उसे पशु-शालामें खूँटीमें नहीं बांध दिया जाता। ऐसे शब्द केवल निन्दा-प्रशंसा आदि तात्पर्यमें

विश्रान्त हो जाते हैं, क्योंकि–यह अर्थवाद हैं; वर्ण-परिवर्तनमें इनका तात्पर्य नहीं हुआ करता। यहां वृत्तका अर्थवाद है, जैसे महाभारतके वनपर्व (३१३।१०६)में, अथवा याज्ञवल्क्यस्मृतिमें—; यह बात प्रथम-उत्तरपक्षमें पाठक देखें।

इसके अतिरिक्त शूद्रको ब्राह्मण कहा भी नहीं जा सकता, क्योंकि–'ब्राह्मोऽजातौ' (पा. ६।४।१७१] इस सूत्रके अनुसार ब्राह्मणके अपत्य (सन्तान) तथा उस जातिवालेको ही ब्राह्मण कहा जाता है; पर वह शूद्र तो किसी ब्राह्मणकी सन्तान नहीं; इसी कारण 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' इस महाभाष्यके वचनानुसार ब्राह्मण-जाति कहा भी नहीं जा सकता। तब उसे ब्राह्मण कैसे कहा जा सकता है? स्पष्ट है कि–वहां 'ब्राह्मण'का अर्थ 'ब्राह्मणसदृश' है, वास्तविक ब्राह्मण नहीं।

इसके अतिरिक्त 'यस्तु शूद्रो दमे' यह आक्षिप्त-पद्य महाभारतमें धर्मव्याधकेलिए कहा गया है। महाभारत स्वयं उस जन्ममें उसे शूद्र मानता है; दूसरे ही जन्ममें उसका वर्णपरिवर्तन मानता है। जैसे कि—

'व्याधस्त्वं भविता क्रूर! शूद्रयोनौ इति द्विज!' (२१५।३१) शूद्रयोन्यां वर्तमानो धर्मज्ञो हि भविष्यसि' (२१६।४) 'जातिस्मरस्त्वं भविता स्वर्गं चैव गमिष्यसि' (५) शापक्षये तु निर्वृत्ते भवितासि पुनर्द्विजः (६) एतत्ते सर्वमाख्यातं यथा मम पुराऽभवत्। अभिशप्तश्चापि गन्तव्यं मया स्वर्गं द्विजोत्तम!' (८-६) इसमें स्पष्ट दिखलाया गया है कि–वह मरने पर ही ब्राह्मणसे शूद्रवर्णमें

आया, और फिर मरनेके बाद ही शूद्रसे ब्राह्मण बना, जीवनमें नहीं।

इस विषयमें 'आलोक'-पाठकोंको जानना चाहिये कि–कई शूद्र पूर्वजन्ममें ब्राह्मण होते हैं; शाप आदि कारणवश आरूढ-पतित होते हैं, इस प्रकार कई पूर्व-जन्ममें शूद्र होते हैं; इस जन्ममें पूर्वकर्मवश पतितारूढ-ब्राह्मण होते हैं। जैसे कि–वेदान्त-दर्शन शाङ्करभाष्यमें कहा है—'येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद् विदुर-धर्मव्याध (जिसका प्रकरण चालू है) प्रभृतीनां [स्वयं] ज्ञानोत्पत्तिः, तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुम्' (१।३।३८)। अथवा वैसे अपनी मातामें छिपे रूपसे ब्राह्मणद्वारा वा शूद्र द्वारा उत्पन्न होते हैं; यही कारण होता है कि–शूद्रोंका तथा ब्राह्मणोंका अपने स्वभाविक-गुणकर्मोंसे अन्यथाभाव देखा जाता है। परन्तु उनका उस जन्ममें वर्णपरिवर्तन नहीं होता। होगया समाधान।

जो कि–'शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्यं' यह महाभारतका अनुशासन-पर्वका पद्य दिया जाता है, इसका प्रत्युत्तर 'शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्म' इस वनपर्वके पद्यकी भांति है। अतः विस्तारकी यहां आवश्यकता नहीं। गुणकर्मकृत-वर्णव्यवस्था जिनका सिद्धान्त है; उन्हें याद रखना चाहिए कि–उनके अनुसार पुरुष जन्मसे ब्राह्मण वा शूद्र नहीं कहा जा सकता, किन्तु २५वें वर्षमें गुणकर्मकी परीक्षाके बाद ही उसे ब्राह्मण वा शूद्र कहा जा सकता है। तब उसकेलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि–यह ब्राह्मण था, अब शूद्र होगया।

शूद्र था, अब ब्राह्मण हो गया। 'यह ब्राह्मण था, यह शूद्र था' यह शब्द ही बतला रहे हैं कि–वर्णव्यवस्थाका सिद्धान्त जन्मसे ही है।

अवशिष्ट यह है कि–निकृष्ट-गुणकर्मसे ब्राह्मण कहीं शूद्र कहा गया हो, और शूद्र उत्कृष्ट-कर्मोंसे कहीं ब्राह्मण कहा गया हो, यह कैसे ? उसमें उत्तर यह है कि–वहां उसकी निन्दा वा प्रशंसामें तात्पर्य हुआ करता है; उसके वर्णपरिवर्तनमें नहीं–यह हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। 'द्विजे तद् लक्ष्यं न विद्यते, स ब्राह्मणो ब्राह्मणो न, ऐसा कहना 'अपशवो वा अन्ये गो-अश्वेभ्यः' की तरह अप्रशस्ततामें तात्पर्य रखता है, ब्राह्मणत्वके अभावमें नहीं। वह अप्रशस्त ब्राह्मण है, शूद्रके समान है, शूद्र नहीं है–यह आशय है।

इस प्रकार 'न वै शूद्रो भवेत् शूद्रः' यह भी अर्थवाद है। जन्मना वर्णव्यवस्थामें ही 'यह ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं है, शूद्र, शूद्र नहीं है' ऐसा कहा जा सकता है। गुणकर्मणा वर्णव्यवस्थामें तो यह वाक्य ही असङ्गत हो सकता है। उसके द्वारा शाब्दबोध ही नहीं हो सकता, 'सति हि कुड्ये चित्रं भवति'। यदि उनके अनुसार वह शूद्र ब्राह्मण हो गया; तब उसका यज्ञोपवीत कब होगा ? उसका गर्भसे अष्टम-वर्ष कहां से लाया जायगा ? यदि उक्त पद्य गुणकर्मसे वर्णव्यवस्था करनेवाला होता; तो भीष्म भी युधिष्ठिरको ब्राह्मण कहते; युधिष्ठिर भी अपने आपको ब्राह्मण कहते, और ब्राह्मणोंसे रक्त-सम्बन्ध करते। पर जब महाभारत-को यह दोनों ही बातें इष्ट नहीं हैं; तब हमारा ही पक्ष

महाभारतको इष्ट है। महाभारतको उसी जन्ममें वर्णपरिवर्तन इष्ट नहीं है। देखिये उसका मतङ्गोपाख्यान।

तब नीचे प्रतिपक्षियोंसे दिये जाते हुए अनिर्दिष्टसङ्केत-प्रमाणों पर विचार भी होगया। वे यह हैं—'जात्या न क्षत्रियः प्रोक्तः क्षतात् त्राणं करोति यः। चातुर्वर्ण्य-बहिष्ठोपि स एव क्षत्रियः स्मृतः'। न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः। कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्' (वन. ३१३) 'न कुलेन न जात्या वा द्वाभ्यां वा ब्राह्मणो नहि। चाण्डालोपि व्रतस्थश्चेद् ब्राह्मणः स युधिष्ठिर ! सर्वेपि योनिजा मर्त्याः समांसाः सपुरीषकाः। न जातिर्दृश्यते तावद् गुणाः कल्याण-कारकाः' (अनु.) इन तत्तत्-स्थलोंमें न मिले हुए पद्योंका भी समाधान इसी रीतिसे समझ लेना चाहिये। जैसे–'अपना वतन कश्मीर है, अपना वतन स्वर्ग है' ऐसा कहनेपर भी अपना वतन (देश) कश्मीर वा स्वर्ग नहीं हो जाता; किन्तु यहां कश्मीरकी सदृशतामें लक्षणा हुआ करती है; वैसे ही 'चातुर्वर्ण्यबहिष्ठोपि क्षतात् त्राणं करोति यः। स क्षत्रिय इति स्मृतः' इत्यादिमें भी अवर्णकी क्षत्रियसदृशता इष्ट है; जैसेकि पातञ्जलमहाभाष्यमें कहा गया है—'अन्तरेणापि वतिमतिदेशो गम्यते। तद् यथा-एष ब्रह्मदत्तः। अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह, तेन मन्यामहे–ब्रह्मदत्त-वद् अयं भवति' (२।३।६६) जो 'वह' न हो; उसे 'वह' कह दिया जावे; वह 'वह' न होकर 'उस जैसा' माना जाता है। यह ठीक है भी, 'चातुर्वर्ण्य-बहिष्ठोपि' यह शब्द स्वयं वर्ण-व्य-

वस्था जन्मसे बता रहा है। उक्त-श्लोक उस पुरुषको जब वर्णसे बाह्य कह रहा है; तब उसे क्षत्रिय-वर्ण कैसे कह रहा है? 'क्षत्रिय' यह तो वर्णका तथा उससे उत्पन्न उस जाति वालेका नाम है। इससे स्पष्ट है कि- वर्ण-बाह्य, तथा क्षत्रिय जातिमें न पैदा हुएका क्षतत्राणसे क्षत्रिय कहना वर्ण-दृष्टिसे नहीं है, किन्तु शाब्दिक-दृष्टिसे है। कई इस प्रकारकी ओषधियाँ भी हैं, जो क्षतसे संरक्षण करती हैं, कुत्ता आदि भी अपनी जीभसे चाटकर क्षतसे रक्षा कर दिया करते हैं; पर यह सब क्षत्र कहे जा सकते हुए भी मुख्य-क्षत्रियवर्णमें नहीं माने जाते। इस प्रकार 'चाण्डालोपि व्रतस्थश्चेद् ब्राह्मणः स युधिष्ठिर!, न स शूद्रो भवेत् शूद्रः, ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः' इत्यादि पद्योंकी व्यवस्था भी जान लेनी चाहिये। 'न जातिर्दृश्यते तावद् गुणाः कल्याणकारकाः' यह श्लोक हमारे भी विरुद्ध नहीं। हम भी मानते हैं कि-गुण पुरुषोंके कल्याणकारक, सम्मानदायक हुआ करते हैं, पर वे स्वरूप नहीं बनाते, केवल उत्कर्षापकर्ष करते हैं, स्वरूप तो वस्तुका जाति ही बनाती है। जाति पदार्थका प्राणप्रद-धर्म हुआ करता है। यदि वह जाति किसीके मुँह पर नहीं दीखती; तो इससे उसका अभाव नहीं हो जाता। गायमें भी गोत्व जाति उसके माथे पर नहीं लिखी। इससे गोत्वका अभाव नहीं हो जाता। हाँ, यदि वह दूध देती है, उसमें सौम्यता, स्निग्धता आदि हैं; तो वह अच्छी गाय है। यदि उसमें यह गुण नहीं हैं-वह कठोर है, सींग मारती है, दूध नहीं देती; तब

वह पत्थरकी शिला नहीं बन जाती। साधारण गाय ही कही जाती है। इस प्रकार यदि कोई ज्ञानी-शूद्र कहीं ब्राह्मण कहा गया हो; वहाँ 'ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणः स्मृतः' 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः' इस प्रकार वहाँ लाक्षणिक ही 'ब्राह्मण' शब्द है, जाति-शब्द नहीं; वह वास्तविक नहीं; क्योंकि-'ब्राह्मोऽजातौ' (पा. ६।४।१७१) इसके अनुसार वह शूद्र ब्राह्मणकी सन्तान ब्राह्मणत्वके न होनेसे वास्तविक ब्राह्मण नहीं हो सकता। तब वर्ण-व्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध हुई।

(१७) पूर्वपक्ष—'वैश्य-कर्म च यो विप्रो लोभमोहव्यपाश्रयः। ब्राह्मण्यं दुर्लभं प्राप्य करोत्यल्पमतिः सदा। स द्विजो वैश्यतामेति वैश्यो वा शूद्रतामियात्। स्वधर्मात् प्रच्युतो विप्रस्ततः शूद्रत्व-माप्नुयात्' २२३।१६-१७) इस ब्रह्मपुराणके वचनसे कर्मणा वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है।

उत्तरपक्ष—प्रतिपक्षी इससे पूर्वका पद्य छोड़ देते हैं; जिससे अर्थका अनर्थ हो जाता है। वह यह है—'यश्च विप्रत्वमुत्सृज्य क्षत्रधर्मान्निषेवते। ब्राह्मण्यात् स परिभ्रष्टः क्षत्रयोनौ प्रजायते' (२२३।१५)। इसमें जन्मान्तरकी गतिका प्रकरण है कि-कौन-कौन वर्ण किस-किस कर्मसे अग्रिम-जन्ममें किस-किस योनिमें प्राप्त होता है। तब उक्त-पद्यमें योनिमें जन्म कहनेसे स्पष्ट रूपसे अन्य जन्ममें वर्णका परिवर्तन स्वीकृत किया गया है, इस जन्ममें नहीं; क्योंकि-योनिमें जन्म अबके कर्मसे नहीं हो सकता। इससे यहाँ जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्था सिद्ध होती है। इसी कारण ही उक्त

पुराणमें उक्त अध्यायमें ही 'ब्राह्मण्यं देवि ! दुष्प्रापं निसर्गाद् ब्राह्मणः शुभः । क्षत्रियो वैश्य-शूद्रौ च निसर्गादिति मे मतिः' (२२३।१२) यहाँ स्वभावतः जन्मसे ही वर्ण माने गये हैं, गुणकर्मसे नहीं। इससे प्रतिपक्षीका पक्ष खण्डित होगया।

(१८) पूर्व—वीतहव्य-क्षत्रिय महाभारत (अनुशा. ३०।५३) में ब्राह्मण होगया हुआ माना गया है; तब वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मसे ही सिद्ध हुई।

उत्तर—उस स्थलमें गुणकर्मका तो गन्धमात्र भी नहीं; किन्तु भृगुऋषिका वचनमात्र वहाँ कारण बताया गया है। जब राजा प्रतर्दन वीतहव्य-क्षत्रियको मारने आया; तब वह भयसे ब्राह्मण-समाजमें घुस गया। ब्राह्मणोंने भी 'शूद्र-विट्-क्षत्र-विप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद् वधः। तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद् विशिष्यते' (८।१०४) (जहाँ सच कह देनेमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिका वध हो जाय; वहाँ असत्य ही कह देना चाहिये, वह असत्य उस समय सत्यसे भी बढ़कर हुआ करता है) मनुजीके इस वचनके अनुसार 'नेहास्ति क्षत्रियः कश्चित् सर्वे हीमे द्विजातयः' (महा. अनु. ३०।५३) (यहाँ कोई क्षत्रिय नहीं है, सभी ब्राह्मण हैं) यह असत्य बोलना ही ठीक माना गया। भृगु ऋषिने प्रतर्दनके आगे उसकी क्षत्रियता छिपाकर उसे भी अन्योंकी भांति ब्राह्मण कह दिया। यहाँ गुणकर्मका गन्ध भी नहीं; किन्तु वचनमात्रसे ही वह ब्राह्मण बन गया—'भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितां गतः। वीतहव्यो महाराज ! ब्रह्मवादित्वमेव च' (अनु. ३०।५७)। क्या

कहनेमात्रसे ही प्रतिपक्षी ब्राह्मणता मान लेंगे ? यदि ऐसा है; तो उन्हें जन्मसिद्ध-वर्ण-व्यवस्थामें भी सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि—वहाँ भी 'सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या' इस वादिप्रतिवादिमान्य वररुचि एवं पतञ्जलिके कथनसे ब्राह्मणोंके पूर्वपुरुषके मुखोत्पत्तिके कारण ब्राह्मण कहे जाने मात्रसे ही उनके पीछेकी वंशपरम्पराको भी उत्पत्तिमूलक ब्राह्मण माना गया। इस प्रकार जन्मसे ही वर्ण-व्यवस्था सिद्ध हुई। इस कथासे प्रतिपक्षियोंको गुणकर्मणा वर्ण-व्यवस्था अपना सिद्धान्त भी छोड़ देना चाहिये, क्योंकि—वीतहव्यके गुणकर्म तो क्षत्रियोंके थे, ब्राह्मणके नहीं। तब यह अपवाद सिद्ध हुआ। अपवादसे सिद्धान्त नहीं हो जाया करता।

इस रीतिसे अन्य पुराण-इतिहासके पद्योंकी व्यवस्था भी स्वयं जान लेनी चाहिये। उसमें यह भूलना नहीं चाहिये कि 'द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' (व्यासस्मृति १।४) (स्मृति और पुराणोंके विरोधमें स्मृतिकी बात माननीय होती है।) 'लोकवृत्तमितिहास-पुराणस्य लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं [प्राधान्येन] धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते—इति यथाविषयम् [स्व-स्वविषये] एतानि [पुराणेतिहास-धर्मशास्त्राणि] प्रमाणानि इन्द्रियादिवत्' (४।१।६२) इस न्यायदर्शनके प्रमाणसे पुराण-इतिहास प्रधानतासे लोकवृत्तके बतानेवाले हैं; पर लोकव्यवहार-की व्यवस्था धर्मशास्त्रके अधीन मानी गई है। इतिहासमें तो धर्मशास्त्रोंसे विरुद्ध आचरण भी कभी देखे जाते हैं; परन्तु

आचरणयोग्य नहीं होते। इसलिए गौतमधर्मसूत्रके आरम्भमें कहा है—'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः, साहसं च महताम्, न तु दृष्टोर्थो वरो दौर्बल्यात्' (१।१-२) अर्थात् इतिहासमें बड़ोंकी धर्मविरुद्धता भी देखी जाती है, वह आचरणीय नहीं। आपस्तम्ब-धर्मसूत्रमें भी कहा है-'दृष्टो धर्म-व्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम् (२।१३।७) तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते' (२।१३।८) तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदति अवरः' (२।१३।९) इसका भी अर्थ पूर्व-जैसा है।

(१९) पूर्व—'न विशेषोस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा निर्मितं तत्तु कर्मभिर्वर्णतां गतम्' (महा. शान्ति. १८८।१०) इससे कर्मसे वर्णोंकी व्यवस्था सिद्ध होती है। वहीं सुफेद अङ्ग होनेसे ब्राह्मणता, लाल होनेसे क्षत्रियता, पीले होनेसे वैश्यता, काले होनेसे शूद्रता बताई गई है; सो हमारे (वादीके) पक्षकी पुष्टि है।

उत्तर—इस विषयमें कुछ तो 'आलोक'के चतुर्थपुष्पमें वर्ण-व्यवस्थाके विषयमें पाठक देखें। कुछ यहाँ भी लिखते हैं—इस पद्यसे प्रतिपक्षियोंकी कुछ भी सिद्धि नहीं है। ब्रह्मासे बना हुआ होनेसे यह जगत् शब्दसे ब्राह्म है—इसमें कुछ भी अनुपपत्ति नहीं आती। तब ब्रह्माने उनमें कर्मसे वर्ण-व्यवस्था की। कर्म वहाँ सृष्टिके अनादि-कालारब्ध होनेसे पिछले जन्मके समझने चाहियें; क्योंकि—सृष्टिके समयमें उनका ऐहिक कर्म कोई भी नहीं था। तब इससे प्रतिपक्षियोंकी इष्टसिद्धि कुछ भी नहीं।

सो यहाँ पूर्वजन्मके कर्म ही विवक्षित हैं; क्योंकि—वे ही इस जन्ममें मूल होते हैं। उन्हींके अनुसार उस वर्णवाले पिताके घरमें उसके वैसे शुक्रके द्वारा जन्म प्राप्त होता है। इसलिए वह भी उसी वर्ण वाला हुआ करता है।

जोकि महाभारतमें वहीं वर्णोंके सुफेद, लाल, पीला, काला वर्ण दिखलाकर वर्णोंका परिवर्तन दिखलाया जाता है, उसमें यह जानना चाहिये कि—जैसेकि—साङ्ख्यतत्त्वकौमुदीके 'अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां' इस मङ्गलाचरणमें प्रकृतिके तीन रंग शुक्ल, लोहित, दिखलाये गये हैं; जो अर्थ वहां है, वही यहां भी है। सो सुफेदसे प्रकृतिका सत्त्वगुण, लालसे रजोगुण, कालेसे तमोगुण इष्ट है। ब्राह्मणमें भी शुक्लवर्णसे सत्त्वगुण इष्ट है, क्षत्रियमें लाल रंगसे रजोगुण इष्ट है। वैश्यमें रक्त (रजोगुण) तथा कृष्ण (तमोगुण) वर्णके मिलनेसे पीलापन दिखलाया गया है। शूद्रमें कृष्ण-वर्णसे तमोगुण विवक्षित है। जैसे कि-महाभारतमें—'कामभोगप्रिया-स्तीक्ष्णाः क्रोधनाः प्रियसाहसाः। त्यक्तस्वधर्मा रक्ताङ्गास्ते द्विजाः क्षत्रतां गताः' (१८८।११) इसका यह भाव है कि—ब्रह्माने पहले ब्राह्मण सृष्टि की। वे ही ब्राह्मण जब अपने धर्मको छोड़कर कामभोग आदिमें लग गये; तीक्ष्ण, साहसी एवं रजोगुणावलम्बी हो गये; वे दूसरे जन्ममें क्षत्रिय हो गये।

'गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीताः कृष्युपजीविनः। स्वधर्मान् नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा वैश्यतां गताः' (१२) हिंसानृतप्रिया लुब्धाः सर्वकर्मोपजीविनः। कृष्णाः शौचपरिभ्रष्टाः, ते द्विजाः शूद्रतां

गताः' (१३) इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः' (१४) अर्थात्-पूर्व-सृष्टिवाले ब्राह्मण जब अपने धर्मको छोड़कर गौओंकी वृत्ति धारण करके खेतीका उपजीवन करते लगे; वे अन्य जन्ममें वैश्य बने, और जिन आदिम ब्राह्मणोंने शौच छोड़ दिया, हिंसा और असत्य उनके प्रिय हो गये; वे अन्य जन्ममें शूद्र हो गये।

इस प्रकरणका वादीके अनुसार ही यह अर्थ किया जावे कि-ब्रह्माने एक प्रकारकी ही सृष्टि अर्थात् ब्राह्मण सृष्टि की; उनमें ब्राह्मण तो प्रतिपक्षियोंके अनुसार भी ब्रह्मासे सृष्ट होनेसे ब्राह्मण हुए। तब ब्राह्मणवर्ण तो जन्ममूलक बना। तब वे ही ब्राह्मण अपना नियत कर्म छोड़कर कर्मकी विचित्रतासे अन्य जन्ममें क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र बने। कर्मोंका फल अग्रिम जन्ममें मिला करता है—यह हम अन्यत्र निर्णीत कर चुके हैं। वायुमें आकाशका गुण शब्द भी है; पर इससे आकाश और वायु एक नहीं हो जाते। जैसे-आकाशसे वायु और वायुसे अग्नि और अग्निसे जल और जलसे पृथिवी हुई, वैसे सब वर्णोंसे प्रधान होनेसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए। ब्राह्मणोंसे ही क्षत्रिय और क्षत्रियोंसे वैश्य और वैश्योंसे शूद्र हुए।

इसके अतिरिक्त श्वेत अङ्गवालोंकी रक्ताङ्गता, पीताङ्गता और कृष्णाङ्गता इस जन्ममें कैसे हो सकती है? तब यहां जन्मान्तरमें ही यह परिवर्तन मानना पड़ेगा। अथवा उक्त रीतिसे इन वर्णोंसे सत्त्वगुण आदि माननेपर भी स्वभावके न नष्ट होनेवाला होनेसे

इस जन्मके समाप्त होनेपर दूसरे जन्ममें ही स्वभावका परि- तथा जन्मूलक-वर्णका परिवर्तन होता है। तब हमारा ही सिद्ध हुआ, क्योंकि-उक्त-श्लोकोंमें इस जन्ममें ही क्षत्रियादिकता नहीं कही गई।

इसके अतिरिक्त 'आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाऽव्यया सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा' (१८८।२०) यह अध्यायके अन्तिम-पद्यद्वारा उसे मानसिक-सृष्टि कहा गया है। मानस-सृष्टिमें मैथुनसृष्टि-सीमित मर्यादा भी नहीं होती; क्योंकि—वहां उत्पत्तिमूलक वर्ण नहीं होता; उसमें परिवर्तन होनेपर भी हमारे पक्षकी कोई हानि नहीं होती। तब 'अक्षया अव्यया, धर्मतन्त्रपरायणा' यह ब्रह्माकी मानसिक सृष्टिके विशेषण हैं; इससे हमारे ही पक्ष अन्य-जन्ममें वर्णपरिवर्तनकी सिद्धि है; क्योंकि-यदि वह सृष्टि उसी जन्ममें धर्म-हीन हो गई; और उसी जन्ममें उसमें वर्णपरिवर्तनरूप व्यय (विकार) और क्षय हो गया; तब वह सृष्टि अक्षय और अव्यय और अपना धर्म छोड़नेसे धर्मतन्त्र-परायण कैसे हुई? इस प्रकार पूर्वोत्तर-सामञ्जस्यसे अन्य जन्ममें ही उक्त श्लोकोंमें वर्णपरिवर्तन फलित हो रहा है।

(२०) पूर्वपक्ष—शुक्रनीतिमें कहा है—'न जात्या ब्राह्मणश्च क्षत्रियो वैश्य एव च। न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः' (१।३८) ब्राह्मणास्तु समुत्पन्नाः सर्वे ते किं नु ब्राह्मणाः। न वर्णतो न जनकाद् ब्राह्मं तेजः प्रपद्यते' (१।३६) इन श्लोकोंमें

वर्णव्यवस्था गुणकर्मसे सिद्ध होती है, जन्मसे नहीं।

उत्तरपक्ष—यह वचन धर्मशास्त्रका नहीं है, किन्तु अर्थशास्त्रका है; अतः यदि अर्थशास्त्रका वचन धर्मशास्त्रसे विरुद्ध हो तो माननीय नहीं होता। क्योंकि–लोक-व्यवहारकी व्यवस्था धर्मशास्त्रके अधीन हुआ करती है। जैसेकि न्यायदर्शनके ४।१।६२ सूत्रके वात्स्यायनभाष्यमें कहा है—'लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः'। इससे धर्मशास्त्र (स्मृति) ही लोकव्यवहारकी व्यवस्था करनेवाला माना जाता है। नीति तो कभी धर्मविरुद्ध भी चल पड़ती है, नीतिमें धर्माऽधर्मका विचार बहुत कम होता है; इसलिए वह धर्मशास्त्रके मुकाबिलेमें माननीय नहीं। इसीलिए याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा है—'अर्थ (नीति) शास्त्रात् तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' (व्यवहाराध्याय २१)। मनुस्मृतिमें भी कहा है-'परित्यजेद् अर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ' (४।१७६)।

वस्तुतः उक्त नीतिवचन कर्मकी प्रशंसार्थवादका परिचायक है, जातिवादका खण्डक नहीं। शास्त्र अथवा हम अपने-अपने वर्णके कर्मके निषेधक नहीं। तथापि पहले ब्राह्मण आदि वर्ण जन्मसे होते हैं; पीछे उनके भिन्न-भिन्न कर्म नियत किये जाते हैं। देवदत्तको छः गणितके प्रश्न हल करनेकेलिए दिये गये; पर इसका यह आशय नहीं कि–जो उन छः प्रश्नोंको सिद्ध करे; वही देवदत्त हो जाय। देवदत्त यदि उन्हें हल न करे; तो वह देवदत्त ही न रहे–यह नहीं हुआ करता; किन्तु देवदत्त उन प्रश्नोंको हल न करनेसे निन्दित माना जाता है; पर कहा देवदत्त

ही जाता है, अन्य नहीं। यदि हल कर ले; तब भी देवदत्त ही कहा जाता है; हां, वह अच्छा देवदत्त कहा जाता है। बसोंमें लेडीकी नियत सीट पर पुरुष जा बैठे; तो वह स्त्री (लेडी) नहीं हो जाता, और स्त्री लेडीसे भिन्न सीट पर जा बैठे; तो वह स्त्रीसे भिन्न नहीं हो जाती। इस प्रकार प्रकृतमें भी समझ लें।

वास्तवमें शुक्रनीतिके उक्त वचन में ऐहिक-जन्मके गुणकर्म इष्ट नहीं है; किन्तु पूर्वजन्मके; इससे सनातनधर्मके पक्षकी हानि नहीं; किन्तु पुष्टि ही है। 'न जात्या ब्राह्मणश्चात्र' इस पद्यका तात्पर्य यह है कि—बिना ही कारण ब्राह्मण आदि नहीं होता, किन्तु ब्राह्मण-आदियोंकी भिन्नताके मूलकारण पूर्वजन्म तथा इस जन्मके गुणकर्म ही होते हैं। इसीलिए ही इससे पूर्वके श्लोकमें शुक्रनीतिमें कहा है—'कर्मैव कारणं चात्र सुगतिं दुर्गतिं प्रति। कर्मैव प्राक्तनमपि' (१।३७) यहां पूर्वजन्मोंके कर्मोंको भी कारण माना है। इसी प्रकार 'प्राक् (पूर्व) कर्मफलभोगार्हा बुद्धिः सञ्जायते नृणाम्। पापकर्मणि पुण्ये वा कर्तुं शक्तो न चान्यथा (१।४५) बुद्धिरुत्पद्यते तादृग् यादृक् कर्मफलोदयः। सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता' (१।४६) "प्राक्कर्मवशतः सर्वं भवत्येवेति निश्चितम्। तदोपदेशा व्यर्थाः स्युः कार्याकार्यप्रबोधकाः' (१।४७)। यहाँपर सभी-कुछ पूर्वजन्मके कर्मोंके कारण बताया गया है। तब शुक्रनीतिको भी पूर्वजन्मके कर्मानुसार वर्णव्यवस्था इष्ट है—यह सिद्ध हुआ। इसलिए वहां स्पष्ट कहा है—'फलोपलब्धिः प्रत्यक्षहेतुना नैव दृश्यते। प्राक्कर्महेतुकी सा

तु, नान्यथैवेति निश्चयः' (१।५१) दैवे पुरुषकारे च खलु सर्वं प्रतिष्ठितम्। पूर्वजन्मकृतं कर्मेहार्जितं तद् द्विधा कृतम्' (१।४६) हम भी ऐहिक-जन्मके कर्मोंको अकर्तव्य नहीं मानते; तब शुक्रनीतिके वचनसे हमारे पक्षकी कुछ भी हानि नहीं। शुक्रनीति भी अपने जातिके नियत-कर्मोंका आचरण कहती है—'स्वस्व-जात्युक्तधर्मो यः पूर्वैराचरितः सदा। तमाचरेच्च सा जातिर्दण्ड्या स्याद् अन्यथा नृपैः' (४।३७६) जातिवर्णाश्रमान् सर्वान् पृथक चिह्नैः सुलक्षयेत्' (४।३७७)।

(२१) पूर्वपक्ष—मनुस्मृतिमें मनुद्वारा सृष्टि निरूपित की गई है; तब एकसे चार वर्ण कैसे होवें? अतः यहां गुणकर्मसे ही वर्णव्यवस्था सिद्ध है।

उत्तरपक्ष—ऐसा नहीं। उसमें सृष्टिका प्रारम्भ इस प्रकार कहा है—'लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्' (१।३१) यहां ब्रह्माके मुख-बाहु-ऊरु-पांव इन अङ्गों द्वारा चार वर्णोंकी सृष्टि कही है। उसमें यह कारण है कि-जब महाप्रलय होता है, तब सृष्टि परमात्मामें प्रविष्ट होती है। तब सृष्टिकी उत्पत्तिके समयमें अपने पूर्वजन्म-कर्मके अनुकूल ब्रह्मारूप परमात्माके उन-उन अङ्गोंसे उन-उन वर्णोंकी उत्पत्ति होती है। इसलिए 'सिद्धान्तशिरोमणि'के गोलाध्याय भुवनकोशनिरूपणमें प्रलयके वर्णनके समयमें कहा है—

'ब्राह्मे लये ब्रह्म-दिनान्तकाले भूतानि यद् ब्रह्मतनुं विशन्ति'

(६३) उसमें इसके प्रणेता श्रीभास्कराचार्यने स्वयं ही यह भाष्य किया है—'तत्र [ब्राह्मलये] अक्षीणपुण्यपापा एव लोकाः काल-वशेन ब्रह्मशरीरं प्रविशन्ति। तत्र मुखं ब्राह्मणाः, बाह्वन्तरं क्षत्रियाः, ऊरुद्वयं वैश्याः, पादद्वयं शूद्राः [प्रविशन्ति]। ततो निशावसाने पुनर्ब्रह्मणः सृष्टिं चिन्तयतो मुखादिस्थानेभ्यः कर्मपुटान्तरत्वाद् ब्राह्मणादयस्तत एव निस्सरन्ति'।

इस प्रकार पूर्वजन्मके कर्मोंसे मुख आदि स्थानों-द्वारा उत्पत्ति होनेसे वर्णव्यवस्था जन्मसे ही सिद्ध होती है। तब मनुस्मृतिके अनुसार (१।३२) ब्रह्माने अपने देहके दो भाग किये; तब विराट्की उत्पत्ति हुई। तब विराट्ने मनुको पैदा किया। (१।३३), और मनुने दस प्रजापति उत्पन्न किये (१।३४-३५)। मनु भी प्रजापति थे, परमात्मावतार थे, जैसाकि मनुस्मृतिमें कहा है—'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्' (१२।१२३)। तब दस प्रजापतियोंने देवसृष्टि तथा ऋषि-सृष्टि की (१।३६), और यक्ष आदियोंकी सृष्टि की (३७)। तब पशु-पक्षी तथा मनुष्योंकी सृष्टि की (१।३९)। चार वर्ण तो पहले हो चुके थे; तब यहाँ मनुष्य उनसे अतिरिक्त अवर्ण इष्ट हैं। १।३९ पद्यमें कीट आदिकी सृष्टि कही है। इसकेलिए मनुस्मृतिमें कहा है—'एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः। यथाकर्म तपोयोगात् सृष्टं स्थावर-जङ्गमम्' (१।४१) यहाँपर 'यथाकर्म सृष्टम्' यह शब्द स्पष्ट ही पूर्वजन्मके कर्मोंकी कारणता बताता है, क्योंकि-सृष्टिके समय उनके अबके कर्म कैसे हो सकते हैं? इसीलिए

वहाँ पहले कर्म कहे हैं; फिर सृष्टि। कर्म स्पष्ट पूर्वजन्मके ही हैं; तभी मनुष्य-पशु आदिकी सृष्टि बताई गई है। फलतः इससे वादियोंकी इष्ट-सिद्धि कुछ भी नहीं।

(२२) पूर्वपक्ष—यदि ब्राह्मणादि-जातिका परिवर्तन इस जन्ममें नहीं होता; तब जो ब्राह्मण ईसाई या मुसलमान हो जाता है; आप उसे ब्राह्मण क्यों नहीं मानते, वा उससे व्यवहार क्यों नहीं करते ?।

उत्तरपक्ष – ईसाई या मुसलमान यह उन-उन सम्प्रदायोंको स्वीकार कर लेनेवाले पुरुषका नाम है, जैसे आर्यसमाजी। उस सम्प्रदायके स्वीकार कर लेनेसे वह उस नामसे कहा जाता है। पर ब्राह्मण-आदि वर्ण तो उसका नहीं बदलता, शेष प्रश्न है कि-उससे व्यवहार न करनेका; इसपर जानना चाहिये कि-जैसे विष्ठा आदिसे दूषित घट घटत्व-नामसे रहित नहीं होता; किन्तु अव्यवहार्य ही होता है, वैसे ईसाई होगये हुए ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व भी नष्ट नहीं होता; केवल वह व्यवहारार्ह नहीं होता। ब्राह्मणी जब रजस्वला होती है; तब वह अस्पृश्य अथवा अव्यवहार्य होती है; पर इससे उसका वर्ण नहीं बदल जाता। तभी वह ब्राह्मण वैध प्रायश्चित्त करनेपर फिर उसी अपनी जातिमें व्यवहार्य हो जाता है। जिस ब्राह्मणके घरमें सूतक-पातक आदि अशौच होता है, वह ब्राह्मण अस्पृश्य वा अव्य-वहार्य होता है, पर उसका वर्णपरिवतन उससे नहीं हो जाता। इस प्रकार उसकी गुणकर्मोंसे उत्कृष्टता-निकृष्टता तो होती है;

पर इस जन्ममें उसका वर्णपरिवर्तन नहीं होता। ब्राह्मण-शब्द उत्तमताका पर्यायवाचक नहीं होता; और शूद्र-शब्द नीचताका पर्यायवाचक नहीं होता। शूद्र भी उत्तम और ब्राह्मण भी नीच हो सकता है। नीच होनेपर भी ब्राह्मण, ब्राह्मण ही रहता है, शूद्र उत्तम होनेपर भी शूद्र ही रहता है। गाय विष्ठा खानेसे गाय ही रहती है, सूकरी उत्तम पदार्थ खानेसे भी गाय नहीं होती !

(२३) पूर्वपक्ष—'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' इत्यादि वचनोंसे ब्राह्मणोंने उत्तम अधिकार अपनेलिए रख दिया। यदि कोई निम्न वर्ण उत्तम गुणकर्मोंको करे; फिर भी वह निम्न ही कहा जाता है। यदि ब्राह्मण नीच कर्म भी करे; फिर भी उसे उत्तम माना जाता है; क्या यह पक्षपात नहीं ?

उत्तरपक्ष—शास्त्र दूसरेके कर्म करना निषिद्ध करता है। उत्तम-अधमता, नीच-उच्चता पृथक् वस्तु है, ब्राह्मणत्वादि पृथक् वस्तु है। ब्राह्मणके साथ भी नीच यह विशेषण जोड़ा जा सकता है। शूद्रके साथ भी उत्तम विशेषण जोड़ा जा सकता है; पर वर्णव्यवस्थामें परिवर्तन नहीं होता। जिन ब्राह्मणोंपर प्रतिपक्षी उक्त दोष लगाते हैं कि—उन्होंने ऐसे शास्त्र-वचन बना डाले हैं; पर उन प्रतिपक्षियोंको याद रखना चाहिये कि—उन्हीं ब्राह्मणोंने संसारके राज्यका अधिकार क्षत्रियोंको, और संसारका धनकोष वैश्योंको सौंप दिया, और अपनेलिए कौपीनादि धारण करना तथा तपोधन वा त्यागी बनना, शास्त्रोंके अनुसन्धानमें रहकर अपने शरीरको भी दुर्बल कर देना, और वैराग्य तथा अन्तमें संन्यासका

अधिकार भी अपनेलिए रख दिया। यदि यहाँ अब्राह्मणमण्डली पक्षपात समझती है; तब इस विषयमें परिवर्तन कर देना चाहिये। अपना सारा राज्य और सारा धन प्रतिपक्षी क्षत्रिय-वैश्य, ब्राह्मणोंको दे दें; स्वयं वे विरक्त, कौपीनधारी तपस्वी एवं संन्यासी बन जावें, तब अपने-आप उनसे उपक्षिप्त पक्षपातका प्रश्न दूर हट जावेगा।

वस्तुतः निम्न भी ब्राह्मणका जो सम्मान किया जाता है, और उत्तम भी शूद्रका वैसा सम्मान नहीं किया जाता; उसमें कारण हमारी आस्तिकता है, पूर्वजन्म और पुनर्जन्ममें हमारा विश्वास है। हम वैसे ब्राह्मण तथा वैसे शूद्रके पूर्वजन्मके सुकर्म-का सम्मान और दुष्कर्मका अपमान करते हैं। वर्तमान-कर्मोंका फल तो वे पुनर्जन्ममें वर्णपरिवर्तन हो जानेपर स्वयं ही प्राप्त कर लेंगे। हम परोक्षवाद माननेवाले आस्तिक हैं, परन्तु प्रतिपक्षी तो प्रत्यक्षमात्र माननेवाले नास्तिक ही हैं, जो नाममात्रसे पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मानते हैं, वास्तवमें नहीं।

(२४) पूर्वपक्ष—जब मनुष्य जातिमें सदा सर्वत्र व्यभिचारकी सम्भावना है; तो बताया जावे कि—जो पुरुष जिसको अपना पिता कहता है, वह पुरुष उसी पिताके वीर्यसे उत्पन्न हुआ है, इसको वह किस प्रमाणसे प्रमाणित करेगा? यदि कोई यह कहे कि—उसकी माताका कहा प्रमाण हो सकता है, जो वीर्य-दाताकी साक्षिणी है, पर माताका कहा भी सन्देहास्पद हो सकता है। सम्भव है वह किसी परपुरुषसे गर्भवती हुई हो;

और उसे अपने पतिके नामसे ही प्रसिद्ध करती चली आ रही हो। शास्त्रोंमें वर्णित जितने भी प्रतिबन्ध हैं; वे दुराचारको मनुष्योंमें ज्यादा से ज्यादा रोकनेकेलिए हैं, वे व्यभिचारकी सम्भावनाको न्यून तो कर सकते हैं, उसका अत्यन्ताभाव नहीं कर सकते। इससे वीर्यके आधारपर मानी हुई जन्मगत वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त भी बालूपर भित्तिके समान है।

(श्रीरामचन्द्र-देहलवी, आर्यसमाजोपदेशक)

उत्तरपक्ष—व्यभिचारकी सम्भावनाके उन्मूलनार्थ हमारे प्राचीन-ऋषि-मुनियोंने जो उपाय बताये थे, उनके अनुसरणसे वैसी सम्भावना नहीं रहती; उन उपायोंको सनातनधर्म मानता है, और उनका अनुसरण करता है; अतः उसमें वैसी सम्भावना नहीं हो सकती; पर जो आजकलके अर्वाचीन सम्प्रदाय—उनसे विरुद्ध कामज-नियोग, विधवा-विवाहकेलिए प्रोत्साहन, २४ वर्ष-की ऋतुमती लड़कीका विवाह, स्त्री-स्वातन्त्र्य, महिलाओंकी आवरण-प्रथाका त्याग, स्त्रियोंको पुरुष-समाजके साथ आन्दोलन आदिकेलिए भेजना, युवक-पुरुषों द्वारा स्त्रियोंको पढ़ाना आदि सनातनधर्म-विरुद्ध सिद्धान्त माननेवाले तथा उसका अनुसरण करनेवाले हैं, इस लोकसे भिन्न स्वर्ग-नरकादि लोकोंको मानने-वाले नहीं हैं; उन्हींमें उक्त सम्भावना शत-प्रतिशत हो सकती है। उसमें अन्य भी एक कारण है—'या दुर्हार्दो युवतयः' (अ० १४।२।२९) इस मन्त्रका स्वा.द.जीने संस्कारविधि (पृ. १७८) में यह अर्थ किया है—'जो दुष्ट हृदयवाली अर्थात् दुष्टात्मा स्त्रियाँ हों; जो

इस स्थानमें बुड्ढी दुष्ट स्त्रियाँ हों, वे इस वधूको तेज दें'। तब वे कुलटाएँ आर्यसमाजी-वधुओंको अपना क्या तेज देंगी ? यही कि-तू भी हमारी भांति दुष्टात्मा बन। तब ऐसे सम्प्रदायकी वधुओंके भी दुष्टात्मा बन जानेसे उनमें पूर्वोक्त-सम्भावना हो जाना स्वाभाविक है। तभी वे माता-पिताके अनुसार जन्मसे वर्ण नियत न करके गुणकर्मणा वर्ण-व्यवस्था मानते हैं। परन्तु 'मातृदेवो भव' (तै. उ. १।११।२) माननेवाले, स्त्रीपारतन्त्र्य, पातिव्रत्य, परपुरुष-सम्बन्धनिषेध, ऋतुमतीत्वसे पूर्व विवाह, अवरोध-प्रथा आदि सिद्धान्त माननेवाले सनातनधर्मियोंमें पूर्वोक्त सम्भावनाका मूल ही उच्छिन्न हो जाता है। उनके मतमें 'दुर्हार्दा युवतयः' का अर्थ 'दौहृदवाली (गर्भवती) स्त्रियां सन्तान होने का, तथा वृद्धा स्त्रियां वधूको चिरायुष्मत्ताका तेज देती हैं, इनमें कुविचारकी कुछ भी सम्भावना नहीं होती।

प्रतिपक्षीके मतानुसार व्यभिचार कब होगा; वह स्वयं मानेगा कि-यौवनमें भी स्त्रीको पति न मिलने पर। फिर प्रश्न होगा कि-स्त्रियोंका यौवन कब होगा ? इसका उत्तर होगा कि-स्त्रीके ऋतुकालके प्रारम्भसे ही। ऋतुकालमें ही बालाका काम-प्रारम्भ होता है। फिर प्रश्न होता है कि-ऋतुकाल कब शुरू होता है ? उत्तर है-१२वें वर्षके बाद; जैसे कि-सुश्रुतसंहितामें स्पष्ट है। फिर प्रश्न होगा कि-व्यभिचार दूर करनेका क्या उपाय है ? वादी स्वयं मानेगा कि-विवाह अर्थात् पति-प्राप्ति, सो गुणवान् भर्ताके मिल जानेपर ऋतुकालसे पूर्व विवाह

सनातनधर्मका सिद्धान्त है। जब प्रतिपक्षी व्यभिचार दूर करनेका उपाय विवाह मानते हैं; इसलिए वे विधवा-विवाह कराते हैं; सनातनधर्ममें तो १२वें वर्षमें विवाहित-लड़कीकी पति-प्राप्ति हो जानेसे व्यभिचारकी सम्भावना उच्छिन्न हो ही गई। अर्वाचीन-सम्प्रदायोंमें तो १६ वर्षकी कन्याका विवाह अधम है, और २४ वर्षीय कन्याका विवाह उत्तम है। आयुर्वेद ऋतुकालसे स्त्रियोंकी नर की कामना बताता है—'नरकामां...विद्याद् ऋतुमतीमिति' (सुश्रुतसं. शारीर. ३।७-८) तब १२ वर्षसे १४ वर्ष तक उत्तमतावश जब प्रतिपक्षी उसे पति नहीं देते, और जो उसे पति दिया भी जाता है वह ४८+८=५६ वा ६० वर्षका जिसे स्वामी स्वप्नदोष तथा परिहाणिकी अवस्था मानते हैं! प्रतिपक्षीकी दुष्ट-सम्भावना जब सर्वत्र व्याप्त है; सो वह वर भी ४८ वर्ष तक ब्रह्मचारी न रहा होगा; और वह स्वप्नदोषवान् होनेसे शीघ्र-पतनवाला भी होगा; तब उसके संयोग होनेपर वा उसके पहले वह प्रतिपक्षीके अनुसार व्यभिचारिणी होगी या नहीं ? अथवा उसकी व्यभिचारकी सम्भावना होगी वा नहीं ? यदि रहेगी; तो 'व्यभिचारिणी वा व्यभिचारकी सम्भावनावालीका ही विवाह करना चाहिये' यही क्या प्रतिपक्षीके सम्प्रदायका सिद्धान्त है ? यदि ऐसा है; तो उक्त सम्भावना तो प्रतिपक्षीके सम्प्रदायमें ही सिद्ध हुई। इसीलिए प्रतिपक्षीके सम्प्रदायमें शास्त्रानुगृहीत पितृमूलक वर्ण-व्यवस्था सिद्धान्तित नहीं की जाती; किन्तु गुण-कर्मकृत वर्ण-व्यवस्था ही सिद्धान्तित की जाती है-यह बात ठीक

भी हुई, क्योंकि--उसमें पिताका निश्चय ही नहीं हुआ करता। परोक्ष-विषयमें आगम प्रमाण न माननेवाले प्रतिपक्षियोंको उसमें प्रत्यक्ष न होनेसे उत्पादकका निश्चय नहीं होता। सो उक्त सम्भावना प्रतिपक्षीके सम्प्रदायमें उत्तम माने हुए २४,४८–५६,६० वर्षकी अवस्था वाले वर-कन्याके विवाहमें रहेगी या नहीं–यह प्रतिपक्षी स्वयं सोचें। यदि प्रतिपक्षीके सम्प्रदायमें २४–४८+८= ५६ वर्षके युवक-युवतीके विवाहसे पूर्व उनकी व्यभिचारकी सम्भावना नहीं रहती; तो सनातनधर्ममें ऋतुकालसे पूर्व पतिको प्राप्त कर चुकी स्त्रीकी व्यभिचार-सम्भावना तो 'शशशृङ्ग' रहेगी। इस प्रकार विधवाके भी सनातनधर्मके सिद्धान्तानुसार पातिव्रत्य-धर्मके तथा फलादिके उपयोगसे देह-शोष होनेपर वह सम्भावना नहीं रहेगी।

२४ वर्षवाली युवतिका विवाह प्रतिपक्षीका सम्प्रदाय ब्राह्मणका ४८+८=५६ वर्षमें, क्षत्रियका ४८+११=५९ वर्षमें, वैश्यका ४८+१२=६० वर्षमें स्वप्नदोषवाले उस वृद्ध पतिसे कराता है; और प्रतिपक्षी उसे आदित्य-ब्रह्मचारी आदि कहते हैं। अब प्रतिपक्षी बताएँ कि–युवतिकी उस शीघ्र-पतनवाले वृद्ध-पतिके साथ संयोगमें तृप्ति वा कामशान्ति होगी? यदि नहीं; तब उसकी व्यभिचारकी सम्भावना रहेगी या नहीं? यदि रहेगी, तो प्रतिपक्षीकी सम्भावना उसीके सम्प्रदाय पर पड़ी। यदि उस शीघ्रपतनादि-वालेके साथ संयोगमें भी वह सम्भावना न रहेगी, तब ऋतुकालसे ही प्राप्त पतिवाली बालाकी व्यभिचार-सम्भावना

कैसे हो सकती है?

प्रतिपक्षीका सम्प्रदाय वसु-ब्रह्मचारी (१६-२५ के स्त्री पुरुष), रुद्र-ब्रह्मचारी (२०।४४ वर्षके स्त्री-पुरुषोंका) तथा आदित्य (२४-४८ वर्षके स्त्री-पुरुष) ब्रह्मचारीका विवाह मानता है; उसमें ब्रह्मचर्यारम्भसे पूर्वके ८-११-१२ वर्ष मिलाने पड़ेंगे; उनमें प्रतिपक्षीके अनुसार व्यभिचार-सम्भावना है–या नहीं? यदि है; तो उनको ब्रह्मचारी कहना क्या बालूकी भित्ति नहीं होगी? तब तो 'ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुषोंका विवाह' यह प्रतिपक्षि-सम्मत सिद्धान्त भी क्या बालूकी भित्ति न हुई? जब प्रतिपक्षीके मतमें उनमें व्यभिचार-सम्भावना भी अनिवार्य है, तब उसका सम्प्रदाय इतनी बिलम्बसे विवाह क्यों कराता है? क्या उनके अखण्ड ब्रह्मचर्यकी गारण्टीका साहस वे कर सकते हैं? यदि हां, तो प्रतिपक्षि-सम्मत मनुष्योंमें व्यभिचारकी सम्भावना उसीसे कट गई। पुरुषके व्यभिचारकी सम्भावना प्रतिपक्षीके मतमें १५-१६ वर्षसे हो सकती है, और लड़कीकी १२-१३-१४ वर्षसे; तब उस अवस्थामें विवाह न करके पुरुषोंका २५-३०-४०-४४-४८-५६-६० वर्षमें और लड़कीका १६-१७-१८-२०-२२-२४ वर्षमें प्रतिपक्षी द्वारा कराया जाता हुआ विवाह क्या व्यभिचार-प्रवर्धक सिद्ध न होगा? यदि होगा; तब भी प्रतिपक्षीके पक्षका खण्डन हुआ। यदि वैसी सम्भावना उसमें न होगी; तब प्रतिपक्षीकी वह व्यभिचार-सम्भावना स्वयं प्रतिपक्षी-द्वारा व्यभिचरित सिद्ध हुई।

(ख) प्रतिपक्षीसे एक प्रश्न है कि-वह 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुत-ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्' (३।२) इस मनुपद्यको वेदविरुद्ध, प्रक्षिप्त या, अयुक्त मानता है, अथवा वैदिक, अप्रक्षिप्त वा युक्त ? यदि पहली बात ठीक है; तो प्रतिपक्षीका दीर्घदर्शी ऋषि स्वा.द. इस मनुपद्यका अनुमोदन करनेसे वेदविरुद्ध तथा प्रक्षिप्त-पद्यमें आदर देनेवाला और अयुक्त सिद्धान्तवाला सिद्ध हुआ। यदि दूसरी बात ठीक है; तब उस मनुपद्यमें तो अविप्लुत-ब्रह्मचर्यवालेका गृहस्थाश्रममें प्रवेश सिद्धान्तित किया गया है। प्रतिपक्षीके स्वामीने तो इसके अर्थमें लिखा है—'जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो, वह पुरुष-स्त्री गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे' (स. प्र. ४ पृ. ४६) यह स्वामीसे सम्मत मनुका सिद्धान्त प्रतिपक्षीको मान्य है वा नहीं ? यदि है; तो यह सिद्धान्त प्रतिपक्षीके मतमें दृढ भित्ति है, या वालूकी भित्ति ? यदि वालूकी भित्ति, तब इसका आश्रय लेनेवाले प्रतिपक्षीके सम्प्रदायके भी सिद्धान्त वालूकी भित्ति सिद्ध हुए ?।

अथवा यदि आक्षेप्ता देहलवीजीके मतमें भी यह मनुका पद्य शुद्ध अथवा दृढभित्तिवाला है, तब उन्हें कहना चाहिये कि-जो कि-स्वामीने भी अखण्डित-ब्रह्मचर्य वाले स्त्री-पुरुषोंका विवाह आदिष्ट किया है; तब उन स्त्री-पुरुषोंकी व्यभिचार-सम्भावना रहती है, वा नहीं ? यदि देहलवीजीके अनुसार वह रहती है; तब तो संसारमें कोई भी स्त्री-पुरुष गृहस्थाश्रमका अधिकारी न रहा ? और उक्त मनुका पद्य निर्विषय तथा उदाहरणरहित और व्यर्थ सिद्ध है; पर मनुजी इससे सर्वसाधारणके ब्रह्मचर्यके विप्लवकी सम्भावना नहीं करते; तभी तो वे उसे सिद्धान्त मानते हैं। तब जो कई थोड़े विप्लुतब्रह्मचर्य भी होंगे; उस अपवादसे वे इस उत्सर्गका बाध नहीं मानते। तब जन्मगत वर्णव्यवस्था-सिद्धान्त भी वालूकी भित्ति सिद्ध न हुई ?; उसे वालूकी भित्ति कहता हुआ प्रतिपक्षी स्वयं अपनेसे ही खण्डित होगया। यदि प्रतिपक्षी ऐसा नहीं मानता; तब वह मनुविरोधी, स्वस्वामिविरोधी-स्वसम्प्रदायविरोधी, एक प्रत्यक्षको माननेवाला, आगम-प्रमाणको न माननेवाला दूसरा चार्वाक सिद्ध हुआ।

(ग) 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' (अ. ११।३।१८) यह वेदका मन्त्र है। यहाँ ब्रह्मचर्यका अर्थ उपस्थ-संयम है; क्योंकि-इसके उत्तरार्धं 'अनड्वान् ब्रह्मचर्येण अश्वो घासं जिगीषति' में बैल-घोड़ोंका भी ब्रह्मचर्य कहा गया है; सो वह भी उपस्थ-संयम है, वेदाध्ययन नहीं। उपसंहारके अनुरोधसे उपक्रममें भी वही अर्थ है। यहाँ उपस्थ-संयमवाली कन्याका पति-वेदन (विवाह) वेदने कहा है। यदि प्रतिपक्षीके अनुसार सर्वत्र व्यभिचारकी सम्भावना है; तब कोई भी कन्या सारे संसारमें ब्रह्मचारिणी न होगी। तब उसका विवाह भी इस वेदमन्त्रसे विरुद्ध होगा। तब वेदका ब्रह्मचारिणी-कन्याओंके विवाहका सिद्धान्त कहना भी प्रतिपक्षीके अनुसार सिकताभित्ति होगा; क्योंकि-उनमें भी प्रतिपक्षीके अनुसार व्यभिचार-सम्भावना होगी। यदि ऐसा

नहीं; किन्तु वे सर्वसाधारणतासे ब्रह्मचारिणी होती हैं; अपवादोंसे उक्त उत्सर्गका बाधन न होगा—यह यदि श्रीदेहलवीजीका भी मत है, और वेदका ब्रह्मचारिणियोंका विवाह कहना वालूकी भित्ति नहीं है; तब सनातनधर्मसे सिद्धान्तित वर्ण-व्यवस्थाके भी जन्मसिद्ध होनेसे उसमें प्रतिपक्षीका आक्षेप ही वालूकी भित्ति सिद्ध हुआ।

पर यदि प्रतिपक्षी अपने इस आक्षेपको वालूकी भित्ति नहीं मानता; तब परोक्षमें भी आगम-प्रमाण न माननेवाला, केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण माननेवाला प्रतिपक्षी वेदविरोधी एवं चार्वाक सिद्ध हुआ। क्योंकि—उसने जो यह कल्पना दी है, वह उसका नवीन आविष्कार नहीं है. किन्तु यह चार्वाकोंकी ही कल्पना है? वे (चार्वाक) कहते हैं—'अनादाविह संसारे दुष्पूरे मदनानले। कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना'। नैषधचरितके १४ सर्गमें चार्वाककी उक्तिके पद्यकी टीकामें देखो, तब प्रतिपक्षीको अपने-आपको भी अपितृक मानना पड़ेगा, क्योंकि—वह निषेचकका कभी प्रत्यक्ष न कर सका। पर 'मातृदेवो भव' इस सिद्धान्तके अनुयायी इस सम्भावनाके लक्ष्य नहीं बन सकते। पर यदि प्रतिपक्षी अपने आपको चार्वाक न मानकर वैदिकधर्मी ही मानता है; तब उक्त वेदमन्त्रसे ही उसका पक्ष सिकताभित्ति सिद्ध हुआ।

(घ) वेदमें कहा है—'इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रम्' (यजुः १०।१८) यहाँपर 'अमुष्य पुत्रं'में पुत्रके पिताका नाम लिया

जाता है; और 'अमुष्यै पुत्रम्' में उसकी माताका नाम लि[या] जाता है। तब जब वेद पुत्रके पिताका नाम लेता है; इस[में] प्रश्न है कि—वेदको उस पुत्रके पिताके पितृत्वमें निश्चय है [या] संशय है? यदि संशय है; तब वेद उसका नाम निश्चित-रूपसे कैसे लिवाता है? यदि वेदको उस पुत्रके पिताके पितृत्वमें निश्च[य] है; तब प्रतिपक्षीसे उपक्षिप्त व्यभिचारकी सम्भावना पीसी गई; नहीं तो वेद उस नामवाले उसके पिताको कैसे कहता है? यदि वैदिकम्मन्य वादी यह नहीं मानता; तब वह वेदका भी खण्डक वेदविरोधी नास्तिक सिद्ध हुआ, 'नास्तिको वेदनिन्दकः' (मनु) (स.प्र. ३ पृ. ४४, ११समु. पृ. १६८) फिर वेद भी प्रतिपक्षीके अनुसार मिथ्या-प्रचारक सिद्ध होगा। यदि वेद मिथ्या नहीं; तो प्रतिपक्षीका मत ही मिथ्या एवं सिकताभित्ति सिद्ध हुआ, तब उसकी सिकताभित्ति सिद्ध होनेसे जन्मसिद्ध वर्ण-व्यवस्था दृढमूल सिद्ध हुई।

(ङ) इस प्रकार वेदमें अन्यत्र भी कहा है—'पितुर्न नाम सुहवं हवामहे' (ऋ. १०।३६।१) यहां अपने पिताका नाम लेना कहा है। 'पुत्रो यज्जानं पित्रोरधीयति' (१०।३२।३) यत्—जब पुत्रः—पुत्र, जान—अपना जन्म पित्रोः—माता-पिताके पाससे अधीयति—स्मरण करता है।' यहां भी पुत्रका पिताके नामका स्मरण कहा है। जब प्रतिपक्षीके अनुसार सभी स्त्रियोंकी व्यभिचारमें समानता है; तब पुत्रका पिता कोई निश्चित न हो सकेगा। तब वह उसका नाम कैसे ले सकेगा? पर वेदने उसका नाम-ग्रहण

करवाया है; तब स्पष्ट है कि—प्रतिपक्षीकी वैसी सम्भावना ही व्यभिचारिणी है। तब वह स्वयं खण्डित सिद्ध हो गई।

(च) 'नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः' (ऋ. १०।३६।१४) वयं तनयं सूनुमिव। यहां पिता औरस-पुत्रके साथ स्थित होकर बोल रहा है। तब यदि वादी व्यभिचारकी सम्भावना सर्वत्र तथा सर्वदा मानता है; तब वह अपने पुत्रको औरस-ही कैसे कह सकता है? क्या पता वह अन्यके वीर्यसे हुआ हो; पर जब कि—वेद औरस-पुत्र मानता है; तब प्रतिपक्षीकी वह सम्भावना खण्डित सिद्ध हुई। और उस सम्भावनासे प्रतिपक्षीका जन्मसे वर्णव्यवस्थाका खण्डन भी खण्डित हो गया। इस प्रकार 'पुत्रायेव पितरौ' (ऋ. १०।३९।६) इत्यादि बहुतसे वेदमन्त्र यहां दिये जा सकते हैं।

(छ) 'सोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान' (अथर्व. १०।५।४४) यहां (अमुष्य) अमुक पिताका (अमुष्याः) अमुक माताका पुत्र कहा गया है। यदि किसी भी पिताका प्रतिपक्षीकी व्यभिचार-सम्भावनाके अनुसार निश्चय नहीं है, तब वेदने उक्त शब्द निश्चयसे कैसे कहे—इससे प्रतिपक्षीकी वह सम्भावना वेदविरुद्ध सिद्ध हुई।

जब प्रतिपक्षीके अनुसार 'शास्त्रोंमें वर्णित प्रतिबन्ध दुराचारको मनुष्योंमें ज्यादासे ज्यादा रोकनेकेलिए' हैं, तब उन्हीं शास्त्रोंसे कहे हुए जन्मना वर्ण-व्यवस्था सिद्धान्तमें भी औत्सर्गिकतासे कोई बाधा न आ सकी; क्योंकि—उन शास्त्रीय विधियोंसे प्रायः व्यभिचार-निवृत्ति हो जानेपर वह सम्भावना कादाचित्क, वा काचित्क ही रहेगी, जिसमें वे नियम न माने जाते होंगे, और वह अपवाद होगी, अपवादसे उत्सर्गकी निवृत्ति कभी नहीं हुआ करती।

इसके अतिरिक्त जो माता-पिताका वर्ण होता है, वही उनके लड़केका भी होता है—यह सनातनधर्मका सिद्धान्त है, उसमें केवल वीर्य-द्वारा वर्ण-व्यवस्था नहीं मानी जाती, किन्तु शुक्र-शोणित दोनोंके द्वारा, तब वह लड़का जबकि—'पिता पुत्रमिव' (ऋ. १०।२२।३) 'पुत्रमिव पितरौ' (यजु. १०।३४) अपने पिताका ही पुत्र सभी द्वारा माना जाता है; तब उसका वर्ण भी वही माता-पिता वाला ही होगा। वह पिता ही उस लड़केकी माताका पति सभी द्वारा माना जाता है। सो सवर्णाविवाहवश वह उस माताका तो निश्चित पुत्र होनेसे उस उत्पत्तिमूलक वर्णवाला तो हुआ ही। शेष रहा पिता; सो वह आप्त माता ही उसका उत्पादक पिता बताती है, द्विजोंमें धर्मकी प्रबलतावश, कामजनियोग, विधवा-विवाहादिके गन्ध न होनेसे, व्यभिचारके वहां नरकप्रद माननेसे उसके डरसे उसमें प्रवृत्ति न होनेसे जन्मसिद्ध वर्ण-व्यवस्थामें कोई रुकावट नहीं पड़ती। पर जब तक प्रतिपक्षी उस लड़केके पितासे भिन्न द्वारा उस पुत्रकी उत्पत्तिको दृढ-प्रमाणसे सिद्ध न करे; तब तक उस लड़केको न अन्यका कहा जा सकता है; न अन्य वर्ण-वाला कहा जा सकता है। न इससे जन्मसिद्ध वर्ण-व्यवस्थामें कोई बाधा पड़ सकती है।

कोई किसी पुरुष वा किसी स्त्रीको व्यभिचारी कहे, जब तक उसमें दृढ-प्रमाण न दिया जावे, उसका कथन कोई नहीं मानता। इस प्रकार प्रतिपक्षीकी अनिश्चित-सम्भावनाको भी बिना दृढ-प्रमाणके कोई भी नहीं मान सकता। स्वयं ही अनिर्णीत उस सम्भावनासे सारा ही भारतीय-संसार व्यभिचारी नहीं माना जा सकता। वही व्यभिचारी माना जावेगा; जिसकेलिए कोई दृढ-प्रमाण दिया जावे, अथवा वह पतिव्रतधर्मके विरुद्ध काम-वासनाको प्रोत्साहन देनेवाले ऋतुमती-विवाह, स्त्री-स्वातन्त्र्य, कामनियोग, आवरण-प्रथात्याग, आदि अर्वाचीन नियमोंको माननेवाले सम्प्रदायका हो; सभी नहीं। यदि ऐसा है, तब माता-पिताकी उत्पत्ति द्वारा दिये जाते हुए वर्णमें कोई भी बाधा नहीं पड़ती। वह बाधा तब पड़े; जब उस लड़केको बिना-पिताका वा भिन्न-पिताका सिद्ध किया जा सके; परन्तु जब तक प्रतिपक्षी भारतीय-द्विज सनातनधर्मी-सन्तानोंको अपितृक वा भिन्न-पितृक न सिद्ध करे; जब तक पिता-पुत्रका व्यवहार अवैदिक सिद्ध न करे; तब तक पितृमूलक वर्ण-व्यवस्थाको वह खण्डित नहीं कर सकता।

पिताकी आज्ञाका पालन प्रतिपक्षी भी वैदिक मानते हैं; उसे पञ्चायतन-देवपूजाके अन्तर्गत मानते हैं (देखो स.प्र. ११ समु. पृ. १९९-२००), तब प्रतिपक्षीके मतमें पुत्र किस पिताकी सेवा करे; जबकि प्रतिपक्षीके मतमें पिताका कुछ भी निश्चय नहीं? तब वह पुत्र पिताकी सम्पत्तिका स्वामी भी कैसे बन सकता है?

तब प्रतिपक्षीका यह मत अशास्त्रीयताके साथ अव्यावहारिक भी है। इस प्रकार तो स्वा.द. भी प्रतिपक्षीकी सम्भावनाके अनुसार अपने पिताके पुत्र सिद्ध न हो सकेंगे, और वे बाल-ब्रह्मचारी भी सिद्ध न हो सकेंगे। स्वा.द.के पास आकर रहनेवाली रमाबाईमें भी प्रतिपक्षी अपनी दुः-सम्भावना व्यक्त कर सकेगा। इस प्रकार तो प्रतिपक्षी भी अपने आपको अपितृक ही मानेगा। वह अपनी सन्तानको भी स्ववीर्यज नहीं मान सकता, अपने अनुसार उसे अपनी सिद्ध नहीं कर सकता। यदि प्रतिपक्षी ऐसा नहीं मानता; तब जन्मगत वर्ण-व्यवस्थाका खण्डन भी सिद्ध न हुआ। प्रतिपक्षीके अनुसार 'आप्तवचन' प्रमाण भी प्रमाणभूत सिद्ध न होगा; क्योंकि—प्रतिपक्षीके अनुसार उसमें भी परोक्षतावश असत्य-भाषणकी सम्भावना होनेसे शब्दप्रमाण भी अप्रमाण सिद्ध हुआ। प्राचीन-ग्रन्थोंमें सन्त तथा महान् पुरुष भी दिखलाये गये हैं; पतिव्रता स्त्रियाँ भी। पर प्रतिपक्षीने इन्हें संशयग्रस्त सिद्ध कर दिया। प्रतिपक्षीके अनुसार तो माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि भी किसीके निश्चित न कहे जा सकेंगे। फलतः प्रतिपक्षीका उक्त-चार्वाककी युक्तिको अपनाकर जन्मगत वर्ण-व्यवस्था पर आक्रमण असफल सिद्ध हुआ। परोक्षविषयोंमें शब्द-प्रमाणको ही माना जाता है; सो 'मातृदेवो भव' के अनुसार धार्मिक-माता पर विश्वास करना ही होगा; धर्मविरुद्ध नियमोंपर चलनेवाली तथा 'देवृकामा' आदिके गलत अर्थकी शिक्षा ली हुई माताओं पर

अलबत्ता विश्वास नहीं किया जा सकेगा।

(२५) पूर्वपक्ष—जन्मना वर्ण-व्यवस्था होनेपर अनायास ही ब्राह्मणादि-पदवी प्राप्त हो जानेसे उस पदवीकी प्राप्तिकेलिए किसीका परिश्रम नहीं होगा; सभी वर्ण उन्नतिरहित होंगे। (श्रीधर्मदेव-दर्शनकेसरी)

उत्तरपक्ष—यह ठीक नहीं। इससे शास्त्रसिद्ध वर्ण-व्यवस्था-का नाश कर देना ठीक उपाय न होगा। इसमें अन्य उपाय बहुतसे हैं। स्मृति-आदियोंमें मूर्ख-ब्राह्मणोंको दान देनेका निषेध किया है। जैसेकि—'नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम्। भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहाद् दत्तानि मातृभिः' (मनु. ३।९७) 'विद्यातपः-समृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु। निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्विषात्' (९८) यहाँ विद्वान् एवं तपस्वी ब्राह्मणको दान देना कहा है। इसी प्रकार अथर्ववेद-गोपथब्राह्मणमें भी लिखा है—'एवमेव अयं ब्राह्मणोऽनग्निकः, तस्य ब्राह्मणस्य अनग्निकस्य नैव दैवं दद्याद्, न पित्र्यम्, न चास्य स्वाध्यायाशिषः। न यज्ञे आशिषः स्वर्गङ्गमा भवन्ति' (१।२।१३) यहाँपर अग्नि-रहित भी ब्राह्मणको ब्राह्मण तो कहा गया है, पर उसे दानका निषेध किया गया है। ऐसा आचरण करनेसे गुणकर्महीन-ब्राह्मणको बड़ा भय उत्पन्न होगा। शूद्र कर देनेसे कुछ भी लाभ न होगा। गुण स्वयं हीन-वर्णका भी सम्मान कराते हैं। विशेष तारका लोहा सोनेसे भी मंहगा बिकता है। लोग ब्राह्मणोंसे हीनवर्ण भी गान्धिजीका ब्राह्मणोंसे भी अधिक सम्मान करते

हैं। हिन्दुधर्मसे भिन्न भी ए. सी. वुल्नर आदि अंग्रेजोंको सभापति बनाया जाता रहा। इससे वर्णके परिवर्तनकी आवश्यकता नहीं।

एक भवन है, जिसका उद्धार न होनेसे वह पतन-दशामें है; उसका आप थोड़े परिश्रमसे उद्धार करनेमें समर्थ हैं। उसके उद्धारमें घर अच्छा बन सकता है; पर आप उसे छोड़कर दूसरा नया घर बनाया चाहते हैं; उसके निर्माणमें भी सन्देह है, जिसकेलिए ईंट आदि मिलनी भी कठिन हैं। एक मर्यादाहीन अपने पुत्रका आप उद्धार न करके उसके स्थान दूसरेका पुत्र लेना चाहते हैं; क्या यह ठीक है? अपना अन्धा भी पति श्रेष्ठ है, उसे छोड़कर पराये अच्छे भी पतिका ग्रहण ठीक नहीं। अपना विगुण भी धर्म श्रेष्ठ है, दूसरेका अच्छा दीख रहा भी धर्म ग्राह्य नहीं होता।

हमने त्रुटित-कार्यमें सुधार करना है, सुधारके बहाने उसका संहार करना ठीक नहीं। सब क्षत्रियादियोंकेलिए उचित है कि—वे अपने पुरोहित-ब्राह्मणोंका धनभाग इकट्ठा करके बाल्यावस्था-से ही उनके लड़कोंके पढ़ाने आदिके कार्यमें खर्च करें, इससे उनकी शीघ्र उन्नति होगी। बनावटी ब्राह्मणोंकी रचनासे क्या सिद्ध होगा? स्वा. दयानन्दजीकी मृत्यु हुए ७८ वर्षसे अधिक होगये; इतने समयमें कितने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आर्यसमाजी साङ्ग-वेद पढ़कर ब्राह्मण बने? डा० अम्बेदकर न्यायमन्त्री होता हुआ भी वैसा ही अन्त्यज रहा। मौलाना आजाद शिक्षामन्त्री

होता हुआ भी मुसलमान ही रहा। यदि आर्यसमाजमें भी गुण-कर्मणा वर्ण-व्यवस्था होती; तो उसमें कोई भी वेदानभिज्ञ वा मूर्ख ब्राह्मण न होता; पर वहाँ भी दो-चारके सिवाय शेष सभी वेदानभिज्ञ हैं, इससे स्पष्ट है कि—गुण-कर्मणा वर्ण-व्यवस्था सिद्धान्त करनेपर भी कुछ भी लाभ न होगा; प्रत्युत 'कौए हंसोंकी बोली सीखने गये थे; अपनी बोली भी गँवा आये' इस न्यायसे 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' इस न्यायके उदाहरण बनेंगे, अपने कर्मोंसे भी हाथ धो बैठेंगे। तब जन्मसे वर्ण-व्यवस्था सिद्धान्तको हटानेका प्रयत्न निष्फल ही है। जन्मसे व्यवस्था नियत होनेपर ही पुरुष अपने उत्तरदायित्वको समझता है, उससे उत्तरदायित्व पूर्ण न करनेपर पूछा भी जा सकता है, उस कर्मसे उसका प्रेम भी बनता है। बीच-बीचमें भिन्न कर्म कर लेनेसे उसीपर वर्ण-व्यवस्था मानना बड़ी अव्यवस्थाका उत्पादक होगा। स्वकर्मको छोड़ देनेपर उससे कुछ पूछना भी नहीं बन सकता।

वेदके पूर्ण पण्डित फिर भी जन्म-ब्राह्मणोंमें ही लेंगे। वस्तुतः जैसे मनुष्यत्व भिन्न वस्तु है, विद्वत्ता और मूर्खता आदि भिन्न वस्तु है; अर्थात् यह कोई नियम नहीं है कि-सभी मनुष्य सुकर्मा और विद्वान् ही होवें; वैसे ही ब्राह्मणत्व भी भिन्न वस्तु है, और विद्वत्ता और मूर्खता आदि भी भिन्न वस्तु है। जो ब्राह्मण हो; वह सुकर्मा वा विद्वान भी हो; यह अधिकांशमें तो सम्भव है; पर इसमें अनिवार्यता नहीं। विद्वत्ता सुकर्म आदिका सम्बन्ध केवल ब्राह्मणोंमें क्या, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और

चाण्डालोंमें भी हो सकता है? प्रतिपत्तियोंकी नीतिसे तो सभी ब्राह्मण बनना चाहेंगे; क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डालादि कर्मोंसे उस जातिवाले भी घृणा करने लग जावेंगे। तब संसारकी व्यवस्था कैसे चले? ऐसे तो बड़ी हानि होगी और भारतवर्ष अवनत होगा।

इस कारण 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' (१८।४५) 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' (३।३५) 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणोऽपरधर्मात् स्वनुष्ठितात्' (१८।४७) 'सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' (१८।४८) भगवद्गीताके तथा 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते। आज्ञाभङ्गान्मम द्वेषी स मे भक्तोपि न प्रियः' (श्रीमच्छङ्करदिग्विजयमें उद्धृत) इस भगवद्वचनको स्मरण करके तथा 'वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः' (मनु. १०।९७) 'आत्मीये संस्थितो धर्मे शूद्रोपि स्वर्गमश्नुते। परधर्मो भवेत् त्याज्यः सुरूपपरदारवत्' (अत्रिस्मृति १८) इत्यादि अन्य वचनोंको स्मरण कर-करके जिस-जिस वर्णवाले पिताके यहाँ जिसका जन्म हो; वह उसीके वर्णके नियत कर्मोंका आचरण करके व्यवहार करे; नहीं तो यदि पुरुष उन्नति करनेकी इच्छा से अपनी अपेक्षा उन्नत-वर्णके कर्म करनेकी इच्छा करेगा; अथवा आलस्यसे वा सुविधावश अपनेसे निम्न-वर्णके कर्मोंका आचरण करेगा; तो पुरुष संस्कारविरुद्ध होकर 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' इस न्यायका उदाहरण बनेगा। तब जो उसकी

दुरवस्था होगी; उसके चित्रका चित्रण हमने 'कर्मणा वर्ण-व्यवस्थामें हानि' निबन्धमें दिखलाया है, जिसे हम अग्रिम-पुष्पमें देनेका प्रयत्न करेंगे। अब इसपर विचार किया जायगा कि-'क्या गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था चल सकती है?' पाठक इसे मनोयोगसे देखें।

---

(१२) क्या गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था चल सकती है ?

कई अपनेको समाज-सुधारक माननेवाले विशेषकरके आर्यसमाजी लोग वर्ण-व्यवस्थाको जन्मसे नहीं मानते। वे वर्ण-व्यवस्थाको गुणकर्मानुसार प्रचलित करना चाहते हैं, इस विषयमें वे बहुतसे प्रमाण देते हैं, हम उनका प्रत्युत्तर तो सम्पूर्णरूपेण गत-निबन्धमें दे चुके हैं, पर फिर भी उन उत्तरोंको न मानकर वे गुणकर्मणा वर्णव्यवस्था समाजमें प्रचलित करना चाहते हैं। लेकिन हमारे विचारमें गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्थाका प्रचलन असम्भव है; क्योंकि-वैसा होनेपर हिन्दु-जातिमें तरह-तरह की गड़बड़ियां हो सकती हैं, इस पर हम प्रकाश डालते हैं। 'आलोक'-पाठक पूरा ध्यान दें।—

महाभारतमें कहा है—'बालो युवा च वृद्धश्च यत् करोति शुभाशुभम्। तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते' (पुरुष जिस-जिस अवस्थामें जो-जो शुभाशुभ कर्म करता है, उस-उस अवस्थामें वह कर्मकर्ता उसके फलको प्राप्त होता है)। इससे स्पष्ट है कि-मनुष्य भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न

कर्म करता है। संसारमें प्रायः देखा जाता भी है कि-पुरुषोंके गुणकर्मोंमें सदा ही परिवर्तन जारी रहता है। जो आज सात्त्विक है, वह दूसरी बार राजस वा तामस होजाया करता है। कुचरित्र भी लोग कुछ समयके बाद सुचरित्र होते हुए दीखते हैं। गुण वा कर्म जीवनकी सब दशाओंमें समान नहीं हुआ करते। यदि जन्मप्राप्त-संस्कारोंको उड़ाकर देश-काल-सङ्गतियोंका ही प्रभाव माना जावे, तथापि जीवन-कालमें विविध देशकालके संसर्गवश मानुषी-प्रकृति सदा समान नहीं रहती। तदनुसारी कर्म भी जीवन तक समान नहीं होते; उनमें यदा-तदा परिवर्तन अवश्य हुआ करते हैं। तब यदि आर्यसमाजी-सुधारकोंके सिद्धान्तानुसार गुण-कर्मसे वर्ण-व्यवस्था मानी जावे; तब एक ही जन्ममें पुरुषका वर्ण न मालूम कितने बार बदले ? आज सात्त्विक कर्म करनेसे पुरुष ब्राह्मण हुआ; तो दूसरी बार क्षत्रियके कर्म करनेसे क्षत्रिय हुआ; और व्यापार करनेमें लग जानेपर वैश्य हुआ, और अन्य अवसरमें नीच कर्म करनेसे शूद्र हुआ। इस प्रकार कर्मोंके परिवर्तनसे प्रत्येक पुरुष कभी ब्राह्मण, कभी क्षत्रिय, और कभी वैश्य, कभी शूद्र होगा। तब गुणकर्मणा वर्ण-व्यवस्थापकोंसे प्रश्न है कि-ऐसी दशामें गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था कैसे चले ?

(२) दूसरी आपत्ति यह है कि-गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था माननेपर लड़के-लड़कियोंका परिवर्तन हो जायगा; क्योंकि-यदि किसी वर्णका बालक या बालिका गुरुकुलसे लौटनेके समय

पिताके वर्ण-योग्य न सिद्ध हों; तब वे कहाँ जावें ? स्वा.द.के आदेशानुसार तो वे अपने माता-पिताके पास रह नहीं सकते। जैसेकि-'सत्यार्थप्रकाश'के ४र्थ समुल्लासमें लिखा है-'(प्रश्न) जो किसीके एक ही पुत्र वा पुत्री हो; और वह दूसरे वर्णमें प्रविष्ट हो जावें; तो उसके माँ-बापकी सेवा कौन करेगा ? और वंशछेदन भी हो जावेगा-इसकी क्या व्यवस्था होनी चाहिये ? (उत्तर) न किसीकी सेवाका भंग और वंशछेदन होगा; क्योंकि-उनको अपने लड़के-लड़कियोंके वदले स्ववर्णके योग्य दूसरे सन्तान विद्यासभा और राजसभाकी व्यवस्थासे मिलेंगे, इसलिए कुछ भी अव्यवस्था न होगी' (पृ. ५३)

स्वा.द.जीके कपोलकल्पित इस सिद्धान्तमें कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। वे यह हैं—(१) स्वामीके इस कथनमें कौनसा वेदमन्त्र प्रमाण है ? अथवा कौनसे धर्मशास्त्रका वचन है यहाँ ? (२) प्राचीनकाल में भारतमें ऐसी विद्यासभा वा राजसभा विद्यमान थी-यह किस प्रामाणिक-इतिहासमें लिखा है ? (३) क्या ऐसी व्यवस्था आजकल प्रचलित हो सकती है ? यदि नहीं; तब क्या वैदिक-व्यवहार भी सार्वकालिक नहीं होते ? (४) इस प्रकारके परिवर्तनको क्या माता-पिता स्वीकार कर लेंगे ? (५) क्या पुत्र और पुत्रीको अपने माता-पिताको छोड़कर दूसरे माता-पिता बनानेमें कोई आपत्ति तो न होगी ? (६) परिवर्तन-में प्राप्त पुत्र क्या शास्त्रानुसार अपना बन सकता है ? निरुक्तमें लिखा है-'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे। आत्मा

त्वं पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्' (३।४।२) यह वैदि... (शतपथादिका) वचन क्या परिवर्तित पुत्रमें प्राप्त हो सकता है ? 'न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति अचेतानस्य' (ऋ. ७।४।७) 'न हि ग्रभायाऽरणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ' (ऋ. ७।४।८) इन वेदमन्त्रोंसे पुत्र-परिवर्तन, अन्यके पुत्रको अपना पुत्र बनाना अवैदिक तथा अव्यावहारिक है। क्या युवति-लड़कीका परिवर्तन सम्भव है ? क्या और लेनेवाले उस युवति-लड़कीको अपनी लड़की वा बहिनकी दृष्टिसे देख सकेंगे ? क्या वे उसे कुदृष्टि... न देखेंगे ? उसके गोत्र और सपिण्डता आदिकी व्यवस्था कैसे होगी ? वे सगे भाई-बहन भिन्न-भिन्न वर्णवाले होकर भिन्न-भिन्न वर्णवाले माता-पिताके पुत्र हो जावें; तब उस लड़केके धर्मका रक्षक कौन होगा ? क्या पहला पिता ? या पहला भ्राता ? यह लड़का-लड़कीका परिवर्तन बचपनमें होगा-वा यौवनमें ? हमारा तो विश्वास है कि-कोई भी व्यक्ति अपने लड़का-लड़कीका इस प्रकारका परिवर्तन स्वीकार नहीं कर सकेगा। तब आर्यसमाज उत्तर दे कि-इस दशामें क्या किया जावे ? आर्यसमाजमें ऐसी प्रथा क्यों चालू नहीं हुई ? क्या उनका तथाकथित वेदपर विश्वास नहीं ?। यदि आर्यसमाजियोंमें ऐसे परिवर्तन हो चुके हैं; तब उन आर्यसमाजियोंकी सूची प्रकाशित की जानी चाहिये।

दैवयोगसे यदि किसी वर्षमें किसी वर्णके बालक गुरुकुलसे अधिक संख्यामें निकलें; और किसी वर्णके बालक कम संख्यामें

निकलें; ऐसी दशामें राजसभा वा विद्यासभा न्यून-वर्णवाले पुत्रोंके माता-पिताकेलिए क्या प्रबन्ध करेगी ? अथवा क्या सभा स्थायिकोषमें न्यूनाधिकताके समीकरणकेलिए अनाथ लड़के-लड़कियोंको भी रखेगी ? भिन्न-भिन्न देशके बालक क्या भिन्न-भिन्न देशमें बांटे जावेंगे, या अपने-अपने देशमें ? यदि कुछ माता-पिताओंको उस वर्णवाले पुत्र न्यूनतावश न मिलें; तो क्या वे स्वीकार करेंगे कि–उनके बालक तो अन्य माता-पिताओंको दिये जाएँ; पर वे स्वयं निस्सन्तान रहें। ऐसी दशामें उनकी इस अवस्थामें सेवा तथा भोजन आदिका प्रबन्ध कौन करेगा ?

इस प्रकार यदि किसी वर्णकी लड़कियाँ भी किसी साल कम निकलें; और दूसरे वर्णकी अधिक निकलें; उनके विषयमें भी यही प्रश्न उपस्थित होंगे, जो पहले बालकोंके विषयमें किये गये हैं। और फिर कोई कन्या २४ साल तक विद्या पढ़े, और ब्राह्मणी हो जावे; और उसका पिता वैश्य सिद्ध हो जावे; तब उस युवतिको अन्य गुण-कर्मसे ब्राह्मण बने हुए को दे देना पड़ेगा। तब क्या उसका विवाह भी वही करायेगा ? इससे उसे क्या लाभ होगा ? और वही उस कन्या पर अनुरक्त हो जावे, वा उसका पुत्र; यह भी हो सकता है; क्योंकि–वह लड़की उनके अङ्ग-अङ्गसे तो पैदा हुई-हुई नहीं; तब उसका उत्तरदायी कौन होगा ?।

स्वा.द.के सिद्धान्तानुसार गुरुकुलसे आनेपर इन लड़का-

लड़कियोंका विवाह होना चाहिये। यदि लड़कियाँ किसी वर्णकी अधिक तथा किसी वर्णकी न्यून निकल पड़ें, तो ऐसी दशामें बहुत लड़का-लड़कियोंको अपने वर्णानुकूल पति-पत्नी प्राप्त न होनेसे कांरा रहना पड़ेगा। कामदेव प्रबल हुआ करता है; तब गुरुकुलसे लौटनेपर यदि ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके; तब उन्हें क्या करना चाहिये ? स्वा.द.के अनुसार उनका नियोग भी नहीं हो सकता; क्योंकि–वे विधवा-विधुर नहीं। स्वामीने कुमार-कुमारियोंका नियोग नहीं माना। तब वे क्या करें–यह दयानन्दियोंको कहना पड़ेगा।

(३) तीसरी आपत्ति यह है कि–गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था चालू करने पर स्त्रियोंको अपना पति भी बदलना पड़ेगा। जैसेकि–किसी गुणकर्मानुसार बने हुए ब्राह्मणने वैसी ब्राह्मण-कन्याके साथ विवाह किया; परन्तु दैवयोगसे यदि वह ब्राह्मण या वही ब्राह्मणी कर्मपरिवर्तनवश पतित होकर शूद्र वा वैश्य हो जाएँ; तब उन्हें क्या करना चाहिये ? यदि वह ब्राह्मण या ब्राह्मणी पतित स्त्री वा पतित पुरुषको न छोड़ें; तो मनुके अनुसार यह प्रतिलोम-सम्बन्ध होगा। शूद्रसे प्रतिलोम-सम्बन्धसे वैश्या-में, क्षत्रियामें, तथा ब्राह्मणीमें उत्पन्न सन्तानें क्रमशः आयोगव, क्षत्ता तथा चाण्डाल होंगी। चाण्डालोंका निवास नगरसे बाहर करना पड़ेगा और मनु (१०।५१) के अनुसार अस्पृश्यता एवं व्यवहारभेद भी करना पड़ेगा। जिन घरोंमें ऐसी सन्तान होगी; उनकी कैसी दशा होगी–यह समझदार लोग समझ सकते हैं।

ऐसी दशामें स्त्रीको उस अपने पतिको छोड़ देना पड़ेगा।

पतिको छोड़ देनेपर उसकी सन्तान पतिको पालनी पड़ेगी वा पत्नीको? योग्य-अवस्था हो जानेपर वह सन्तान किसकी होगी? पतिकी वा पत्नी की? वा सर्कार की? यदि पत्नी उस सन्तानको पाले; तो उस बालकके खान-पानका प्रबन्ध कौन करेगा? यदि वह सन्तान पतिको दी जावेगी, तब अब उस पत्नीको सन्तान पैदा करनी आवश्यक है वा नहीं? यदि आवश्यक है; तब सन्तान नियोगसे की जावेगी, या पुनर्विवाहके द्वारा? स्वा.द.जीके अनुसार तो उसका विवाह ही असम्भव है; क्योंकि—उनने सधवाविवाहकी आज्ञा कहीं नहीं दी। ऐसी दशामें केवल नियोग सम्भव है। नियोग भी किसी ऐसे ब्राह्मणके साथ होगा, जिसकी स्त्री शूद्र वा वैश्य होगई। यदि नियोगके बाद भी उसकी कामपिपासा शान्त न हो; तब ऐसी दशामें उसकेलिए अन्य पति विहित होगा या नहीं।

यदि पुनर्विवाहके बाद भी दैवयोगसे उसके उस पतिका वर्ण भी गुण-कर्मोंके परिवर्तनसे बदल जावे; तब ऐसी दशाकी उपस्थितिमें उसे अन्य पतिके विधानकी आज्ञा होगी या नहीं? इस प्रकार पति तथा पत्नियोंका परिवर्तन होता रहेगा। ऐसी दशामें सतीधर्ममें जो आघात लगेगा, उसके स्मरणसे ही हृदय व्याकुल हो जाता है। जिस पतिव्रत-धर्मके गौरवसे भारतवर्षका गौरव हुआ और जहाँकी पवित्र हिन्दुजाति इस हीन-दीन दशामें भी समस्त संसारमें ज्ञानकी गुरु होकर घोर-विप्लवोंको

सहती हुई अपनी सत्ताको प्रतिष्ठापित करनेमें समर्थ हुई; हिन्दुगौरवका सूर्य अस्त हो जानेसे पवित्र-भारतको अज्ञानान्धकाररूप नरकमें परिणत कर देगा, जिसमें दारिद्र्य, तथा अविद्या आदि पिशाच-पिशाचियाँ नाचा करें

सती-धर्मपर प्रहार करनेसे जैसे अन्य जातियाँ वि… कालके गालमें समा गईं; वैसे पवित्र हिन्दु-जातिकी भी … धर्मके प्रहारस्वरूप वैसी दशा उपस्थित होगी। गृहस्था… श्मशान हो जायगा; घरकी लक्ष्मी अपने स्वरूपको छोड़ पिशाची बनकर उस श्मशानमें नाचेगी। शुद्ध-प्रेमकी मन्दा… सूख जावेगी। मदन-दावानल भीषणरूपसे जलेगा; … पतिके देहका हवन होगा।

यदि दैवयोगसे नियुक्त पतिका वर्ण भी बदल जावे; … स्त्रीका गर्भपात हो जावे; तब फिर कैसे किया जावेगा? … पुनर्नियोग कर सकेगी; वा नहीं? यदि नहीं तो क्यों? … प्रकार एक ही स्त्री बहुत पुरुषोंके आरोहणकी शकटी … जावेगी। यदि आर्यसमाजी ऐसी दशामें उत्तर दें कि— … अवस्थामें न तो नियोग हो सकता है, न पुनर्विवाह; इस अव… पर ब्रह्मचर्य ही उचित है' इसपर प्रतिवक्तव्य यह है कि—… आर्यसमाजियोंके कथनानुसार विधवाका पुनर्विवाह इ… उचित है कि—उसकेलिए ब्रह्मचर्यपालन कठिन है, और व्यभि… की सम्भावना भी होती है; तब उक्त-सधवाके विषयमें भी … सम्भावना क्यों नहीं होगी? तब इस मतके अनुयायि…

चाहिये कि-पहले इस विषयपर पूर्ण विचार-विमर्श करलें; फिर गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्थाके प्रचारका शोर करें।

(४) चौथी आपत्ति यह है कि-गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था माननेपर स्त्रियोंकी भांति पुरुषोंको भी अपनी स्त्रियाँ बदलनी पड़ेंगी। जैसेकि-यदि किसी ब्राह्मणकी स्त्री गुणकर्मानुसार शूद्रा हो जाए; तब ब्राह्मणको वह स्त्री छोड़नी पड़ेगी। ऐसा न करने पर मनु (३।१४-१५-१७-१८-१९) के अनुसार ब्राह्मणकी अधोगति होगी, और वर्णसङ्कर-सन्तान उत्पन्न होगी; जिसके विषयमें 'गीता' में कहा गया है-'सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च। पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः' (१।४२)। इसके अतिरिक्त प्रायः देखा भी जाता है कि-वर्णसङ्कर जाति कालान्तरमें नष्ट हो जाती है। तभी मनुजीने कहा है—'यत्र त्वेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः। राष्ट्रिकैः सह तद् राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति' (१०।६१)। स्त्री-त्याग करनेपर आर्यसमाजियोंको व्यवस्था देनी चाहिये कि-उस पुरुषको अब अन्य विवाह वा नियोग करना चाहिये वा नहीं ? ऐसी दशामें वही प्रश्न पुरुषोंकेलिए भी होंगे; जो पहले स्त्रीके विषयमें कहे गये हैं। उनका उत्तर इन मतवालोंको देना चाहिये।

(५) गुणकर्मणा वर्ण-व्यवस्थामें पाँचवीं आपत्ति यह है कि-इस सिद्धान्तके अनुसार कोई पुरुष वर्णसङ्कर नहीं हो सकता; क्योंकि-मनुके सिद्धान्तसे जो वर्णसङ्कर कहलाने योग्य है, वह आर्यसमाजानुसार गुरुकुलमें प्रविष्ट होकर गुणकर्मानुसार यदि

उत्तम वर्णवाला होगया; तो वर्णसङ्कर कौन रहेगा ? यदि कहा जाय कि-वर्णसङ्कर सन्तान उत्तम-वर्ण प्राप्त करनेकी अधिकारिणी नहीं; तब आर्यसमाजका गुणकर्मणा वर्ण-व्यवस्थाका सिद्धान्त स्वतः खण्डित होगा। तब 'जन्मना वर्ण-व्यवस्था' यह सनातन-धर्मका सिद्धान्त स्वतः सिद्ध हो जायगा। तब आर्यसमाजी विद्वान्को प्रत्युत्तर देना पड़ेगा कि-उनके सिद्धान्तके अनुसार वर्णसङ्करका क्या लक्षण है ? उनके मतमें उसकी उत्पत्ति कैसी है ? उनके मतमें उसके गुणकर्म क्या हैं ? इसका वर्ण परिवर्तित हो सकता है वा नहीं ? नहीं तो क्यों नहीं ?

(६) छठी आपत्ति यह है कि-गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था माननेपर पुरुषोंके वर्णका निश्चय नहीं हो सकेगा। जैसेकि-आर्यसमाजमें जो वकील हैं, बाबू हैं, स्कूल-मास्टर हैं, जिन्होंने वेद न पढ़कर अन्यत्र श्रम किया है, अथवा जो उपदेशक हैं, केवल दलीलबाजी कर सकते हैं, संस्कृत-भाषाको नहीं जानते; उनका क्या वर्ण होगा ? जन्मना वर्ण-व्यवस्था माननेवालोंके सिद्धान्तानुसार तो वे जिस-जिस वर्णमें उत्पन्न हुए; वही उनका वर्ण है; पर आर्यसमाजके अनुसार जब तक उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिके गुण-कर्म नहीं हैं; तबतक उनकी गणना उस-उस वर्णमें नहीं हो सकती। वकील ब्राह्मण नहीं हो सकते; क्योंकि-उन्होंने ब्राह्मणोंका वेद पढ़ना-पढ़ानारूप मुख्य-कर्मका पालन नहीं किया; ब्राह्मणसे विरुद्ध सदा असत्यका ही व्यवहार करते हैं। क्षत्रिय होनेकेलिए युद्ध आदि क्रियाओंकी आवश्यकता हुआ

करती है, वह उनसे तो दूर होते हैं। वैश्य होनेकेलिए भी वाणिज्य आदि कर्मोंकी आवश्यकता होती है। शूद्र होनेकेलिए भी द्विजोंकी सेवा तथा शिल्प आदिकी अपेक्षा हुआ करती है, परन्तु वकील आदियोंमें इन कर्मोंके न होनेसे वे आर्यसमाजमें किसी भी वर्णमें नहीं गिने जा सकेंगे; इसलिए वे अवर्ण वा वर्णसङ्कर होंगे। इस प्रकार उनकी पत्नियाँ भी अवर्ण होंगी।

(७) सातवीं आपत्ति यह है कि-गुणकर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था माननेपर आर्यसमाज-सिद्धान्तके अनुसार नियोगसे उत्पन्न सन्तान नियुक्त-पुरुष वा नियुक्त-स्त्रीकी कैसे हो सकती है? यदि नियोगसे उत्पन्न सन्तानका गुरुकुलसे लौटनेपर वर्ण बदल जाए; तब वह सन्तान अपने नियुक्त पिता वा नियुक्त माताके पास तो स्वा.द.के सिद्धान्तके अनुसार रह नहीं सकती। तब वंशोच्छेदन हो जायगा। जिस उद्देश्यसे नियोग हुआ; वह अभिप्राय भी सिद्ध न हुआ। 'भक्षितेपि लशुने न शान्तो व्याधिः' (शास्त्रनिषिद्ध लहसन, व्याधिको दूर करनेकेलिए खाया, फिर भी व्याधि न गई)।

यदि कहा जावे कि-परिवर्तनमें अन्य सन्तान मिलेगी; तब फिर नियोगसे क्या लाभ हुआ? ऐसे भी तो जिसे सन्तानकी आवश्यकता हो; वह दत्तकपुत्र भी ले सकता है; (यद्यपि वेदकी उसमें भी सम्मति नहीं) उस दशामें स्वा.द.-कल्पित नियोगकी आवश्यकता नहीं रहती। हाँ, वहाँ कामास्वाद न मिलेगा-यह त्रुटि रहती है। एक यह प्रश्न भी होगा कि-कोई पुरुष अपनी

सन्तानके बदलेमें नियोगसे उत्पन्न दूसरेकी सन्तान ले ले; तो इस दशामें विवाहोत्पन्न सन्तान और नियोगोत्पन्न सन्तान क्या समान हो सकती है?

(८) आठवीं आपत्ति गुण-कर्मसे वर्ण-व्यवस्थामें यह है कि-उस दशामें मनुष्योंको किसी प्रकारका भी भय न रहेगा। जैसे कि-यदि ब्राह्मण या क्षत्रिय-कुमार किसी नीच वेश्यामें आसक्त होकर गिर गया; अथवा यदि कोई पुरुष विलायत गया; वहाँ किसी मेमसे उसका सम्बन्ध होगया; और वह उस मेमको लेकर भारतमें लौटा; कुछ दिनोंके बाद वह समाजमें सम्मिलित होगया। उसका विवाह भी अब आर्यसमाजी वैदिक-विवाह कहते हैं। गुण-कर्मानुसार आर्यसमाजने उसे ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्ण बना दिया; अब आर्यसमाज उत्तर दे कि-यदि कोई आर्यसमाजी, बिना वैदिक-विवाह किये, किसी स्त्रीसे सम्बन्ध कर ले; तब वह पतित होता है, वा नहीं? यदि नहीं; तब विना विवाह किये समागम पाप है-यह नियम कहां गया?। यदि कहा जावे कि-ऐसा करना पाप है; तब आर्य-समाजी जो इस प्रकार की शुद्धि करते हैं; उसमें ध्यान क्यों नहीं देते? यदि शुद्धिके समय उसके गुण-कर्म ब्राह्मणके समान हैं; तब वे ब्राह्मण क्यों नहीं कहे जाते?

इस प्रकार गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था करने पर अन्य भी आपत्तियाँ उठ सकती हैं। उन्नतिकी सीमाकी व्यवस्था जन्मानुसार न रखनेसे हिन्दुसमाजमें घोर अशान्ति, पारस्परिक

ईर्ष्या-द्वेष आदि सभी दुर्गुण फैलेंगे; वर्णसङ्कर-प्रजाकी उत्पत्तिसे श्राद्ध-तर्पण आदिके बन्द हो जानेसे देशमें स्वास्थ्यनाश, दुर्भिक्ष आदिके कारण अधःपतनको प्राप्त हुई हिन्दुजाति दिनोदिन अधोगतिको प्राप्त हो जावेगी। गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था इस देशमें न पहले कभी रही, न ही भविष्यमें कभी चल सकती है, न ही वर्तमानकालमें चालू है। तब आर्यसमाजियोंको उचित है कि-वे अपने कपोल-कल्पित इस सिद्धान्तको वापिस लें; क्योंकि-उनकी तथाकथित वर्ण-व्यवस्था कभी चल ही नहीं सकती। प्रत्युत यह वर्ण-व्यवस्था उन्हींको लज्जित करनेवाली, तथा उनके पक्षका विघात करनेवाली होगी। अतः उन्हें भी सनातनधर्मकी भांति 'जन्मसे वर्ण-व्यवस्था तथा गुण-कर्मसे प्रतिष्ठाका तारतम्य' यह अपना सिद्धान्त बना लेना चाहिये। इससे हिन्दुजातिकी दृढता तथा सम्मानकी सम्भावना है, इससे कोई अव्यवस्था भी नहीं होगी। (स्वा. दयाल. ब्रा. स.)

गुणकर्मद्वारा वर्ण-व्यवस्था माननेपर पिता-पुत्रके वर्णभेद हो जानेसे, पिताके पुत्रोंके परिवर्तन-विषयपर हमने जो दोष बताये हैं, इसपर आर्यसमाजके लीडर श्रीरामचन्द्रजी देहलवी अपना मत बताते हैं कि-लड़का गुरुकुलमें २५ वर्ष रहेगा; उसके स्नातक बनकर आने तक पिता वानप्रस्थाश्रममें चला जायगा; तब उसके पिताका घर उस स्नातकका हो जावेगा; उससे कोई गड़बड़ी नहीं होगी, और लड़कियोंका अदल-बदल नहीं होगा।' परन्तु देहलवीजीकी यह बात ठीक नहीं, और अपने स्वामीसे

भी विरुद्ध है। विद्याका पढ़ना २५ वर्ष तक ही हो, यह भी आवश्यक नहीं। एक वेद पढ़कर भी विद्या समाप्त कर देना, वा जब अपनी विद्या समाप्त करदे; तब भी ब्रह्मचर्य-व्रत समाप्त कर दे-यह पक्ष भी शास्त्रोंमें आया है। देखिये मनुस्मृतिमें लिखा है—'तदर्धिकं पादिकं वा, ग्रहणान्तिकमेव वा' (३।१) इसपर श्रीकुल्लूकभट्टने कहा है-'यावता कालेन उक्तावधेरूर्ध्वम् अधो वा वेदान् गृह्णाति; तावत्काले व्रताचरणम्' अर्थात् यदि पहले भी विद्या समाप्त कर लेता है; तब तक ब्रह्मचर्य-व्रत रखे, फिर समावर्तन कर ले।

पारस्करगृ. में भी यही कहा है-'यावद्ग्रहणं वा' (२।५।१५)। वाराहगृह्यसूत्रके छठे खण्डमें भी कहा है-'यावद्ग्रहणं वा'। बोधायनधर्मसूत्रमें भी कहा है-'ग्रहणान्तं वा, जीवितस्याऽस्थिरत्वात्' (१।२।४) इत्यादि। तब उक्त-नियम न होनेसे लड़का पिताके पास आ सकता है। वेदादिशास्त्रोंकी भी इसमें साक्षी है-यह आगे देखिये।

यदि प्रतिपक्षीके अनुसार पिता गृहस्थाश्रममें नहीं होगा; तब यदि कोई स्नातक आया भी सही; तब पिता वहाँ न होनेसे उस लड़केको ले ही न सकेगा; तो पुत्र-परिवर्तन भी क्या होगा? और स्वा.द. के अनुसार लड़का गुरुकुलमें होनेसे पिताकी सेवा भी न कर सकेगा; परन्तु सेवा करना स्वामीने भी माना है; तब उनके अनुसार लड़केका घरमें होना मानना पड़ेगा। यदि उस पिताके लड़केका वर्ण बदल गया; तो वह भिन्न-वर्ण वाला

हो जानेसे अपनेसे भिन्न-वर्ण वाले पिताके घरका अधिपति भी नहीं हो सकेगा। और भिन्न स्नातक यदि उस घरके मालिक पिताके समान वर्णवाला हो भी सही; पर देहलवीजीके अनुसार उस पिताके घरमें न होनेसे और दूसरे लड़केको स्वीकृत न कर सकनेसे वह भिन्न भी उस घरका स्वामी न बन सकेगा।

यदि प्रतिपक्षीके कथनानुसार वह घर पितासे तथा पुत्रसे हीन रहेगा; तो 'गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्' (६।२) यह मनुका पद्य कब चरितार्थ होगा? वह पिता जब स्नातक-पुत्रको ही नहीं देख सकेगा; तब उस पुत्रके पुत्रको ही स्मृति एवं वेदानुसार घरमें कैसे देख सकेगा?। स्मृतिने तो अपने पौत्रका घरमें होना दिखला ही दिया; वेद भी यही दिखलाता है। देखिये—'इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिः (पौत्रैः) मोदमानौ स्वे गृहे' (ऋ. १०।८५।४२) इस वेदमन्त्रके अनुसार जब माता-पिताका अपने घरमें पुत्र-पौत्रोंसे खेलना कहा है; वह प्रतिपक्षीके अनुसार कैसे संगत हो सकेगा?' तब तो स्वा.द.जीसे प्रोक्त अन्य पुत्र-ग्रहण भी प्रतिपक्षीके अनुसार निर्विषय हो जायगा। 'पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य' (६।३) यह मनुवचन भी प्रतिपक्षीके अनुसार निर्विषय हो जायगा कि (पुरुष अपनी स्त्रीको अपने पुत्रोंके जिम्मे करके चला जावे)। यह कब चरितार्थ होगा? जो उस पिताके अन्य लड़के होंगे; वे भी तो प्रतिपक्षीके अनुसार

गुरुकुलमें चले जाएँगे—यदि वे भी भिन्न-भिन्न वर्णोंके होगये; तो उस पिताके घरकी बाँट कैसे होगी? वस्तुतः यह स्वा.द.जीका लटका तथा प्रतिपक्षीकी दलीलबाजी निर्मूल एवं शास्त्रविरुद्ध है। आश्रम-विभाग भी २५-२५ वर्ष का पूरा हो, यह भी आवश्यक नहीं है, इसपर श्रीकुल्लूकभट्टने मनुस्मृतिमें प्रकाश डाला है। देखिये—

४।१ मनुपद्यकी टीकामें वे लिखते हैं—'चतुर्थमायुषो भागमाद्यम्' इत्युक्तं ब्रह्मचर्य-कालोपलक्षणार्थम्; अनियत-परिमाणत्वाद्-(आयुका चौथा भाग २५ वर्ष ब्रह्मचर्य हो—यह केवल कालका उपलक्षणमात्र इष्ट है, निश्चित २५ वर्ष नहीं; क्योंकि परिमाण निश्चित हो ही नहीं सकता) आयुषश्चतुर्थभागस्य दुर्ज्ञानत्वात् (कितनी आयु है—जब यह पता नहीं; तो उसका चतुर्थभाग भी तो निश्चित नहीं हो सकता) 'न च शतायुर्वै पुरुषः' इति श्रुतेः पञ्चविंशति-वर्षपरत्वम्, षट्त्रिंशदाब्दिकं ब्रह्मचर्यमित्यादिविरोधात् (यह भी नहीं कहा जा सकता कि—आयु १०० वर्ष बताई गई है, उसका चौथाई २५ वर्ष हो; क्योंकि—फिर ३६ वर्ष तक भी मनुजीने वेद पढ़ना कहा है—उसमें वे २५ वर्ष वा वह चौथाई कैसे घटेगी? यदि कहो कि—आयु बढ़ जावेगी—पर आजतक किसी भी आर्यसमाजी-ब्रह्मचारीकी १०० वर्षसे बल्कि ८० वर्षसे भी आयु बढ़ती नहीं देखी गई; तब वहाँ चौथाईकी व्यवस्था कैसे हो सकेगी?) तस्माद् आश्रम-समुच्चयपक्षमाश्रितो ब्राह्मण उक्त ब्रह्मचर्यकाले जन्मापेक्षाद्यं यथाशक्ति गुरुकुले स्थित्वा

द्वितीयमायुषश्चतुर्थभागं गृहस्थाश्रममनुतिष्ठेत्' (सो ब्रह्मचारी जितने तक सम्भव हो गुरुकुलमें पढ़कर फिर गृहस्थाश्रममें आ जावे।) 'गृहस्थस्तु यदा पश्येत्' (६।२) इस मनुके पद्यकी टीकामें भी श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—इत्यनियतत्वाद् द्वितीयमायुषो भागमित्यपि गार्हस्थ्यकालपरमेव' (अर्थात्–वह बात भी निश्चित नहीं है कि–वह पौत्रको कब देखेगा; सो यहाँ 'द्वितीयमायुषो भागं' का भाव यह है कि–जितना समय वह गृहस्थाश्रममें रहे; पौत्र देखकर फिर वानप्रस्थकी तैयारी करे)।

इसी प्रकार 'तृतीयं भागमायुषः' (६।३२) इस मनुपद्यकी टीकामें भी कु.भ. ने स्पष्टता की है—'अनियतपरिमाणत्वाद् आयुषस्तृतीयभागस्य दुर्विज्ञानात् तृतीयमायुषो भागमिति रागक्षयावधि वानप्रस्थकालोपलक्षणार्थम्। ...एवं वानप्रस्थाश्रमं विषयरागोपशमनाय कञ्चित् कालमनुष्ठाय 'चतुर्थमायुषो भागम्' (४।१) इति शेषायुः-काले विषयसङ्गान् त्यक्त्वा परिव्राजकाश्रममनुतिष्ठेत्'। इसमें भी वही भाव है कि–आयुके निश्चय न होनेसे चतुर्थभाग पूरा २५ वर्ष का नहीं हो सकता।

जब मनु पादिक-ब्रह्मचर्य भी तथा ग्रहणान्तिक-ब्रह्मचर्य भी कहते हैं, यह हम पूर्व लिख चुके हैं; उस समय स. प्र. के अनुसार वह ब्रह्मचारी १७ वर्ष का होगा; क्योंकि–स्वा. द. जी ने स.प्र. में पादिक-ब्रह्मचर्य नौ वर्षका माना है (३ समु.) यह प्रतिपक्षीको भी स्वीकृत करना पड़ेगा; और उक्त-समय विवाह भी। क्या एकवेदके ग्रहीताको भी प्रतिपक्षी ब्राह्मण मान लेगा वा नहीं ?

स्वामीने चतुर्वेद-ज्ञाता एवं पूर्ण-विद्वान्‌को ब्राह्मण माना है। तब वह पादिक-ब्रह्मचारी वैसा न होनेसे ब्राह्मण कैसे होगा ? अथवा उसे ब्राह्मण मानने पर भी क्या क्षत्रियके उस लड़केको कोई ब्राह्मण स्वीकार कर लेगा ? तब ऐसा होनेपर घरमें पिताके विद्यमान होनेसे हमसे पहलेकी कही हुई दुर्दशाएं स्वतः उपस्थित होंगी; और उन दुर्देशाओंका हल प्रतिपक्षी खोज भी नहीं सकेगा। स्ववीर्योत्पन्न न होनेसे वह पिताका कृत्रिम-पुत्र अपने कृत्रिम-पिताकी लड़की पर ही जिसका परिवर्तन प्रतिपक्षीके अनुसार न भी माना जावे; प्रतिपक्षीकी ही इष्ट दुस्सम्भावना-वश आसक्त हो जावे; तब क्या वह उस कृत्रिम-बहिनसे विवाह कर सकेगा, वा नहीं ? और वह अपने पूर्व-पिताके कुलवाली भी नहीं होगी; और उस लड़केने गुरुकुलमें होनेसे उस लड़कीको पहले देखा हुआ भी नहीं होगा; फिर वह स्वामीके इस कथनसे कि—(प्रश्न) अपने गोत्र वा भाई-बहनोंका परस्पर विवाह क्यों नहीं होता ? (उत्तर) एक दोष यह है कि-इनके विवाह होनेमें प्रीति कभी नहीं होती; क्योंकि—जितनी प्रीति परोक्ष पदार्थमें होती है, उतनी प्रत्यक्षमें नहीं, और बाल्यावस्थाके गुणदोष भी विदित रहते हैं, तथा भयादि भी अधिक नहीं रहते। दूसरा जब तक दूरस्थ एक दूसरे कुलके साथ सम्बन्ध नहीं होता,–तब तक शरीरआदिकी पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। तीसरा दूर-सम्बन्ध होनेसे परस्पर-प्रीति, उन्नति, ऐश्वर्य, बढ़ता है, निकट से नहीं' (संस्कारविधि पृ. १२८) इस प्रतिपक्षीके स्वामीके वचनसे परोक्ष उस

लड़कीसे प्रीति-जनक होनेके कारण विवाह हो सकेगा, वा नहीं ? क्या यह भाई-बहनका वा एक गोत्रका विवाह माना जायेगा, वा नहीं ? यदि वह उसकी बहिन नहीं मानी जावेगी; इस लिए विवाह हो सकेगा—यह कहा जावे; तो उसका स्वीकार-कर्ता पिता भी उसका पिता न माना जा सकेगा; और वह भी उसका पुत्र न बन सकेगा। तब स्पष्ट है कि-यह पुत्र-परिवर्तन बड़ी अव्यवस्था पैदा करनेवाला होनेसे जहां शास्त्रीय नहीं, वहां व्यावहारिक भी नहीं।

फलतः अन्य कुलसे पैदा हुए और अब स्नातक बनकर आये हुए युवक-पुत्रको गोत्रकी भिन्नतावश वा वैसे भी कोई लेगा ही नहीं; किन्तु उस पुत्रको ही बलात् किसीके गले मढ़ना पड़ेगा, अथवा उस युवकको ही अपना पिता ढूँढना पड़ेगा, अथवा वही भिन्न-वर्ण वाला अपने पिताका घर ले लेगा—यह भी ठीक नहीं। दूसरे वर्ण वाले पिताके घरमें भिन्न-वर्ण वाले पुत्रका भला गुणकर्मवादियोंके मतमें क्या अधिकार हो सकता है ? फलतः गुणकर्मीया वर्ण-व्यवस्थामें इस प्रकारकी अन्य भी बहुत सी अव्यवस्थाएँ आ सकती हैं; और आ पड़ेंगी, जिनका समीकरण असम्भव होगा। तभी तो आर्यसमाजमें भी—स्वा. द. जी द्वारा कहे हुए पुत्रपरिवर्तनको उन्मत्तवाक्य—जैसा समझकर उनके अनुयायी भी उसकी उपेक्षा करते हैं। कहीं भी गुण-कर्मानुसार पुत्र-परिवर्तन नहीं किया जाता। इसी कारण बहुत प्रयत्न करनेपर भी आर्यसमाजमें भी गुणकर्म-कृत वर्णव्यवस्था

चालू नहीं हुई; अतः आप लोग वर्णव्यवस्था तो दूर रही-अ-वर्णताको प्रोत्साहन दे रहे हैं। उसमें यही कारण है कि उसमें कोई लक्ष्य न होनेसे यह अन्धेरेमें डण्डा फैंकनेके समान हो रहा है, हानिके अतिरिक्त कुछ भी लाभ नहीं हो रहा। यह परिवर्तन स्वेच्छामूलक हैं, इसमें शास्त्रमूलकता नहीं है। दत्तक-पुत्रके कादाचित्क वा क्वाचित्क होनेसे और फिर छोटी आयुमें उसके लेनेसे तथा समानगोत्री होनेसे समाजमें उतनी अव्यवस्था सम्भव नहीं; आपकी इस व्यवस्थाके तो सार्वदिकता, सार्वकालिकता तथा सार्वत्रिकतावश बड़ी अव्य-वस्थाओंका साम्राज्य रहेगा। अनेक-कलह जारी होंगे। आपकी दुःसम्भावनाएँ (पृ. ३७२-३७३) पुष्ट होंगी, बहुत कुल उच्छिन्न हो जाएंगे।

यदि लड़कियोंका गुणकर्मानुसार वर्ण पुत्रकी भान्ति न बदला जाएगा; तब इस प्रतिपक्ष-सिद्धान्तकी स्वेच्छामूलकता तथा अव्यवस्थापादकता स्पष्ट सिद्ध हो गई। लड़की न भी बदले; पर वह गैर-घरका २५ वर्षका परिवर्तित-वर्णवाला युवा लड़का घर आ जाएगा; तब क्या वह उसको औरस-भगिनी समझ सकेगा ? क्या उसकी उस पर वाद्यभिमत दुःसम्भावना न होगी! उन लड़कियोंका गुणकर्म बदलनेपर भी उनका वर्ण क्यों नहीं बदला गया ? यदि नहीं बदला गया; तो प्रतिपक्षीके पक्षका खण्डन हो गया। यदि बदला जाता है, तो भिन्न-वर्णवाले उसमें भिन्न-वर्ण वाले अपने पिताका अधिकार ही क्या रहेगा!

वह पिता तथा उसका भ्राता भी यदि भिन्न-वर्णके हो गये, तब उनका उस लड़कीमें अधिकार न रहनेसे शास्त्रमें प्रोक्त पिताके द्वारा पुत्रीका दान भी निर्विषय बन जाएगा। यह ऐसी अव्यवस्थाकी गांठें हैं, जिनको कोई खोल नहीं सकेगा। आशा है 'आलोक'-पाठकोंने यह विषय भली-भान्ति समझ लिया होगा।

प्रकरणवश यह भी विचारना चाहिये कि—अन्य वर्णोंमें कहीं उच्च वर्णोंके गुणकर्म दीखते हैं; और कहीं ब्राह्मणादि उच्च-वर्ण भी अपने आचरणोंसे गिरे हुए दीखते हैं, उसमें कारण क्या है, और कैसी व्यवस्था होनी चाहिये? इसमें विचार करनेपर प्रतीत होता है कि—इसमें तीन कारण सम्भव हैं, १ वर्णसङ्करता २ आरूढ-पतन और ३ मिश्र-संस्कार। कलियुग है तमोगुणप्रधान। इसमें पापका स्रोत प्रबल वेगसे बह रहा है। इसमें नियोग एवं विधवाविवाहादि वैषयिक-सिद्धान्तोंके प्रबल प्रचार किये जानेसे स्त्रियोंमें सदाचारविषयक दृढ-शिक्षाके न रह जानेसे, या कुसंगतिवश, अथवा आजकलके नये सम्प्रदायोंके विषमय उद्गारोंके प्रभाववश पातिव्रतधर्मका ह्रास होगया है। पुरुषोंमें भी विषयविलासकी कामना बढ़ जानेसे परस्त्रीगमनकी प्रवृत्ति भी बहुधा होगई है। आजकल परस्पर गहरे-मित्र अपनी स्त्रियाँ एक-दूसरेसे सम्भुक्त कराते हैं—ऐसा सुना जाता है। इन कारणोंसे वर्णसङ्कर प्रजाएँ भी बहुधा पैदा हो जाती हैं; तभी कर्मसङ्करता भी बढ़ गई है।

उदाहरणरूपसे यह जानना चाहिये कि—कोई कुलीन ब्राह्मणी गुप्तरूपसे किसी शूद्रादि उपपतिसे सम्बन्ध करके पुत्र पैदा करे; तब वह पुत्र पूर्ण-ब्राह्मणके गुणकर्मोंको कैसे प्राप्त कर सकता है? विषयके गुप्त होनेसे किसीको पता नहीं लगा, और वह सन्तान ब्राह्मण कही जाती है। तब उसके कुछ कर्म ब्राह्मणकी भांति होंगे, और बहुतसे शूद्रकी भांति होंगे। इस प्रकार शूद्रामें भी ब्राह्मणके व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न सन्तान साधारण-शूद्रसे विलक्षण कर्म करेगी। उसमें ब्राह्मणके कर्म भी दीख सकते हैं। कलियुगके प्रभावसे आजकल ऐसा बहुधा देखा जाया करता है, जिससे नीच-कुलोत्पन्न भी ब्राह्मण जैसे दीखते हैं; और उत्तम-कुलोत्पन्न भी शूद्र-जैसे दीखते हैं।

दूसरा कारण है—आरूढपतन। कर्मोंका भोग संस्कारोंकी प्रबलतानुसार होता है। मनुष्य अपने जीवनमें विविध-कर्मोंको करता है, त्रिगुणात्मक प्रकृतिके राज्यमें सात्त्विक, राजसिक, तामसिक विविध कर्म हुआ करते हैं। उनमें जो कर्म बहुत प्रबल होता है; वही प्रारब्ध बनकर पहले फल देने लगता है। भगवानने गीतामें कहा है—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः' (१४।१८) इस सिद्धान्तके अनुसार यदि कोई मनुष्य ऐसे कर्म करे, जिनसे उसने स्वर्ग पाना है, या ऐसे कर्म करे जिनसे उसने पृथिवीमें मनुष्य-जन्म प्राप्त करना है, अथवा ऐसे अनेक कर्मों-को करे, जिनसे उसने पशुयोनि प्राप्त करनी है, इन तीनों प्रकारके

कर्मोंमें जो कर्म बलवान् होंगे, वे ही उसकी मृत्युके समय प्रारब्धकर्म बनकर उसके चित्तरूप आकाशका आश्रय करेंगे। उन्हींके अनुसार उनका जन्म होता है। इसी कारण भगवद्-गीतामें कहा गया है—'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः' (८।६) इसलिए कहा जाता है—'अन्ते या मतिः या गतिः'।

मृत्युके समय साधारणतया सूक्ष्म-शरीर दुर्बल होता है; तब उस दुर्बल सूक्ष्म-शरीरमें वे ही कर्म आश्रित होते हैं, जो प्रबल होते हैं। जीव उनसे भावित होकर वैसी योनिको प्राप्त होता है। इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि–कोई पुरुष अन्य कर्म श्रेष्ठ करे, और कई निकृष्ट कर्म करे, और वे (निकृष्ट) कर्म प्रबल हों, तब उन निकृष्ट-कर्मोंका भोग पहले होगा। जैसे कि–किसी ब्राह्मणने ब्राह्मणयोग्य अनेक सुकर्म किये; किन्तु प्रारब्धमूलक मोहवश कुछ कर्म शूद्रसदृश भी यदि किये; वे यदि बहुत प्रबल हैं; तो मृत्यु-समयमें वे शूद्रयोग्य कर्म उसके प्रारब्ध होकर उसे शूद्रशरीरमें पैदा करेंगे। इन शूद्रकर्मोंके भोगके बाद यदि पूर्व जन्ममें किये हुए हुए ब्राह्मणयोग्य कर्म प्रबलतम हो जावें; तब उसका पुनर्जन्म ब्राह्मणके घरमें होगा; परन्तु शूद्र माता-पिता द्वारा शूद्रशरीर प्राप्त होने पर भी पूर्वजन्ममें अनेक कर्म ब्राह्मण-जैसे करनेसे उनका संस्कार भी उसके कर्माशयमें बना रहेगा। इस प्रकार वह साधारण-शूद्रसे अनेक-प्रकारसे उन्नत रहेगा, क्योंकि–उसके कर्माशयमें स्थित ब्राह्मणयोग्य कर्मोंका प्रभाव भी

उसके चित्तमें अवश्य ही संक्रान्त रहेगा। वह शरीरसे अवश्य शूद्र है, परन्तु भाव वा आचारमें ब्राह्मणसदृश होगा।

श्रीमद्भागवतमें जडभरतका जो पूर्वजन्मका वृत्तान्त लिखा है, वह जन्म इस प्रकारके आरूढ-पतनके कारण हुआ था। महाराज भरत बहुत तपस्या करनेपर भी मरनेसे पूर्व एक मृगमें इतने आसक्त हो गये कि–वे उसीको स्मरण करते हुए मर गये; इस कारण दूसरे जन्ममें मृग बने, परन्तु वे सर्वसाधारण-मृगोंसे उच्चतम थे, क्योंकि–तपस्याका संस्कार उनके चित्तमें था। इस प्रकार अन्यान्य-जीवोंमें समय-समय पर असाधारण जो घटना दीखती है, मनुष्योंमें भी जोकि दूसरे वर्णोंमें कभी उच्च-वर्णोंकी भांति गुणकर्मस्वभाव दीखते हैं; उसमें आरूढपतनका भी कारण जाना जा सकता है। वे कर्म पूर्वजन्ममें उच्च-वर्णोंके थे, परन्तु कई प्रबल-कर्म उन्होंने नीच वर्णकी भांति किये, जिनका प्रभाव स्थूल-शरीरमें पड़नेसे स्थूल-शरीर तो निम्न-वर्णमें प्राप्त हुआ, परन्तु चित्तमें उच्च-संस्कारके प्रसारवश आचार वा कर्म उच्च-वर्णकी भांति दीखते हैं। जैसे भरतराजा मृगयोनिके बाद ही फिर पूर्व तपोबलसे भरतमुनि हुए; वैसे ही ऐसे पुरुष भी मन्द-कर्मका भोग नीच-वर्णमें समाप्त कर आगामी जन्ममें अपने कर्माशयके दूसरे उच्च कर्मोंके कारण अच्छे वर्णको प्राप्त करते हैं। कलियुग तमः-प्रधान है, इसमें देश, काल तथा सङ्गविवां विरुद्ध हैं, अतः कलियुगमें अच्छे पुरुषोंसे भी पापकर्म हो जाते हैं, अतः कलियुगमें आरूढपतनकी पर्याप्त सम्भावना बनी रहती

है, यही कर्मसङ्करताका दूसरा कारण है।

कर्मसङ्करताका तीसरा कारण है मिश्र-संस्कार। प्रकृतिके तीन गुणवाली होनेसे मनुष्योंके सब कर्म सात्त्विक, राजसिक, तामसिक इन तीन भागोंमें बँटते हैं। अन्य युगोंमें जब भावकी गम्भीरता थी, तब मनुष्योंमें प्रायः एक गुणके ही कर्म प्रबल होते थे, अन्य गुण दबे हुए रहते थे। इसलिए कर्मोंकी प्राकृतिक गति प्रायः एक तरहकी रहती थी। मनुष्य भी प्रायः मन, वचन, कर्ममें एकतावश एक प्रकारकी प्रकृति वाले होते थे, परन्तु कलियुगमें भावगाम्भीर्यकी न्यूनतावश, देशकालका मनुष्यकी प्रकृति पर प्रभाव होनेसे कलियुगमें कर्मसंस्कार प्रायः तीन गुणोंके मिश्रित होते हैं। सात्त्विक-संस्कारके साथ राजसिक-तामसिक कर्मोंके संस्कार भी रहते हैं। इसी प्रकार तामसिक-मनुष्योंमें भी दूसरे दो गुणोंके कर्म भी दीखते हैं. अर्थात्-इस युगमें प्रायः मिश्र-संस्कारसे युक्त पुरुष पैदा हुआ करते हैं।

मिश्र-संस्कार भी तीन प्रकारके होते हैं। एक स्थूल-शरीरके द्वारा भोगे जाते हुए कर्म-संस्कार होते हैं, दूसरे सूक्ष्म-शरीरमें ही भोगे जाते हुए कर्म-संस्कार होते हैं। शरीर-द्वारा किये कर्मका फल-भोग शरीर-द्वारा ही होता है, और मन-द्वारा किये हुए कर्मका फल मनमें ही होता है। जैसे मानसिक-पाप या कुत्सित-चिन्ताका फल मनमें ही दुःखआदि-रूपमें मिलता है, व्यभिचार तथा हत्या आदि शारीरिक कर्मका फल स्थूल-शरीर द्वारा ही होता है; अतः सात्त्विक, राजसिक, तामसिक

इन तीन प्रकारके कर्मोंके बीचमें जो कर्म स्थूल-शरीर द्वारा भोगनेके योग्य हैं, उन्हीं कर्मोंके बलसे माता-पिता द्वारा स्थूल शरीर मिलता है। जो कर्म सूक्ष्म-शरीर द्वारा भोगनेके योग्य हैं, उनके अनुसार ही चित्तकी वृत्ति होती है। पुरुष इन तीन प्रकारके कर्मोंके अनुसार ही जन्म-जन्मान्तर पाते हैं, उन्हींके अनुसार शरीर और चित्त की वृत्ति बनती है। जैसे कि—यदि किसी पुरुषके मिश्रित-कर्मोंमें स्थूल-शरीरसे भोगनेके लायक कर्म तो सात्त्विक हों; परन्तु सूक्ष्म-शरीरसे भोगने लायक अनेक कर्म तामसिक हों; तो उसका स्थूल-शरीर ब्राह्मण माता-पितासे उत्पन्न होगा, किन्तु उसका बहुत-सा आचरण तामसिक-शूद्रकी भांति होगा। इस प्रकार यदि किसीके स्थूल शरीरसे उपभोक्तव्य कर्म तो तामसिक हों, परन्तु सूक्ष्म-शरीरसे भोक्तव्य अनेक कर्म सात्त्विक हों, तब उस जीवका जन्म शूद्र माता-पिताके यहां होगा, किन्तु उसका बहुत आचरण सात्त्विक-ब्राह्मणकी भांति होगा।

आजकल कलियुगके प्रभावसे मिश्रित-कर्मवाले पुरुष बहुत होते हैं; इसीलिए निम्न-वर्णोंमें भी अच्छे आचार वाले पुरुष मिलते हैं, और उच्च-वर्णोंमें भी कुत्सित आचारवाले पुरुष दीखते हैं। आजकल चारों वर्णोंमें कर्मसङ्करताके यही तीन कारण होते हैं। तब कर्मसंकरमय इस कलियुगमें कैसी व्यवस्था हो—इसपर कहा जाता है।—

आदर्श वर्ण-व्यवस्थाकी बीजरक्षा अवश्य ही करनी पड़ेगी; क्योंकि-बीजरक्षा न करनेपर अनुकूल देश-कालमें फिर वर्ण-

धर्मकी पूर्ण-प्रतिष्ठा न हो सकेगी। तब वर्ण-व्यवस्थाके नष्ट होनेपर तदाश्रित हिन्दुजातिकी सत्ता भी सर्वथा नष्ट हो जावेगी। तब उसमें व्यवहार ऐसा करना चाहिये कि-जिसका स्थूल-शरीर शुद्ध अर्थात् उच्च कर्मका है; उसके द्वारा स्थूल-शरीरसे सम्बद्ध कर्म जो उच्चवर्णसे ग्राह्य हों; ले लेने चाहियें। इस प्रकार जिसका सूक्ष्म शरीर उन्नत है; उसके द्वारा सूक्ष्म-शरीरविषयक उन्नत कर्म कराना चाहिये।

जैसे कि-पूर्वोक्त कारणवश यदि कोई ब्राह्मण स्थूल-शरीरके सम्बन्धसे ब्राह्मण हो; परन्तु उसका मन-बुद्धिरूप सूक्ष्म शरीर निम्न हो; अर्थात् वह ब्राह्मण निर्बुद्धि या विषयासक्त हो; तब उसके साथ बैठकर ब्राह्मण खा सकता है, परन्तु यह अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि-वह गुप्त वर्णसंकर न हो, गुप्त संकर होनेपर तो उसके साथ एक पंक्तिमें भोजन भी नहीं करना चाहिये; परन्तु यदि उस ब्राह्मणका सूक्ष्म-शरीर हीन है अर्थात् यह निर्बुद्धि वा दुश्चरित्र है; तब शास्त्रीय उपासना-ज्ञान आदि सम्बद्ध कर्म उसके द्वारा नहीं कराने चाहियें; क्योंकि यह कर्म सूक्ष्म-शरीरसे सम्बन्ध रखते हैं, उसे श्राद्धमें भी नहीं खिलाना चाहिये, क्योंकि-शास्त्रमें विद्वान्-ब्राह्मणको ही निमन्त्रणयोग्य बताया है, जिससे उससे मृतकके आत्माका कल्याण हो।

यदि कोई शूद्र सूक्ष्म-शरीरमें उच्च है; तब उसके द्वारा वेदसे भिन्न अन्य शास्त्र-सम्बद्ध कार्य लिया जा सकता है; क्योंकि-ऐसा विचार सूक्ष्म-शरीरसे सम्बद्ध हैं; परन्तु आपत्ति

कालमें ऐसा करना चाहिये, जबकि वैसा ब्राह्मण न मिले; यह अवश्य ध्यान देना चाहिये; परन्तु उसके साथ एक पङ्क्तिमें स्थित होकर ब्राह्मण भोजन नहीं कर सकता; क्योंकि-उसका स्थूल-शरीर शूद्रका है; इसलिए वह शरीरके कारण अपूर्ण है। स्थूल-शरीरके स्पर्शमें दोष आदिका सम्बन्ध अवश्य है, इसलिए ब्राह्मण उससे स्थूल-शरीरका कार्य भोजनादिका नहीं ले सकते। यदि वह स्थूल-शरीरसे शूद्र है और सूक्ष्म-शरीरसे ज्ञानी है, और वह यथार्थ-ज्ञानी तथा विदुर आदिकी भान्ति विचारवान् होगा; वह स्वयं भी ऐसा नहीं चाहेगा; क्योंकि-जब कर्मकी विचित्रतासे उसे यह निम्नयोनि मिली है; इससे यह प्रमाणित होता है कि-पूर्व-जन्ममें अन्य कर्मोंकी उन्नतिमें भी उसके स्थूल-शरीरसे सम्बद्ध कई कर्म कुत्सित थे; जिससे उसका स्थूल-शरीर उसे शूद्र माता-पितासे मिला। तब उसका कर्तव्य है कि-पूर्व-कर्मोंके भोगका स्थूल अंशमें उसी मर्यादासे निर्वाह करे, और सूक्ष्म-शरीरसे उन्नत आचरण करे, जिससे अग्रिम-जन्ममें स्थूल-शरीर भी उसे उन्नत वर्णका मिले। इससे वर्ण-व्यवस्थाके प्राकृतिक-सिद्धान्त पर प्रहार नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करना अज्ञानका कार्य है। स्थूल-शरीरके ठीक-ठीक विचारसे जिस शरीरमें जैसी योग्यता है; उस शरीरसे वैसा व्यवहार करना चाहिये।

प्राचीन-ब्राह्मणादियोंने भी ऐसा ही निर्वाह किया था। उपनिषदोंमें कई ब्राह्मणोंका कई क्षत्रियोंसे ब्रह्मविद्याका अध्ययन आता है। शुकादिने जनकादिसे ब्रह्मविद्या सीखी थी; परन्तु

उनके साथ उनका स्थूल-शरीरसे सम्बन्ध कहीं नहीं कहा गया। मनुजीने भी आपत्कालमें अब्राह्मणसे अध्ययन कहा है (२।२४१)। यदि कोई शूद्र-शरीरधारी ज्ञानी और सच्चरित्र है; तब वह नीतिका विषय सिखा सकता है, वेद पढ़ने-पढ़ानेका उसका अधिकार न होगा। इसलिए क्षत्ता-विदुरने विदुरनीति कहकर भी ऐसे प्रसङ्गके उपस्थित होनेपर ब्राह्मणको बुलानेके लिए कहा था। देखिये महाभारत—'शूद्रयोनौ अहं जातो नातोऽन्यद् वक्तुमुत्सहे' (उद्योग. ४१।५) 'ब्राह्मीं हि योनिमापन्नः सुगुह्यमपि यो वदेत्' (४१।६) उसका कारण वैदिक-मन्त्रोंके उच्चारणके साथ स्थूल-शरीरका सम्बन्ध है। उसका स्थूल-शरीर शूद्र होनेसे अपूर्णतावश वेदोच्चारणका अधिकारी नहीं। यदि वह यथार्थ-ज्ञानी होगा; तो मर्यादा-विघात करेगा भी नहीं। इस प्रकारके व्यवहारसे सनातन-धर्मका पालन और उससे भारतकी उन्नति होगी। (भा. ध. स्वा. द.)

फलतः गुण-कर्मसे वर्ण-व्यवस्था आजकल नहीं चल सकती। 'जातिमात्रोपजीविनाम्' (१२।११४) इस मनुवचनसे जातिमात्रतासे भी ब्राह्मणत्वादिकी सिद्धि होनेसे वर्णव्यवस्था जन्मसे सिद्ध होती है, वह परम्परासे भी चालू है, आजकल भी उसीका प्रचालन ही सुविधापूर्ण है। हां, अपने वर्णके गुणकर्म धारण करनेवालेका सम्मान अच्छा होना चाहिये, जिससे जातिमात्रोपजीवियोंका अपने-अपने वर्णके अवलम्बन करनेमें प्रोत्साहन बढ़े।

१३ आर्यसमाजका श्राद्ध तथा यमराज।

सनातन-हिन्दु-धर्मके 'जन्मसे वर्णव्यवस्था' तथा 'मृतकश्राद्ध' यह दो मुख्य विषय हैं। इसमें वर्णव्यवस्था-विषयपर तो पहले प्रकाश डाला चुका है। सनातनधर्म-सम्मत मृतकश्राद्धके तथा यमराजके विषयमें भी आर्यसमाज बहुत विरोध करता है; पर हमारा यह विचार है कि-आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा. द. पहले इस विषयको मानते थे, पर पीछे वे बदल गये। फिर उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें उन विषयोंमें यत्र-तत्र सुधार कर दिया। पर सत्यको कहां तक छिपाया जा सकता है; अब भी उनके पुस्तकोंमें मृतकश्राद्ध तथा यमराजके बीज विद्यमान हैं; हम उनका स. ध. के म. म. गो. श्रीयदुकुलभूषणजी शास्त्रीकी शैलीसे विशदीकरण करते हैं। श्राद्धके विषयमें अन्य सामग्री पाठक 'आलोक'के चतुर्थ-पञ्चम पुष्पमें देखें।

१ स्वा. द. जीकी संस्कारविधि ११८ पृष्ठमें लिखा है—'ब्रह्मचारी स्नान कर, पीताम्बर धारण करके, सुगन्धयुक्त चन्दनादिका अनुलेपन कर, हाथमें जल ले अपसव्य और दक्षिणमुख होके 'ॐ पितरः शुन्धध्वम्' (पार. २।६) इस मन्त्रसे जल भूमिपर छोड़े'। यहांपर हम प्रश्न रखेंगे, इसी स्वा. द. जी के लेख द्वारा ही मृतकश्राद्धकी सिद्धि हो जावेगी।

(१) 'पितरः शुन्धध्वम्' इस स्वा. द. जीसे प्रमाणित मन्त्रके 'पितृ' पदसे मृतक-पितरोंका ग्रहण है, या जीवितोंका? यदि

जीवितोंका; तो कहना चाहिये कि-मन्त्र पढ़कर जल पृथिवीपर क्यों डाला गया ? यदि जीवितोंका शोधन करना था; तो उनके शरीरपर ही जल फैंकना चाहिये था !

(२) यहांपर 'पितरः' यह बहुवचन है; तब बहुतसे पितर हाथमें रखे थोड़ेसे जलसे शुद्ध कैसे हो सकते हैं ? (३) और जीवित पितरोंके शोधनार्थ यज्ञोपवीतके बाएं करने (अपसव्य, दाहिने कन्धेपर करने)का तथा दक्षिण-दिशामें मुंह करनेका क्या तात्पर्य है ? क्या अपसव्य तथा दक्षिणाभिमुख मुख न करनेसे जीवित-पितरोंकी शुद्धि नहीं होती ? (४) आपके जीवित-पितर दक्षिणसे भिन्न दिशामें क्यों नहीं बैठते ? (५) स्वा. द. जी ने अपने यजुर्वेदभाष्य (१६ अध्याय)में इस मन्त्रकी व्याख्या यों की है—'हे विद्वानो ! आप लोग शुद्ध होकर हमको शुद्ध कीजिये'। क्या स्वामीजीके अनुयायी बता सकते हैं कि-भूमिपर जल डालकर उन्होंने भूमिको शुद्ध किया, वा पितरोंको शुद्ध किया ? और पितरोंने उन्हें किस विधिसे शुद्ध किया ?

(६) आप लोग विद्वानोंको ही देवता मानते हैं। यदि पितरोंका भी देवता अर्थ मानते हैं; तब देवता और पितरोंका क्या भेद रहेगा ? यदि दोनोंमें भेद नहीं है; तो पञ्चमहायज्ञमें देवयज्ञ और पितृयज्ञमेंसे एकको हटा देना चाहिये। यदि हटा दोगे; तो 'पञ्चमहायज्ञ'में 'पञ्च' संख्या भी हटाकर 'चतुर्महायज्ञ' शब्द रख दें। यदि श्रद्धासे किये गये कर्मका नाम 'श्राद्ध' है; तो क्या अतिथियोंको भोजन आप, बिना श्रद्धाके देते हैं ? यदि

श्रद्धासे देते हैं; तब पितृयज्ञ (श्राद्ध) तथा अतिथियज्ञमें क्या भेद रहा ? यदि नहीं रहा, तो पञ्चमहायज्ञोंमें पितृयज्ञ तथा अतिथियज्ञोंको भी पृथक्-पृथक् मत गिनें; तब 'त्रिमहायज्ञ' जारी करें।

(७) यदि कहा जावे कि-'पितृ' पदसे जल, अग्नि वा सूर्यकी किरणोंका ग्रहण है; तब उत्तर देना चाहिये कि-जलके पृथिवी पर डालनेसे इनको क्या लाभ ? तब जनेऊ दाहिने कन्धेपर करने तथा दक्षिण मुंह करनेका क्या उत्तर है ? आप लोग जोकि इन्हें शुद्ध करते हैं, तब क्या पहले यह अशुद्ध थे ? जिन मृतक तथा दिव्य पितरोंका शास्त्रानुसार दक्षिण-दिशासे सम्बन्ध है, और जिनका सारा कृत्य जनेऊ बाएं करके-करनेका शास्त्रोंमें निर्देश है; जिससे वे यहां सूक्ष्म होनेसे खिंच आते हैं; और सूक्ष्मतावश थोड़ेसे जलसे भी जिनका संस्कार वा तर्पण हो जाता है, क्या यहां उन पितरोंका ग्रहण नहीं ? (गो. य. कु. भू.)

(ख) गोभिलगृह्यसूत्रमें कहा है—'सव्यं बाहुमुद्धृत्य शिरोऽवधाय दक्षिणांसे प्रतिष्ठापयति, सव्यं कक्षमन्ववलम्बं भवति, एवं प्राचीनावीती भवति' (१।२।३) यह प्राचीनावीती (अपसव्य)की परिभाषा है। उसके आगे कहा है—'पितृयज्ञे त्वेव प्राचीनावीती भवति' (१।२।४) अब यहां पितरोंके कार्यमें जनेऊ अपसव्य (दाहिने कन्धेपर अर्थात् बाएं) करना पड़ता है। और 'पितृ' शब्द श्राद्धप्रकरणमें 'मृतपितरों'का वाचक है—यह 'आलोक'के चतुर्थ-पुष्पमें बताया गया है, कुछ अग्रिम-पुष्पमें बताया जायगा; तब

यह अपसव्यता मृतकपितृकर्ममें ही सिद्ध हुई। इस कारण 'शतपथ-ब्राह्मण'में मनुष्यसे भिन्न ही पितरोंकेलिए कहा गया है—'अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जानु आच्य उपासीदन्' (२।४।२।२) इसीलिए मृतकपितृकर्म भी प्राचीनावीती (अपसव्य) होकर करना पड़ता है।

इसी कारण 'आपस्तम्बगृह्यसूत्र'में भी कहा है—'अपरपक्षे (कृष्णपक्षे) पित्र्याणि प्राचीनावीतिना' (१।१।७-८)। आश्वलायन-श्रौतसूत्रमें भी कहा है—'तेषां दक्षिणत उत्तानाङ्गुलीः करोति, प्राचीनावीती तूष्णीम्—'स्वधाः पितृभ्यः' इति वा (२।३)। वैखानसगृह्यसूत्रमें भी कहा है—'प्राचीनावीती पित्र्याणि करोति' (१।४)। इसमें प्राचीनावीतीका यह लक्षण है—'दक्षिणहस्तमुद्धृत्य उपवीतं धारयेद्-इति उपवीती। वाममुद्धृत्य प्राचीनावीती। कण्ठ-सक्ते निवीती भवति' (वैखानसगृ. १।५) 'सव्ये प्राचीन आवीती' (मनुस्मृति २।६) 'सव्ये प्राचीनावीतीति' (द्राह्यायण-गृ. १।१।८) 'कौशं सौत्रं वा त्रिस्त्रिवृद् यज्ञोपवीतम् आनाभेर्दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य सव्यमवधाय शिरोऽवदध्यात्, विपरीतं पितृभ्यः' (बोधायनधर्म. १।८।५-६)।

(ग) यदि पितर, या मनुष्य या देवता भिन्न-भिन्न योनि वाले न होते; तो 'निवीतं मनुष्याणां, प्राचीनावीतं पितॄणाम्, उपवीतं देवानाम्' (मीमांसादर्शन ३।४।१) यह शास्त्रोंमें उनकी क्रियामें भेद न होता। 'प्राप्त एवार्थो यन्निवीतं मनुष्याणाम्, निवीतं हि मनुष्याः प्रायशः स्वार्थं कुर्वन्ति' (मीमां. ३।४।२) यदि ऐसा है;

तो पितृकर्ममें प्राचीनावीतिताके विधानसे पितर मनुष्योंसे भिन्न सिद्ध हुए। मृतक ही इस लोकसे पितृलोक जाकर भिन्न योनि प्राप्त करके 'पितर' कहे जाते हैं, अतः पितृ-कर्म उन्हींका सिद्ध है, जीवित-पितरोंका नहीं; नहीं तो उसमें निवीतित्वका आदेश होता, परन्तु पितरोंकेलिए तो कहा है—'यत् तावद् उपवीतं देवानामुपव्ययते' इति, तत् प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयोरुपवीतं विदधाति। यत् प्राचीनावीतं पितॄणामिति, तत् पितृप्रधाने कर्माणि प्राचीनावीतं विदधाति' (मीमां. शाबर. ३।४।७) 'निवीत-मयोग्यं देवकर्मणि दर्शपूर्णमाससंज्ञके, मनुष्याणां (ऋषिप्रभृतीनां) हि तत्। तथा प्राचीनावीतं पितॄणां, न देवकर्मणि। उपवीतं (सव्यं) तत्र (देवकर्मणि) योग्यम्' (मीमां. शाब. ३।४।६)। इसीलिए ही 'उपवीतं लिङ्गदर्शनात्' (३।४।६) इस मीमांसाके सूत्रमें प्राप्त वृत्तिकारके सूत्रके वार्तिकमें 'मृताग्निहोत्रे हि पितृदेवत्ये श्रूयते, प्राचीनावीती दोहयते, यज्ञोपवीती देवेभ्यो दोहयते' यहां पितृदैवत कर्ममें 'मृत' शब्द स्पष्ट सुनाई पड़ रहा है।

(घ) प्रथम-सत्यार्थप्रकाशमें स्वा. द. जीने कहा है-'जैसे वाम-स्कन्धके ऊपर यज्ञोपवीत सदा रहता ही है; परन्तु उस यज्ञोपवीतको दाहिने हाथके अंगूठामें लगा ले, इस क्रियाके करनेसे द्विजोंका नाम 'उपवीती' होता है। सो सब देव-कर्मोंको 'उपवीती' होके करे। पूर्वाभिमुख होके देव-तर्पण करें। और देव-तीर्थसे कण्ठमें जब यज्ञोपवीत रखें, और दोनों हाथके अंगुष्ठामें यज्ञोपवीतको लगा देनेसे द्विजोंकी 'निवीती' संज्ञा होती है।

ब्राह्मतीर्थसे उत्तराभिमुख होके ऋषितर्पण करना चाहिये। और दक्षिणस्कन्धमें यज्ञोपवीत रखे, और वाम अंगुष्ठमें यज्ञोपवीत लगानेसे द्विजोंका नाम 'प्राचीनावीती' होता है। दक्षिणाभिमुख, प्राचीनावीती और पितृतीर्थसे पितृ-कर्म तर्पण और श्राद्ध करना चाहिये। देवतर्पणमें एक बार एक मन्त्र पढ़के एक अंजलि देवे, ऋषितर्पणमें दो बार मन्त्र पढ़के दूसरी अंजलि देवें और पितृतर्पणमें एक बार मन्त्र पढ़के एक अञ्जलि देवे, दूसरी बार मन्त्र पढ़के दूसरी अञ्जलि देवे, और तीसरी बार मन्त्र पढ़के तीसरी अञ्जलि देवे' (प्र. स. प्र. ३ समु. पृ. ४३)

(घ) इस प्रकार जहां मृतकपितृकर्म अपसव्य बताया गया है, वहां उसमें दक्षिणमुख करना भी कहा है। जैसेकि–'दक्षिणतः पितृलिङ्गेन प्राचीनावीती अवाचीनपाणिः कुर्यात्' (आपस्तम्ब-धर्मसूत्र २।४।५) 'यत् प्राङ् तद् देवेभ्यो, यद् दक्षिणा तत् पितृभ्यः' (शत. १४।२।२।२८) 'एतस्यां (दक्षिणदिशायां) ह दिशि पितृलोकस्य द्वारम्') शत. १३।८।१।५) इन प्रमाणोंसे मृतपितरोंका दक्षिण-दिशासे सम्बन्ध है। इस प्रकार जब उन मृत-पितरोंका आत्मा दक्षिणकी ओर जो उनका द्वार है–मुख करनेसे तथा जनेऊके बाएँ करनेसे दिये हुए पदार्थोंके सूक्ष्म अंशसे तृप्त हो जाता है, जैसेकि वेदमें इसके बीज मिलते हैं—'तेभ्यो [मृतेभ्यो] घृतस्य [जलस्य] कुल्या एतु मधुधारा व्युन्दती' (अ. १८।४।५७) 'सर्वान् तान् अग्ने! आवह पितॄन् हविषे अत्तवे' (अथर्व. १८।२।३४) 'जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिः' (ऋसं. १।१६४।३०), तब उनके

नामसे दिये हुए जलसे भी उनका शोधन सम्भव है, क्योंकि थोड़ा जल भी सूक्ष्म हो जानेसे सूक्ष्म-पितरोंकेलिए पर्याप्त शक्ति-शाली हो जाता है। प्रतिपक्षियोंसे माने हुए जीवित-पितरोंके लिए तो यह सभी-कुछ अनुपपन्न तथा व्यर्थ हो जाता है; अतः जीवितश्राद्ध भी निरुपपत्तिक हो जाता है।

२ स्वा. द. जीकी संस्कारविधि-नामकरणप्रकरण (पृ. ६..) में लिखा है—'जिस तिथि, जिस नक्षत्रमें बालकका जन्म हो, उस तिथि और उस नक्षत्रके नामसे तथा उस तिथिके देवताके नामसे घृतकी आहुति अग्निमें दें'। उस पृष्ठकी टिप्पणीमें अमा-वास्या तिथिके तथा मघानक्षत्रके देवता पितर बताये गये हैं। उसमें प्रश्न हैं—

(१) अमावास्या-तिथि तथा मघानक्षत्रके देवता पितर जीवित मनुष्य हैं; या भिन्न योनिवाले? यदि कहा जावे कि-भिन्न योनिवाले; तो अग्निमें घीकी आहुति देनेसे उनकी तृप्ति होनेसे मृतकश्राद्ध सिद्ध हो ही गया। (२) यदि कहा जावे कि-अमावास्या-तिथि तथा मघाके देवता पितर जीवित-मनुष्य हैं, तब उनका अमावास्या-तिथि तथा मघाके साथ क्या सम्बन्ध है? क्या वे अन्य तिथियोंमें भाग जाते हैं? यदि नहीं; तब वे अन्य तिथियोंके देवता क्यों नहीं माने गये? यदि अन्य तिथियोंमें वे घृतकी आहुति नहीं पाते; तो २६ दिनोंमें भूखे रहते हैं क्या? (३) यह जीते मनुष्य बिना कुछ अन्य वस्तु खाये घीकी आहुतिमात्रसे कैसे तृप्त हो जाते हैं? क्या अग्निमें

हवनसे भूखे जीवित पितर तृप्त हो जाते हैं ? यदि ऐसा है, तो रविवारमें हवन करते हुए आर्यसमाजी फिर घरमें भोजन न किया करें ? यदि उसमें जीवितोंकी तृप्ति ही लक्ष्य थी; तो घी उनके मुखमें डालना चाहिये था। उस एक घीकी आहुतिसे सभी जीवित पितर यदि तृप्त हो जाते हैं; तो क्या उन्हें अजीर्ण रहता है, जो एक ही आहुतिसे तृप्त हो जाते हैं ? (४) यदि प्रतिपक्षियोंके पितर जीवित मनुष्य हैं; तो मन्त्र-पाठकी क्या आवश्यकता है ? क्या बिना मन्त्र पढ़े वा स्वाहा किये वे भोजनको नहीं पचा सकते ? (५) यदि कहा जावे कि-वेदकी आज्ञा ही ऐसी है; तो आपके तर्क-प्रधान सम्प्रदायमें इस आज्ञाका फल क्या है ?

(६) यदि कहा जावे कि-यहां पितर ही ऋतु हैं; तब ऋतुके नामसे आहुतिका क्या फल है ? ऋतुएँ अमावास्याकी देवता कैसे हैं ! क्या वे ऋतुएँ अन्य तिथियोंमें नहीं होतीं ? क्या ऋतुएँ आपसे दिये हुए घीको खा लेती हैं ? मन्त्र पढ़नेसे क्या वे आ जाती हैं ? और मन्त्र न पढ़नेसे क्या वे लौट जाती हैं ? (७) पर्याप्त प्रयत्न करनेपर भी क्या प्रतिपक्षी इन पितरोंको जीवित सिद्ध कर सकते हैं ? (८) अथर्ववेदसं. (१८।४।५७)में जब मृत-पितरोंके नामसे घृत-प्रवाहके डालनेसे उनकी तृप्ति लिखी है ? हमारी अमावास्या जबकि-चन्द्रलोकके ऊपर प्राप्त हुए हमारे मृतपितरोंकी आत्माका मध्याह्नकाल है; यह हम 'आलोक'के चतुर्थ-पुष्पमें पितरोंका समय-विभाग दिखलाकर सिद्ध कर चुके

हैं; तो क्या अमावास्याके पितर मृतक सिद्ध न हुए ?

३. स्वा.द.जीकी संस्कारविधिके बलिवैश्वदेवप्रकरण (२१३ पृष्ठ) में लिखा है-'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' इससे दक्षिण-दिशामें क्षार और लवणान्न छोड़कर बने हुए पाकसे एक पत्तल वा थालीमें भाग धरना। यदि भाग धरनेके समय कोई अतिथि आजाय; तो उसीको दे देना, नहीं तो अग्निमें धर देना'।

यहाँ प्रष्टव्य है कि-(१) यहाँ 'पितृ' पदसे जीवितोंका ग्रहण है या मरोंका ? या किरण-ऋतु आदिका ग्रहण है ? यदि जीवितोंका; तो जीवित-पितरोंके नामसे दक्षिण-दिशामें रखा हुआ अन्न अतिथिको देनेसे वा उसे तृप्त करनेसे या अग्निमें डालनेसे क्या जीवित-पितरोंकी तृप्ति होती है ? यदि नहीं; तो आप यह व्यर्थ कर्म क्यों करते हैं ? यदि कहा जावे कि-जीवित-पितरोंके नामसे अतिथिको खिलानेसे, वा उस पाकको अग्निमें डालनेसे, हमारे जीवित-पितरोंकी तृप्ति होती है; तो एकके भोजनसे दूसरेकी तृप्ति हो जाना क्या आपने नहीं माना ? क्योंकि-वह भोजन खाया तो अतिथिने; वह विष्ठा भी बन गया; तब उससे आपके जीवित-पितरोंकी तृप्ति कैसे हुई ? यदि आपने एकके भोजनसे दूसरेकी तृप्ति स्वीकार कर ली; तो मृतक-पितरोंके नामसे ब्राह्मणादिके भोजनसे आप क्यों घबराते हैं ?

(२) पितरोंके पाकको दक्षिणदिशामें रखनेसे क्या यह कर्म मृतकोंका सिद्ध नहीं हुआ ? आपके जीवित-पितरोंका मृतकोंके पति यमराजकी दक्षिणदिशासे क्या सम्बन्ध है ? (३) यदि कहा

जावे कि–'पितृ' पदसे ऋतु, किरण आदि गृहीत होते हैं; तो ऋतु-आदिके नामसे अतिथिको खिलानेसे क्या लाभ? इनका भाग दक्षिणदिशामें ही क्यों रखा गया; क्या ऋतुएँ दक्षिण दिशामें ही रहती हैं? (४) यदि यहाँ 'पितृ' पदसे जीवित माता-पिता-आचार्य आदि लिये जाते हैं; तब उनका भाग उन्हींको खिलाना उचित था; अतिथिको क्यों खिलाया जाता है?

(५) दयानन्दी लोग रक्षकोंको भी पितर मानते हैं; तब तो आर्यसमाजियोंके पितर बहुत हो जायँगे। एक पिता पैदा करने-वाला लिया जायगा, दस पिता नियोगके भी होंगे, इस प्रकार ११ पितर बढ़े। और फिर पितामह, प्रपितामहोंका भोजन भी आदिष्ट किया गया है। तब जितने पिता होंगे; उतने ही पितामह तथा प्रपितामह होंगे। इनकी स्त्रियाँ भी माता, पितामही, प्रपितामही इत्यादिको खिलाना लिखा है। सत्यार्थप्रकाशके ४थें समुल्लासके अनुसार पण्डित, वैज्ञानिक, व्यापारी, वैद्य, अमादक-भोजन करनेवाले, घी-दूध आदि खानेवाले, न्यायाधीश आदि अन्य पितर भी होंगे। इस प्रकार न्यूनसे न्यून सौ पितर बनेंगे। संस्कार-विधिमें 'ओ३म् पितृभ्यः स्वधायिभ्यः' इत्यादि मन्त्रसे पितरोंके नामसे भोजनका एकभाग दक्षिणदिशामें रखा जाता है; तब उक्त पितरोंकी फौज उस थोड़ेसे अन्नसे कैसे तृप्त होगी?

(६) यदि कहा जावे कि–हम इनकेलिए दूसरा प्रबन्ध करते हैं, तो स्मरण रखना चाहिये कि–प्रत्येक गृहस्थको यह नित्यकर्म आदिष्ट किया है; तब सर्वसाधारण वा गरीब लोग इस कर्मको कैसे

कर सकेंगे? यदि वे न कर सकें; उस पापका फल निर्धनोंको मिले वा स्वा.द.जी की आत्माको? (गो. य. कु. भू.)

इससे सिद्ध है कि–यहाँ जीवित-पितरोंका ग्रहण नहीं; किन्तु यहाँ मर चुके हुए और पितृलोकमें गये हुओंका ग्रहण है। ऐसी प्रक्रियासे वे इस लोकमें आकृष्ट हो जाते हैं–यह हमारे पूर्वजोंने अनुभूत किया था। जैसे कि आजकल परलोकविद्या-विशारद मृतकोंको विशेष-वस्तुओं द्वारा वातचीतकेलिए बुलाते हैं, वैसे हमारे पूर्वज शुष्क-संवादकेलिए तो नहीं; किन्तु उनकी तृप्तिकेलिए उक्त-प्रक्रियासे विद्वान्-ब्राह्मणके माध्यमसे उन्हें बुलाते थे। वे सूक्ष्म जीव होनेसे हमारे जीवात्माकी भाँति स्थूल-भोजनके सूक्ष्म-अंशसे भी तृप्त हो जाया करते हैं; क्योंकि वे पितर एक देव-विशेष होते हैं, जैसेकि–'अष्टविकल्पो दैवः' इस सांख्यतत्त्वकौमुदीकी ५३ कारिकाके अनुसार पितृसर्ग देव-सर्गके अन्तर्गत होता है। और देवताओंके अशन (भोजन) केलिए कहा गया है–'न वै देवा अश्नन्ति, न पिबन्ति, एतदेव अमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छान्दो. ३।६।१, ३।८।१) 'देवता लोग खाते-पीते नहीं; वस्तुका अमृत (सूक्ष्म अंश) देखकर तृप्त हो जाया करते हैं। सो मृतकपितृश्राद्धमें सोपपत्तिकता होनेसे वह ठीक है। जीवितोंकी सेवा तो होती है; पर उनका नाम 'श्राद्ध' यह विशेष कर्म नहीं माना जाता। न उनका कोई दक्षिणदिशा वा अपसव्य जनेऊसे कोई सम्बन्ध होता है। न उनका मासिक वा पार्वणश्राद्धसे कोई सम्बन्ध है।

आर्यसमाजका यमराज।

स्वा. दयानन्दजीके लेखसे ही हम मृतक-श्राद्ध सिद्ध कर चुके, अब हम उन्हींके लेखसे मृतकपितरोंके पति यमराजकी सिद्धि करते हैं। स्वा.द.जीने यमराजसे भी अपने बचावकेलिए भिन्न अर्थोंकी कल्पना बहुत स्थानपर की है; पर सफलता प्राप्त नहीं की। अन्ततः यमराजको माननेकी फाँसी गलेमें बलात् पड़ ही गई है। स्वामीने अपनी संस्कारविधिके बलिवैश्वदेवके प्रकरण में २१२-२१३ पृष्ठोंमें लिखा है—

१ 'ओं सानुगाय यमाय नमः' इस मन्त्रसे एक पत्तल वा थालीमें दक्षिण-दिशामें भाग धरना। यदि भाग धरनेके समय कोई अतिथि आ जावे, तो उसीको दे देना, नहीं तो अग्निमें धर देना'। इस प्रकार 'सत्यार्थप्रकाश' (६२ पृष्ठ) में भी स्वामीने लिखा है। यदि सनातनधर्मसे माने हुए यमराजको न माना जाए; तो बहुत सी अनुपपत्तियाँ आती हैं। हम उनका विवरण देते हैं। 'आलोक'-पाठक देखें। इसमें प्रश्न हैं—

(१) 'सानुगाय यमाय नमः' यहाँपर 'यम' पदसे आर्यसमाजियोंको क्या इष्ट है? (२) यदि स.प्र.के ४ समु. ६१ पृष्ठके अनुसार यम न्यायाधीश (मैजिस्ट्रेट) का नाम है; तो उसका बलि-वैश्वदेवसे क्या सम्बन्ध? (३) क्या सानुग (नौकरों-सहित) न्यायाधीश बलि-गृहमें फीका भोजन करने आते हैं? क्या नौकरों-सहित वह एकग्रासले तृप्त हो जाते हैं? (४) दक्षिण-दिशामें वह अन्न क्यों रखा जाता है? क्या मैजिस्ट्रेट दूसरी

दिशामें नहीं खाता? (५) क्या एक पात्रमें मैजिस्ट्रेट नौकरोंके साथ इकट्ठा होकर नौकरोंकी जूठन खाता है, और तृप्त हो जाता है? (६) यह सब आर्यसमाजियोंकेलिए नित्यका कर्म है। नगरोंमें प्रायः ५-६ मैजिस्ट्रेट रहते हैं; तब नौकरों सहित मैजिस्ट्रेट क्या एक ग्रास भोजनकेलिए घर-घरमें घूमते रहते हैं? तब प्रजाका न्याय उनकी ओरसे आर्यप्रतिनिधिसभा करती है, या निराकार-भगवान्? (७) जिस गांवमें मैजिस्ट्रेट नहीं रहते; वहांके दयानन्दी कैसे करते हैं।

(८) यदि कहा जावे कि-संस्कारविधिके अनुसार यह ग्रास मैजिस्ट्रेटको तो नहीं खिलाया जाता; किन्तु अतिथिको; तो यह तो असभ्यता हुई कि-न्यायाधीशके नाम रखा हुआ अन्न अतिथि-को खिलाया जावे? (९) न्यायाधीशके नामसे रखा हुआ भोजन यदि अतिथिको खिलाया जावे; तो क्या न्यायाधीश तृप्त हो जावेगा? (१०) यदि 'यम' यह यहां वायुका नाम कहा जावे; तो वायु देवताका अन्न अतिथिको क्यों दिया जाता है? क्या वायु दक्षिणदिशामें ही रहती है, अन्य दिशामें नहीं? वायुके अनुग (नौकर) कौन हैं; क्योंकि-सानुग-यमको ग्रास दिया गया है। (११) यदि 'यम' यह परमेश्वरका नाम कहा जावे; तो क्या ईश्वर उस ग्रासको खाता है? क्या वह दक्षिणदिशामें ही रहता है? तब आप ऐसा करते हुए अपनेसे निन्दित किये जाते हुए मूर्तिपूजकोंसे कैसे भिन्न हैं?

(१२) यदि 'यम' यह दिनका नाम है; तब दिनके नौकर

कौन हैं ? क्या दिन दक्षिण-दिशामें रहता है ? तब तो अन्य दिशाओंमें रात होती होगी ? दिनका अन्न अतिथिको देनेसे दिनको क्या लाभ ? (१३) 'यम' यह यदि समयका नाम है; तब कहना चाहिये कि-समयके नौकर कौन-कौन हैं ? और दक्षिणमें कैसे रहते हैं ? उसके नामसे ग्रास देनेवाले आप अपने सिद्धान्तानुसार वैदिक-धर्मी कैसे हैं ? (१४) यदि 'यम' शब्दका अर्थ 'धर्म' है, या सूर्य, अथवा वायु, या मृत्यु; उसपर भी प्रतिपाद्यों पर पहलेकी भांति प्रश्न उपस्थित होते हैं। (१५) अथवा 'यम' शब्दका अन्य अर्थ भी किया जावे; तो पहले उसके नौकरोंकेलिये सोचना पड़ेगा, फिर उनका सम्बन्ध दक्षिण-दिशासे सिद्ध करना पड़ेगा; तब ही उसे अन्न देना उपपन्न होगा। फिर भी उसे न देकर अतिथिको देनेसे एकके खानेसे दूसरेकी तृप्ति माननी पड़ेगी।

२. संस्कारविधिके अन्त्येष्टि-प्रकरण (२६४ पृष्ठ) में यमाय स्वाहा, अन्तकाय स्वाहा, मृत्यवे स्वाहा, (५७-५८-५६) इन तीन मन्त्रोंसे शवके ऊपर घृतका फैंकना बताया है। उसमें प्रश्न हैं—

(१) यहाँ 'यम' पदसे क्या इष्ट है ? यदि 'मैजिस्ट्रेट' अर्थ है; तब श्मशानमें उसकी क्या आवश्यकता ? उसका नाम लेकर शव पर घी डालनेमें क्या लाभ है ? और 'स्वाहा' शब्दकी क्या आवश्यकता है ? (२) यदि 'यम' पदसे 'वायु' इष्ट है; तब मन्त्र क्यों पढ़ते हो ? यदि वायुको ही शुद्ध करना था; तो घी डाल देना ही काफी था। क्या मन्त्रपाठके बिना वायु शुद्ध नहीं होती ?

या घी की धारा रुक जाती है ?

किसी मन्त्रमें यमका 'वायु' अर्थ भले ही हो; पर 'वैवस्वत यम' तो वायु नहीं। वायु अर्थ कहीं हो जानेपर भी अन्तरिक्षसे भिन्न-देवविशेष यमकी स्वतन्त्र-सत्ता हटाई नहीं जा सकती। पृथु (विस्तीर्ण) होनेके कारण आकाशका नाम पृथिवी भी हो सकता है; पर क्या इससे आकाशसे पृथक् पृथिवीको माना नहीं जावेगा ? क्या 'यमस्य दूतौ चरतौ जनाँ अनु' (अथर्व. १८।२।१३) यहाँपर तुङ्गनासिक (ऊँची नासिकावाले, असुतृप्त (प्राणोंसे तृप्त होनेवाले) यमके दूत क्या वायुके ही हैं ? क्या 'यो ममार प्रथमो मर्त्यानां' (अथर्व. १८।३।१३) यहाँ यमका अर्थ वायु हो सकता है ? क्या वह मनुष्योंमें पहले मरा था ? इस प्रकार अथर्ववेदके (१८।३।६६) मन्त्रमें 'तिलमिश्रित हव्यका यमराज अनुमोदन करे' क्या यहाँ वायुका अर्थ सम्भव है ?

यदि वायुके पास पितरोंका निवास मानें, तो क्या वायु उत्तर-दिशामें नहीं रहती ? तब यम-वायुकी दक्षिणमें स्थिति क्यों कही गई है ? इससे यमके वायु-अर्थमें बहुतसी अनुपपन्नताएँ आती हैं। तब स्वा.द.जी वा उनके अनुयायिओंका यह व्याजमात्र है। यदि श्मशानमें शवके परमाणुओंके शोधनार्थ शवके ऊपर हवनका आपका उद्देश्य है; तब घरकी टट्टियोंमें उनके परमाणुओंके शोधनार्थ उस स्थानके ऊपर, गलीमें रखे हुए म्युनिसिपलिटीके कूड़ेके पीपोंमें समन्त्रक हवन आप लोग क्यों नहीं करते ? जैसे शवके ऊपर वायुके नामसे हवन आप

लोग करते हैं; वैसे पुरीषालयों तथा कूड़ेके पीपोंमें भी आप लोगोंको वायुके नाम हवन करना चाहिये।

(३) यदि कहा जावे कि-हवनमें मन्त्रोच्चारणसे मन्त्र याद हो जाते हैं; तब इस प्रकारके मन्त्र याद क्यों किये जाते हैं? जब आपने उसका प्रयोजन शवपर घृत डालना जान लिया; तब उनका याद करना व्यर्थ है। यदि आवश्यक भी हो; तो घरमें, वा समाजमें, वा गुरुकुलमें, वा विद्यालयमें उनका याद करना उचित भी है; पर जब शवके परमाणु चारों ओर फैल रहे हैं; दुर्गन्धका साम्राज्य हो रहा है, और ऊपरसे धूप पड़ रही है, चिताकी अग्निसे जहाँ नाककी भी अन्त्येष्टि हो रही है; वहाँ याद करना कैसा? तब शोकसे आते हुए पुरुषोंका मन अन्यत्र लगा होनेसे याद होगा भी कैसे? बार-बार वहाँ मन्त्रोच्चारणार्थ मुख खोलनेसे शव-परमाणुओंके, भीतर जानेसे मूर्खता बढ़ेगी, या स्मृति?

वस्तुतः श्मशानमें वेदपाठका निषेध है। जैसेकि-महाभाष्य-(५।२।५६) में कहा है—'देशः खल्वपि आम्नाये नियतः-'श्मशाने नाध्येयम्' इति। मनुस्मृति (४।६६) में प्रेतका धूम वर्जनीय कहा गया है। 'श्मशाने सर्वतः [अध्ययनं वर्जयेत्]' (आपस्तम्बध. सू. १।६।६) इस कारण श्मशानमें हवन, उसमें भी शवके ऊपर हवन अशास्त्रीय है। गृह्याग्निमें हवन करके उसी संस्कृत अग्निको श्मशानमें लाया जाता है, उसीसे मृतकको केवल जला दिया जाता है, शवपर हवन नहीं किया जाता। जैसेकि-वाल्मीकि-

रामायणमें-'ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य अग्न्यगाराद् बहिष्कृताः। ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव ते हूयन्ते यथाविधि' (२।७६।१३) यहाँपर रामाभिरामने लिखा है—'अग्न्यगाराद् बहिष्कृताः-अन्तः शवसत्त्वाद् बहिः-प्रदेशं प्रतिष्ठापिताः, याजकैरुपद्रष्टृभिः हूयन्ते च'। इस प्रकार रावणकी मृत्यु-समयमें भी-'रावणस्याग्निहोत्रं तु निर्यापयति सत्वरम्' (६।१११।१०४) 'अग्निहोत्र'का अर्थ 'अग्नि' है। यह सब मृतककी अग्निहोत्रकी अग्निको समाप्त करनेकेलिए किया जाता है, क्योंकि-मृतककी स्त्रीका पतिके विना स्वतन्त्र तो अग्निहोत्रमें अधिकार होता नहीं; इस कारण वह अग्निहोत्र वाले यज्ञके पात्र भी मृतकके अङ्गोंपर ही रखकर उसे जला दिया जाता है-यह आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रोंमें स्पष्ट है। स्त्रीके मर जानेपर उसकी वैवाहिक अग्निको लाकर उससे उसे जला दिया जाता है, और वह उसकी अग्नि समाप्त हो जाती है। फिर पुरुषका पुनर्विवाहका अधिकार होनेसे नवीन-पत्नीके घरसे नयी अग्निहोत्रकी अग्नि लाई जाती है-यह मनुस्मृति (५।१६७-१६८) में स्पष्ट है। बोधायनीय-पितृमेधसूत्रमें भी कहा है-'मृतपत्नीकः क्रतून् आहरिष्यन् जायामुपगम्य अग्नीन् आदध्यात्। विज्ञायते च-'तस्माद् एको द्वे जाये विन्दते, तस्मादेको बह्वीर्जाया विन्दते-इति च' (२।४।२) परन्तु स्त्रीकेलिए कहा है-'नहि अस्या अपतित्वात् पुनरग्न्याधेयं विद्यते, विज्ञायते च-'तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते' (२।४।४)। फलतः शवके ऊपर समन्त्रक हवन अशास्त्रीय है।

कौन हैं? क्या दिन दक्षिण-दिशामें रहता है? तब तो अन्य दिशाओंमें रात होती होगी? दिनका अन्न अतिथिको देनेसे दिनको क्या लाभ? (१३) 'यम' यह यदि समयका नाम है; तब कहना चाहिये कि-समयके नौकर कौन-कौन हैं? और दक्षिणमें कैसे रहते हैं? उसके नामसे ग्रास देनेवाले आप अपने सिद्धान्तानुसार वैदिक-धर्मी कैसे हैं? (१४) यदि 'यम' शब्दका अर्थ 'धर्म' है, या सूर्य, अथवा वायु, या मृत्यु; उसपर भी प्रतिपाद्यों पर पहलेकी भांति प्रश्न उपस्थित होते हैं। (१५) अथवा 'यम' शब्दका अन्य अर्थ भी किया जावे; तो पहले उसके नौकरोंकेलिये सोचना पड़ेगा, फिर उनका सम्बन्ध दक्षिण-दिशासे सिद्ध करना पड़ेगा; तब ही उसे अन्न देना उपपन्न होगा। फिर भी उसे न देकर अतिथिको देनेसे एकके खानेसे दूसरेकी तृप्ति माननी पड़ेगी।

२. संस्कारविधिके अन्त्येष्टि-प्रकरण (२६४ पृष्ठ) में यमाय स्वाहा, अन्तकाय स्वाहा, मृत्यवे स्वाहा, (५७-५८-५६) इन तीन मन्त्रोंसे शवके ऊपर घृतका फैंकना बताया है। उसमें प्रश्न हैं—

(१) यहाँ 'यम' पदसे क्या इष्ट है? यदि 'मैजिस्ट्रेट' अर्थ है; तब श्मशानमें उसकी क्या आवश्यकता? उसका नाम लेकर शव पर घी डालनेमें क्या लाभ है? और 'स्वाहा' शब्दकी क्या आवश्यकता है? (२) यदि 'यम' पदसे 'वायु' इष्ट है; तब मन्त्र क्यों पढ़ते हो? यदि वायुको ही शुद्ध करना था; तो घी डाल देना ही काफी था। क्या मन्त्रपाठके विना वायु शुद्ध नहीं होती?

या घी की धारा रुक जाती है?

किसी मन्त्रमें यमका 'वायु' अर्थ भले ही हो; पर 'वैवस्वत यम' तो वायु नहीं। वायु अर्थ कहीं हो जानेपर भी अन्तरिक्षसे भिन्न-देवविशेष यमकी स्वतन्त्र-सत्ता हटाई नहीं जा सकती। पृथु (विस्तीर्ण) होनेके कारण आकाशका नाम पृथिवी भी हो सकता है; पर क्या इससे आकाशसे पृथक् पृथिवीको माना नहीं जावेगा? क्या 'यमस्य दूतौ चरतौ जनाँ अनु' (अथर्व. १८।२।१३) यहाँपर उरुणसौ (ऊँची नासिकावाले, असुतृप (प्राणोंसे तृप्त होनेवाले) यमके दूत क्या वायुके ही हैं? क्या 'यो ममार प्रथमो मर्त्यानां' (अथर्व. १८।३।१३) यहाँ यमका अर्थ वायु हो सकता है? क्या वह मनुष्योंमें पहले मरा था? इस प्रकार अथर्ववेदके (१८।३।६६) मन्त्रमें 'तिलमिश्रित हव्यका यमराज अनुमोदन करे' क्या यहाँ वायुका अर्थ सम्भव है?

यदि वायुके पास पितरोंका निवास मानें, तो क्या वायु उत्तर-दिशामें नहीं रहती? तब यम-वायुकी दक्षिणमें स्थिति क्यों कही गई है? इससे यमके वायु-अर्थमें बहुतसी अनुपपन्नताएँ आती हैं। तब स्वा.द.जी वा उनके अनुयायियोंका यह व्याजमात्र है। यदि श्मशानमें शवके परमाणुओंके शोधनार्थ शवके ऊपर हवनका आपका उद्देश्य है; तब घरकी टट्टियोंमें उनके परमाणुओंके शोधनार्थ उस स्थानके ऊपर, गलीमें रखे हुए म्युनिसिपालिटीके कूड़ेके पीपोंमें समन्त्रक हवन आप लोग क्यों नहीं करते? जैसे शवके ऊपर वायुके नामसे हवन आप

लोग करते हैं; वैसे पुरीषालयों तथा कूड़ेके पीपोंमें भी आप लोगोंको वायुके नाम हवन करना चाहिये।

(३) यदि कहा जावे कि-हवनमें मन्त्रोच्चारणसे मन्त्र याद हो जाते हैं; तब इस प्रकारके मन्त्र याद क्यों किये जाते हैं ? जब आपने उसका प्रयोजन शवपर घृत डालना जान लिया; तब उनका याद करना व्यर्थ है। यदि आवश्यक भी हो; तो घरमें, वा समाजमें, वा गुरुकुलमें, वा विद्यालयमें उनका याद करना उचित भी है; पर जब शवके परमाणु चारों ओर फैल रहे हैं; दुर्गन्धका साम्राज्य हो रहा है, और ऊपरसे धूप पड़ रही है, चिताकी अग्निसे जहाँ नाककी भी अन्त्येष्टि हो रही है; वहाँ याद करना कैसा ? तब शोकसे आते हुए पुरुषोंका मन अन्यत्र लगा होनेसे याद होगा भी कैसे ? बार-बार वहाँ मन्त्रोच्चारणार्थ मुख खोलनेसे शव-परमाणुओंके, भीतर जानेसे मूर्खता बढ़ेगी, या स्मृति ?

वस्तुतः श्मशानमें वेदपाठका निषेध है। जैसेकि-महाभाष्य-(५।२।५६) में कहा है—'देशः खल्वपि आम्नाये नियतः-'श्मशाने नाध्येयम्' इति। मनुस्मृति (४।६६) में प्रेतका धूम वर्जनीय कहा गया है। 'श्मशाने सर्वतः [अध्ययनं वर्जयेत्]' (आपस्तम्बध. सू. १।६।६) इस कारण श्मशानमें हवन, उसमें भी शवके ऊपर हवन अशास्त्रीय है। गृह्याग्निमें हवन करके उसी संस्कृत अग्निको श्मशानमें लाया जाता है, उसीसे मृतकको केवल जला दिया जाता है, शवपर हवन नहीं किया जाता। जैसेकि-वाल्मीकि-

रामायणमें-'ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य अग्न्यगाराद् बहिष्कृताः। ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव ते हूयन्ते यथाविधि' (२।७६।१३) यहाँपर रामाभिरामने लिखा है—'अग्न्यगाराद् बहिष्कृताः-अन्तः शवसत्त्वाद् बहिः-प्रदेशं प्रतिष्ठापिताः, याजकैरुपद्रष्टृभिः हूयन्ते च'। इस प्रकार रावणकी मृत्यु-समयमें भी-'रावणस्याग्निहोत्रं तु निर्यापयति सत्वरम्' (६।१११।१०४) 'अग्निहोत्र'का अर्थ 'अग्नि' है। यह सब मृतककी अग्निहोत्रकी अग्निको समाप्त करनेकेलिए किया जाता है, क्योंकि-मृतककी स्त्रीका पतिके बिना स्वतन्त्र तो अग्निहोत्रमें अधिकार होता नहीं; इस कारण वह अग्निहोत्र वाले यज्ञके पात्र भी मृतकके अङ्गोंपर ही रखकर उसे जला दिया जाता है-यह आश्वलायन आदि गृह्यसूत्रोंमें स्पष्ट है। स्त्रीके मर जानेपर उसकी वैवाहिक अग्निको लाकर उससे उसे जला दिया जाता है, और वह उसकी अग्नि समाप्त हो जाती है। फिर पुरुषका पुनर्विवाहका अधिकार होनेसे नवीन-पत्नीके घरसे नयी अग्निहोत्रकी अग्नि लाई जाती है-यह मनुस्मृति (५।१६७-१६८) में स्पष्ट है। बोधायनीय-पितृमेधसूत्रमें भी कहा है-'मृतपत्नीकः क्रतून् आहरिष्यन् जायामुपगम्य अग्नीन् आदध्यात्। विज्ञायते च-'तस्माद् एको द्वे जाये विन्दते, तस्मादेको बह्वीर्जाया विन्दते-इति च' (२।४।२) परन्तु स्त्रीकेलिए कहा है-'नहि अस्या अपतित्वात् पुनरग्न्याधेयं विद्यते, विज्ञायते च-'तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते' (२।४।४)। फलतः शवके ऊपर समन्त्रक हवन अशास्त्रीय है।

प्रतिपक्षियोंसे यह भी प्रष्टव्य है कि-नियत परिमाणवाले घृतसे आप जो हवन करते हैं; इससे आपको मृतककी परलोकमें सद्गति इष्ट है, अथवा वायुशुद्धिमात्र प्रयोजन है ? यदि कहें कि-मृतककी सद्गति; तब मृतक-श्राद्ध आपके मतमें भी सिद्ध होगया। यदि कहें कि-वायुशुद्धि; तब क्या उससे वायुशुद्धि हो जाती है ? यदि हाँ, तो वे अपने घर वा आर्यसमाजमन्दिर-में मृतकको क्यों नहीं जलाते ? हवनसे घरकी वायु तो शुद्ध हो जावेगी ही। श्मशानमें आप उसे व्यर्थ क्यों ले जाते हैं; जिसमें बड़ी असुविधा और व्यय होता है। इसीलिए जो श्मशान नगरके बाहिर ही रखा जाता है कि-उसमें दुर्गन्ध अवश्य ही होगी; वह दुर्गन्ध कभी हटाई नहीं जा सकती; इसलिए वहाँ वायुशुद्धि व्यर्थ है; नहीं तो अपने घरकी टट्टीमें वा म्युनिसिपलिटीके लोहेके पीपेको हवनकुण्ड क्यों नहीं बनाते ? इससे स्पष्ट है कि-घीका व्यय व्यर्थ ही किया जाता हैं। क्या अग्नि दुर्गन्धित परमाणुओंको नहीं जलाती ?। किसी ग्रन्थमें ऐसा लिखा भी नहीं कि-मुर्दे-इतना घृत लो, और मुर्देपर वायु-शुद्ध्यर्थ हवन करो, अतः यहाँ अशास्त्रीयता है। दुर्गन्ध दूर करनेमें प्रकृति स्वयं सचेष्ट रहती है, उसकेलिए प्रतिपक्षियोंका प्रयास व्यर्थ है। क्या घृतसे शवके जलानेपर भी उसके दुर्गन्धित परमाणु इधर-उधर नहीं फैलते ? यदि फैलते हैं; तो प्रतिपक्षियों-ने उनके हटानेका उपाय क्या सोचा है ?।

(४) 'अन्तकाय स्वाहा; मृत्यवे स्वाहा' इसका स्वा.द.के

यजुर्वेदभाष्यके अनुसार यह अर्थ है कि-नाशकर्ता तथा श्राद्ध छुड़ानेवाले कालको स्वाहा' इस हवि देनेका क्या भाव है ?। (५) काल यह किसका नाम है ? यदि समयका; तो क्या समय भी किसीका नाश करता है ? क्या जड़ समयको भी प्रतिपक्षी सक्रिय मानते हैं ?। (६) यदि काल यह शक्ति-विशेषका नाम कहा जावे; तो कहिये-वह कौनसी शक्ति है ? उसका किस दिशासे सम्बन्ध है ? उसका आकार मनुष्यका-सा है, वा उससे विलक्षण ? यदि मनुष्यवत् है; तो क्या प्रतिपक्षी उसे दिखला सकते हैं ? यदि मनुष्यसे विलक्षण है, जैसेकि-महाभारतके वनपर्वमें सावित्रीने यमको कहा था—'दैवतं त्वाभिजानामि वपुरेतद्ध्यमानुषम्' (२९७।११) तो भैया, क्या आप भी उसी सनातनधर्माभिमत-यमराज तक नहीं पहुँच गये ?।

(७) अन्त्येष्टि-प्रकरणमें स्वा.द.ने 'यमं राजानं हविषा दुवस्य' इस मन्त्रसे शवपर घी डलवाया है, यहाँ 'यम' का क्या अर्थ है ? यदि मैजिस्ट्रेट मनुष्य का; तो उसका श्मशानमें क्या प्रयोजन ? और फिर वह हविकी आहुति भी उसी मैजिस्ट्रेटको अग्निपर बैठाकर उसपर डालनी चाहिये थी, शवपर क्यों डलवाई ? (८) यदि 'यम' पदसे 'ईश्वर' इष्ट है; तो शवपर घी डालनेसे ईश्वरकी तृप्ति माननेमें मूर्तिपूजा प्रतिपक्षियोंका गला पकड़ लेगी। (९) यदि 'यम' से सनातनधर्मानुसार मृत्युका देव-विशेष गृहीत किया जावे; तो सब आशङ्काएँ और असङ्गतियां हट जाती हैं। उसके दूत, तथा उसका दक्षिणदिशासे सम्बन्ध,

मृतकपितरोंके स्वामी होनेसे उसे हवि देना यह पूर्व दिये गये वेद-प्रमाणोंसे सिद्ध हो ही चुका है, तब सभी शङ्काएँ मिट जाएँगी।

(१०) इस प्रकार संस्कारविधिके 'नामकरण' संस्कारमें स्वा.द.ने चतुर्थी-तिथि तथा भरणी-नक्षत्रका देवता 'यम' माना है; वह वहाँ न तो मनुष्य इष्ट हो सकता है, न परमात्मा; क्योंकि-फिर उन्हें मूर्तिपूजा माननी आ पड़ती है। स्वा.द.ने उस नामसे भी हवि बताई है। इससे प्रतीत होता है कि-वे यमराजको अवश्य मानते थे। उसके माननेसे उक्त सभी दोषों-का समाधान हो जाता है। अर्थ बदलनेकेलिए उनमें मस्तिष्कका पसीना भी नहीं बहाना पड़ता। तब स्वामीके अनुयायियोंको भी सनातनधर्मकी निन्दा छोड़कर यमराजकी पूजा शीघ्र ही प्रारम्भ कर देनी चाहिये, नहीं तो उन्हें स्वा.द. तथा वेदादि-शास्त्रोंसे विरुद्धताका अवलम्बन करना पड़ेगा। शास्त्रीय भी विषयको यदि बुद्धिमें न समा सकनेसे अस्वीकार कर दिया जाय; तो यह प्रच्छन्न-बौद्धता हुआ करती है। आप्तप्रमाण-वादी सज्जनोंको उसे नहीं अपनाना चाहिये।

---

(१४) नियोग और मैथुन (१म दृष्टिकोण)

(१) स्वामी दयानन्द जी आर्यसमाजियोंके लिए 'नियोग' बतला गये हैं, पर किसी भी आर्यसमाजी ने इस नियोग को अपने यहां चालू नहीं किया, पर इसके लिए वे शास्त्रार्थ किया

करते हैं। वेदसे तो नियोग सिद्ध नहीं हो सकता, यह हम आगे बतायेंगे; तब वे अगत्या इस विषयमें 'महाभारत' का पल्ला पकड़ा करते हैं। इस पर सनातनधर्मी कहते हैं कि कलियुगमें नियोग वर्जित किया गया है, अतः वह कर्तव्य नहीं। इसमें उपपत्ति यह है कि स्वामीजी इसे अपने लोगोंके लिए लिख गये हैं, पर वे लोग करते नहीं, इससे इसके कलिवर्जित सिद्ध हो जानेसे हमारे पक्षकी पुष्टि हो ही गई। इस पर चुप होकर भी वे इसमें 'महाभारत' का पल्ला पकड़ते हैं। पर यदि वे 'महाभारत' को लेते हैं, तो उन्हें नियोगमें मैथुन न मानना पड़ेगा, और इसे सार्वदेशिक या सार्ववर्णिक नहीं मानना पड़ेगा, क्योंकि हमें तो 'महाभारत' के अवगाहनसे प्रतीत होता है कि नियोग उसमें केवल क्षत्रिय-जातिके लिए आया है, उसमें भी राजकुलके लिए और उसमें भी मैथुन नहीं हुआ।

पर पूर्वपक्षी लोग यह नहीं मानते, वे इसमें व्यास, चित्राङ्गद, विचित्रवीर्यकी स्त्री, पाण्डुकी स्त्री कुन्ती आदिका इतिहास कहा करते हैं। आज हम इस विषय पर कुछ विचार करना चाहते हैं, 'आलोक'-पाठक इधर अवधान देंगे। हम अपने क्रमसे इसकी विवेचना देंगे। इतिहासमें जो नियोग दिखलाया जाता है, वह विधिशास्त्र नहीं। विधिशास्त्र होने पर वह सब वर्णों-की स्त्रियोंके लिए होता, पर 'महाभारत' आदिमें वैसा नहीं दिखलाया गया। वहां केवल क्षत्रियाओंमें ही, वह भी राजघरोंकी रानियोंके लिए दिखलाया गया है, उसमें भी

क्षत्रियोंको न बुलाकर ब्राह्मणों, उनमें भी वृद्धों, तपस्वियोंको ही बुलाया गया है, इसका रहस्य आगे बतलाया जायगा। इसके अतिरिक्त इतिहास-पुराणका विषय लोकवृत्तनिरूपण मात्र ही हुआ करता है, उससे लोकव्यवहार की व्यवस्था नहीं हुआ करती। आर्य-समाज के पुराणेतिहास हैं—'आर्यसमाज का तथा स्वा० द० जी का इतिहास। उनमें स्वा० द० जीके द्वारा बाल्यावस्थामें मूर्ति-पूजा बतलाई गई है, तो क्या आर्यसमाजी लोग भी अपने बच्चों द्वारा मूर्तिपूजा कराया करेंगे? स्वामी दयानन्दजी भांग और हुक्का पिया करते थे, देखिये—'श्रीमद्दयानन्द - प्रकाश' (पृ० ४१,२७४,३१८), धातुएं खाया करते थे, (पृ. ८८) स्वामी दयानन्द जीने विवाह नहीं किया था, आरम्भसे ही वे संन्यासी बन गये थे, यह उनके जीवन-चरित्रकी पुस्तकोंमें लिखा है, तब क्या सभी आर्यसमाजी इस इतिहासको देखकर वैसा किया करते हैं, या किया करेंगे? यदि नहीं, तो वे नियोगविषयमें महाभारतीय-इतिहासको ही क्यों उद्धृत करते हैं? नल या युधिष्ठिरके द्यूत खेलनेके इतिहाससे पूर्वपक्षी भी क्या द्यूतक्रीडा प्रारम्भ कर देंगे?

वस्तुतः लोकव्यवहारकी व्यवस्था करना इतिहास-पुराण का विषय नहीं, वह धर्मशास्त्रोंका ही विषय है। 'न्यायदर्शन' के वादि-प्रतिवादिमान्य वात्स्यायनभाष्य (४।१।६२ सूत्र) में लिखा है—"अन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य (वेदस्य) विषयः, अन्यश्च इतिहासपुराण-धर्मशास्त्राणामिति। यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य, लोकवृत्तमितिहास-

पुराणस्य, लोकव्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्रैकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते, इति यथाविषयमेतानि प्रमाणानि इन्द्रियादिवद्-इति' (४।१।६२) यहां इतिहास-पुराणका विषय लोकवृत्त का वर्णन करना बतलाया है, लोक-व्यवहारकी व्यवस्थापना करना नहीं।

इधर नियोगको इतिहासने राजविषयक बतलाकर एकदेशी बना दिया है, जैसा कि 'तत्ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि! सनातनम्' (महाभारत आदिपर्व १०४।२६)। तब एकदेशी होने से यह सार्वदेशिक तथा सर्वजातीय-धर्म सिद्ध न हुआ। जो कि स्वा० द० जी आदि ने 'महाभारत' में श्रीव्यास तथा देवताओं का नियोग दिखलाया है, वह कलियुगमें असम्भव एवं निषिद्ध है। बात यह है कि 'मनुस्मृति' में लिखा है—'नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः। तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ' (मनु० ९।६३) यहां कामपूर्वक-नियोग निषिद्ध किया गया है, क्योंकि वैसा होने पर विधिव्यतिक्रम हो जाता है। इसीलिए 'तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते' (मनु० ९।१४७) इस पद्य में कामोत्पन्न-पुत्रको निषिद्ध ठहराया है।

(२) उक्त मनुपद्यकी व्याख्यामें श्रीकुल्लूकभट्टने नारदका एक वचन उद्धृत किया है। वह यह है—'मुखान्मुखं परिहरन् गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन्। कुले तदवशेषे च सन्तानार्थं न कामतः।' (१२।८२-८६) इसमें बतलाया गया है कि अङ्गोंसे अंगोंका स्पर्श न हो, काम सर्वथा न हो और सन्तान उत्पन्न की जाय।

इसी अभिप्रायसे वसिष्ठने भी अपने धर्मसूत्रमें लिखा है—'लोभान्नास्ति नियोगः' (१७।५७) इस प्रकार नियोगमें काम, लोभ तथा अङ्गस्पर्श निषिद्ध हो गया।

इससे स्वा० द० सम्मत नियोग खण्डित हो गया, क्योंकि उनके माने हुए नियोगमें स्पष्ट कामवासना रखी गई है। हम स्वा.द. जीके कतिपय वाक्य उद्धृत करते हैं—'हे स्त्री! मुझसे दूसरे पतिकी इच्छा कर' (स. प्र. ४ पृ. ७३) 'पुरुषसे··· वा स्त्रीसे न रहा जाय, तो किसीसे नियोग करके' (पृ. ७४), 'जो ब्रह्मचर्य न रख सकें, तो नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लें' (पृ. ६६) 'परन्तु जो जितेन्द्रिय नहीं हैं, उनका विवाह और आपत्कालमें नियोग अवश्य होना चाहिये।' (पृ. ७०)। विज्ञ पाठकोंने अनुभव किया होगा कि यहाँ स्वामीजीने अपने नियोगमें कामवासनाको स्पष्ट प्रोत्साहन दिया है। 'जो जितेन्द्रिय न होनेसे न रह सकें, वे नियोग कर लें,' यह स्पष्ट कामुकता ही है, पर कामुकतामें नियोगका निषेध है, इसमें हम पहले मन्वादिके वचन उपन्यस्त कर ही चुके हैं।

वास्तवमें नियोग कलियुगमें असम्भव है, इसलिए 'कलौ पञ्च विवर्जयेत्' इस बृहन्नारदीय आदि के सुप्रसिद्ध वचनसे वह निषिद्ध किया गया है, इसीलिए इस युगमें आर्यसमाज बल लगाने पर भी इसको चालू नहीं कर सका। कलियुगमें इसके असम्भव होनेका कारण यह है कि बिना काम के तथा बिना अङ्गसङ्गके मैथुन हो नहीं सकता, और बिना मैथुनके इस युगमें सन्तान नहीं हो सकती, तब नियोग भी कैसे हो सके?

नियोगविधिमें अङ्गस्पर्श तथा काम निषिद्ध किया गया है, यह हम पीछे बतला चुके हैं। परन्तु स्वा.द. जी गर्भाधानकी विधिमें 'नासिकाके सामने नासिका, नेत्रके सामने नेत्र' इत्यादि-रूपसे अङ्गसङ्ग स्पष्ट कह चुके हैं, इसके बिना तो उनके मतमें सन्तान उत्पन्न ही नहीं होती। तब वर्तमान-युगमें यह नियोग असम्भव है, अतएव निषिद्ध कर दिया गया है। इसीलिए बृहस्पतिने भी कहा है—'उक्तो नियोगो मनुना निषिद्धः स्वयमेव तु। युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुमन्यैर्विधानतः॥ तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः। द्वापरे च, कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता॥ अनेकधा कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनैः। न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः' (मन्वर्थ-मुक्तावली ९।६८ में उद्धृत)। इस वचनका अर्थ वा आशय यह है कि मनुने अपनी स्मृतिमें नियोग बतलाया तो है, पर भविष्यत्का विचार करके फिर उसे निषिद्ध भी कर दिया है। इसका कारण यह है कि इस नियोगको युगक्रमसे लोग यथाविधि पूरा नहीं कर सकते। सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापरमें लोग तपस्या एवं ज्ञान आदिकी शक्तिसे युक्त थे, पर कलियुगमें मनुष्य शक्तिहीन हुआ करते हैं। पूर्वके ऋषि अनेक-रीतियोंसे पुत्रोंको उत्पन्न कर लिया करते थे, पर इस युगके लोग वह शक्ति न होनेसे वैसा नहीं कर सकते, अतएव नियोग भी विशेष करके कलियुगकेलिए वर्जित है। युगके क्रमिक-ह्रासको केवल बृहस्पतिने माना हो, यह भी बात नहीं, अपितु श्रीमनुने भी स्पष्ट शब्दोंमें माना है, जैसाकि "अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां

द्वापरेऽपरे। अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः' (१।८५)

(३) जो कि क्षत्रियोंकी उत्पत्ति महाभारतानुसार नियोगसे बतलाई जाती है कि परशुरामने सब क्षत्रियोंको मार डाला था, इसलिए वेदपारगामी ब्राह्मणोंके (महाभारत १।१०४।६) द्वारा उन क्षत्रियाओंमें पुत्र उत्पन्न किये गये—यह कथन अपूर्ण है। परशुरामने सब क्षत्रियोंको नहीं मारा, किन्तु ब्राह्मणविरोधी, पृथ्वीके भारभूत, उद्धत क्षत्रियोंको ही मारा, नहीं तो दशरथादि क्षत्रिय कैसे बच गये? इसी कारण 'श्रीमद्भागवतपुराण'में परशुरामकेलिए कहा है—'दुष्टं क्षत्रं भुवो भारमब्रह्मण्यमनीनशत्' (९।१५।१५)। तब 'महाभारत' के उक्त वचनका यह आशय है कि वेदपारगामी दूरदर्शी ब्राह्मणोंने बहुतसे क्षत्रियोंको अपने पास छिपा लिया था। उन्हींसे उनकी स्त्रियोंमें सन्तान उत्पन्न कराकर क्षत्रिय-जातिको फिर बढ़वाया।

उनके प्रतिपादक महाभारतीय-पद्य ये हैं—'अरक्षँश्च सुतान् काँश्चित्तदा क्षत्रिययोषितः' (शान्ति. ४९।६३) तथानुकम्पमानेन यज्वनाथाऽमितौजसा। पराशरेण दायादः सौदासस्याभिरक्षितः' (४९।७७), दधिवाहनपौत्रस्तु पुत्रो दिविरथस्य च। गुप्तः स गौतमेनाथ गङ्गाकूलेऽभिरक्षितः' (४९।८१)। कई क्षत्रियोंको पृथिवी आदिने छिपा रखा था। जैसेकि 'सन्ति ब्रह्मन्! मया गुप्ताः स्त्रीषु क्षत्रियपुङ्गवाः' (४९।७५)। उन सबको ढूँढकर कश्यपमुनि आदिने उनका अभिषेक किया, उनके वंश बढ़वाकर क्षत्रियोंको बढ़वाया। जैसेकि—'ततः पृथिव्या निर्दिष्टान् तान् समानीय

कश्यपः। अभ्यषिञ्चन्महीपालान् क्षत्रियान् वीर्यसम्भृतान्। पुत्राश्च पौत्राश्च येषां वंशाः प्रतिष्ठिताः' (४९।८८-८९)।

अथच कई क्षत्रियाणियाँ सगर्भा बच गईं, उन्होंने ब्राह्मणों के धर्मानुष्ठानसे पुत्रोंको प्राप्त किया, अर्थात् वे ब्राह्मणोंके द्वारा धर्मानुष्ठान करानेकेलिए उनके पास गईं, जिससे पुत्र हो। इसीकेलिए ये पद्य हैं—'एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महर्षिणा। तत्र सम्भूय सर्वाभिः क्षत्रियाभिः समन्ततः' (१।१०४।५), उत्पा- तान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः (६)। धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणाँस्ताः समभ्ययुः' (७)। यदि यह अर्थ इनका न माना जाय कि ब्राह्मणोंने सगर्भा क्षत्रियाओंके सन्तानोंको धर्मानुष्ठानसे बढ़ाया; और यह अर्थ किया जाय कि वे सगर्भा नहीं थीं, नियोगसे ब्राह्मणों-द्वारा पुत्र उत्पन्न कराये, तो इस पर यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्राह्मणोंका 'वेदपारगैः' यह विशेषण आया है, क्षत्रियाणियोंकेलिए 'धर्मं मनसि संस्थाप्य' यह आया है, तो वेदमें नियोगका वर्णन नहीं, फिर उनके 'वेदपार' विशेषणका क्या लाभ है? क्या यह उनका विशेषण असार्थ- प्राय है? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। अतः यह भाव स्पष्ट है कि—मन्त्रशक्तिसे ही ब्राह्मणोंने उन्हें पुत्र प्राप्त कराये-यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

अथवा वादियोंके ही मतानुसार मान लिया जाय कि ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियाओंमें नियोगसे सन्तानें पैदा कराई गईं, तब भी यह आशय है कि वेदपारगामी ब्राह्मण ही इस प्रकार

की विधिको जानते थे कि जिससे बिना ही अङ्ग-सङ्ग वा मैथुनके सन्तान उत्पन्न हो जाय, अन्यथा वहाँ वेद पढ़-पढ़कर दुर्बल हुए ब्राह्मणोंकी आवश्यकता ही क्या थी ? उनके लिए अवशिष्ट वलिष्ठ क्षत्रिय ही नियुक्त किये जा सकते थे। पर क्षत्रिय ऐसी विद्या नहीं जानते थे कि बिना अङ्ग-सङ्ग, मैथुन वा कामके उन क्षत्रियाओंसे सन्तान उत्पन्न कर सकें। अतएव वेदपारगामी ब्राह्मणोंको ही बुलाया गया। वे बिना अङ्ग-सङ्गके भी अपनी तपःशक्तिसे सन्तान उत्पन्न कर सकते थे। अतः स्पष्ट हुआ कि नियोगमें मैथुन नहीं होता, पर कलियुगमें वैसी शक्ति न होनेसे उसमें नियोग असम्भव है। असम्भव होने पर भी निषिद्ध इसलिए कर दिया गया कि ब्राह्मणोंको नियोगार्थ उस समय बुलाया भी जाय, पर उनमें वह शक्ति होगी नहीं। यदि काम-वशीभूत होकर वे बाहरसे कामको छिपाकर कह दें कि हम अपनी तपःशक्तिसे ही सन्तान उत्पन्न कर देंगे। पर वे उसमें सफल न हो सकें; वा कलिवश काममें आकर कुचेष्टा कर बैठें, इससे ब्राह्मणत्वकी सर्वथा हानि समझकर कलियुगमें नियोग निषिद्ध कर दिया गया।

अब एक प्रश्न यह रह जाता है कि मनु आदिने नियोगमें 'देवराद् वा सपिण्डाद् वा' (९।५९), 'देवराच्च सुतोत्पत्तिम्' इत्यादि पद्योंसे देवर या सपिण्डका अधिकार बताया है, पर 'महाभारत' में ब्राह्मणोंको एतदर्थ बुलाया गया है—इसकी सङ्गति कैसे होगी ? वे ब्राह्मण क्षत्रियाओंके देवर वा सपिण्ड कैसे हो सकते हैं ? इस पर यह जानना चाहिए कि महाभारतीय नियोग और 'मनुस्मृति' के नियोगमें कुछ अन्तर है। महाभारतीय-नियोग राजघरानेकी क्षत्रियाओंकेलिए विशेष-रूपमें आया है, 'मनुस्मृति' में पूर्वपक्षमें तो नियोग अविशेष-रूपमें आया है, पर उसके उत्तरपक्षमें द्विजोंकेलिए नियोगका निषेध करके उसे शूद्रादिमें संकुचित कर दिया गया है। अतः महाभारतीय-नियोगमें यद्यपि देवर या सपिण्ड न आकर ब्राह्मण आया है, तथापि आपसमें नियोगका कुछ भेद होनेसे मनुप्रोक्त नियमका 'महाभारत' में लागू होना अनिवार्य नहीं। अथवा मनुके पद्यमें 'द्विजातिभिः' से केवल ब्राह्मण-स्त्रीका नियोग निषिद्ध सिद्ध हो जाय, तो शेष नियोग क्षत्रिया आदिकेलिए रह जाता है, तब मनु तथा महाभारतका नियोग कुछ सदृश हो जाता है, पर पूरा मेल फिर भी नहीं होता। 'महाभारत' में 'क्षात्रं धर्मं' (१।१०३।२६) आनेसे केवल राजघरानेकी स्त्रियाँ ही नियोगका विषय सिद्ध होती हैं।

अथवा यदि यही आग्रह हो कि नियोगमें देवर चाहिए, तो क्षत्रियाणियोंके नियोगमें ब्राह्मण कैसा ? वह ज्येष्ठ वर्ण होनेसे क्षत्रियाका ज्येष्ठ तो हो सकता है, देवर नहीं, तो इस पर यह जानना चाहिए, जैसे—'दशम्यामुत्थाप्य पिता नाम करोति' (पारस्करगृह्य० १।१७।१) नामकरणमें पिता-द्वारा ही नामकरण होता है, पर 'न चान्तरेण कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्' इस पस्पशाह्निकस्थ महाभाष्यके अनुसार उसमें असमर्थ-क्षत्रियादि

ब्राह्मणको (पुरोहित को) पितृस्थानीय मानकर उससे नाम रखवा लिया करते हैं, इसी प्रकार क्षत्रियाणियोंमें भी यद्यपि नियोग क्षत्रिय-देवरसे होना चाहिए, तथापि उसमें अकामता तथा बिना मैथुनके सन्तति देनेका सामर्थ्य न होनेसे 'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः। तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः' (अथर्व. ५।१७।९) इसके एकदेशको लेकर ब्राह्मणको ही वहाँपर नियुक्त किया जाता है। वही वहां देवरस्थानीय भी माना जाता है। यद्यपि वर्णविचारसे ब्राह्मण क्षत्रियाका ज्येष्ठ हो सकता है; देवर नहीं, तथापि क्षत्रियाका मुख्य पति क्षत्रिय होनेसे (चाहे वह स्वर्गस्थ हो, चाहे महाभारतीय राजा बलि—सुदेष्णाके पति—की तरह जीवित हो) ब्राह्मणके उसके पीछे द्वितीय स्थान पर होनेसे वह 'द्वितीयो वरः-देवरः' यह यौगिक वा 'पत्युर्द्वितीयोऽनुजः' इस प्रकार लोकरूढ देवर हो जाता है। इस प्रकार 'देवराद् वा सपिण्डाद् वा' (मनु. ९।५९), 'देवराच्च सुतोत्पत्तिः' इत्यादि लक्षण महाभारतीय-नियोगमें घट जाता है, पर कलियुगमें अकामता या दिव्य सामर्थ्य न होनेसे वह कलिवर्जित कर दिया गया है। बृहस्पतिने भी मनुके नियोग-निषेध को 'न शक्यन्तेऽधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः'यहाँके 'इदन्तनैः' शब्दसे इसे मनुकी भविष्यद्-दृष्टि मानकर उस निषेधकी कलिविषयता ही सिद्ध की है। जैसेकि कुल्लूकभट्टने भी लिखा है—'अयं च स्वोक्तनियोगनिषेधः कलियुगविषयः' (मनु. ९।६८)। इसलिए द्वापर तक नियोग देखा गया है, कलिमें नहीं।

(४) जो कि यह कहा जाता है कि पाण्डुने कुन्तीको प्रेरणा की थी कि 'अन्यसे सन्तान यथाकथञ्चित् उत्पन्न कर', इस पर यह जानना चाहिए कि पाण्डु, मुनिके शापवश स्वयं सन्तान उत्पन्न न कर सका था, अतः पुत्रका लोभी था। इस लोभसे 'लोभोपहतबुद्धि' होकर वह क्या युक्त है, और क्या अयुक्त, यह नहीं सोच सकता था। जैसेकि-पौत्रलोभिनी सत्यवतीने भीष्मको अधर्म्य वचन कह दिया, जिसके लिए 'महाभारत' में कहा है—'लालप्यमानां तामेवं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम्। धर्मादपेतं ब्रुवतीं भीष्मो भूयोऽब्रवीदिदम्' (१।१०४।२४) इसीलिए पाण्डुने कुन्तीसे कहा था—"भर्ता भार्यां राजपुत्रि! धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा। यद् ब्रूयात् तत् तथा कार्यमिति वेदविदो विदुः' (महाभारत १।१२२।२८) इसका तात्पर्य है—'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' (रघुवंश १४।४६), 'अमीमांस्या गुरवः' (चाणक्य-सूत्र ४२१) अपने बड़ोंकी आज्ञा पर विचार ही नहीं करना चाहिए कि यह धर्म्य आज्ञा है वा अधर्म्य। यदि वह आज्ञा अधर्म्य भी हो, तो उसका उत्तरदायित्व या फल उसी बड़े पर ही रहेगा, यह शास्त्रज्ञ विद्वानोंकी धारणा है। तब 'अधर्म्यमेव वा' यह पाण्डुका वचन भी यहां अधर्म्यता बतला रहा है, परन्तु साध्वी-कुन्तीने भर्ता पाण्डुसे कहा था—'न मामर्हसि धर्मज्ञ! वक्तुमेवं कथञ्चन। धर्मपत्नीमभिरतां त्वयि राजीवलोचने' (१।१२१।२)। यहां 'धर्मज्ञ!' तथा 'धर्मपत्नी त्वयि अभिरतां' इन शब्दोंसे पतिके कहने पर भी अन्य पुरुषसे सन्तान उत्पन्न करा लेना अधर्म सूचित कर दिया है, अर्थात्

उस पुरुषकी कोई रखेली तो ऐसा कर भी ले, पर उसकी धर्मपत्नी वैसा नहीं कर सकती। अन्यथा जब उसका भर्ता उसे आज्ञा दे रहा था, स्वा.द. जीके अनुसार उसे अन्यका विषयसुख भी मिल जाता, तब उसे क्या नकार था ? पर इस उपायमें अधर्म होनेसे वह धर्मपत्नी उद्यत नहीं हुई, क्योंकि परपुरुषके संयोगसे उत्पन्न सन्तान सङ्कर होती है—'परदाराभिमर्शेषु जायते वर्णसङ्करः' (मनु० ८।३५२-३५३) और सङ्कर नरकमें गिरानेवाला, पितरोंका पितृलोकसे गिरानेवाला होता है (गीता १।४२)। इस वर्णसङ्करताके कारण मनुने नियोगकेलिए 'धर्मं हन्युः सनातनम्' (९।६४), 'वर्णानां सङ्करं चक्रे' (९।६७) यह शब्द कहकर उसका खण्डन कर दिया है। इससे स्वा.द. जीसे आविष्कृत नियोग स्पष्ट ही अधर्म सिद्ध हो रहा है, जिसकेलिए उन्हें वेदके प्रकरणको छिपाकर, उसके आदिम तीन पाद लोकदृष्टिसे छिपाकर, चतुर्थ पादको जनताके सामने रखकर, भ्रातृ-भगिनी-संवादके स्थान पर बलात् पति-पत्नीसंवाद बनाना पड़ गया। उसी हठको पूर्ण करने तथा स्वामीजीकी नाक रखनेकेलिए स्वामीजीके अनुयायियोंने भी वेदमन्त्रोंकी हत्या करके 'स्वसा, भ्राता' आदिका अर्थ भी पति-पत्नीरूपमें कर दिया, अस्तु।

फिर पतिव्रता-कुन्ती पतिको अपनेमें स्वयं ही सन्तति उत्पन्न करनेको कहती है—'त्वमेव तु महाबाहो ! मय्यपत्यानि भारत ! वीर ! वीर्योपपन्नानि धर्मतो जनयिष्यसि (१।१२१।३) यहां सन्तान धर्मपूर्वक उत्पन्न करना कहा है। 'न ह्यहं मनसाऽप्यन्यं गच्छेयं

त्वद् ऋते नरम्' (१।१२१।५) 'तुमसे अतिरिक्त किसी पर-पुरुषके पास मनसे भी न जाऊंगी' वाह ! कैसा आदर्श है ? स्वा.द. सम्मत नियोगकी यहां कैसी मिट्टी-पलीद की गई है ! फिर पाण्डुका यह प्रश्न उपस्थित हो सकता था कि 'यदि मैं तुझमें सन्तान उत्पन्न करूंगा, तो मुनिशापवश मर जाऊंगा।' कुन्ती भी यह जानती थी कि मेरा पति मुझसे मैथुनसे सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकता, तब उसने कहा—'तथा त्वमपि मय्येवं मनसा भरतर्षभ ! शक्तो जनयितुं पुत्रांस्तपोयोगसमन्वितः' (१।१२१।३८)। इस पद्यसे कुन्तीने हमारा पक्ष स्पष्ट कर दिया कि तपोयोगसमन्वित पुरुष मनःसङ्कल्पकी शक्तिसे, बिना भी मैथुनके, सन्तान उत्पन्न कर सकता है, आप भी वैसा करें, जैसे कि व्युपिताश्वने शव-अवस्थामें किया था, इसपर सप्तम पुष्प (पृ. ३०४-३०५-३०६) देखो। पर पाण्डुने उत्तर दिया कि 'मुझमें तपस्या तथा योगका वैसा दिव्य बल नहीं है, जैसा तुम समझती हो। अतएव तुमसे मनोबल-द्वारा सन्तान उत्पन्न करनेमें भी सक्षम नहीं हूँ। अतः किसी तपस्वी-ब्राह्मणको एतदर्थ बुलाओ 'मन्नियोगात् सुकेशान्ते ! द्विजातेस्तपसोधिकात्। पुत्रान् गुणसमायुक्तान् उत्पादयितुमर्हसि' (१।१२२।३१)। 'तथा त्वमपि कल्याणि ! ब्राह्मणात् तपसोधिकात्। मन्नियोगाद् यत क्षिप्रमपत्योत्पादनं प्रति' (१२०।४२) तब कुन्तीने कहा—'बाल्यावस्थामें मेरी सेवासे प्रसन्न होकर दुर्वासा मुनिने मुझे कई देवताओंके मन्त्र-विशेष दिये थे, जिससे मैं देवताओंको बुलाकर उनसे सन्तान प्राप्त कर सकती हूँ।' तब पाण्डुने

उसे वैसी आज्ञा दे दी। तब उसने धर्मराज-देवताको बुलाया— 'आह्वयामास सा कुन्ती गर्भार्थे धर्ममच्युतम्' (१।१२३।१)। सा बलिं त्वरिता देवी धर्मायोपजहार ह। जजाप विधिवज्जप्यं दत्तं दुर्वाससा पुरा (२)॥ आजगाम ततो देवो धर्मो मन्त्रबलात्ततः' (३)॥ मन्त्र-बलसे देव-धर्म आ गये। यहां स्पष्ट है कि कुन्तीने मनुष्ययोनिसे भिन्न देवयोनिसे सन्तान प्राप्त की, मनुष्योंसे नहीं। तब यहां वादियोंका पक्ष कट गया। देवता लोग अपने सामर्थ्यसे, मैथुनके बिना भी, सन्तान दे सकते हैं, यह बात 'महाभारत'के प्रमाणसे ही आगे कही जायगी। यहां देवताओं-की तपस्या करना स्पष्ट लिखा है। इस प्रकार आगे भी जान लेना चाहिए।

मनुष्य होनेपर कुन्ती तथा पाण्डु भला उनकेलिए उग्र तप वा जप क्यों करते? देखिये—'ततः पाण्डुर्महाराजो व्रतं संवत्सरं शुभम् (१।१२३।२५)॥ आत्मना च महाबाहुरेकपादे स्थितोऽभवत्। उग्रं स तप आस्थाय परमेण समाधिना (२६)॥ आरिराधयिषुर्देवं त्रिदशानां तमीश्वरम् (२७)।' यहां पाण्डु द्वारा इन्द्रदेवकी तपस्या कही गई है। इसी प्रकार 'एवमुक्त्वाऽब्रवीन्माद्रीं सकृत् चिन्तय दैवतम्। तस्मात् ते भविताऽपत्यमनुरूपमसंशयम्। ततो माद्री विचार्यैव जगाम मनसाऽश्विनौ। तावागम्य सुतौ तस्यां जनयामासतुर्यमौ' (१२४।१५-१६)। यहां माद्रीने अश्विनी-कुमारोंका मनसे ध्यान किया। और वे दोनों आ गये। उन दोनोंने माद्रीमें दो पुत्र उत्पन्न किये। मनसे ध्यान करते ही आ-

जाना यह बात देवताओं या ऋषि-मुनियोंमें घटती है, मनुष्योंमें नहीं। अतः स्पष्ट है कि देवताओंके प्रसादसे पाण्डव उत्पन्न हुए। धर्म-आदि कोई मनुष्य नहीं थे। यहां स्थूल-सम्भोग भी नहीं हुआ, अन्यथा क्या दोनों अश्विनी-कुमारोंने एक साथ माद्रीके साथ सम्भोग किया? क्या दोके सम्भोगसे इकट्ठे दो लड़के उत्पन्न हो सकते हैं? ऐसी बात कभी नहीं हो सकती। फलतः यहां वादियोंका पक्ष गिर गया। यहां कोई मैथुनकी बात नहीं हुई। अमैथुन योनि होनेसे ही वे प्रकृत्यतिशायी उत्पत्तिवाले होनेसे एक वर्षमें ही पांच वर्षके मालूम पड़ते थे, जैसा कि 'अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमाः। पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पञ्चसंवत्सरा इव' (१२४।२२), जैसेकि स्वा.द.जीने सृष्टिके आरम्भमें अमैथुनयोनि-सन्ततियोंका उत्पत्तिके दिन ही युवा हो जाना दिखलाया है। मैथुनसे उत्पन्न तो प्रकृतिकी मर्यादासे क्रमसे ही बढ़ते हैं; तत्क्षण नहीं। इसमें अमैथुनोत्पन्न सीता-रामको ही देखिये, वे उत्पत्तिके समकाल ही चढ़ गये, अतएव ६ वर्षकी सीताका १२-१३ वर्षके श्रीरामके साथ विवाह वाल्मीकि-रामायणमें दिखलाया गया है। यह विषय 'आलोक'के ७म पुष्प (पृ.६३४-७११)में देखिये।

'महाभारत'में जहाँ भी कहीं नियोगका आभास आया है, वहाँ-वहाँ या तो किसी देवताको बुलाया गया है; या किसी संयमी, बहुत बूढ़े, तपस्वी, कुरूप, दुर्बल-शरीर, मुनि या योगी ब्राह्मणको बुलाया गया है। जैसाकि 'ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद् धनेनोपनिमन्त्र्यताम्। विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत् प्रजाः' (१।१०४।२)

यह भीष्मकी उक्ति है। पाण्डुने भी कुन्तीको एकके नियोगकी कथा सुनाई थी—'सा वीर-पत्नी गुरुणा नियुक्ता पुत्रजन्मनि। ...वरयित्वा द्विजं सिद्ध' (१।१२०।३६-४०)। पूर्व भीष्मके पद्यमें 'गुणवान्-ब्राह्मण' कहा है, इस पाण्डुकी उक्तिमें 'सिद्ध-द्विज' (ब्राह्मण) कहा है। 'द्विजातेस्तपसाधिकात्' (आदिपर्व १२२।३०) यहाँ भी तपस्वी द्विजाति (ब्राह्मण) का नाम आया है। यह भी पाण्डुकी उक्ति है। शेष प्रमाण आगे आएंगे।

(५) यहाँ विचारणीय है कि महाभारतने क्षत्रियाणियोंके नियोगके अवसर पर किसी सुन्दर वा युवा क्षत्रियका नाम क्यों न लिया? क्यों बार-बार ब्राह्मणोंका नाम लिया? वह भी सिद्ध (१।१२०।४०) तपस्वी (१२२।२०), अतिजरठ, (बहुत बूढ़े) (महा. १।१०४।४६) ब्राह्मणोंका। श्रीसायणाचार्यने ऋ. १।१२५।१ मन्त्रके भाष्यमें 'राजमहिष्या अतिजरठेन (अतिवृद्धेन) महर्षिणा सह रन्तुं लज्जमानया' यहाँ वृद्ध कलिङ्गराजाकी स्त्रीसे नियोग करनेवाले दीर्घतमा-ऋषिको अतिजरठ (अतिवृद्ध) लिखा है। क्या इसमें कोई रहस्य है? हाँ अवश्य रहस्य है। वह यह है कि योगी, सिद्ध, तपस्वी, वूढ़े, अनुभवी, गुणवान् ब्राह्मण, अपनी अलौकिक तपःशक्ति एवं योगशक्ति से, विना ही अङ्गसङ्गके, दृष्टिमात्र या वचनमात्रसे, अथवा मनः-सङ्कल्पसे, या हस्तस्पर्शमात्रसे, या वरदानमात्रसे, विना ही मैथुनके, सन्तान उत्पन्न कर सकते थे, जिसके लिए 'महाभारत' में अपना पुत्र ऋषिके वरदानसे उत्पन्न होनेकी बात कह देनेका साहस शर्मिष्ठाको भी होगया, और उसने कहा—'ऋषिरभ्यागतः कश्चिद्

धर्मात्मा वेदपारगः। स मया वरदः कामं याचितो धर्मसंहितम्॥ नाहमन्यायतः काममाचरामि शुचिस्मिते। तस्मादृषेर्ममापत्यमिति सत्यं ब्रवीमि ते' (१।८३।३-४)। यदि यह बात असम्भव होती, तो न तो शर्मिष्ठाको यह कहनेका साहस होता न देवयानी यह मान लेती—'न मन्युर्विद्यते मम। अपत्यं यदि ते लब्धं ज्येष्ठान् श्रेष्ठाच्च वै द्विजात्' (७)। तपस्याकी महिमा देखिये 'मनुस्मृति' में—"यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तत् तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्' (११।२३८)। यहाँ तपस्या दुर्लभ तथा दुष्कर कार्यको भी सिद्ध कर दिया करती है—यह सूचित किया गया है। योगशक्ति तो प्रसिद्ध है ही। योगसिद्धिसे 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः' यह आठ सिद्धियाँ सिद्ध हो जाया करती हैं। सिद्धियाँ आर्यसमाजके स्वा.द.जीको भी 'यजुर्वेदभाष्य' में सम्मत हैं, जैसाकि 'जब मनुष्य आत्माके साथ परमात्माके योगको प्राप्त होता है; तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती है' (७।६७ मन्त्रका भावार्थ)। जब यह सिद्धियाँ प्राप्त हो जांय, फिर तो क्या कहना? उसकेलिए असम्भव तो कुछ रह भी नहीं जाता। वहाँ विना मैथुनके मन-द्वारा अथवा दृष्टि-द्वारा सन्तान उत्पन्न करना कुछ भी कठिन नहीं रहता, तब उनसे नियोगविधि भी ठीक ही है। श्रीसायणकी पूर्व लिखी आख्यायिकामें कहा है—'राज्ञा कलिङ्गेन स्वयं वृद्धत्वाद् अपत्योत्पादनाय सामर्थ्यमलभमानेन तदुत्पादनाय याचितो दीर्घतमा

ऋषिः । अपत्योत्पादनाय प्रेषितया राजमहिष्या अतिजरठेन (अतिवृद्धेन) महर्षिणा सह रन्तुं लज्जमानया स्ववस्त्राभरणैरलंकृत्य स्वप्रतिनिधित्वेन प्रेषितामुषिग्नामिकां योषितं दासीमित्यवगत्य मन्त्रपूतेन जलेन अभिषिच्य ऋषिपुत्रीं कृत्वा तया सह रेमे । तदुत्पन्नः कक्षीवान् नाम ऋषिः' । जब राजा बूढा था, और अपनी रानीसे सन्तान पैदा न कर सकता था; तो अतिजरठ-बहुत बूढ़े ऋषिको अपनी स्त्रीकी सन्तानार्थ क्यों नियुक्त किया; जब कि-उस बहुत-बूढ़ेसे रानी भी शर्माती थी ? इससे स्पष्ट है कि—यह रमण लोकोत्तर हुआ, अर्थात् वहाँ तपः-शक्ति काम कर रही थी । इसी तपः-शक्तिसे तो उस ऋषिने एक दासीको भी मन्त्रपूत-जलसे अभिषिक्त करके ऋषि-पुत्री बना दिया । इससे स्पष्ट है कि-वहाँ साधारण-मैथुन नहीं हुआ; क्योंकि-वह मैथुन जब वृद्ध-राजामें अनुपपन्न है; तो अतिजरठ (अतिवृद्ध) ऋषिमें वह कैसे संगत है ? स्पष्ट है कि-यहाँ तपः-शक्तिका रमण इष्ट है, जिसे इस इतिहासमें संकेतित कर दिया गया है ।

जब मनुष्योंमें भी योगशक्ति हो सकती है, तब फिर देवताओंका तो क्या कहना ? उनमें तो स्वभावसे ही योगशक्ति रहा करती है । जैसा कि 'ब्रह्मसूत्र' (१।३।८।२७) के भाष्यमें स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने कहा है—'स्मृतिरपि···प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति, किमु वक्तव्यमाजान-(जन्मनैव) सिद्धानां देवानाम्' । युधिष्ठिरको धर्म-देवने योगशक्तिसे ही उत्पन्न किया था, मैथुनसे नहीं, इस बातको

'महाभारत' स्वयं भी प्रमाणित करता है । देखिये आश्रमवासिक-पर्व—'येन योगबलाज्जातः कुरुराजो युधिष्ठिरः । धर्म इत्येष नृपते ! प्राज्ञेनामितबुद्धिना' (१५।२८।१८) । यही बात 'ब्रह्मचर्यव्रतस्थस्य तस्य दिव्येन हेतुना । साक्षाद् धर्मादयं पुत्रस्तत्र जातो युधिष्ठिरः' (१।१२६।२४) में कहे 'दिव्येन हेतुना' शब्दसे भी स्पष्ट हो रही है ।

धर्म आदि सभी देवता थे, मनुष्य नहीं । जैसा कि 'महाभारत'में कहा है—'देवास्त्वस्मान् आदधीरन् जनन्यां धर्मो वायुर्मघवान् अश्विनौ च' (१।११६।२७) अन्यत्र यह भी स्पष्ट बतलाया है—'पाण्डोः कुन्त्यां च माद्र्यां च पुत्राः पञ्च महारथाः । देवेभ्यः समपद्यन्त सन्तानाय कुलस्य वै' (१।११६।२) । यदि यह नियोग मनुष्योंसे होता, तो उनके लिए जप, तप, मन्त्र, व्रत आदिकी आवश्यकता ही नहीं थी, जिसका पहले संकेत किया जा चुका है । अतः यहाँ स्पष्ट है कि यह दैवी शक्ति थी, मानुषी नहीं । अतः यहाँ मैथुन भी नहीं था । तभी 'महाभारत'में कहा है—"यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि । तस्य तस्य प्रभावेण तव पुत्रो भविष्यति' (आदिपर्व १११।७) यहाँ 'प्रभाव' शब्द यही बतलाता है । इसी प्रकार 'यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि । ···तस्य तस्य प्रसादात् ते राज्ञि ! पुत्रो भविष्यति' (आदि· १२२।३६-३७) यहाँ भी 'प्रसाद' शब्द अमैथुन ही बतला रहा है । तपोमहिमासे तपस्वी तथा स्वभावतः देवता लोग, बिना मैथुनके, पुत्र दे सकते हैं । तब देवताओंसे उत्पन्न

पाण्डव भी विना मैथुनके हुए थे, इसीलिए 'भारतसार' के उद्योग-पर्वमें भी लिखा है—'न च मैथुनसम्भूता निष्पापा पाण्डवा मताः' (५५।३१)। पीछे हम युधिष्ठिरका योगवल-द्वारा उत्पन्न होना लिख चुके हैं। तब 'संयुक्ता सा हि धर्मेण योगमूर्तिधरेण च। लेभे पुत्रं वरारोहा' (१२३।५) इस पद्यमें भी यही आशय इष्ट है। 'योगमूर्तिधरेण संयुक्ता' ये शब्द साभिप्राय हैं, इससे योगवल-द्वारा पुत्र-दान स्पष्ट हो रहा है, 'धर्मेण संयुक्ता' शब्दसे 'मैथुन' कहीं नहीं निकलता। यदि वैसा होता, तो 'योगमूर्ति' विशेषण व्यर्थ जाता। 'देवाश्चैश्वर्यवन्तो वै शरीराण्याविशन्ति च' (१५।३०।२१) यहाँ देवताओंका ईश्वरता अर्थात् अलौकिक शक्तिसे शरीरमें प्रवेश करना कहा गया है, मैथुनसे नहीं।

देवता लोग, विना मैथुनके भी केवल सङ्कल्प या वरदान आदिसे भी पुत्र दे सकते हैं, इस विषयमें 'महाभारत'की साक्षी भी पाठकगण देखें—'देवाश्चैश्वर्यवन्तो वै शरीराण्याविशन्ति च।' (आश्रमवासिकपर्व ३०।२१), 'सन्ति देवनिकायाश्च सङ्कल्पाज्जनयन्ति ये। वाचा, दृष्ट्या तथा स्पर्शात् संघर्षेणेति पञ्चधा' (३०।२२) यहाँ देवताओंका सङ्कल्प, वाणी, दृष्टि, स्पर्श तथा सङ्घर्षसे भी पुत्र देना कहा है। आगे—देवताके योगसे मानुष-धर्म दूषित नहीं होता—यह वतलाते हैं—'मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति' (३०।२३) यह वात ठीक भी है, मनुष्यसे विवाह करनेके पूर्व कुमारीके सोम, गन्धर्व, अग्नि ये तीन देवता पति होते हैं, इससे वह व्यभिचारिणी नहीं वन जाती। मनुष्य पति

होनेपर भी 'इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा। बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्द्धयन्तु' (अथर्व. १४।१।५४) इन देवताओंके प्रसादसे स्त्रीकी सन्तान होती है, तो इससे उन देवताओंका मनुष्यकी तरह स्थूल सम्भोग नहीं मान लिया जाया करता। इस ऊपर कहे प्रकारसे तथा अन्यत्र वर्णित उपाख्यानोंसे जब 'महाभारत'में दृष्टिसे, यज्ञसे (देखो द्रौपदी आदि की उत्पत्ति), तपस्यासे, वरदानसे, द्रोणसे (देखो द्रोणाचार्यकी उत्पत्ति), अग्निसे (जैसे धृष्टद्युम्न और द्रौपदीकी उत्पत्ति) मछलीसे, (जैसे कि सत्यवतीकी उत्पत्ति) अथवा वृक्षोंसे मनुष्य सन्तानोंकी उत्पत्ति दिखलाई गई है। तब 'महाभारत'में अमैथुनसे भी सन्तानोत्पत्ति स्पष्टतया सिद्ध हो ही गई।

(६) सङ्कल्प, दृष्टि अथवा मनसे स्त्री-द्वारा कोई देवता या ऋषि, मुनि, योगी आदि सन्तान उत्पन्न कर लें, तो उससे स्त्रीके पातिव्रत्यधर्मका भङ्ग नहीं होता। इसीलिए वायुदेवताने केसरीकी पत्नी अञ्जनासे कहा था—'न त्वां हिंसामि (तेरा धर्म नष्ट नहीं करता हूँ) सुश्रोणि! मा भूत् ते मनसो भयम् (तुम डरो मत)। मनसाऽस्मि गतो यत् त्वां परिष्वज्य यशस्विनि! (मैंने तुम्हें मन के द्वारा आलिङ्गन करके तुममें गमन किया है)। वीर्यवान् बुद्धि-सम्पन्नस्तव पुत्रो भविष्यति' (तेरा वली लड़का हनुमान् उत्पन्न होगा) वाल्मीकि-रामायण ४।६६।१७-१८)। यहां यह भी वतला दिया गया कि देवताओंके आलिङ्गन आदिमें पातिव्रत्य-भङ्ग नहीं

होता, किन्तु परद्वारा योनि-सम्भोगसे स्त्रीका धर्मभङ्ग होता है। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि देवताओंका मैथुन स्थूल नहीं हुआ करता, किन्तु सूक्ष्म ही मिथुनीभाव हुआ करता है, जैसे कि कुन्तीका कौमार्यमें भी सूर्यदेवके साथ स्थूल-मैथुन नहीं हुआ, किन्तु मानस-योग ही हुआ। 'योगेनाऽऽविश्य' (३०७।२८), 'दिव्येन विधिना' (३०८।१३), 'तेजसाऽऽविश्य' (आश्रमवा० ३०।१४) ये शब्द यही बात स्पष्ट कर रहे हैं कि योग या दिव्य-विधि मैथुन नहीं होती। यह कथा वनपर्वमें है। इसलिए उसे (कुन्ती को) दूषित नहीं माना गया। जैसे कि—'न चैवैनां दूषयामास भानुः' (महा० ३।३०७।२८), 'मनुष्यधर्मो दैवेन धर्मेण हि न दुष्यति' (आश्रमवासिकपर्व ३०।२३)। इस प्रकार अन्य देवताओंके योगमें भी मानस-योग ही जानना चाहिये, स्थूल भोग नहीं। इस प्रकार पाण्डवोंकी देवताओंसे उत्पत्ति होनेसे यह मानुषिक, स्वा०द० सम्मत मैथुनधर्मवाला नियोग सिद्ध न हुआ।*

(७) यह हुई देवताओंकी बात। इसी प्रकार देवताओंके समान अलौकिक-शक्तिशाली अणिमादि-योगसिद्धिसे संयुक्त

*महाभारतानुसार देवता मनुष्योंसे भिन्न होते हैं, वे रजोवीर्यसे उत्पन्न नहीं होते, किन्तु उनके शरीर तैजस होते हैं, जैसे कि 'तैजसानि शरीराणि' 'कर्मजान्येव मौद्गल्य ! न मातापितृजान्युत' (३।२६१। ३-१४-१५)। इसी प्रकार वनपर्व (५७।२६-२७) में भी देव और मनुष्योंका भेद कहा है।

ऋषि-मुनियोंके भी दिव्य-विधिसे हुए संसर्गको स्थूल-मैथुनरूप नहीं, किन्तु सूक्ष्म-मिथुनीभाव ही जानना चाहिये। श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यासका कौशल्या तथा अम्बालिकासे हुआ नियोग भी इसीका विषय है, वहां भी मैथुन नहीं हुआ। अतः एतदादिक उत्पत्तियोंको वरदानके ही कारण माना गया है। जैसे कि देखिये इसमें 'महाभारत' की साक्षी...'कृष्णद्वैपायनाच्चैव प्रसूति-र्वरदानजा। धृतराष्ट्रस्य पाण्डोश्च पाण्डवानां च सम्भवः' (आदिपर्व २।१०१) यहां श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्यास द्वारा वरदानसे ही धृतराष्ट्र एवं पाण्डुकी उत्पत्ति कही गई है। जहाँ मैथुनसे भिन्न जिस भी प्रकारसे, चाहे दृष्टिसंयोग हो, वा हस्तसंयोग हो, उसे 'वरदान' ही माना जाता है। 'क्षुच्छ्रमाभि-परिग्लानं द्वैपायनमुपस्थितम्। तोषयामास गान्धारी व्यासस्तस्यै वरं ददौ' (११५।७)। सा वव्रे सदृशं भर्तुः पुत्राणां शतमात्मनः' (८) यहां श्रीव्यासके वरदानसे धृतराष्ट्रकी स्त्री गान्धारीके सौ लड़कोंकी उत्पत्ति बतलाई गई है, तो क्या गान्धारीका भी व्याससे संयोग माना जायगा ?

(८) इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रीव्यासके वरदानके बलसे धृतराष्ट्र और पाण्डु उत्पन्न हुए, अङ्गस्पर्शपूर्वक मैथुनसे नहीं। वस्तुतः सर्वायु निरन्तर ब्रह्मचारी रहनेवाले ऊर्ध्वरेता एवं स्थिर शुक्रवाले श्रीव्यासका मैथुन उपपन्न हो ही नहीं सकता। ऐसे पुरुष नपुंसकों के भेदमें माने जाते हैं। आयुर्वेदकी वादि-प्रतिवादिमान्य 'सुश्रुत-संहिता'में कहा है—'बलिनः क्षुब्धमनसो निरोधाद् ब्रह्म

चर्यतः। षष्ठं क्लैब्यं मतं तत्तु स्थिरशुक्रनिमित्तजम्' (चिकित्सित-स्थान २६।१२) यहां नपुंसकताका यह भाव नहीं कि-उनमें शुक्र नहीं होता, किन्तु उत्तेजना न होनेसे वे स्त्रीसङ्गके योग्य नहीं होते, तब ऊर्ध्वरेता और नपुंसक विशेष कहना यह विरोध नहीं। यह उपवेदके उक्त वचनमें स्पष्ट है। निरन्तर ब्रह्मचर्यवालोंमें उत्तेजना न होनेसे नपुंसकता-सी आ जानेके कारण उनमें मैथुन बन ही नहीं सकता। न ही वहां व्यास-द्वारा मैथुन लिखा ही है। उनका मैथुन माना जाय तो उनका ऊर्ध्वरेतस्कत्व व्याहत हो जाय। इसलिए 'तयोरुत्पादयापत्यं समर्थो ह्यसि पुत्रक!' (१।१०५।३८) में व्यासजीको जो कि 'समर्थो ह्यसि' कहा है, इसका अभिप्राय यही है कि तुम अपने तपोबलसे उनमें सन्तान उत्पन्न कर सकते हो। जैसेकि इसका संकेत 'नियतं स महातपाः। विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु पुत्रानुत्पादयिष्यति' (१।१०५।१६) इस पद्यमें दिया गया है। अन्यथा स्थिरशुक्र-नपुंसकका मैथुन ही कैसे हो सके? अतः 'भ्रातुः पुत्रान् प्रदास्यामि मित्रावरुणयोः समान्' (१०५।४१) यह श्रीव्यासका पुत्रोंके देनेका कहना भी यही अर्थ रखता है, 'ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितृणां वंशवर्धनम्। द्वितीयं कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि' (१।१०५।११) तं माता पुनरेवान्यमेकं पुत्रमयाचत' (२०) अन्यथा क्या उनके पास पुत्र रखे थे, जो कहा कि 'दूँगा'? 'मित्र और वरुणके समान पुत्र दूँगा' यह कहना तपोबल-द्वारा पुत्र देनेमें ही उपपन्न हो सकता है। तभी तो उन स्त्रियोंकी शुद्धिकेलिए सालभर उन्हें व्रत करनेकेलिए श्रीव्यासने आदेश दिया था—

'व्रतं चरेतां ते देव्यौ निर्दिष्टमिह यन्मया। संवत्सरं यथान्यायं ततः शुद्धे भविष्यतः। न हि मामव्रतोपेता उपेयात् काचिदङ्गना' (१०५।४२-४३)।

(६) जो कि यह कहा जाता है कि "सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम्। नाकरोद् वचनं देव्या भयात् सुरसुतोपमा' (१०६।२४)॥ ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाऽप्सरोपमाम्। प्रेषयामास कृष्णाय (व्यासाय) ततः काशिपतेः सुता (२५)॥ सा तमृषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च। संविवेशाऽभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह। कामोपभोगेन रहस्तस्यां तुष्टिमगाद् ऋषिः' (१।१०६।२६) यहाँ श्रीव्यासका कामभोग स्पष्ट लिखा है, तब यह कैसे कहा जाता है कि नियोगमें मैथुन नहीं होता?"

इसपर यह जानना चाहिए कि यहां जो प्रतिपक्षियोंके अनुसार 'कामोपभोग' बतलाया गया है, इसीसे सिद्ध होता है कि इससे पूर्व कौशल्या तथा अम्बालिकाके साथ मुनिका कामभोग नहीं हुआ। इस प्रकार प्रतिपक्षीका ही पक्ष कट गया। और विना कामभोगके उन दोनोंकी सन्तान धृतराष्ट्र और पाण्डु उत्पन्न होनेसे नियोगमें मैथुन न होना ही सिद्ध हुआ। जो कि ऊपरके पद्योंमें प्रतिपक्षाभिमत कामोपभोग यदि बतलाया भी गया है, वह दासीविषयक है, कुलाङ्गनाविषयक नहीं। वह दासी न तो विधवा ही थी, न सधवा। उससे यदि प्रतिपक्षीके अनुसार कामोपभोग हुआ भी हो (जिसे हम तो नहीं मानते-यह आगे बतानेवाले हैं) तो दोष नहीं है, क्योंकि 'निरुक्त'में लिखा है—'रामा रमणाय

उपेयते न धर्माय, कृष्ण (दास) जातीया' (१२।१३।२) अर्थात् दासी रमणकेलिए ली जा सकती है, धर्मकेलिए नहीं। इसीलिए 'दास्या संयच्छते कामुकः' यहाँ दासीके साथ कामुकता अशिष्ट-व्यवहारमें आई है। धर्म्य-व्यवहारमें तो 'भार्यायै संयच्छति' यह उदाहरण आया है। इसके अतिरिक्त मन्वादिने द्विजातियों-केलिए ही मैथुनयुक्त नियोगका निषेध किया है, दास (शूद्र) के लिए नहीं, जैसे कि—'नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्' (९।६४)।

वस्तुतः दासीमें भी दृष्टिमात्रसे श्रीव्यासका सन्तत्युपादन माना जायगा; यदि वह नियोग है तो, मैथुनसे नहीं; क्योंकि नियोगमें कामभोग शास्त्रके वचनसे सर्वथा वर्जित है, जैसे कि 'नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः। तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ' (मनु. ९।६३) अतः श्रीव्यासने यदि कामोपभोग वहाँ किया हो, तो वे उक्त-वचनसे पतित हो सकते हैं, पर श्रीव्यास धर्मज्ञ थे, वे 'तस्मादहं त्वन्नियोगाद् धर्ममुद्दिश्य कारणम्' (१।१०५।४०) इस अपने वचनमें धर्मोद्देश बताते हुए कामोपभोग नहीं कर सकते। अतः यहाँ 'कामोपभोग' शब्दका अर्थ कामभोग या मैथुन नहीं है, किन्तु इच्छापूर्ति अर्थ है। 'काम' 'अमरकोष' (१।७।२८), 'इच्छा कामः' (तर्कसंग्रह) आदि-के अनुसार 'इच्छा' का नाम है। जैसे कामधेनु, कामदुघा, पुत्रकामा, श्रीकामः' इत्यादि शब्दों में 'काम' 'इच्छा' वाचक है।

'उपभोग' शब्द 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इस धातुसे बना होने-से 'पालन' वाचक है, या उपयोगवाचक है, अतः अर्थ हुआ-इच्छाका पालन, इच्छाकी पूर्ति, इष्टपूर्ति। जैसे 'छेरीसे भोग करें' (यजुः २१।६०) में 'भोग' का अर्थ स्वा-द-जीने 'उपयोग' लिया है। 'स्नेहप्रणय-सम्भोगैः समा हि मम मातरः' (वाल्मी. २।२६।३३) यहाँ 'मातृ-सम्भोग' कहा गया है। तो क्या मातासे मैथुन अर्थ होगा? नहीं। यदि 'भोग' का अर्थ 'मैथुन' ही होता; तो 'स्त्रीणां भोगे च मैथुने' (मनु. ८।१००) इसमें पुनरुक्ति न होती। शिव-पुराण उत्तरार्ध उमासंहितामें एक पद्य है—'न कामभोगात् परमाद् नालङ्कारार्थसञ्चयात्। तथा हितं न मन्यन्ते यथा रतिपरिग्रहात्' (२४।३३) अर्थात् स्त्रियाँ परम कामभोगसे भी प्रसन्न नहीं होतीं, जितनी कि रतिपरिग्रहसे। रतिपरिग्रहसे पूर्वस्थित 'कामभोग' का अर्थ 'मैथुन' न होकर 'इच्छापूर्ति' ही है, यह स्पष्ट है। तब 'कामोपभोगेन रहः तस्यां तुष्टिमगाद् ऋषिः' में भी इच्छापूर्ति ही अर्थ है, 'मैथुन' नहीं। तात्पर्य यह है कि मुनिको दृष्टिसंयोग करना था, वहाँ जैसी विधि होती है कि एकान्तमें दृष्टि सामने रखनी पड़ती है, सीधा बैठना पड़ता है, यही इष्ट की पूर्ति है, पर पहली रानी कौशल्याने, जो उनका तेज न सह सकी; अपनी आँखें बन्द कर लीं। जैसे कि 'तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने। बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत्। भयात् काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम्' (१।१०६।५-६)। इस तरह आँखें बन्द करनेसे दृष्टिसंयोग पूर्ण न होनेके कारण

उसको लड़का तो हुआ, पर अन्धा हुआ, जैसे कि अतीन्द्रियज्ञान-वाले श्रीव्यासने कह दिया था—'प्रोवाचातीन्द्रियज्ञानो विधिना सम्प्रचोदितः।···किन्तु मातुः स वैगुण्याद् अन्ध एव भविष्यति' (१०६।८-१०)। यहां यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो रही है कि यहाँ नियोगकी विधि दृष्टिके संयोगसे पूरी की गई। यहाँ 'महातपस्वी' (१।१०५।१६) महातेजस्वी (महा० १।१०५।४८) मुनिकी सारी शक्ति आँखोंमें केन्द्रित थी, उस विधिमें विगुणता आनेसे अर्थात् मुनिकी इष्टपूर्ति न करने एवम् अपनी आँखें बन्द कर लेनेसे काशिराजकी दुहिताका लड़का अन्धा हुआ। अन्यथा मैथुनमें स्त्री आनन्दमग्न होकर यदि आँखें बन्द कर लिया करती है; तो क्या उनके लड़के अन्धे पैदा होते हैं ? यदि नहीं, तो स्पष्ट है कि यहां मैथुन का सम्बन्ध नहीं, किन्तु दृष्टियोगका सम्बन्ध है; उसके व्यतिक्रम होनेसे सन्तानमें भी त्रुटि हुई।

जब दूसरी अम्बालिकाके पास श्रीव्यास गये; तब वहाँ भी वही दृष्टि-संयोगकी विधि पूर्ण करनी थी। उसने मुनिकी आँख देखकर अपनी आँख कौसल्याकी भांति तो बन्द नहीं की; पर वह पीली पड़ गई। यह भी विधिमें कुछ व्यतिक्रम था, इसके फलस्वरूप उसका लड़का भी पीलियायुक्त हुआ, देखिये 'महाभारत' (१।१०६।१६-१७-१८-२०)। पर काशिराजसुतासे भेजी हुई दासीने तो श्रीमुनिकी इच्छा पूर्ण की, अर्थात् वह ठीक बैठी रही, मुनिके रूप वां गन्धको सह गई, डरी, घबराई नहीं; मुनिकी आँखके सामने आँखें रखे रही, जैसा कि मुनिका आदेश

था—'यदि पुत्रः प्रदातव्यो मया भ्रातुरकालिकः। विरूपतां मे सहतां तयोरेतत् परं व्रतम्। यदि मे सहते गन्धं रूपं वेषं तथा वपुः॥' (१।१०५।४६-४७) विरूपताको सहना आँखसे संयोग बता रहा है। इसी इच्छापूर्तिको उक्त पदमें 'कामोपभोग' शब्दसे सूचित किया है। 'कथं कामं न संदध्यात् (महा. १।१६६।३८) यह ऋत्विक्ने द्रुपदकी पत्नीको कहा है। यहाँपर जैसे हव्यका 'कामसन्धान' इच्छापूर्ति है, लौकिक कामभोग (मैथुन) नहीं, जैसे कि—'कामप्रवेदनेऽकच्चिति' (पा. ३।३।१५३) इस सूत्रमें 'कामप्रवेदन'का 'इच्छाका प्रकाशन' ही अर्थ है; वैसे ही 'कामोपभोग' शब्द भी 'इष्टपूर्ति'-वाचक है। उस इष्टपूर्तिमें व्यतिक्रम न होनेसे उसका लड़का विदुर भी 'धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वरः' (१०६।२८) इस प्रकार गुणी बना। 'कामोपभोग'का यथाश्रुत अर्थ करने पर तो नियोगमें—पूर्व-वचनोंमें कामात्मकताके निषिद्ध होनेसे पातित्य-प्रसङ्ग उपस्थित हो सकता है और फिर कामसे पैदा हुआ विदुर भी कामी होना चाहिये था; पर यह बात उसमें घटती हुई नहीं दीखती; तब वहाँ 'कामोपभोग'का अर्थ भी प्रतिपक्षीसे चाहा हुआ नहीं है। फलतः यहाँ 'मैथुन' अर्थ सर्वथा अनभीष्ट सिद्ध हुआ। तब 'सम्बभूव तया सार्धं मातुः प्रियचिकीर्षया' (१।१०६।६) इस पद्यमें 'सम्बभूव' का 'एक स्थानमें स्थित हुए' यही अर्थ हुआ, स्थूल मैथुन अर्थ नहीं। अन्यथा 'कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूव' (महा. आदि. ६६।३४), 'एवमेते पाण्डवाः सम्बभूवुः' (१६६।३६)।

यहाँ भी 'सम्' पूर्वक 'भू' धातुका मैथुन अर्थ हो जायगा, जिसे कोई भी नहीं मानता। इससे 'नीरक्षीरविवेक'में 'सम्बभूव'का प्रतिपत्ति-प्रोक्त मैथुन अर्थ कट गया। 'भोग' शब्द भी आजावे, तब भी पूर्वोक्तानुसार 'मैथुन' अर्थ नहीं होता। 'मैथुन' शब्द भी यहाँ आ जाता, तब भी मिथुनीभाव—सङ्गति—एक स्थान पर ठहरना यही अर्थ होता। मिथुन जोड़ेको कहते हैं, केवल पति-पत्नीके जोड़ेको मिथुन नहीं कहा जाता, इकट्ठे हुए भाई-बहनोंको भी (महा० ११२६९।३६ में) 'मिथुन' कहा गया है, जैसे कि निरुक्तमें भी 'मिथुनानां विसर्गादौ' (३।४।२) यहाँपर, तथा 'प्रेहि मां राज्ञि ! पृषति ! मिथुनं त्वामुपस्थितम्' (११२६९।३६) महाभारतके इस द्रुपदकी पत्नीको होतासे कहे हुए पद्यमें, तथा 'मिथुना सरण्यूः' (ऋ० सं० १०।१७।२) इस वेदमन्त्रमें सरण्यूका मिथुन—इत्यादि स्थलोंमें भाई-बहनके जोड़ेको भी मिथुन कहा गया है। इस प्रकार वेदके 'आ पुत्रा अग्ने ! मिथुनासः' (ऋ०सं० ११२६४।११) यहाँपर भी पुत्र-पुत्रीको 'मिथुन' कहा है। 'मिथुनके भावको मैथुन' कहते हैं; सो यहाँ 'मैथुन'का वह अर्थ नहीं, जिसे प्रतिपत्ती चाहते हैं। 'मैथुनं सङ्गतौ रते' (अमर० ३।३।१२२) सङ्गतिका नाम भी मैथुन माना गया है। यदि किसी टीकाकारने 'कामोपभोगेन'में समागम वा सम्भोग अर्थ भी किया हो; तो भी डरनेकी आवश्यकता नहीं। जैसे कोई दवाई मुँहसे पीवे, यह तो दवाईका पीना है ही; कोई इन्जैक्शनसे दवाई डलवावे; वह भी एक-प्रकारका दवाई पीना ही है, वैसे ही यह दृष्टिसंयोग

भी गर्भाधान ही है, पर प्राकृतिक ढंगसे न होकर दिव्य-ढंगसे है। इसे भी समागम कहा जा सकता है; पर यह लौकिक-काम न होनेसे दोष-जनक नहीं। जैसे कि—कोई वैज्ञानिक दिव्य तेजका, प्राकृतका नहीं, इन्जैक्शनके ढंगसे प्रयोग करके गर्भाधान करे; तो उसे दोषजनक नहीं कहा जा सकता।

यहाँ पर श्रीव्यासका तेज आँखोंमें केन्द्रित था, अतएव दृष्टि-संयोग हुआ। अब 'महाभारत' का अन्य नियोग देखिए—'तां स दीर्घतमाऽङ्गेषु स्पृष्ट्वा देवीमथाब्रवीत्। भविष्यन्ति कुमारास्ते तेजसाऽऽदित्यवर्चसः' (१।१०४।५२) यहाँ दीर्घतमा अन्धे थे, अतः श्रीव्यासकी भांति अपने तेजको वे आंखोंमें केन्द्रित न कर सकते थे, अतः अपने हाथोंमें उन्होंने उसे केन्द्रित कर दिया। उन्होंने बलिकी स्त्री सुदेष्णाको केवल हाथसे स्पर्श करके कह दिया कि तेरे लड़के होंगे। यहाँ भी अत्यन्त स्पष्ट होगया कि दीर्घतमाने भी नियोगमें मैथुन नहीं किया। यहाँ मैथुन उपपन्न भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'वृद्धाय प्राहिणोत् तदा' (१।१०४।४६) 'अन्धं वृद्धं च तं मत्वा न सा देवी जगाम ह' (१०४।४६) यहाँ दीर्घतमाको बूढ़ा कहा गया है। बूढ़ेमें मैथुन तथा एक वार में ही बहुतसे पुत्रोंका उत्पन्न करना बन नहीं सकता, अतः यहाँ उसके लिए कहे हुए 'तेजस्वी' तथा 'ऋषि' (१०४।४५) शब्द उसके तपोबल वा मनोबलके परिचायक हैं। स्पष्ट है कि यहाँ पर भी नियोगमें मैथुन नहीं बताया गया। 'ब्रह्मवैवर्त' पुराणमें भी 'मुनेः करस्पर्शमात्रात् सद्यो गर्भो बभूव ह' (२।४६।६२) यहाँ पर

हस्तस्पर्शमात्रसे गर्भ हो जाना कहनेसे उक्त बात (तपःशक्ति) समूल सिद्ध हो जाती है।

(१०) इसी प्रकार 'महर्षिः संविदं कृत्वा सम्बभूव तया सह। देव्यां दिव्येन विधिना वसिष्ठः श्रेष्ठया ऋषिः' (महा. आदि. ७६।४५) तथा 'तेनैव विधिना' (१।१०६।१५) इत्यादि पद्योंमें 'दिव्येन विधिना', 'तेनैव विधिना', 'वृद्धः' एतदादिक शब्द साभिप्राय हैं। इनसे स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि इन नियोगोंमें मैथुन नहीं हुआ, किन्तु ऋषियोंने अपने तपःसामर्थ्यसे पुत्र उत्पन्न किये। यही बात 'योगेनाविश्य' (३।३०७।२८), 'दिव्येन विधिना' (३०८।१३) इत्यादि-स्थलोंमें भी स्पष्ट है। 'तथा त्वमपि मय्येवं मनसा भरतर्षभ। शक्तो जनयितुं पुत्रान् तपोयोगबलान्वितः' (१।१२१।३८) इससे यही सिद्ध होता है कि तपोबल एवं योगबल-से युक्त पुरुष मनके सङ्कल्पमात्रसे, बिना ही मैथुनके, पुत्र उत्पन्न कर सकते थे। यही बात 'वायुपुराण' में भी कही गई है—'तासां विशुद्धात् सङ्कल्पात् जायन्ते मिथुनाः प्रजाः' (८।५८)।

महाभारतीय-नियोगमें भी अमैथुनसे ही उत्पत्ति अभीष्ट है। इस प्रकारकी विधि जाननेवाले ऋषि-मुनियोंमें भी बिना मैथुनके पुत्रोत्पादनकी शक्ति थी। 'महाभारत' के शान्तिपर्वमें युगधर्म बतलाते हुए कलिसे भिन्न युगोंमें विशिष्ट शक्ति बतलाई गई है-'न चैषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ। सङ्कल्पादेव चैतेषाम-पत्यमुपपद्यते (२०७।३८); ततस्त्रेतायुगे काले संस्पर्शाद् जायते प्रजा। न ह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप॥ (२०७।३९),

द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप। तथा कलियुगे राजन्! द्वन्द्वमापेदिरे जनाः' (४०) इन पद्योंमें सत्ययुग तथा त्रेतायुगमें सर्वसाधारण प्रजाका भी, बिना मैथुनके, केवल सङ्कल्प वा स्पर्शसे पुत्र उत्पन्न कर सकना बतलाया है। फिर द्वापर तथा कलियुगमें मैथुन-धर्मका प्रारम्भ होना कहा है। यहाँ यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि यह सर्वसाधारण-जनताका वृत्त बतलाया गया है, इससे योगी, मुनि आदि विशिष्ट लोग, बिना मैथुन, सङ्कल्प वा स्पर्शसे सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं, यह बात सूचित हो रही है। तब यह जो कहा गया है कि 'एवमन्ये महेष्वासा ब्राह्मणैः क्षत्रिया भुवि। जाताः परमधर्मज्ञा वीर्यवन्तो महाबलाः' (१०४।५६) ब्राह्मणोंने क्षत्रियोंको उत्पन्न किया, सो यह पूर्वोक्त अमैथुनधर्मसे समझना चाहिए, क्योंकि 'महाभारत' को इष्ट यही है। नहीं तो यदि मैथुनधर्म ही यहाँ इष्ट होता, तो क्षत्रियाणियोंके-लिए बलवान् क्षत्रियोंको छोड़कर वहाँ बूढ़े, कृश ब्राह्मण ऋषि-मुनियोंको क्यों बुलाया गया? इसमें रहस्य यही है कि मैथुनके बिना सन्तानकी उत्पादनविधिसे ऋषि वा योगी वा वृद्ध अनुभवी ब्राह्मण परिचित थे, क्षत्रिय नहीं, अतः क्षत्रियाणियोंकेलिए क्षत्रियोंको न बुलाकर सन्तानार्थ उक्त ब्राह्मणोंको ही बुलाया जाता था।

(११) ब्राह्मण लोग अपनी मन्त्रशक्तिसे, बिना मैथुनके ही पुत्र उत्पन्न कर सकते थे, यह बतलाया जा चुका है। इसमें अन्य प्रमाण भी देखिये—युवनाश्व राजाकी सौ स्त्रियोंमें जब किसीमें भी पुत्र उत्पन्न न हुआ, तब उसने ऋषियोंकी सहायता

ली। उन ऋषियोंने उसकी पत्नीकेलिए अभिमन्त्रित जल तैयार किया, परन्तु रातमें प्यासे राजा युवनाश्वने भूलसे वह पी लिया। अभिमन्त्रित-जल पीनेके कारण राजाकी कोख फाड़कर मान्धाता नामक बालक उत्पन्न हुआ। यह कथा श्रीमद्भागवत-पुराणके नवम स्कन्धके छठे अध्यायमें द्रष्टव्य हैं। अब विद्वान् पाठक विचारें कि क्या युवनाश्वमें मैथुनसे शुक्रनिषेक किया गया था, अथवा क्या उस राजाके भीतर गर्भाशय था, जो उसकी कोखसे लड़का उत्पन्न होगया? वस्तुतः यह सब तपःशक्ति और मन्त्रशक्तिका प्रभाव था।

यही बात नियोगमें भी जाननी चाहिए, इसीलिए राजघराने-की क्षत्रियाणियोंकेलिए बूढ़े भी, या कुरूप भी ऋषि, मुनि, ब्राह्मण बुलाये जाते थे; जवान होते हुए भी क्षत्रिय नहीं बुलाये जाते थे। राजघरानेकी क्षत्रियाणियोंमें यह नियोग देखा गया है, अन्यत्र नहीं। इसका कारण यह है कि निस्सन्तानत्वमें राजकुल नष्ट होकर राज्यमें दस्यु बढ़ सकते हैं, अतएव उन क्षत्रियाणियोंके गर्भसे उत्पन्न हुआ लड़का राजा बनता था। ब्राह्मण उस समय मन्त्रशक्ति या तपःशक्तिमें अत्यन्त अभ्यस्त थे, अतः उनको बुलाया जाता था। जो कि सत्यवतीने भीष्मको ही नियोगकेलिए कहा था, इसका कारण यह था कि वह नियोग-धर्मके विषयमें अनभिज्ञ थी। तब भीष्मने उसे गुणवान् ब्राह्मण-के बुलानेकी सम्मति दी; उसका कारण पूर्वोक्त हैं। उसीके फलस्वरूप श्रीवेदव्यास वहाँ बुलाये गये।

(१२) इस प्रकार ब्राह्मणोंकी मन्त्रशक्तिका अन्य भी प्रमाण 'महाभारत'से उद्धृत किया जाता है—'याजस्तु हवनस्थाने देवीमाज्ञापयत् तदा। प्रेहि मां राज्ञि पृषति! मिथुनं त्वामुपस्थितम्' (१।१६६।३६) अर्थात् याजकने द्रुपदकी स्त्रीसे कहा कि तू मेरे पास हवि लेने आ, तुझे पुत्र-कन्यारूप मिथुन (जोड़ा) प्राप्त होगा। परन्तु उस समय द्रुपदकी स्त्री रजस्वला थी, अतः उसने रहस्यमयी वाणीसे कहा—'अवलिप्तं मुखं ब्रह्मन्! दिव्यान् गन्धान् बिभर्मि च। सुतार्थे नोपलभ्यास्मि तिष्ठ याज! मम प्रिये' (३७) अर्थात् मैं अशुद्ध हूँ, अतः हवि नहीं ले सकती, समयकी प्रतीक्षा करो। तब याजकने कहा—'याजेन श्रपितं हव्यमुपयाजा-ऽभिमन्त्रितम्। कथं कामं न सन्दध्यात् सा त्वं विप्रैहि तिष्ठ वा' (१६६।३८) अर्थात् अब यह हव्य अभिमन्त्रित है, चाहे अब तुम इसे लेने आओ या नहीं। फिर भी पुत्र और कन्या हो ही जायंगे। 'एवमुक्त्वा तु याजेन हुते हविषि संस्कृते। उत्तस्थौ पावकात् तस्मात् कुमारो (धृष्टद्युम्नो) देवसन्निभः' (३९) कुमारी चापि पाञ्चाली वेदीमध्यात् समुत्थिता' (१६६।४४)। इस प्रकार जब मन्त्रशक्तिसे ऋषि लोग बिना भी स्त्रीके सन्तान उत्पन्न कर सकते थे, बिना भी पतिके उसकी पत्नीमें, मैथुनके बिना भी, मन्त्रशक्तिसे सन्तान उत्पन्न कर सकते थे, तब कलियुगमें प्राचीन-नियोगके असम्भव होनेसे ही शास्त्रकारोंने कलियुगमें उसका निषेध कर दिया, यह सम्यक्तया सिद्ध होगया।

---

(१७) नियोग और मैथुन (द्वितीय दृष्टिकोण)

नियोगमें मैथुन नहीं होता, यह हमने शास्त्रीय आनुसंधानिक दृष्टिकोण गत निबन्धमें रख दिया है। पाठकोंने अनुभव किया होगा कि हमारा पक्ष शास्त्रानुगृहीत होनेसे समूल है, पर एक इससे विरुद्ध नियोगका दृष्टिकोण भी है। पहले, हमारे शास्त्रीय-पक्षमें कई अविश्वस्त, सन्देहैकधन, तपस्या तथा विज्ञानकी शक्ति न जानने वा न माननेवाले लोग, विना मैथुनके सन्तान उत्पन्न होना असम्भव मान सकते हैं, पर दूसरे दृष्टिकोणको—जो अभी उपस्थित किया जानेवाला है—वे भी कुछ-कुछ मान लेनेमें उद्यत हो सकते हैं। वह दूसरा दृष्टिकोण यह है कि नियोगमें सन्तानोत्पत्ति होती तो मैथुनसे ही है, पर वहाँ 'काम' नहीं होता। कामका भाव यह है कि 'मनःकृतं कृतं राम! न शरीरकृतं कृतम्। येनैवालिङ्गिता कान्ता तेनैवालिङ्गिता सुता'। (योगवासिष्ठ) मनमें कामभावना न हो, केवल धर्मका उद्देश्य हो, तो शरीरसे वैसी की हुई भी क्रिया तच्छब्दवाच्य नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि अपनी स्त्रीको भी आलिङ्गन किया जाता है, अपनी लड़कीको भी। आलिङ्गनकी शारीरिक-क्रिया तो दोनोंमें प्रायः समान है, पर मानसिक-भावमें भेद है। स्त्रीके आलिङ्गनमें कामवासना है, अथवा यह कहना चाहिये कि उसमें मनमें काम है, पर लड़कीके आलिङ्गनमें मनमें कामका योग नहीं। इसी कारण आलिङ्गनक्रियामें शारीरिक-क्रिया समान होनेपर भी स्त्रीके आलिङ्गनमें मनमें काम होनेसे उसे 'आलिङ्गन' कहा जाता है, पर लड़कीके आलिङ्गनमें कामवासना न होनेसे उसे आलिङ्गन न कहकर मिलना ही कहा जाता है।

यही बात नियोगके दूसरे दृष्टिकोणमें भी समझनी चाहिये। यहाँ भी मैथुनक्रिया होती है, पर मनमें कामवासनाका योग न होनेसे क्रिया समान होनेपर भी धर्मका उद्देश्य, प्रजादानका उद्देश्य होनेसे उसे मैथुनशब्दवाच्य भी नहीं माना जाता। नियोगके इस दूसरे दृष्टिकोणको 'भगवद्‌गीता'का दृष्टिकोण समझना चाहिये। 'भगवद्‌गीता'के दृष्टिकोणको हमें विस्तीर्ण-रूपमें रखनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह विश्वविश्रुत है। अथवा इस विषयमें 'आलोक'के पञ्चम-पुष्पमें गीता-विषय देखना चाहिये। संक्षेप यह है कि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' (महा॰ शान्ति॰ २४०।७) इस वचनसे 'कर्म' बन्धनकारक माना गया है, पर उसी कर्मका बन्धकत्व जो वासनाका मनसे योग होने पर हुआ करता है, हटा दिया जाय, तो वह लौकिक-दृष्टिमें कर्म होता हुआ भी वास्तवमें 'अकर्म' ही हो जाता है।

बिच्छूको संस्कृतमें 'वृश्चिक' कहते हैं, वह काटता है—'ओव्रश्चू छेदने' (तु॰ प॰ वे॰)। वृश्चिकका वृश्चिकत्व है उसके डंकमें। यदि उस डंकको निकाल लिया जाय, तो वह लोकदृष्टिमें वृश्चिक होता हुआ भी वस्तुतः वृश्चिक नहीं रहता; वैसे ही कर्म केवल शारीरिक कर्म हो, उसमें मानसिक योग न हो, अर्थात् वासना न हो, कामना न हो, उसमें धर्म उद्देश्य हो, तो वह लौकिक-दृष्टिसे कर्म होता हुआ भी गीता-दृष्टिकोणमें 'कर्म' नहीं

रहता, 'अकर्म' अबन्धक, हो जाता है।

'भगवद्गीता'में लिखा है—'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' (३।२०) यहाँ जनक आदिकी कर्मसे मुक्तिरूप सिद्धि संकेतित की गई है। यह कैसे? कर्म दो प्रकारका होता है, सुकर्म तथा कुकर्म। सुकर्मसे स्वर्ग मिलता है, कुकर्मसे नरक। दोनों ही कर्म हैं, तो ये बन्धक हुए। फिर कर्मसे मुक्ति कैसे? और फिर कर्म अनित्य होते हैं, तत्प्रसूत मुक्ति नित्य कैसे? इसमें 'भगवद्गीता'का भाव यह है कि यदि उन कर्मोंमें मनोयोग नहीं है, वासना नहीं है; केवल शरीर-योग है, तो 'मनःकृतं कृतं राम! न शरीर-कृतं कृतम्' इस प्रकार वह कर्म ही नहीं रहेगा, लौकिक-दृष्टिसे 'कर्म' होता हुआ भी पारमार्थिक-दृष्टिसे 'अकर्म' हो जायगा। तब वह लौकिक-दृष्टि का सुकर्म वास्तवमें सुकर्म न होनेसे स्वर्गदायक न होगा, लौकिक-दृष्टिका कुकर्म मनोयोगमूलक वासना न होनेसे वास्तविकतामें कुकर्म न होनेके कारण नरकदायक न होगा, और दोनोंका मिश्रण भी वास्तविक न होनेसे मर्त्यलोक-दायक भी न होगा। तब वन्धनके सर्वथा छूट जानेसे और उस कर्माऽभावके नित्य होनेसे नित्य मुक्ति ही हो जाती है। उस कर्मको भगवान्ने 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (४।१८) में 'अकर्म' बतलाया है, तो कर्म न रहनेसे नित्य-मुक्ति होगी ही।

भगवान् श्रीकृष्ण 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं' (२।३७) युद्धका फल स्वर्ग बतलाते हैं, 'देवान् देवयजो यान्ति (७।२३) देवपूजा-यज्ञ आदिका फल स्वर्ग बतलाते हैं, अर्जुनको गीतामें युद्ध

करनेकी प्रेरणा करते हैं; और सर्वसाधारणको यज्ञ आदि देव-पूजाकी प्रेरणा करते हैं। इधर वे गीतामें स्वर्गको निकृष्ट दृष्टिसे देखते हैं—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (९।२१), 'गतागतं कामकामा लभन्ते' (९।२१) और देवपूजनको अपना 'यजन्त्यविधिपूर्वकम्' (९।२३) अवैध-पूजन मानते हैं, यह परस्पर विरोध क्यों? मुक्तिको चाहनेवाले वे फिर अर्जुनसे भीष्म-द्रोण आदिको मरवानेका कुकर्म क्यों करवाते हैं? सर्वसाधारणको बन्धन-कारक देवपूजारूप सुकर्म क्यों कराते हैं? वे 'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे' (३।२) परस्पर-विरुद्ध बातें कहकर हम साधारणोंकी बुद्धिको वा अर्जुनको मोहमें क्यों डालते हैं?

वस्तुतः रहस्य यही है कि वे युद्ध करवाते हैं, वे देवपूजा पर बल देते हैं, पर वे कहते हैं कि इन कर्मोंको अपने-अपने अधिकारानुसार करो। पर ये कर्म न रहें, अकर्म हो जायं, इस प्रकार करो अर्थात् उनमें मनःकृतता न हो, आसक्ति न हो, धर्म उद्देश्य हो, स्ववर्णकर्म लोकसङ्ग्रहार्थ कर्तव्य है—केवल यही दृष्टि हो, वासना न हो, राग-द्वेष न हो, ऐसा करने से वह कर्म, कर्म न रहेगा, बन्धनकारक न होगा।

भगवान्का भाव यह है कि यदि तुम बाह्यदृष्टिसे कर्म-संन्यासी हो, पर मानसिक-दृष्टिसे कर्मसंन्यासी नहीं हो, मनमें वासना रखे हुए हो, तो तुम संन्यासी नहीं हो। पर यदि तुम लोकदृष्टिमें कर्मी हो, पर मानसिक दृष्टिमें कर्मसंन्यासी हो, तो

तुम वास्तविक संन्यासी हो। तब तुम यदि युद्ध करते हो, तो न तो तुम्हें उसकी जनहत्याका पाप लगेगा, और न ही नरक मिलेगा, और न ही तुम्हें युद्धमूलक स्वर्ग मिलेगा, न तुम्हें अनासक्तियोगसे की हुई देवपूजाका फल सीमित-स्वर्ग मिलेगा, इस प्रकार तुम्हें बन्धन न मिलकर मुक्ति मिलेगी। इस भगवान् के भावमें भगवान्के निम्न वचन स्मर्तव्य हैं—

'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते' (भगवद्गीता ५।७), 'गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' (४।२३), 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा' (४।३), 'यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते' (८।१७), 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किञ्चित् करोति सः' (४।२०), 'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः। शारीरं केवलं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्विषम्' (४।२१), 'समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते' (४।२२) 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' (५।१०), 'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः' (४।१९), 'निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी' (अष्टावक्रगीता १८।६१) इत्यादि।

इसी प्रकार जैसे याज्ञिक-पशुहिंसामें हिंसाका उद्देश्य वा

मानसिक योग न होनेसे 'आम्नायवचनाद् अहिंसा प्रतीयेत' (निरु० १।१६।६) इस प्रकार वह अहिंसा मानी जाती है, वैसे ही नियोगमें भी मैथुनका उद्देश्य न होने से, कामवासना उद्दिष्ट न होनेसे, उसे भी मैथुन न मानकर अमैथुन ही माना जाता है। जैसे कामवासनाका सम्बन्ध हटाकर केवल सन्तानोत्पत्तिके उद्देश्यसे अपनी स्त्रीमें ऋतुकालमात्रमें गमन करनेवाला गृहस्थी भी गृहस्थी न माना जाकर 'निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्। ब्रह्मचार्येव भवति यत्रतत्राश्रमे वसन्' (मनु० ३।५०) ब्रह्मचारी माना जाया करता है, वैसे ही किसी क्षत्रिया-रानीकी प्रजाकी उत्पत्ति एवं धर्मका उद्देश्य करके उससे हुआ ब्राह्मणका समागम मिथुनभाव न होनेसे मैथुन नहीं कहलाता।

ऊपर कहे दृष्टान्तसे 'महाभारत' ने याज्ञिक-मांससेवनको 'अमांसाशन' बड़े अच्छे ढङ्ग से लिखा है। वे पद्य ये हैं— 'अत्रापि विधिरुक्तश्च मुनिभिर्मांसभक्षणे। देवतानां पितॄणां च भुङ्क्ते दत्त्वापि यः सदा। यथाविधि यथाश्राद्धं न प्रदुष्यति भक्षणात्' (वनपर्व २०८।१५), 'अमांसाशी भवत्येवमित्यपि श्रूयते श्रुतिः। भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति ब्राह्मणः।' (२०८।१५)। यहाँ पर अन्तिम अंश में अन्वय इस प्रकार है— 'ब्राह्मण ऋतौ भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी भवति'। यहाँ पर व्याख्याता श्रीनीलकण्ठने इस प्रकार स्पष्टता की है—'यज्ञियमांसभुजोऽपि ऋतुगामिनो ब्रह्मचर्यमिव औपचारिकमांसाशित्वमिति

भावः।'

अर्थात्—ऋतुकालगामी भी पुरुषको जैसे स्त्रीसङ्गी होते हुए भी स्त्रीसङ्गी न कहकर 'ब्रह्मचारी' कहा जाता है, वैसे ही याज्ञिक-मांसका उपयोग करनेवाला भी मांसाशी न होकर अमांसाशी ही होता है।

यही बात नियोगके मैथुनमें भी समझनी चाहिए। उसमें भी कामवासना-मूलक मैथुन न होनेसे एवं दम्पतिरूप-मिथुनीभाव न होनेसे वह वास्तविक-मैथुन नहीं कहा जाता, किन्तु प्रजोत्पत्तिरूप धर्म लक्ष्य होनेसे उसे नियोगधर्म ही माना जाता है। वह गीताके कर्मकी भाँति—जैसा कि पहले कहा जा चुका है—वास्तवमें अकर्म ही हो जाता है, पर ऐसा नियोग बड़ा कठिन है। इसमें कोई गारण्टी नहीं की जा सकती कि इस व्यक्तिका यहाँ कामभाव उद्दिष्ट नहीं था, क्योंकि वह व्यवहार सबके सामने तो होता नहीं, होता है एकान्तमें, उसमें धूर्त, परन्तु बाहरसे गम्भीर-पुरुषोंके बहुत पाखण्ड चल सकते हैं। इसीलिए कलियुग-जैसे छद्मयुगमें—जिसमें मुख हृदयका दर्पण नहीं—उसका विशेष करके निषेध कर दिया गया है। इसी कामभावके न रखनेकेलिए ही कदाचित् नियोगकी विधिमें सम्पूर्ण अङ्गोंमें घृत लगाना (मनु० ९।६०) रखा गया हो कि उसका उससे स्पर्श न हो और वह शीघ्र च्युत हो जाय, केवल शुक्र-दान दे सके, स्त्री और पुरुष दोनों विलम्बच्युतिमूलक कामका आस्वाद न ले सकें। इसीलिए तदर्थ बूढ़े ब्राह्मणों वा कुरूप योगी मुनियोंका

बुलाना वहां रखा गया हो कि स्त्री उससे आस्वादको न प्राप्त हो सके, और न वह वृद्ध ब्राह्मण स्वयं आस्वाद प्राप्त कर सके। वृद्धमें शीघ्रच्युति स्वाभाविक है, और शीघ्र-स्खलनमें आस्वादका अवसर नहीं रहता। फिर 'एवमन्ये महेष्वासा ब्राह्मणैः क्षत्रिया भुवि। जाताः परमधर्मज्ञा वीर्यवन्तो महाबलाः' (महा० आदिपर्व १०४।५६), 'ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद् धनेनोपनिमन्त्र्यताम्। यः समुत्पादयेत् प्रजाः' (१०५।२) इस प्रकार गुणवान् ब्राह्मण इसलिए रखा गया हो कि उसका जीवन विषयी नहीं होता। वेदादिशास्त्रोंके बड़े-घने जङ्गलोंमें विचरना, उसमें भी बहुत विविध-व्रतप्रसक्त होनेसे तपोमय जीवन व्यतीत करना-यह उसका कार्य हुआ करता है, अतः वह दुर्बलेन्द्रिय होता है। उसका शुक्र उसके मस्तिष्कमें प्रवाहित होनेसे आस्वादके काममें वह नहीं आ सकता, इसीलिए उस (ब्राह्मण)को नियुक्त किया गया हो, यह सम्भव है; क्षत्रियोंमें ऐसा सम्भव नहीं। क्षत्रियोंमें विषयासक्ति बढ़ी-चढ़ी होनेसे ही उन्हें 'विषयेष्वप्रसक्तिश्च' (मनु० १।८९) इसके द्वारा बहुत विषयासक्तिका निषेध करके 'प्र' के साथका 'नञ्' कुछ विषयासक्तिकी छूट दे रहा है, और फिर पूर्वकालके अमोघवीर्य ब्राह्मणोंके एक बारके गमनमें ही—निरन्तर ब्रह्मचर्य-मूलक ऊष्मासे—तत्काल ही गर्भ हो जाता था, अतः उसमें वैषयिक-आनन्दका अवसर ही नहीं रहता था। क्षत्रियाणियोंके गर्भसे उत्पन्न लड़का ही राजा हो—यह उद्देश करके राजघराने की क्षत्रियाणियोंका नियोग विहित माना गया। राजाका रखना

अनिवार्य होनेसे ही पति-सन्तानहीन राजघरानेकी क्षत्रियाणियाँ ही नियोगका विषय रखी गईं। ब्राह्मणी तथा वैश्याओंके तथाभूत होने पर भी उनके ऐहिक कार्य आदिकी अनिवार्यता न होनेसे ही उन्हें नियोगका विषय नहीं बनाया गया।

फलतः इस दूसरे नियोगमें भी मैथुन होता हुआ-सा होता है, वस्तुतः उसे नहीं हुआ-सा मानना चाहिए। पर आजकलका 'कामोपहत-चेतन', भावशुद्धि एवं मनःशुद्धिसे विरहित, विषय-प्रसक्त, राजा वेनका अवतार यह युग उस या इस नियोगका अधिकारी नहीं। और फिर विषयप्रसक्तिवश इसमें अमोघवीर्यता न होनेके कारण बहुत वार जानेमें भी कदाचित् ही गर्भ होता है, तो फिर एक ही पुरुषके परकीय स्त्रीमें बहुत बार गमन करने पर विषयानन्दकी प्रसक्ति ही हो जाती है, पर वह विषयानन्द नियोगमें वर्जित है, जैसे कि कहा है—'या नियुक्ताऽन्यतः (ब्राह्मणादितः) पुत्रं देवराद् वाप्यवाप्नुयात्। तं कामजमरिक्थीयं वृथोत्पन्नं प्रचक्षते' (मनु० ९।१४७), नियुक्तायामपि पुमान् नार्यां जातोऽविधानतः।···पतितोत्पादितो हि सः (९।१०४); 'नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः। तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतल्पगौ' (९।६३), 'लोभान्नास्ति नियोगः' (वशिष्ठध० १७।५७)। अतः यह नियोग भी असामर्थ्यवश कलियुगमें वर्जित ही है, क्योंकि इसका प्रयोग असिधारावलेहन-के समान अतिदुष्करतर है। आजकल वह पूर्वकालकी भावशुद्धि तथा मनःशुद्धि कैसे मिल सकती है?

'कामरहित मैथुनवाले नियोगके पक्षमें यद्यपि गर्भाधानके समय 'काम' का नितान्त अभाव असम्भव है, क्योंकि विना-कामके मिथुनीभाव कैसे हो, और विना मिथुनीभावके सन्तान कैसे हो? तब यहाँपर कामराहित्य क्या हुआ? ऐसी शंका हो सकती है, तथापि इस पर यह जानना चाहिए कि गर्भाधानके लिए तदुपयुक्त 'काम' तो धर्मत्वेन अनुज्ञात होता है, क्योंकि नियोगमें धर्मतः प्रजननका ही उद्देश्य रखा जाता है, तब उसमें उतना 'काम' तो अनिवार्य ही होता है, वह धर्मविरुद्ध-कोटिमें नहीं आता, अतः सह्य ही होता है। तभी तो 'धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!' (भगवद्गीता ७।११), 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' (१०।२८) इत्यादि वचनोंमें भगवान्ने उस कामको अपना रूप माना है, अतः यह निन्दित कामकोटिमें नहीं आता, अतः उसे काम ही नहीं कहा जाता। ऋतुकालमें सन्ततिनिमित्त स्वस्त्रीगमनको भी तो कामकोटिमें न रखकर धर्मकोटिमें ही रखा जाता है। तभी तो उस कामका पात्र अपनी सवर्णा स्त्रीको 'धर्मपत्नी' माना जाता है, 'कामपत्नी' नहीं। कामार्थ तो भिन्न वर्ण की (मनु० ३।१२-१३) वा शूद्रा आदि (निरुक्त १२।१३।२) स्त्री के ग्रहण का वर्णन आता है।

शीघ्रच्युतिके लिए वृद्धकी अपेक्षामें यद्यपि उसके शैथिल्य-में मिथुनीभाव का असम्भवित्व प्रतीत होता है, और शीघ्रच्युति-में समकालीन स्खलन न होनेसे शुक्राणु एवं डिम्बाणुओंका गर्भाधानोपयोगी मिश्रण न होनेसे गर्भस्थितिका असम्भवित्व

भी प्रतीत होता है, तथापि वहाँ तपस्वी ब्राह्मणोंकी तपस्या तथा अमोघवीर्यता उन दोषोंको दूर कर देती है। जब उनकी अमोघ-वीर्यता स्त्रीकी अपेक्षा भी नहीं रखती, कलश आदिमें भी सन्तान कर देती है, तब वह स्त्रीके डिम्बाणुओंके मिश्रणकी ही अपेक्षा क्यों करेगी ? आजकलके वैज्ञानिक यान्त्रिक-गर्भाधानमें भी तो कामवासना न होनेसे अणुओंका वह प्राकृतिक मिश्रण नहीं होता।

अनासक्तियोगके विशेषज्ञ, कृत आदि युगोंमें क्षत्रियादि कई रहे हों, इसलिए मन्वादिके समयमें सभी द्विजोंको कदाचित् नियोगकेलिए अनुज्ञा दी गई हो, पर त्रेतामें वैसे क्षत्रिय अपवादभूत बहुत कम रहे हों, और द्वापरमें उनका बहुत कुछ अभाव रहा हो, अतः इन युगोंमें भी ब्राह्मणोंमें वैसा सामर्थ्य देखकर तदर्थ केवल उन्हें ही नियुक्त कर दिया गया हो, और कलिमें वैसा सामर्थ्य न देखकर सभी द्विजोंको नियोगका निषेध कर दिया गया हो, यह सम्भव है। मनुका नियोग-निषेध कलि-परक माना जाता है, इसमें बृहस्पतिकी सम्मति भी मिल जाती है।

यद्यपि आजकलके वैज्ञानिक-गर्भाधानमें अङ्गसङ्ग, काम-वासना, मैथुन आदि दोष नहीं रहते, अतः कलिवर्ज्यता भी नियोगकी व्यर्थ कही जा सकती है, तथापि भविष्यद्-द्रष्टा मुनियोंको इसमें भी कदाचित् कोई अयुक्तता दीखी हो, तभी उन्होंने उसकी कलिवर्ज्यता अक्षुण्ण रखी हो, क्योंकि ऐसा गर्भाधान भी तो एकान्तमें होगा। तब भी कोई वासनिक मैथुन करके बाहरीरूपसे कह दे कि 'हमने वैज्ञानिक-रीतिसे गर्भाधान

किया है', इस आशङ्कासे उन मुनियोंने नियोगका कलिमें निषेध ही स्थिर रखा हो। अथवा 'दिव्येन हेतुना' आदि शब्दोंके विरुद्ध उन्हें यह प्रकार 'भौतिक' प्रतीत होनेसे शास्त्रविरुद्ध प्रतीत हुआ हो, उसमें कई हानियाँ देखकर उन्होंने इस वैज्ञानिक गर्भाधानकी भी उपेक्षा करके नियोगकी कलिवर्ज्यता स्थिर ही रखी हो।

एक यह भी प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'मनुने नियोग-में ब्राह्मणका नाम सीधा न लेकर 'देवर' वा 'सपिण्ड' का नाम लिया है, इससे उनको 'देवर' पतिका भ्राता ही इष्ट है। उसमें अन्य भी एक कारण इष्ट हो सकता है, वह यह कि 'भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः' (२।२२६) कहकर मनुने भाई-भाईका अभेद दिखलाया है। यही कारण है कि वाग्दत्ताका पति मरने पर उस पतिके भाई अर्थात् देवरसे—फिर वह चाहे ज्येष्ठ हो वा अनुज, मनु उस कन्याके विवाहकी (९।६९ पद्यमें) अनुमति देते हैं। इसमें अनुमान यही है कि 'भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः' के ही आधार पर 'देवराद् वा सपिण्डाद् वा' लिखकर मनुने उसका नियोगमें अधिकार दिखलाया है, पर उसमें अदेवर-ब्राह्मणका अधिकार कैसे ? वह ब्राह्मण तो उस क्षत्रिय-पतिकी अपनी मूर्ति न होकर परकीय हो जायगा, और साङ्कर्यप्रसङ्ग उपस्थित होगा। तब महाभारतादिमें नियोगमें ब्राह्मण कैसे बुलाया गया ?'

इस पर उत्तर यह है कि ब्राह्मणसे क्षत्रियके उत्पादनमें भी ब्राह्मणकी अन्यता मन्वनुसार नहीं रहती। मनु ब्राह्मणकोही

क्षत्रियका कारण मानते हैं, जैसे कि 'क्षत्रस्याऽतिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः। ब्रह्मैव सन्नियन्तृ स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्म-सम्भवम्' (९।३२०), 'अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रम् अश्मनो लोहमुत्थितम्। तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति' (९।३२१), 'नाऽब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते' (९।३२२) इन मानव पद्योंके मनन करनेसे प्रतीत होता है कि जब क्षत्रिय-शक्ति उच्छृङ्खल हो जाय, तब उसको ढीला करना वा दबाना भी ब्राह्मणका कार्य है। जब वह क्षीण हो जाय, तो 'नाऽक्षत्रं ब्रह्म वर्धते' इस प्रकार जब श्रीमनुके अनुसार क्षत्रकी योनि—मूल कारण—ब्रह्म (ब्राह्मण-शक्ति) है, और ब्रह्मके विना क्षत्रकी ऋद्धि नहीं हो सकती और क्षत्रका सम्भव ब्रह्मसे ही है, क्षत्र ब्रह्मके ही अनन्तर है—'स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः' (मनु. १०।८१), तब क्षत्रियाओंके नियोगमें ब्राह्मणको नियुक्त करता हुआ 'महाभारत' पारस्परिक ईषद्भेद होने पर भी मनुसे विरुद्ध नहीं।

जब देवर भी पतिकी सपिण्डतामें आ जाता है, तब मनुने केवल सपिण्डका नाम न लेकर देवरको पृथक् क्यों कर दिया? तथा 'या नियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद् वाऽप्यवाप्नुयात्' (९।१४७) यहाँ देवरका नाम कहकर 'अन्यतः' पृथक क्यों कहा? इससे नियोगमें ब्राह्मणकी द्वितीयता होने पर देवरत्वकी गुञ्जायश हो जाती है। शेष रहा सपिण्डत्व न होना, सो 'देवराद्वा सपिण्डाद् वा' यह विकल्प दोनोंमें एक का होना बतला रहा है, बल्कि यही विकल्प—यही पुनरुक्ति—यहाँ ब्राह्मणकी उपस्थिति करा

देती है। अथवा जब ब्रह्म क्षत्रका योनि माना गया है, तो सपिण्डता भी सम्भव हो जाती है, तभी तो पुराणेतिहासमें ब्राह्मण-ऋषियोंका राजाओंसे विवाहार्थ कन्या-ग्रहण भी कहीं-कहीं आया है, तभी तो किसी राजाके मरने पर उसकी सन्तति न होने पर उसकी अन्त्येष्टि ब्राह्मण-द्वारा करा दी जाती है, उसमें सपिण्डन-कर्म भी तो होगा, यह क्यों? कई ब्राह्मणोंके गोत्र वा जातियाँ क्षत्रियोंकी भी देखी गई हैं, यह क्यों? कई ब्राह्मणोंके पुराणोंमें ब्राह्मण, क्षत्रियादि भी लड़के कहे गये हैं, यह क्यों? इसमें रहस्य यही है कि आपत्तिकाल-नियोगादिमें क्षत्रोत्पादनार्थ ब्रह्म ही अपेक्षित होता है और ब्रह्मको अपने वृद्ध्यर्थ क्षत्र अपेक्षित होता है। इसीलिए परशुराम-ब्राह्मण द्वारा क्षत्रशक्तिके नियन्त्रणार्थ क्षीणता करने पर फिर उस (क्षत्र) के ऋद्ध्यर्थ मन्वनुसार (९।३२-३०१-२२) ब्रह्मशक्ति अपेक्षित हुई। इसीलिए 'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं च उभे श्रियमश्नुताम्' (वा. माध्यं यजुर्वेदसं. ३२।१६), 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव, तदेकं सन्न व्यभवत्—श्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रम्। तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। तस्माद् यद्यपि राजा परमतां गच्छति, ब्रह्मैव अन्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्' (बृहदारण्यक १।४।११) पूर्व-सिद्धान्तके सहायक एतदादि-वचन मिलते हैं। 'भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः' के कारण नियोगमें देवर मानने पर तो विवाहमें भी 'भ्रातृजाया' पर आत्मीयतामूलक अधिकार माना जा सकता है, पर यह अनिष्ट है।

फलतः महाभारतीय क्षत्रियाणियोंके नियोगमें ब्राह्मण देवर-स्थानापन्न हैं, इसमें कोई मनुविरोध नहीं पड़ता। तभी श्रीवेद-व्यासके ब्राह्मण होनेपर भी उनको लक्ष्य करके क्षत्रिया-कौशल्या-केलिए 'कौशल्ये! देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति' (महा. १।१०६।२) इस प्रकार 'देवर' शब्द प्रयुक्त किया गया है, अन्यथा सत्यवतीके कौमार्यमें ब्राह्मणोत्पन्न तथा ब्राह्मण और ज्येष्ठ श्रीव्यासको क्षत्रिया कौशल्याका 'देवर' क्यों कहा जाता? अतः क्षत्रियाओंके नियोगमें ब्राह्मणका आना मनुविरुद्ध नहीं।

यद्यपि इस पक्षमें इन आपत्तियोंके इस प्रकार समाधान हो तो जाते हैं, तथापि यह दूसरे (मैथुनिक) दृष्टिकोणका पक्ष पहले (अमैथुनिक) दृष्टिकोणकी अपेक्षा दुर्बल है और बहुत खतरनाक है, कई संशयोंको जन्म देनेवाला है, कई शास्त्रीय विरोध उपस्थित कर देता है, अतः सर्वथा स्वीकर्तव्य नहीं। एतदादिक बातोंको सोचकर कलिमें नियोगका ही निषेध कर दिया गया है।

इस प्रकार हमने 'नियोग और मैथुन' में पूर्व तथा इस निबन्धमें दो प्रकारके दृष्टिकोण दिखा दिये। अब निष्पक्ष विद्वत्पाठकोंकी इच्छा पर निर्भर है, जिसे वे निर्दोष समझें। पर स्वा.द.जीसे प्रवर्तित नियोग तो इन दोनों ही कोटियोंमें नहीं आता, उसमें तो विषयानन्दको स्पष्ट प्रोत्साहन दिया गया है, यह गत निबन्ध में बतला दिया गया है, अतः वह स्पष्ट अशास्त्रीय है, और प्रभूत-हानि-प्रद है, अतः किसी भी युगमें सर्वथा ही

आचरणीय नहीं। इस विषयानन्दके युगमें भी उसका आचरण लज्जास्पद सिद्ध हुआ है, तभी तो बहुत शास्त्रार्थों वा प्रयत्नोंके होनेपर भी आर्यसमाजमें भी वह चालू न हो सका। केवल इतना ही नहीं, बल्कि स्वा० द०जीने जिन वेदमन्त्रों वा स्मार्तपद्योंका नियोग-परक अर्थ लगाया है, स्वा० द०जीके अनुयायी आर्यसमाजी और भी उसका अर्थ नियोगपरक न करके विधवाविवाहपरक ही लगाते हैं। इससे उनके नियोगकी निर्मूलता तथा अनर्थावहता उन्हींके अनुयायियों द्वारा भी सिद्ध होती है। उन (स्वा० द०) के नियोगमें क्या-क्या हानियाँ हैं, वा क्या-क्या दोष हैं—यह भिन्न पुष्पमें बतलाया जायगा।

---

(१६) सायण और विधवाविवाह

'क्या विधवाविवाह अधर्म है?' एक ट्रैक्ट 'श्रीश्यामजी शर्मा काव्यतीर्थ, अवसर-प्राप्त हेड-पण्डित गवर्नमेण्ट इङ्गलिश हाईस्कूल, ग्राम भदवर, पो० कुलहरिया, जिला शाहाबाद' का बनाया हुआ हमें मिला था, उक्त महाशयने उसमें द्विजोंमें विधवाविवाहका निषेध करनेके कारण आर्यसमाज-प्रवर्तक स्वा.द.जीका भी घोर खण्डन किया है। इधर श्रुति-स्मृतिके वाक्योंसे उसमें बलात् विधवा-विवाह सिद्ध करनेकी चेष्टा की गई है। हमारे लिए, उनसे दिये हुए एतद्विषयक युक्ति-प्रमाणोंमें एक भी युक्ति वा प्रमाण नया नहीं है। हमने 'आलोक' में वैसे आक्षेपोंका समाधान प्रायः पाँच सौ पृष्ठोंमें कर रखा है। प

यहाँ उतना स्थान नहीं। इधर लेखक-महाशय 'श्रुतिस्मृतिपुराणानां विरोधो यत्र दृश्यते। तत्र श्रौत्रं (तं?) प्रमाणं तु द्वयोर्द्वैधे स्मृतिर्वरा' इस 'व्यासस्मृति' के प्रमाणको देकर वेदमें अपनी श्रद्धाको विशेष प्रकट करते हैं। तब उनके दिये गये वेदमन्त्रों पर विचार करनेसे उनका सब समाधान हो जायगा, यह विचार-कर उनके दिये वेदमन्त्रों पर विचार किया जाता है। लेखक-महाशय अपनेको आर्यसमाजी बतलाते हैं और ३६ वर्षसे विधवाविवाहका प्रचारक कहते हैं। पुस्तककी भूमिकासे प्रतीत होता है कि विधवाओंकी दुर्दशासे उनके कोमल-हृदय पर प्रहार लगा है। तब उन्होंने वेदकी कण्डिकाओंसे बलात्कार करके उनमेंसे विधवाविवाह निकाला। वस्तुतः वेदमन्त्रोंमें विधवाविवाहका गन्ध भी नहीं है।

यह और निवेदन है कि काव्यतीर्थजीने वेदमन्त्रों पर कुछ सायणभाष्य तथा दयानन्दभाष्य उद्धृत किया है। उनमें दयानन्दभाष्यमें तो उन मन्त्रोंसे विधवानियोग निकलता था, विधवाविवाह नहीं। अतएव उस भाष्यसे तो उनकी इष्टसिद्धि नहीं हुई। तब शेष अपूर्ण-सायणभाष्यसे उन्होंने विधवाविवाहकी सिद्धिकेलिए प्रयत्न किया है। पर वह भी असफल होगया, क्योंकि श्रीसायणाचार्य वेदमें विधवाविवाह नहीं मानते, यह आगे स्पष्ट हो जायगा।

एक और निवेदन है कि उन वेदमन्त्रोंका काव्यतीर्थजीने स्वयं अर्थ नहीं किया। तब आश्चर्य है कि उनसे विधवाविवाह

किस प्रकार निकल पड़ा? अब पहले हम यह सिद्ध करते हैं कि श्यामजीके कहे अनुसार श्रीसायणने उनके दिये मन्त्रोंमें विधवाविवाह नहीं माना।

एक रहस्य पाठकोंको हम यह भी बतला देते हैं कि मालूम होता है कि काव्यतीर्थजीने स्वयं कदाचित् वेदोंका दर्शन नहीं किया। कई विधवाविवाह-विषयक ट्रैक्टोंको देखकर उनसे ही उन-उन मन्त्रोंके भाष्य सङ्कलित किये हैं। श्रीबदरीदत्त जोशीकृत 'विधवोद्वाहमीमांसा', श्रीगङ्गाप्रसाद उपाध्यायकृत 'विधवा-विवाहमीमांसा' आदि बहुतसे ट्रैक्ट आर्यसमाजमें प्रचलित हैं। उन्हींको देखकर श्यामजीने अपनी योजनासे अपने ट्रैक्टकी तोंद बढ़ा दी मालूम होती है। इसलिए बहुत स्थानोंमें अशुद्ध उद्धरण भी संगृहीत कर दिये—यह आगे चलकर स्फुट हो जायगा।

अन्य निवेदन एक यह भी है कि विधवाविवाहके आग्रही इस महोदयने 'सधवाविवाह' सिद्ध करनेकी भी दुश्चेष्टा की है, और असवर्णविवाह की भी। यह लेखककी निर्मर्यादता है। विधवाविवाहका लौकिक-विमर्श हम आगे देंगे। अब शास्त्रीय विमर्श उपस्थापित किया जाता है। पाठक अवहित हों।

काव्यतीर्थ - महाशय लिखते हैं—'वेद और विधवाका पुनर्विवाह' अथर्ववेदके काण्ड १८।३।१—२ में ये वचन हैं—'इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि।' 'उदीर्ष्व नारि!

अभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्त-वेदं पत्युः जनित्वमभिसम्बभूथ ॥' (पृ० ६)।

प्रतीत होता है कि श्रीश्यामजीने अथर्ववेदका दर्शन नहीं किया, क्योंकि अथर्ववेदके इस मन्त्रमें 'दिधिषोः' पाठ नहीं; किन्तु 'दधिषोः' है। खेद है-बलात् विधवाविवाह-साधक उक्त महाशय वेदमें भी प्रक्षेप कर रहे हैं। इसका कारण आँखों पर विधवाविवाहका उपनेत्र धारण करना ही है, जिससे कुछ लिखा हुआ कुछ अन्य पढ़ा जाता है।

आगे वे लिखते हैं—'दूसरा मन्त्र (उदीर्ष्व···) ऋग्वेद (१०।१८।८) में भी है। वहाँ 'गतासुम्' के स्थानमें 'इतासुम्' और 'सम्बभूथ' के स्थानमें 'सम्बभूव' है।' इससे भी प्रतीत होता है कि काव्यतीर्थ-महाशयने ऋग्वेदका भी दर्शन नहीं किया। ऋग्वेदमें 'गतासुम्' 'सम्बभूथ' यही पाठ है। प्रत्यक्षमें और प्रमाण क्या? 'वैदिक यन्त्रालय, अजमेर' में प्रकाशित वेदको ही देख लें। यही महाशय वेदसे विधवाविवाह सिद्ध करना चाहते हैं—यह पाठक न भूलें।

आगे लिखते हैं—'अथर्ववेदका सायणभाष्य, मैंने नहीं देखा, इस कारण उनका भाष्य नहीं दिया।' जब आपने अथर्ववेद ही नहीं देखा, तब उसका सायणभाष्य कैसे देखते? यदि आप उसका सायणभाष्य देख लेते, तो आपका 'विधवाविवाह' ही विध्वस्त हो जाता—यह हमारा निश्चय है। वास्तवमें आपने 'विधवाविवाहमीमांसा' आदि ट्रैक्टोंसे ही यह सब कुछ उद्धृत

किया है। उनके कर्ताओंने अथर्ववेदके सायणभाष्यको अपने पक्षका विघातक देखकर उद्धृत नहीं किया। यही आपका उसके न देखनेमें रहस्य है। आगे आपने पृ० ७-८ में उक्त मन्त्रोंका दयानन्दभाष्य उद्धृत करके उसका नियोग-परक अर्थ खण्डित करके उससे विधवाविवाह अर्थ सिद्ध करनेकी चेष्टा की है।

पृष्ठ ६ में आप लिखते हैं कि 'ऋग्वेद और अथर्वकी यह ऋचा 'तैत्तिरीय-आरण्यक' में भी है। वहाँ लिखा है—इस मन्त्रको पढ़ता हुआ 'पतिस्थानीयः देवरः जरद्दासो वा स्त्रियमुत्थापयेत्' पतिका प्रतिनिधि देवर, जो कि द्वितीय वर है (निरुक्त) वा बूढ़ा नौकर स्त्रीको उठावे।' यहाँ पर भी पाठक जानें कि अथर्ववेद, ऋग्वेदकी तरह काव्यतीर्थ-महाशयने 'तैत्तिरीयारण्यक' भी नहीं देखा। ये चले हैं वेद से विधवाविवाह सिद्ध करने। धन्य हैं ये अनुसन्धाता। तैत्तिरीयारण्यकमें उक्त पाठ नहीं—यह पाठक याद रखें।

आगे वे लिखते हैं कि "सनातनी पण्डित अर्थ करते समय 'पतिस्थानीयः'—पति का स्थानापन्न—इतना अंश छोड़ देते हैं।" हम इस पर कहते हैं कि ऐसा नहीं, सनातनधर्मी पण्डित आप लोगोंकी तरह इधर-उधरका अंश छोड़कर नहीं लिखते, किन्तु पूरा लिखकर उसका ग्रन्थकाराभिप्रेत आशय बतला दिया करते हैं। आपने ही 'अन्तेवासी जरद्दासो वा' इस पाठमें 'अन्तेवासी' शब्द छोड़ दिया है। यदि 'देवर उसको उठाता है' इससे

आपने देवरके साथ उसका विवाह मान लिया, तो अन्तेवासी तथा जरद्दास जो कि देवर न होनेपर उस स्त्रीको उठाता है, वह भी स्त्रीके सहवासी होनेसे क्या विवाहके लिए उसको उठाता है? यदि नहीं, तो देवर भी उसको विवाहके लिए नहीं उठाता। यदि कहो कि 'अन्तेवासी (शिष्य)की गुरुपत्नी होने तथा दासकी स्वामिनी होनेसे वह स्त्री उनकी मातृतुल्या हो जाती है, इसलिए उनसे उस स्त्रीका विवाह नहीं होता', तो देवरकी भी ज्येष्ठभ्रातृ-पत्नी वा कनिष्ठभ्रातृपत्नी होनेसे वह उसकी माता वा स्नुषाके समान है, जैसा कि मनुजीने कहा है—"भ्रातुर्ज्येष्ठस्य या भार्या गुरुपत्न्यनुजस्य सा। यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता" (६।५७); तब देवरको भी उसके गमनसे पतन होगा, जैसे कि मनु के ६।५८ पद्य में कहा है। आपने 'देवर' का अर्थ यहाँ 'द्वितीय वर' कर डाला हैं, तब 'पतिस्थानीयः देवरः' इन दो शब्दोंमें पुनरुक्ति हो जाती है, फिर तो 'पतिस्थानीयः तामुत्थापयेत्' अथवा 'द्वितीय-वरः तामुत्थापयेत्' इन दो में एक वाक्य पर्याप्त है, आप इसका क्या उत्तर रखते हैं? यदि स्त्रीको उठाना विवाहके लिए है, तो बूढ़े नौकर वा शिष्यके द्वारा उठाना क्यों लिखा गया? यदि आप इस अनुपपत्ति से डरकर 'देवर'का-अर्थ 'पति का भ्राता' कर डालें, 'पतिस्थानीयः' उसका विशेषण मानें, तो क्या उस पत्नीका पति जिस दिन बाहर हो, तो वह 'देवर' उसकी पत्नीका शय्यासहचर हो सकता है? यदि नहीं, तब वह 'पतिस्थानीय' क्या हुआ? यदि कहो कि 'पतिस्थानीय' का

'शय्यासहचर' अर्थ नहीं, किन्तु पतिके स्थानमें रक्षा आदि का अधिकारी है, तो इसी प्रकार पतिकी मृत्युमें भी वही उसका अर्थ होगा। महाशय! कृत्रिमताओंमें अनुपपत्तियोंका आना स्वाभाविक होता है, आप कृत्रिमताओंकी प्रकृति छोड़ दीजिये।

सायणने 'तैत्तिरीयारण्यक' में 'तां प्रति गतः सव्ये पाणाव-भिपाद्य उत्थापयति" यह लिखा है। यदि यहां विवाह इष्ट होता, तो उसे दाहिना हाथ पकड़कर उठाना पड़ता, न कि बायां हाथ पकड़कर। 'सव्य' बायें को कहते हैं। इधर श्रीसायणने 'तैत्तिरी-यारण्यक' में 'तत्पुत्रो भ्राता वा अन्यो वा प्रत्यासन्नबन्धुः उत्थापयति' यह लिखा है। तब क्या सती हो रही हुई उस स्त्रीको उसका लड़का वा भाई वा अन्य नैकटिक सम्बन्धी विवाहकेलिए उठाता है कि उठो मुझसे विवाह कर लो? वास्तवमें काव्यतीर्थजी धन्य हैं।

देवरको 'पतिस्थानीय' इसलिए लिखा गया है कि वह पतिका भाई होता है, पतिके बाहर होने पर वही भ्रातृपत्नीके कार्य पूरे किया करता है। इससे श्यामजीको क्या सन्देह होगया? इसका यह आशय नहीं कि पति यदि यात्रामें गया है, तो वह उसकी पत्नीका शय्यासहचर भी साथ बन जाय। नहीं, ऐसा नहीं। जब वह पतिस्थानीय है, पतिकी देशान्तरयात्रामें उसकी स्त्रीका शय्यासहचर नहीं हो सकता, तब वही उसके पतिकी महायात्रामें भी उसकी स्त्रीका तल्पगामी नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्त्री उसकी माताके समान है।

जिस ग्रन्थ (आश्वगृ.) में यह पाठ है—यह आप नहीं जानते, उसकी ही टीकामें गार्ग्यनारायणने स्पष्ट कहा है—'अनेनैव ज्ञायते पतिकर्तृकं पुंसवनादिकर्म पत्यभावे देवरः कुर्याद्' इति। इसी प्रकार श्रीहरदत्ताचार्यने भी उक्त सूत्रके भाष्यमें कहा है—'पतिस्थानीयत्वं रक्षणाद्यभिप्रायम्।' इससे स्पष्ट है कि पतिके दूरदेशादिमें होने पर पुंसवनादि संस्कार तथा भ्रातृपत्नीका संरक्षण देवर करे, तब पुंसवनसे पूर्वके गर्भाधान तथा विवाहसंस्कारमें उस देवरका अधिकार सिद्ध न हुआ। इधर विवाह-समयसे ही 'अदेवृघ्नि' (अ० १४।२।१८), 'प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च' (अ. १४।१।३९), 'देवृकामा' (ऋ. १०।८५।४४) इस प्रकार देवरका नाम आता है। देवरका अर्थ आपके मतमें 'दूसरा पति' है, तो क्या कन्याका आरम्भसे ही दो वरोंसे विवाह हो जाता है? वास्तवमें आप लोगोंके ही सिर पर व्यभिचारराज्यप्रसारका श्रेय है।

पाठकोंने अच्छी तरह देखा होगा कि रिटायर्ड हेड पंडितजी ने ट्रैक्टोंसे इधर-उधरके प्रमाण इकट्ठे किये हैं, स्वयं उन-उन पुस्तकोंके प्रमाण उन्होंने नहीं देखे। तभी उन्हें सायणभाष्यमें विधवाविवाहका गन्ध आया। यह सब उन ग्रन्थोंके न देखने वा अपरिचयका फल है। अस्तु, अथर्ववेदका सायणभाष्य उनने देखा नहीं—यह बतलाया जा चुका है। फिर उनने 'इयं नारी' मन्त्रका दयानन्दभाष्य दिखलाया है। स्वा.द.जीने उक्त मन्त्रमें नियोग अर्थ माना है। स.प्र. आदिमें विधवाविवाह स्वामीजीने

सर्वथा निषिद्ध किया, परन्तु अपने-आपको आर्यसमाजी कहते हुए भी काव्यतीर्थजीने तथाकथित अपने महर्षिका अज्ञान सिद्ध करते हुए उसी मन्त्रसे विधवाविवाह सिद्ध करनेकी असफल चेष्टा की है। स्वा.द.जीसे लिखे मन्त्रमें अविद्यमान 'नियोग-विधानेन' इस पदका श्यामजीने खण्डन किया है और स्वामीजीको उपालम्भ दिया है कि आपने उक्त पद कहांसे निकाला? इस प्रकार उलहना देते हुए भी काव्यतीर्थजीने 'पुनर्विवाहविधानेन' यह पाठ वहाँ करके अपना भी खण्डन कर डाला है। खेद!!! ये लोग वेदमन्त्रोंमें भी प्रक्षेप कर रहे हैं। मालूम नहीं कि विधवाविवाहका इनको कैसा आस्वाद लगा है, जो इनकी दृष्टि मन्दता तो क्या, उल्टा चार आँखें कर दिया करता है। अपना प्रक्षिप्त पाठ भी इनको वेदमें लिखा दीख जाता है।

आगे काव्यतीर्थ-महाशय 'उदीर्ष्व नारि!' इसका अर्थ सायणाचार्यके अनुसार दिखलाते हैं—'हे नारि! मरे हुए इस पतिके पास सोई हुई है, इसके पास से उठ, जीते हुए मनुष्योंकी ओर लक्ष्य करके आ। 'हस्तग्राभस्य दिधिषोः' पुनः पाणिग्रहण करनेवाले पतिके इस पत्नीभावको पूर्णरूपसे स्वीकार कर।' यह लिखकर पण्डितजी उस पर टिप्पणी लिखते हैं—'सायणाचार्यने 'दिधिषोः' का अर्थ लिखा है—'पुनर्विवाहेच्छोः' पुनर्विवाहकी इच्छा रखनेवाला।'

यही श्यामजीके पास वैदिक बल है। उनका यह अभिप्राय है कि सायण 'इयं नारी', 'उदीर्ष्व नारि!' इन मन्त्रोंका विधवा

विवाह अर्थ करता है। इससे उनको इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने स्वसम्मत अर्थ ही नहीं लिखा, इस सायणभाष्यके आगे अपना सिर झुका दिया।

अब हम उक्त दोनों मन्त्रोंका सायणभाष्य उद्धृत करते हैं, 'आलोक'-पाठक देखेंगे कि इस आर्यसमाजी-महाशयने कितनी प्रतारणा की है। सायणाचार्यने इन दोनों मन्त्रोंका अर्थ अथर्ववेदभाष्यमें, तैत्तिरीयारण्यक-भाष्यमें और 'उदीर्ष्व' मन्त्रका ऋग्वेदभाष्यमें किया है। सब भाष्योंके उद्धरणसे 'आलोक' पाठकोंको स्वयं ज्ञात हो जायगा कि सायणको 'पुनर्विवाहेच्छोः' पदसे क्या आशय इष्ट है। तब सायणभाष्यके आश्रयसे बनाया हुआ काव्यतीर्थ-साहब का कल्पनाप्रासाद स्वयं ही गिर पड़ेगा। पाठक यह कौतुक देखें।

कई लोग आजकल सामयिक-स्मृति बनानेकेलिए अनुरोध किया करते हैं, पर उन्हें जानना चाहिये-कि कालानुकूल स्मृतियोंमें बार-बार परिवर्तन करना पड़ेगा। क्या उसमें बार-बार परिवर्तन उनकी महत्ताका सूचक होगा? देखिये स्वा.द.जीने भी एक कालानुकूल अपनी स्मृति बनाई, जिसका नाम 'सत्यार्थप्रकाश' रखा। उसमें उन्होंने द्विजोंमें विधवाविवाह सर्वथा नहीं माना। शूद्रोंमें विधवाविवाह माना है। पीछे उनके अनुयायी लोगोंने सब वर्णोंमें विधवाविवाह स्वीकार कर लिया। इस तरह पहलेसे कुछ परिवर्तन हुआ। पर उन्होंने भी आरम्भमें अक्षतयोनिका पुनर्विवाह माना। कालान्तरमें इसमें भी परिवर्तन

हुआ। क्षतयोनिका भी पुनर्विवाह मान लिया गया। फिर अपुत्राका पुनर्विवाह माना गया। कालान्तरमें वे सपुत्रा-विधवाओंका भी उनकी विषयविलास-कामनासे विवाह करने लग गये। फिर कुछ परिवर्तन हुआ। अब तो फिर वे सधवाविवाह भी करने लग गये हैं कि 'अजी इसके लिए पति अनुकूल नहीं है, अतः इसके लिए अन्य पति दिया जाय।' काव्यतीर्थ-महाशयने भी अपनी पुस्तकमें सधवाविवाह लिख डाला है। अब देखिये कालानुकूल बनाई हुई स्मृतियोंमें भी कितने परिवर्तन होगये? अब भी सीमा बाँधी नहीं गई, मालूम नहीं यह नाव किस किनारे जा टकरायेगी? अब शायद विधवाका मुसलमान वा पारसीको देना भी जायज मान लिया जाय, राष्ट्रीयताका दम भरनेवाले राजा महेन्द्रप्रताप तो हिन्दुकुमारियोंका भी मुसलमानोंसे विवाह कर देने की आज्ञा देते थे। इस प्रकार ये लोग रहे-सहे भी पातिव्रत्यधर्मको नष्ट करना चाहते हैं। तब श्रीश्यामजीको चाहिए कि विधवाविवाह अधर्म है?' यह अपनी पुस्तकका नाम बदल डालें। अब वे अपनी दो पुस्तकें बनायें। पहली 'क्या विधवाविवाह अधर्म है?' दूसरी 'क्या सधवाविवाह अधर्म है?' इस प्रकार अब 'तलाक भी धर्म है' तीसरी तथा 'श्यामजी वा सुधारकोंसे सम्मत सब कुछ धर्म है' यह चौथी पुस्तक भी प्रकाशित कर दें, जिसकी सम्भावना अपनी पुस्तकमें उन्होंने बाँध दी है।

हेडपण्डित जीने एक नई अद्भुत बात भी लिख डाली है,

उसे संसारके कमसे कम आर्यसमाजी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चाण्डालादिको याद रखना चाहिये। 'श्यामजी शर्मा' यह लिखते हुए उन्होंने अपने आपको ब्राह्मण दिखलाया है। मालूम नहीं कि वे जन्मसे ब्राह्मण हैं या गुण-कर्म्मसे? वे लिखते हैं कि किसी भी स्त्रीका पति अब्राह्मण हो, तो ब्राह्मण कोई भी अर्थात् श्रीश्यामजीकी जातका बन्धु कोई उस स्त्रीका पाणिग्रहण कर ले, तो वह ब्राह्मण ही उसका जायज पति रहेगा, उस समय अब्राह्मण अर्थात् क्षत्रिय आदिको उस स्त्रीका पतित्व छोड़ देना चाहिए, तब उस स्त्री पर पहलेके अब्राह्मण पतिका कोई भी अधिकार न रहेगा, वह विवाहविच्छेदका अधिकारी होगा और यह वैदिक-धर्म है!

हे आर्यसमाजी क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज आदि महाशयो! क्या आप श्रीश्यामजीसे सम्मत इस 'वैदिक-धर्म'को स्वीकार करनेके लिए तैयार हैं? इस प्रकार तो बहुतसे अविवाहित ब्राह्मण वेदकी इस आज्ञाको पूर्ण करनेमें कमर कस लेंगे। पाठकगण! आपने काव्यतीर्थजीका अपूर्व अध्यवसाय देखा? खेद! 'नीम हकीम खतरा-ए जान, नीम मुल्ला खतरा-ए ईमान' इस लोकोक्तिको चरितार्थ करते हुए यही 'नीम मुल्ला' लोग हिन्दु जनताकी अतिशयित हानि करनेवाले हैं, सतीत्वधर्मके पाटच्चर हैं, अपने पक्षके समर्थनमें ये लोग युक्तायुक्तत्व भी नहीं सोचते। जनताको इन लोगोंसे सावधान हो जाना चाहिए।

वे लिखते हैं—"ब्राह्मणवर्णको छोड़ यदि स्त्रीके पहले दश

पति हो चुके हों, और पीछे ब्राह्मणने पाणिग्रहण किया, तब वही एकमात्र पति समझा जायगा" (पृ० २४), "इस मन्त्रसे स्त्री किसी [भी] वर्णके पुरुषके साथ विवाह कर सकती है" (पृ० २३)

वास्तवमें इस अर्थमें त्रुटि है। 'एकमात्र पति समझा जायगा' इस शब्दसे 'दश पति हो चुके हों' यह शब्द कट जाता है। किन्तु 'दश पति हों' इस प्रकार उन दश पतियोंकी वर्तमानता सूचित होती है, नहीं तो 'दश पति हो चुके हों' इस उनके शब्दसे अब दस पतियोंके अभावसे "तब वही एकमात्र पति समझा जायगा' ये उनके शब्द व्यर्थ होते हैं। यहां सूक्ष्मतासे विचारकी आवश्यकता है। वास्तवमें उक्त मन्त्रका ऐसा अर्थ नहीं है, किन्तु अन्य है, यह आगेके निबन्धमें देखें।

स्वा. वेदानन्दजीने स० प्र० के टिप्पणमें इस मन्त्रके अर्थमें और लीलाकी है। वे लिखते हैं—"स्त्रीके यदि 'अब्राह्मण-सन्तान उत्पन्न करनेमें असमर्थ दस भी पहले पति हों, [उस अवस्थामें] यदि ब्रह्मा-प्रजापति [सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ पुरुष] उसका हाथ पकड़े, पाणिग्रहण करे; वही अकेले उसका पति है। पतिकेलिए ब्रह्मा—सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ होना अनिवार्य है, ब्रह्मा और प्रजापति एकार्थक हैं।" यह अर्थ भी निर्मूल है। 'अब्राह्मण'के मुकाबलेमें 'ब्रह्मा' ब्राह्मणार्थक है। स्वा. द. जीने भी ऋभाभूमें 'ब्रह्मा'का अर्थ 'ब्राह्मण' माना है। सो ऐसे अर्थ अपने निर्मूल पक्षके साधनार्थ इन लोगोंद्वारा श्रुतिसे किये जा रहे हुए बलात्कारको प्रकट कर रहे हैं। पहले

आप उस लड़कीका १० पतियोंसे सम्बन्ध करते जाएंगे, यदि उनसे उसमें सन्तान उत्पन्न न हो सके; तो फिर उसे ११ वां पति देंगे; तो क्या यह निश्चित होगा कि-वह ११ वां जरूर सन्तान देनेमें समर्थ होगा ? जब उसका भी निश्चय नहीं है, तब आपने उसका नाम ब्रह्मा-प्रजापति कैसे रख दिया ? । वस्तुतः ऐसे गलत अर्थ वेदके नामसे मढ़ते हुए इन लोगोंको परमात्माका डर भी नहीं है। ऐसे अर्थ व्यभिचार-कारक ही हैं। इस बातका भी निश्चय कैसे होगा कि—वे दस पति सन्तान उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं ? जब निश्चय नहीं, तब उनका नाम पहलेसे ही 'अब्राह्मण (अशक्त) कैसे रख दिया गया ?, यह बात सम्भोगसे पता चलेगी, या बिना सम्भोग किये ? क्या सभी ११को आर्डर है कि—वे ११ एक स्त्रीसे सम्भोग करते चलें, कुछ भी पाप नहीं होगा, खेद !!! कुछ इस विषयमें 'आलोक' (७)में 'नीरक्षीर-विवेचना'में भी विचार किया गया है।

अब 'इयं नारी', 'उदीर्ष्व नारि !' इन दो मन्त्रोंका सायण-भाष्य उद्धृत किया जाता है, जिससे प्रतिपक्षियों द्वारा सायणके 'पुनर्विवाहेच्छोः' इस पदसे सायणको जो विधवाविवाह-पक्षपाती सिद्ध किया जाता है, वह भ्रम दूर होकर प्रतिपक्षियोंका बना-बनाया महल गिर पड़ेगा। पाठक देखें कि विधवाविवाह-प्रचारक ये लोग वेद आदि शास्त्रोंके गले पर किस प्रकार छुरी फेरते हैं। करें वे विधवाविवाह, कौन उन्हें रोकता है, पर वे वेदका अङ्ग-भङ्ग तो न करें !

पहले वे दोनों मन्त्र पूरे लिखे जाते हैं—

"इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य ! प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥१॥"

"उदीर्ष्व नारि ! अभिजीवलोकं गतासुमेतमुप शेषे एहि। हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसम्बभूथ ॥२॥"

'दधिषोः' अथवा 'दिधिषोः' पर आगे विचार होगा। पहले पाठकगण याद रखें कि 'इयं नारी' तथा 'उदीर्ष्व नारि !' दोनों मन्त्र जहां-जहां आये हैं, वहां-वहां पितृमेध देवता है। देवताका अर्थ होता है प्रतिपाद्य-विषय। पितृमेधका अर्थ है मृतककी अन्त्येष्टि। वेदमें पितृ-शब्द मृतकपुरुषवाचक भी आया है। तो जब दोनों मन्त्र मृतककर्ममें विनियुक्त हैं, बल्कि पहला मन्त्र मृतकके प्रति ही कहा जा रहा है और दूसरा मृतककी पत्नीको मृतक-पतिके विषयमें कहा जा रहा है, तब इसमें विवाहका गन्ध ही कैसे हो सकता है ? यह विधवाविवाहरसिक लोग आनन्दमत्त हुए नहीं विचारते।

अब 'इयं नारी' मन्त्रका सायणभाष्य उद्धृत किया जाता है। विज्ञ पाठक देखें कि क्या इसमें विधवाविवाहका गन्ध भी है ? अब पहले अथर्ववेदका सायणभाष्य उद्धृत किया जाता है—

"भार्यां प्रेतेन सह संवेशयेत्—इयं नारीति। इयं-पुरोवर्तिनी, नारी-स्त्री पतिलोकं-पत्युर्लोकः पतिलोकः [मृतेन अनेन पत्या [जीवनदशायाम्] अनुष्ठितानां यागदानहोमादीनां फलभूतं

'स्वर्गादिस्थानम्', तं पतिलोकम्, वृणाना-सहधर्मचारिणीत्वेन सम्भजमाना एवम्भूता स्त्री, हे मर्त्य !-मरणधर्मन् मनुष्य ! प्रेतम्-प्रकर्षेण गतम्, अस्माद् भूलोकाद्, विनिर्गतं [मृतमित्यर्थः] त्वा-त्वाम् उपनिपद्यते—समीपे नितरां गच्छति, अनुमरणार्थं प्राप्नोतीत्यर्थः।"

देखिये पाठकगण! यहां पर सायण मृतपतिक (विधवा) स्त्रीका आमुष्मिक (पारलौकिक) पतिलोककी प्राप्तिकेलिए अनुमरण दिखलाता है; परन्तु ये महाशय सायणको विधवाविवाह-पक्षपाती सिद्ध करते हैं। कितना खेदका अवसर है? वास्तवमें यह प्रतारणा है। अस्तु, आगे शेष सायणभाष्य देखिये—

"कस्माद्धेतोः [अनुमरणार्थं प्राप्नोति मृतकस्य पत्नी] इत्याह—पुराणम्—पुरातनमनादिशिष्टाचारसिद्धं स्मृति-पुराणादिप्रसिद्धं वा धर्मं—सुकृतमनुपालयन्ती—आनुपूर्व्येण सम्प्रदायाऽविच्छेदेन परिपालनम् अनुपालनम्, तत् कुर्वती। स्मृतिपुराणादिप्रसिद्ध-धर्म्मस्य अनुमरणजन्यस्य अनुपालनाद्धेतोरित्यर्थः। स्मर्यते हि—'भर्तारमुद्धरेन्नारी प्रविष्टा सह पावकम्। व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात्।" "तस्यै—तथाविधायै अनुमरण-[निश्चयं] कृतवत्यै स्त्रियै, अस्मिन् भूलोके, जन्मान्तरे लोकान्तरेपि प्रजां—प्रजायते इति प्रजा, तां पुत्रपौत्रादिरूपां द्रविणं—धनं च धेहि—प्रयच्छ। अनुमरणप्रभावाज्जन्मान्तरेपि स एव तस्याः पतिर्भवतीत्यर्थः" (अथर्ववेद सायणभाष्य १।८।३१)।

कितने स्पष्ट शब्द हैं श्री सायणके? वह इस मन्त्रसे विधवाकी आमुष्मिक पतिलोककी इच्छा दिखलाकर उसका पतिके पीछे मरना (अनुमरण) दिखलाता है। अनुमरणके प्रभावसे श्री सायण जन्मान्तरमें भी उस स्त्रीका वही पति दिखलाता है। इसी 'सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः।' पतिः" (मनु. ५।१५३) जन्मान्तर-जात पतिसे ही फिर भूलोकमें आने पर वा अन्य लोकोंमें भी पुत्र आदि सन्तानको दिखलाता है। परन्तु प्रतिपक्षी लोग—आश्चर्य है—विधवाका पुनर्विवाह इस मन्त्रसे सायण-सम्मत दिखलाते हैं। क्या यह साधारण-जनताकी दृष्टिमें धूल झोंकना नहीं है? इसका उत्तरदायित्व हम पाठकों पर छोड़ते हैं।

यह मन्त्र ऋग्वेदमें तो नहीं है, पर तैत्तिरीयारण्यकमें आता है। वहांका सायणभाष्य हम उध्दृत करते हैं, पाठक सावधानता से देखें—"अथ अस्य [मृतकस्य] भार्यामुपसंवेशयति [मृतक-पार्श्वे] इयं नारी इति। हे मर्त्य !-मृतक-मनुष्य ! या नारी—मृतस्य तव भार्या [इससे मृतकको यह कहा जा रहा है, किसी जीवितको नहीं-यह सिद्ध हो रहा है] सा पतिलोकं वृणाना-कामयमाना (यहां पर सायणको पतिलोक आमुष्मिक इष्ट है, ऐहलौकिक नहीं, यह पहले मन्त्रके भाष्यमें भी आ चुका है, आगे भी स्पष्ट होगा) प्रेतं-मृतं त्वाम् उपनिपद्यते-समीपे नितरां प्राप्नोति (अनुमरणकेलिए तुझ मृतकके पास आई है, यह आशय है, अनुमरणके बिना भला आमुष्मिक पतिलोक कैसे मिले?) "कीदृशी? पुराणं विश्वम्—अनादिकालप्रवृत्तं कृत्स्नं स्त्रीधर्म-मनुक्रमेण पालयन्ती। पतिव्रतानां स्त्रीणां पत्या सहैव वासः परमो

धर्मः (यहां पर सायणने सब कुछ पूर्वोक्त स्पष्ट कर डाला है)। "तस्यै—धर्मपत्न्यै त्वम् (मृतपतिः) इह लोके निवासार्थमनुज्ञां दत्त्वा, प्रजां—[पूर्वं विद्यमानां] पुत्रादिकां, द्रविणं—[पूर्वं-विद्यमानं] धनं च धेहि—सम्पादय अनुजानीहीत्यर्थः।" (६।१।३)

विज्ञ पाठक देख रहे हैं कि इस सायणभाष्यमें विधवा-विवाहका कहीं गन्ध भी नहीं है। वह तो पतिव्रता-स्त्रीका मृत पतिके साथ सहवास दिखा रहा है। यदि उसकी पूर्व सन्तति है, तो उसकी रक्षाकेलिए भी इस लोकमें उसकी स्थिति बतला रहा है, परन्तु प्रतिपक्षी लोग सायणको विधवाविवाह-पक्षपाती बतला रहे हैं, यह स्पष्ट प्रतारणा है, जो विद्वानोंकेलिए असह्य है।

अब 'उदीर्ष्व नारि!' मन्त्रका सायणभाष्य 'आलोक'-पाठकगण देखें। मन्त्र पहले लिखा जा चुका है। पहले अथर्व-वेदस्थ सायणभाष्य उद्धृत किया जाता है—

"उपनिपद्यमाना सा (मृतभार्या) यदि इह लोके पुनर्जीवितुमिच्छेत्, तदा 'उदीर्ष्व' इत्यनया द्वितीय-ऋचा प्रेतेन सह संविष्टां तामभिमन्त्र्य उत्थापयेत् (यहां पर मृतकभार्याका फिर जीनेकेलिए रहना कहा है, फिर विवाहकेलिए नहीं)। हे नारि! (मृतस्याऽस्य) धर्मपत्नि! जीवलोकं जीवानां—जीवतां प्राणधारिणां लोकः, लोक्यते—अनुभूयते जन्मान्तरकृतधर्माधर्मफलं सुखदुःखात्मकम् अस्मिन्निति लोकः—भूलोकः, तथाविधं जीवलोकमभिलक्ष्य उदीर्ष्व—उद्गच्छ, पत्युः सकाशादुत्तिष्ठ। (यहां पर जीवन चाहती हुई विधवाका वहांसे उठाना कहा गया है। इससे

यह भी सिद्ध होता है कि यहां जबर्दस्तीकी सतीप्रथा नहीं थी, जैसा कि कई लोग हमारी जाति पर आक्षेप करते हैं, किन्तु विधवाकी इच्छानुसार थी) गतासुम्—गता असवः प्राणा यस्मात् स तथोक्तः। तथाविधम् एतं पतिम् उपशेषे—उपेत्य तेन सार्धं शयनं करोषि। पूर्वम्-अदृष्टार्थमनुगमनमुक्तम्, इदानीं [शास्त्राऽविरोधि]—दृष्टफलानुरोधेन तत उत्थानं प्रतिपाद्यते।......जीवनावस्थायामेव पतिसकाशात् सर्वमैहिकं पुत्रादिलक्षणम् अभिप्राप्तम्। अतोपि हेतोरागच्छ—इति प्रतिपाद्यते। हस्तग्राभस्येति। हस्तं गृह्णाति इति हस्तग्राभः—पाणिग्रहणकर्ता, तस्य। दधिषोः—धारयितुः, तव [इदानीं मृतस्याऽस्य] पत्युः, 'इदं' जनित्वम्—अपत्यादिरूपेण जन्मत्वम्, अभिसम्बभूथ—अभिसंप्राप्तासि इति" (अथर्व० १८।३।२)।

यहाँ भी सायणभाष्यमें कहीं भी विधवाविवाहका गन्धतक नहीं है। इस मन्त्रमें 'दिधिषोः' नहीं, किन्तु 'दधिषोः' है और वह अब मृतक-पतिकी ही पूर्वावस्थाका स्मारक विशेषण है। इसी प्रकार 'हस्तग्राभस्य' भी अभी मरे पतिका विशेषण है, क्योंकि यहां पर 'पितृमेध देवता' है, पितृ नाम वेदमें मृतकका होता है—यह हम पीछे कह आये हैं।

एक अन्य मन्त्र भी देख लें—'मा जीवेभ्यः प्रमदः माऽनुगाः पितॄन्' (अ० ८।१।७) यह मर रहे हुएको कहा जा रहा है कि—तू पितरों—मृतकोंके पास न जा'।

इस ('उदीर्ष्व' मन्त्र) से उस पतिकी पूर्व अवस्था स्मृत

कराई गई है। पितृमेधकर्ममें विनियुक्त इस मन्त्रमें अभी मरे हुए पतिका यह वर्णन है और उसकी पहली सन्तानका वर्णन है। परन्तु आधुनिक लोग अन्य जीवित पतिको न मालूम कहांसे ला पटकते हैं—यह आश्चर्य है। 'पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शङ्खमपि पीतम्"।

अब उक्त मन्त्रका ऋग्वेदस्थित सायणभाष्य उध्दृत किया जाता है। "हे नारि! मृतस्य पत्नि! जीवलोकं—जीवानां—पुत्रपौत्रादीनां लोकं—स्थानं गृहमभिलक्ष्य, उदीर्ष्व—अस्मात् स्थानादुत्तिष्ठ। गतासुम्—अपक्रान्तप्राणमेनं पतिम् उपशेषे तस्य समीपे स्वपिषि। तस्मात् त्वम् एहि आगच्छ। यस्मात् त्वं हस्तग्राभस्य—पाणिग्राहं कुर्वतः, दिधिषोः—गर्भस्य निधातुः तव अस्य [इदानीं मृतस्य] पत्युः सम्बन्धाद् आगतम् इदं जनित्वमभिलक्ष्य, सम्बभूथ—सम्भूतासि, अनुमरणनिश्चयमकार्षीः, तस्मादागच्छ" (ऋ० १०।१८।८)।

विज्ञ 'आलोक'-पाठकोंने देखा होगा कि सायणभाष्यमें यहां कहीं विधवाविवाहका गन्धमात्र भी नहीं है। सायण अथर्ववेद-भाष्यमें 'इदं जनित्वम्' इस प्रकार 'इदम्' शब्दका प्रयोग दिखला रहे हैं। इसी प्रकार ऋग्वेदस्थित इस भाष्यमें भी 'तव अस्य पत्युः' इस प्रकार मृत पतिकेलिए ही 'इदं' शब्दका प्रयोग दिखला रहे हैं। जीवित अन्य पतिका तो यहां वर्णन ही नहीं। पितृमेध देवता होनेसे यहां पर जीवित अन्यका वर्णन हो ही कैसे सकता है? पितृ—यह मृत पुरुषका नाम है, उसका मेध—अन्त्येष्टिः'

जैसे कि "गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्" (५।६५) इस मनुके पद्यमें मृतक गुरुकेलिए 'पितृमेध' शब्द आया है। उक्त मन्त्रोंमें भी उसी मृत पतिकेलिए ही 'पितृमेध' शब्द आया है, देवता भी वही है, विनियोग भी उसीका है, यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए।

अब हम तैत्तिरीयारण्यकस्थित उक्त मन्त्रका सायणभाष्य उध्दृत करते हैं, जिसके आधारसे वादी लोग तिलका ताल बनाने की चेष्टा करते हैं। वह यह है—"तां प्रतिगतः [तत्पुत्रो भ्राता वा अन्यो वा प्रत्यासन्नबन्धुः] सव्ये, (वामे) पाणौ अभिपद्य उत्थापयति—उदीर्ष्व नारीति। हे नारि! त्वम् इतासुं—गतप्राणम् एतं पतिम् उपशेषे—उपेत्य शयनं करोषि। उदीर्ष्व—अस्मात् पतिसमीपादुत्तिष्ठ। जीवलोकमसि—जीवन्तं प्राणिसमूहमभिलक्ष्य, एहि—आगच्छ। त्वं हस्तग्राभस्य—पाणिग्राहवतो दिधिषोः—पुनर्विवाहेच्छोः पत्युरेतद् जनित्वं—जायात्वमभिसम्बभूथ आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्नुहि" (६।१।३)।

यही वह भाष्य है, जहाँ प्रतिपक्षी उछल-कूद किया करते हैं। सायणके 'पुनर्विवाहेच्छोः' इस पदमात्रको देखकर बहुत प्रसन्न हुए अपने पक्षको सिद्ध हुआ समझ लेते हैं जैसा कि 'पं० माधवाचार्यकी चुनौतीका उत्तर'में प्रतिपक्षीने लिखा है। पर इस आवेशमें वे सायणके आशयको नहीं विचारते। उक्त दोनों मन्त्रोंके सायणभाष्य हमने उद्धृत कर दिये हैं। विज्ञ पाठकोंने अनुभव किया होगा कि सायणाचार्य 'हस्तग्राभस्य' और

'द (र्द्दि) धिषोः' यह दोनों विशेषण सामने पड़े हुए मृतक पतिके ही बतला रहे हैं, किसी अन्य के नहीं। अन्य के विशेषण ये हो ही कैसे सकते हैं? विवाह होने पर ही पति होता है। जब उस स्त्रीसे मृतकभिन्न कोई अन्य उससे विवाहित है ही नहीं, तब वह पति ही कैसे हो सकता है? यहाँ पर तो पति मृतक है और उसके अन्त्येष्टिकर्ममें मन्त्रका विनियोग है, तब यह सारा मृतक पतिका ही वर्णन है। अथर्ववेदमें सायणने 'दधिषोः' का 'धारयितुः' अर्थ किया है। ऋग्वेदमें उसने 'दिधिषोः' का 'गर्भस्य निधातुः' यह अर्थ किया है। ये दोनों विशेषण मृतक-पति के ही हैं, अतः इनसे मृतककी पूर्वावस्था स्मृत कराई गई है।

परन्तु कृष्णयजुर्वेद 'तैत्तिरीयारण्यक' में सायणाचार्यने 'दिधिषोः' का मृतकके भविष्यत् जन्मके विचारसे 'पुनर्विवाहेच्छोः' यह रूढ लोकप्रसिद्ध अर्थ किया है। उसमें क्या रहस्य है—यह प्रतिपक्षी लोग धैर्यसे सुनें। वह रहस्य यह है कि अपने भाष्य-स्थित प्रमाणोंसे श्रीसायणने सिद्ध किया है कि पतिव्रता नारी पारलौकिक पतिलोकको चाहती है। इधर उसने यह भी दिखलाया है कि उसके सतीत्वके प्रभावसे उसका पति जन्मान्तरमें उसका पति होता है, यह अथर्ववेदके 'इयं नारी' मन्त्रके सायणभाष्यमें पहले दिखलाया ही जा चुका है। श्रीमाघकविने भी यह सूचित किया है—'सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि' (शिशुपालवध १।७२)। अतः सायणका यह आशय है कि तेरा यह पति जन्मान्तरमें भी तेरे सतीत्वके प्रभावसे तेरे ही साथ

पुनर्विवाह चाहता है, इसलिए यह तेरा भावी 'दिधिषुः' अर्थात् अन्य जन्ममें 'यही तेरा दूसरा पति' है। इसी तरह 'तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि' यहाँ पर भी तथा परलोक वा स्वर्गमें भी पुनर्जन्ममें तुम्हीं इसके पति बनकर इसे प्रजा वा धन दो। यह मृतक पति-को मन्त्रद्वारा कहा जा रहा है। तब परलोक वा पुनर्जन्ममें उस स्त्रीका पुनर्विवाह उसी (मृतक) पतिके साथ सिद्ध हुआ। जन्मान्तरमें वा इस लोकमें यही तुम्हारा पति होगा, या लोकान्तरों-में भी यही तेरा पति होकर तुम्हें पुत्र वा धन देगा; इससे स्वर्ग वा पुनर्जन्ममें उसी [मृतक] पतिके साथ पुनर्विवाह सिद्ध हुआ। इसलिए यही मृतक उसका 'दिधिषु' पति है। श्मशानमें कोई अन्य पति नहीं बताया गया; क्योंकि—श्मशानमें यह घटना नहीं हो सकती; हाँ, स्वा.द.जीके स.प्र. में किये हुए अर्थसे वैसा आभास होता है, पर सायणभाष्यमें तो ऐसी कोई बात नहीं। विधवाविवाहके प्रेमी अमेरिका आदि देशोंमें भी कब्र सूखनेके बाद ही विधवाका पुनर्विवाह हुआ करता है। इसमें एक घटना प्रसिद्ध है कि—वहाँकी एक स्त्री कब्रको पंखा कर रही थी, उसे स्वा. रामतीर्थने देखा, और उसके पातिव्रत्यको सराहा। पीछे स्वा. रा. ती. को पता लगा कि—कब्रके सूखनेसे पहले यहाँ विधवा अपना पुनर्विवाह नहीं करा सकती; अतः जल्दी कब्र सुखानेके-लिए वह रमणी पंखा कर रही थी। प्राचीन धर्मप्राण सतीधर्मके आग्रही भारतमें भला श्मशानमें दूसरे पतिके साथ विवाहकी चर्चा ही कैसे हो सकती है?

सायणाचार्य तो अभी मरे हुए पतिकी ही जन्मान्तरमें उसी ही पत्नीके साथ 'पुनर्विवाहेच्छा' बतलाकर 'सतीको अन्य जन्ममें भी फिर यही पति मिलता हैं'—यह वेदका स्वारस्य बतला रहे हैं; तब फिर यहाँ विधवाविवाहका गन्ध भी कैसे हो सकता है ? यहाँ पर 'पुनर्विवाहेच्छोः' उस स्त्रीके मृतक-पतिको ही लक्ष्य करके कहा जा रहा है कि—ऐ स्त्री तेरा मृतक पति पुनर्जन्ममें भी तुम्हींसे पुनर्विवाह करना चाहता है, अतः यह तेरा मृतक पति तेरा 'दिधिषु' है। सो सायणाचार्य सतीका द्वितीय जन्ममें भी वही पति—जो अब मृत है—होना मानते हैं, इसलिए उक्त मन्त्रार्थमें उसी मृतकको 'दिधिषू' कह रहे हैं; यह 'दिधिषु' शब्द श्रीसायणके आरण्यक-के मन्त्रके अर्थमें उसी मृतक-पतिका विशेषण है, किसी अन्य जीवितका नहीं। नये जीवितका तो उससे प्रथम ही विवाह होगा, पुनर्विवाह नहीं। नियोगपक्षमें तो पुनर्विवाहकी कोई बात ही नहीं। इस प्रकार सायणाचार्यके अथर्ववेदादिके भाष्योंको लोकदृष्टिके सामने न रखना वा उसे छिपाकर 'तैत्तिरीयारण्यक' के 'पुनर्विवाहेच्छोः' इस सायणके पदमात्रसे जो प्रतिपक्षी लोग विधवाविवाह सिद्ध करना चाहते हैं, उसका रहस्य पाठकोंने समझ लिया होगा। जो यह कहें कि—स्त्री पति मरे पीछे २०-३० साल जीती रहे; तो उसका मृतक-पतिसे मेल कैसे होगा ? इस पर जानना चाहिये कि—देवलोकमें जानेसे यहाँका वर्ष उस (मृतक) के लिए एक दिन हो जाता है; तब उस देवकेलिए यह देरकी बात नहीं होती। उस स्त्रीके मरने तक वह देवलोकमें ही रहता है,

तब वह मृतक स्त्री भी उसी लोकमें पहुँच जाती है, यही उसकी मनुस्मृतिमें पतिलोकमें प्राप्तिकी बात है (५।१५६, १६५)।

अब श्रीश्यामजी शर्मा काव्यतीर्थके "अथर्ववेदका सायणभाष्य मैंने नहीं देखा, इस कारण उसका भाष्य नहीं दिया" इस वाक्य-का वास्तविक आशय सुनिपुण—पाठकोंने समझ लिया होगा। अब क्या काव्यतीर्थ-महाशय वा अन्य प्रतिपक्षियोंका यह साहस है कि वे सायणको विधवाविवाहपोषक कह सकें ? हम उन्हें वा उनके सहवर्गियोंको आमन्त्रित करते हैं कि वे सायणभाष्यसे अपना अभिलषित अर्थ निकालें। हमने सायणके सब भाष्य प्रस्तुत कर दिये हैं। अब उनका यह व्याज नहीं हो सकता कि 'मैंने अमुक मन्त्र वा अमुक संहिताका सायणभाष्य नहीं देखा।'

इधर काव्यतीर्थ महाशय वा उनके सहवर्गियोंसे यह भी निवेदन है कि 'इयं नारी' तथा 'उदीर्ष्व नारि !' इन दो मन्त्रोंको पूरा लिखकर तथा उनका अन्वय एवं प्रत्येक पदका भिन्न-भिन्न अर्थ तथा तदनुसारी भावार्थ लिखें, जिससे विधवाविवाह सिद्ध हो। यहां तो स्पष्ट प्रत्यक्ष हो गया कि इन मन्त्रोंमें विधवाविवाह-का गन्ध नहीं, किन्तु सतीधर्मका वर्णन है।

आगे "या पूर्वं पतिं वित्त्वा", "सनात् दिवं परिभूमा विरूपे पुनर्भुवा युवती", "उच्चा व्यख्यत् युवतिः पुनर्भूः", "विधवेव देवरम्", "नैकस्या बहवः सह पतयः", "उत यत् पतयो दश स्त्रियाः" इन मन्त्रोंसे जो उन्होंने विधवाविवाह सिद्ध करना चाहा है, इन सबका उत्तर इसी पुष्पमें अन्यत्र पाठक देख लें।

शेष 'सनाद् दिवं परिभूमा' 'उषा व्यख्यद् युवतिः' इन मन्त्रों पर संक्षेपसे विचार दिया जाता है।

पहला मन्त्र यह है—'सनाद् दिवं परिभूमा विरूपे पुनर्भुवा युवती स्वेभिरेवः। कृष्णेभिरक्तोषा रुशद्भिर्वपुर्भिरा चरतो अन्यान्या' (ऋ. १।६२।८) इसमें पुनर्भूः, तथा युवति शब्द किसी स्त्रीकेलिए नहीं हैं; अतः रूढ भी नहीं हैं। यह तो रात्रि और उषाकेलिए हैं, उनके विशेषण हैं; अतः यौगिक हैं, क्योंकि-विशेषण सदा यौगिक हुआ करता है। मन्त्रमें भी यह स्पष्ट है। यहां पर विरूपे, पुनर्भुवौ, युवती यह द्विवचन हैं; अतः वह रात्रि तथा उषा दोनोंकेलिए है। मन्त्रके उत्तरार्धमें दोनोंकी तुलना की गई है। उसमें 'अक्ता' रात्रिका नाम है; और 'उषाः' उषाका। निघण्टु (१।७)में रात्रिका नाम 'अक्तुः' भी आया है 'नक्ता' भी। सो प्रकृत-मन्त्रमें 'न'का छान्दस लोप होकर 'अक्ता' बचता है; अथवा 'अक्तुः'का 'अक्ता' यहां छान्दस शब्द है। अतः इन मन्त्रोंमें रात्रि एवं उषाका वर्णन ही सिद्ध हुआ। इसी कारण पूर्वार्धमें जो उन्हें 'विरूपे' भिन्न-भिन्न रूप (काला और सुफेद) वाला वताया गया है, उत्तरार्धमें उसकी स्पष्टता इस प्रकार आई है। 'कृष्णेभिर्वपुर्भिः अक्ता, रुशद्भिः दीप्तिमद्भिर्वपुर्भिरुषा।

जव इस प्रकार—उक्त मन्त्रमें रात्रि एवं उषाका वर्णन सिद्ध हुआ; तव 'पुनर्भुवौ'का अर्थ भी यौगिक हुआ कि—पुनः-पुनर्भवन्त्यौ-प्रतिदिवसं जायमाने'। अर्थात् यह रात एवं उषा प्रतिदिन वार-वार हुआ करती हैं—यह प्रत्यक्ष वात है। 'युवती'का अर्थ है नित्यतरुण्यौ' अर्थात् यह दोनों नित्यकी तरुणी हैं, कभी वृद्ध नहीं होती;' यह अर्थ निकलता है; तव यहां विधवाविवाहका गन्धमात्र भी नहीं। इसीलिए यहां श्रीसायणाचार्यने भी लिखा है—'विरूपे—शुक्लकृष्णतया विषमरूपे, पुनर्भुवौ—पुनः-पुनः प्रतिदिवसं जायमाने, युवती-तरुण्यौ रात्र्युषसौ, द्युलोकं भूमिं च चिरकालादारभ्य स्वकीयैर्गमनैः पर्यावर्तेते'। यहां रात्रि एवं उषा दोनों स्त्रीलिङ्ग ही दिखलाई गई हैं। वे रात एवं उषा पुनः-पुनः हुआ करती हैं, इसी कारण उनको यौगिकतासे पुनर्भू कहा गया है। यहां किसी पुरुषका वा दम्पतीका वर्णन नहीं है। यह दिनका भी वर्णन नहीं है, क्योंकि—दिन होनेपर रात्रि नहीं हुआ करती; यहां तो रात्रि और उषाका वर्णन है। अतः यहां विधवाविवाहका गन्धमात्र भी नहीं। तव यहां 'पुनर्भू पुरुष और पुनर्भू स्त्री—इन दोनोंको कैसा व्यवहार करना चाहिये—इसका निर्देश इस मन्त्रमें हैं' यह अपनी पुस्तकके १३वें पृष्ठमें लिखनेवाले काव्यतीर्थ श्रीश्यामजीका खण्डन हो गया।

इसी प्रकार 'उषा व्यख्यद् युवती पुनर्भूरोषा अगन् प्रथमा पूर्वहूतौ' (ऋ. १।१२३।२) इस मन्त्रका देवता उषा है, कोई विधवा नहीं। मन्त्रमें 'ओषा, आ-उषाः' यह तो स्पष्ट है। यहां श्रीसायणाचार्यने लिखा है—'उषाः, कीदृशी सा, युवतिः-मिश्रणशीला नित्य-यौवना वा, पुनर्भूः—पुनः पुनर्भवनशीला; प्रतिदिनं वर्तमानत्वात्। सा उषाः प्रथमा-मुख्या देवयजनदेशं प्रत्यागच्छति'। सो यहां किसी मानुषी-स्त्रीका वर्णन न होनेसे यहां भी विधवा-

विवाहका गन्धमात्र भी नहीं। प्रतिपक्षी वेदमें यौगिक शब्द मानते हैं, यहां उन्हें रूढ कैसे करने लगे? और फिर 'पुनर्भू' शब्द यहां विशेष्य न होनेसे, विशेषण होनेसे और विशेषणके सदा यौगिक होनेसे यहां प्रतिपक्षियोंका तो सर्वथा खण्डन हो गया। उषा, देवता होनेसे नित्यकी युवति है, वह रातके अन्तरमें फिर-फिर आती है; अतः पुनर्भू है। तब इसमें विधवाविवाह अर्थ करते हुए काव्यतीर्थ-महाशयका खण्डन हो गया।

इस प्रकार जो कई व्यक्ति 'विधवेव देवरं' (ऋ. १०।४०।२) मन्त्रका 'शयने यथा मृतभर्तृका नारी देवरं पतिभ्रातरमभिमुखी-करोति, यथा च सर्वं मनुष्यं योषा—सर्वा नारी संयोगकालेऽभि-मुखीकरोति' यह सायणभाष्य दिखलाकर उससे कई विधवा-विवाह सिद्ध किया करते हैं; इसकी स्पष्टता तो इस पुष्पमें भिन्न पंखुरीमें देखें; यहां संक्षेप यह है कि-यहां 'विधवेव देवरम्'में विधवाविवाह तो नहीं, किन्तु विधवानियोग सिद्ध हो सकता है; वह भी वाग्दत्ता (सगाईकी हुई) विधवाका; जिसका निर्देश मनुजीने 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' (९।६९) इस पद्यमें किया है। वस्तुतः यह मनु-वचन उक्त 'विधवेव देवरं' मन्त्रांशका अनुवाद है। अतः यहां 'कन्या' शब्द आया है। तब वाग्दत्ता-विषयक होनेसे प्रतिपक्षियोंकी इससे कुछ भी इष्ट-सिद्धि नहीं। कलियुग-केलिए व्यवस्थापित पराशर-स्मृतिमें विधवा-वाग्दत्ताके इसी नियोगको विवाहपरक माना गया है; जो अब भी हुआ करता

है। विशिष्ट-स्पष्टता अन्यत्र देखें। 'नैकस्या बह्वः सह पतयः' का समाधान भिन्न पुष्पमें होगा।

---

(१७) नियोग वा विधवाविवाह के प्रसिद्ध वेदमन्त्र (१)

आजके युगके आर्यसमाजी नवयुवक लोग स्वा.द.जीकी पुस्तकोंके प्रभावमें पड़कर नियोग वा विधवाविवाहको वैदिक समझते हैं। वे दो निम्न वेदमन्त्रोंको तो इस विषयमें अखण्ड मानते हैं। उनमें पहला मन्त्र यह है—

(१) 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्य! प्रेतम्। धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि' (१८।३।१) यह अथर्ववेद (शौ.) संहिताका मन्त्र है। दूसरा मन्त्र ऋग्वेद-संहिताका यह है—(२) 'उदीर्ष्व नारि! अभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्व-मभिसम्बभूथ' (१०।१८।८) इनमें कई व्यक्ति उक्त मन्त्रोंके सायणभाष्यसे विधवाविवाह सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं; उसका विचार तो गतनिबन्धमें किया जा चुका है। इस प्रकार अन्य भी कई मन्त्र वे दिया करते हैं-वे यह हैं-(३) 'पतिमेकादशं कृधि, (४) 'देवृकामा'। (५) 'विधवेव देवरम्'। (६) 'या पूर्वं पतिं वित्त्वा अथान्यं विन्दते परम्'। (७) 'तुरीयस्ते मनुष्यजाः'। (८) 'उत यत्पतयो दश स्त्रियाः' (९) 'अन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्'। इस विषयमें यहाँ कुछ विचार उपस्थित किया जाता है।

(१) 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना'।

इनमें पहला मन्त्र तो विधवाका पतिके साथ सती होनेका स्पष्ट वर्णन कर रहा है; तिसपर भी जो लोग इससे विधवाविवाहका अर्थ निकालनेका साहस करते हैं; हम स्पष्ट कह देते हैं कि—वे शब्दशास्त्रके ज्ञानसे शून्य हैं। नहीं तो 'कन्या विन्दते पतिम्' (अथर्व. १४।२।२२) 'कन्या युवानं विन्दते पतिम्' (अ. ११।७ (५) ।१८) इन वेदके वचनोंके साथ, तथा 'अमुकगोत्रोत्पन्नामिमाममुकनाम्नीमलङ्कृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान्' (स्वा. द. संस्कारविधि पृ. १४०) 'कन्या अग्निमयक्षत' (पारस्करगृ. १।६) 'संस्कारविधि पृ. १५८) इत्यादि स्वा.द.के वेदानुकूल वचनोंके साथ उक्त वेदमन्त्रका विरोध पड़ेगा, क्योंकि 'कन्या'का अर्थ 'अविवाहिता' होता है, वेदानुसार अविवाहिताका विवाह होता है, विवाहिताका नहीं। तब व्याघात हो जानेसे 'तदप्रामाण्यम् अनृतव्याघातपुनरुक्तेभ्यः' (न्यायदर्शन २।१।५६) इस पूर्वपक्ष-सूत्रकी ही विजय हो जायगी; अर्थात् वेद ही अप्रमाण हो जायगा। पर ऐसा नहीं है।

वस्तुतः 'इयं नारी' यह मन्त्र प्रेत (मृतक) मर्त्य (मनुष्य) को कहा जा रहा है। कौशिकसूत्र (८०।४४) में इस मन्त्रका विनियोग पत्नीका मृतक-पतिके साथ संवेशन (लेटाने) में है। इसलिए 'बोधायनपितृमेधसूत्र'में भी इसकेलिए कहा है—'अथास्य (मृतकस्य) भार्यामुपसंवेशयति 'इयं नारीति' (१।७।७, १।८।१)। आर्यसमाजी श्रीराजारामजी शास्त्रीने भी अपने अथर्ववेदभाष्यमें लिखा है—'इयं नारी' इससे पत्नीको चितापर मृतकके समीप

लिटाता है' (पृ. ८०३)। इस सूक्तका देवता भी यम है, जो मृत्युका देवता है। इसमें पितृकर्म वा पितृमेध वर्णित है; जो स्पष्ट वेदानुसार मृतककी अन्त्येष्टि होती है। इस प्रकार कृष्णयजुर्वेद-तैत्तिरीयारण्यक' (६।१।१३) में भी इस मन्त्रका देवता 'पितृमेध' कहा है, तथा अन्त्येष्टि-कर्ममें इसका विनियोग कहा है। जब इस मन्त्रका मृतककर्मसे सम्बन्ध है; तो यहाँ विधवाका जीते हुए पुरुषके साथ विवाहके वा नियोगके अर्थका सम्बन्ध ही क्या है ?। इसलिए अथर्ववेदसं.के सायणभाष्यमें भी लिखा है—'भार्यां प्रेतेन (मृतेन) सह संवेशयेत्' (अ. १८।३।१)।

केवल यहीं नहीं, बल्कि—'आश्वलायनगृह्यसूत्र'में भी यही इस मन्त्रका विनियोग बताया है—'प्रेतं संवेशयन्ति उत्तरेण, उत्तरतः पत्नीं संवेशयन्ति' (४।२।१५-१६)। इस कारण जब इस मन्त्रका किसी भी प्रकार विधवाविवाह वा नियोग अर्थ हो ही नहीं सकता; तब स्पष्ट है कि—स्वा.द.जीने अपने पक्षकी सिद्धिकेलिए श्रुतिसे बलात्कार किया। जो पद उसमें नहीं थे; वे भी इसमें बलात् ठूँसे—यह श्रुतिपर सचमुच अत्याचार है। प्रतिपक्षियोंकी इच्छा जो स्वैराचार करें, पर उसे श्रुति पर बलात् क्यों लादते हैं ? देखिये स्वा.द.जीका किया इसमें अर्थ 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'में, जहाँ उन्होंने अर्थमें अपने ही शब्द ठूँसे हैं; हम उनमें (?) यह चिन्ह जोड़ेंगे, पाठक सावधानतासे देखें—

(इयं नारी) इयं विधवा नारी (प्रेतं) मृतं पतिं विहाय (?) (पतिलोकं) पतिसुखं (?) वृणाना स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्य) हे मनुष्य !

(त्वा) त्वामुपनिपद्यते-त्वां पतिं प्राप्नोति (?) तव समीपं नियोग-विधानेन आगच्छति (?)। तां त्वं गृहाण (?) अस्यां सन्तानानि उत्पादय (?) कथम्भूता सा—(धर्मं पुराणं) वेदप्रतिपाद्यं सनातनं धर्ममनुपालयन्ती सती, त्वां नियोगेन पतिं वृणुते (?) त्वमपि इमां वृणु (?)। (तस्यै) विधवायै (इह) अस्मिन् समये लोके वा (प्रजां धेहि)-त्वमस्यां प्रजोत्पत्तिं कुरु। (द्रविणं) द्रव्यं-वीर्यं च (?) अस्यां धेहि, अर्थात् गर्भाधानं कुरु (?)।

यहाँपर (?) इस चिन्हवाले पद स्वा.द.जीने वेदमन्त्रमें अर्थ-द्वारा प्रक्षिप्त कर दिये हैं। मन्त्रमें इनका गन्धमात्र भी नहीं है। यह सूक्त अन्त्येष्टिमें मृतपितृकर्ममें विनियुक्त है कि-'इयं नारी' मन्त्रसे पत्नी चितामें लेटती है; इस कारण यहाँ 'मर्त्य' यह उसी मृतकका साभिप्राय सम्बोधन है; उसीका 'प्रेतं (मृतं) त्वा' यह कर्म पद है। उसीकी क्रिया 'उपनिपद्यते' है कि-ऐ मनुष्य! तुझ मरे हुएके पास यह नारी लेटी है' यह अन्वयार्थ है। 'त्वा' यह विशेष्य तथा 'प्रेतं' यह विशेषण है; पर स्वा.द.ने अपनी निरङ्कुशतासे इन विशेषण-विशेष्योंको विच्छिन्न कर दिया, और 'प्रेतं'में 'विहाय' पदको अपनी कपोलकल्पनासे बीचमें प्रक्षिप्त कर दिया। इसी मृतकका पर्यायवाचक-शब्द अग्रिम मन्त्रमें 'गतासुम् एतं' यह है, उसमें 'एतद्' शब्दके ग्रहणसे इस मन्त्रमें भी उसी गतासु (मृतकपति) का वर्णन है, किसी जीवित-पुरुषका वर्णन यहां सर्वथा नहीं। तब यहां जीवित अन्य मनुष्यका ग्रहण करना और नियोगका अर्थ करना स्वा.द.जीका छल है, और अपने प्रमाणित

गृह्यसूत्रोंसे विरुद्ध है। जीवितकेलिए 'मर्त्य' यह सम्बोधन भी असाभिप्राय हो जाता है। जब यही स्वामीकी कपोलकल्पनासे प्रसूत है; तो आगे किया हुआ स्वामीका अर्थ तो सर्वथा असत्य ही सिद्ध हुआ, 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्त्रम्'। यहाँ 'त्वा' यह विशेष्य, विशेषण 'प्रेतं' कर्मका है, और उसी 'प्रेतं' कर्मकी क्रिया 'उपनिपद्यते' थी; पर स्वामी दयानन्दजीने छलबलसे विशेषण-विशेष्य 'प्रेतं' 'त्वा' का परस्पर सम्बन्ध विच्छिन्न करके 'त्वा' से जीवित पुरुषको ग्रहण करके 'उपनिपद्यते' यह उसकी क्रिया बना दी; और विच्छिन्न हुए 'प्रेतं' पदकी क्रिया 'विहाय' यह अपनी कपोलकल्पनासे बढ़ा दी, जिसका मन्त्रमें गन्ध भी नहीं। यह पुराणोंमें प्रक्षेप-प्रक्षेप चिल्लाया करते हैं; पर स्वयं अपने प्रमाणित वेदमें दिन-दहाड़ेमें ही प्रक्षेप कर रहे हैं; हा हन्त!!! 'नियोगविधानेन आगच्छति' यह वाक्य भी स्वा.द.जीकी नियोगसे पूर्ण मस्तिष्क की उपज है, मन्त्रमें उसका लेश भी नहीं।

'तां त्वं गृहाण अस्यां सन्तानानि उत्पादय, त्वमपि इमां वृणु' यह वाक्य भी स्वामीने स्वयं मन्त्रार्थमें हठात् प्रक्षिप्त किये हैं, मन्त्रमें इनका वाचक कोई भी पद नहीं। 'द्रविणं' का 'वीर्य' अर्थ भी उन्हींकी कल्पनासे प्रसूत है, नहीं तो उससे 'प्रजा' यह शब्द पूर्व न होता। वीर्यसे पूर्व उनके मतमें प्रजा असम्भव है। अथवा प्रजाकी उत्पत्ति कह देनेपर फिर पीछे वीर्याधानका कथन व्यर्थ है। यदि 'द्रविण' का अर्थ 'वीर्य' है; तो 'तदस्मासु द्रविणं धेहि' (यजुः २६।३) मन्त्रमें भी क्या स्वामी अपनेमें

वीर्याधानकी प्रार्थना करेंगे? 'धेहि' का अर्थ मन्त्रमें 'पालन करना' है, गर्भाधान नहीं; अन्त्येष्टिमें गर्भाधानका प्रसंग ही क्या? जो कि नियोगकेलिए स्वामीने 'सनातनं धर्मं पालयन्ती' यह शब्द लिखे हैं; वे भी उनके पक्षको काटते हैं; क्योंकि नियोग सनातनधर्मका पालन नहीं, किन्तु सनातनधर्मके विरुद्ध है; जैसे कि 'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे 'सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनुः)। (मनुस्मृति २।७) इस प्रकारसे प्रशंसित मनुजीने कहा है—'नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्' (९।६४) यहाँ नियोग करना सनातनधर्मका पालन न कहकर 'सनातनधर्मका हनन' बताया गया है। हा हन्त! इस प्रकारके छलमलसे मलिन साधारण-जनोंको भी आज 'महर्षि' माना जाता है, अज्ञताकी इससे अन्य पराकाष्ठा क्या हो सकती है, जहाँ इस प्रकारके निर्मूल अर्थको विना कान-पूँछ हिलाये स्वीकार कर लिया जाता है। अब हम उक्त मन्त्रका वास्तविक अर्थ बताते हैं।

'इयं नारी' यह मन्त्र मृतकके प्रति कहा जा रहा है, जैसाकि हम पूर्व सिद्ध कर चुके हैं। पुराणं धर्मं-सनातनधर्मको [इस अर्थ करनेमें शतपथका प्रमाण है—'ये ऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतना इति, येऽत्र स्थ सनातना च ये अधुनातनाः' (७।१।१।२) अनुपालयन्ती पालन करती हुई, सनातन-धर्मका आचरण करती हुई, 'पतिलोकं वृणाना—मृतकपतिसे गन्तव्य पारलौकिक स्वर्गादि-लोकको

वरण करती हुई, अर्थात् तुम्हारे पीछे मरना चाहती हुई [जैसेकि-इसी मन्त्रके आशयसे मनुजीने लिखा है—'पाणिग्रहस्य साध्वी स्त्री...पतिलोकमभीप्सन्ती' (५।१५६) 'सा भर्तृलोकमाप्नोति' (५।१६५) 'पतिलोकात्' (५।१६१) 'इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति, पतिलोकं परत्र च' (मनु. ५।१६६) 'या ब्राह्मणी सुरापा भवति, नैनां देवाः पतिलोकं नयन्ति' (महाभाष्य ३।२।८) 'तस्माद् यत्रैव पतिस्तत्र जाया' (शत. १२।८।२।६) इत्यादि प्रमाणोंसे पतिलोक परलोकमें इष्ट है; क्योंकि-'सती च योषित् प्रकृतिश्च निश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि' (शिशुपालवध १।७२) सती स्त्री परलोकमें भी पतिलोकको प्राप्त करती है] इयं नारी-तुम्हारे पास लेटी हुई यह स्त्री, 'हे मर्त्य! ['मर्त्य' यह सम्बोधन मृतककेलिए साभिप्राय है]—ऐ मरणधर्मवाले! 'प्रेतं त्वाम्—मरे हुए तुम्हारे पास, उपनिपद्यते-लेटी हुई है, तुझ मृतकके साथ चितामें अनुमरणार्थ लेटी है। ['मृतक-शरीरका नाम प्रेत है' यह स्वा. दयानन्दजीने स.प्र. २ समु. १५ पृष्ठमें लिखा है। शतपथमें भी लिखा है—'यदा उत्क्रामति, अथ ह एतत्पुरुषो म्रियते। तस्माद् ह एतत् प्रेतमाहुः' (१०।५।२।१३)। न्यायदर्शनमें भी लिखा है—'प्रैति-पूर्व-शरीरं जहाति-म्रियते। प्रेत्य च-पूर्वशरीरं हित्वा' (४।१।१०) इससे स्पष्ट है कि-प्रेत-यहाँ मृतकवाची ही है; तभी इससे अग्रिम (अथर्व. १८।३।२) मन्त्रमें उसका पर्यायवाचक 'गतासुम् [गतप्राणम्] एतं' यह आया है 'उत्पन्नस्य क्वचित् सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः, स प्रेत्यभावः' (१।१।१९) न्यायदर्शनके इस

वाक्यमें भी 'प्रेत्य' का अर्थ 'मृत्वा' (मरकर) यही किया है।

तस्यै-उसकी [यहाँपर 'षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वाच्यम्' (२।३।६२) इस छान्दस-वार्तिकसे वेदमन्त्रमें 'या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वः' इस महाभाष्यके उदाहरणकी तरह चतुर्थी षष्ठी-विभक्तिके अर्थमें है], उस इस नारीकी हे प्रेत-मृतक ! इह-इस लोकमें विद्यमान अर्थात्-तुझसे उत्पन्न; प्रजा-सन्तानको, और तुमसे प्राप्त द्रविणं-धनको धेहि-पाल, उसका पालन-पोषण-संरक्षण कर ['डुधाञ् धारणपोषणयोः (जु. उ. अनि.) यह धातु यहाँ है, जिसका अर्थ धारण-पोषण है, और धारण-पोषण पूर्व-विद्यमानका होता है, इस प्रकार यहां पूर्व-विद्यमान सन्तान एवं धनका पोषण मृतकसे प्रार्थित हो रहा है]।

सम्पूर्ण अर्थ एवं तात्पर्य यह हुआ कि—ऐ मृतक-अर्थात्-इस लोकको छोड़कर परलोकमें गये हुए आत्मा ! यह तेरी स्त्री तुझसे गन्तव्य पतिलोककी प्राप्त्यर्थ तेरे पास चितामें अनुमरणार्थ लेटी हुई है; यह तो तेरे साथ सती हो जाएगी, तेरे लोकको प्राप्त होगी; पर इसकी तुझसे प्राप्त सन्तान एवं धनका इस-प्रकार रक्षण कर, जिससे यह सन्तान और धन स्थिर रहे। यह यहांसे मृतक हुए, इस लोकके शरीरको छोड़कर परलोकमें गये हुए आत्मासे प्रार्थना है, यहांके किसी जीवित पुरुषसे प्रार्थना नहीं; क्योंकि-यहां उसका कोई प्रसङ्ग नहीं; हां उसके घर वालों-संरक्षकोंको इसके सन्तान एवं धनका संरक्षण स्वयं ही उद्-बोधित हो जाता है। जैसे कि-कहते हैं कि-ऐ उस्तरे ! इस बच्चेकी

हिंसा न करनी-जहां यह छुरेके अभिमानी देवताको चूडाकरणमें प्रार्थना हो जाती है; वहां छुरेके चलाने वाले हजामको भी उद्-बोधन मिल ही जाता है कि-इस बच्चेका सिर सावधानतासे मूंडना कि-इस बच्चेको छुरा लग न जावे। अस्तु।

यहां मृतकसे यह प्रार्थना करनेका कारण यह है कि-मृतक हो जानेपर, इस शरीरके छूट जानेपर 'जीवानामायुः प्रतिर त्वमग्ने ! पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः' (अथर्व, १२।२।४५) यहां मृतकोंका पितृलोकमें गमन कहा है। इससे उस मृतककी आत्मामें बड़ी शक्ति आ जाती है, उसका विभु स्वरूप इसी समय तो अर्थात् ऐहिक-शरीर छोड़ने पर ही प्रकट हुआ करता है। इसी शक्तिके कारण अथर्ववेद सं. (१८।३।१०-४४) आदि मन्त्रोंमें मृत-पितरोंसे रक्षाकी बहुत प्रार्थना की गई है। उसका कारण यह है कि-जैसे घड़ेमें पड़े हुए दीपककी प्रकाश-शक्ति स्थगित, सीमित होती है, उसका प्रकाश इधर-उधर फैल नहीं सकता; घड़ेसे दीपकके बाहर होनेपर तो उसकी प्रकाश-शक्ति बड़ी तीव्र हो जाती है—सारा कमरा वा स्थान प्रकाशित हो जाता है, वैसे ही स्थूल लौकिक-शरीरसे आच्छन्न आत्माकी भी विभुत्वशक्तिका प्रकाश स्थगित हो जाता है, और स्थूल मानुष-शरीरमुक्त आत्माकी भी बहुत बड़ी विभुत्वशक्ति प्रादुर्भूत हो जाती है। मृतक-पितरोंका पितृत्व पान्तीति पितरः—यह संरक्षण भी उसी समय सार्थक होता है; तभी परलोक-विद्याविशारद लोग—जिस रोगीकी चिकित्सामें यहांके डाक्टर सफल नहीं

होते; वे परलोक प्राप्त-आत्माओंसे उसके आरोग्यकी ओषधि पूछकर उसका उपयोग करके उस रोगीको स्वस्थ करनेमें सफल हो जाते हुए देखे गये हैं।

स्वा. शङ्कराचार्यने भी स्थूल-शरीरमुक्त आत्मामें अपने ब्रह्म-सूत्रके भाष्यमें बड़ी शक्ति मानी है। वह पाठ यह है—'सोपि तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद्—देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषय-वेदनादियोगाद् भवति। अस्ति चात्र उपमा—'यथा अग्नेर्दहन-प्रकाशनसम्पन्नस्यापि अरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतः; यथा वा भस्माच्छन्नस्य [अग्नेर्दहनप्रकाशने तिरोधीयेते, तथा स्थूलदेहाच्छन्नस्य आत्मनोपि ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो जायते]। आचार्यने यहां बहुत अच्छा दृष्टान्त दिया है कि-अग्निमें दहन शक्ति भी है और प्रकाश-शक्ति भी। पर जब वह अरणि [लकड़ी]में होती है; या उसके अङ्गारोंपर भस्म आई हुई होती है, तब अग्निके दहन एवं प्रकाश स्थगित होते हैं; अरणिसे बाहर आजानेपर तथा अङ्गारोंसे भस्म हटा देनेपर अग्निकी अपनी स्वाभाविक-शक्ति प्रकट हो उठती है, वैसे ही स्थूल-शरीर हट जानेपर परलोक-प्राप्त आत्माकी भी स्वाभाविक विभुत्वादि-शक्ति प्रकट हो उठती है, तब उससे संरक्षणादिकी प्रार्थना भी सङ्गत हो जाती है, क्योंकि—स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्ममें शक्ति बहुत बढ़ जाती है।

इससे मृतक पतिके प्रति उसकी सन्तान एवं धनके संरक्षणकी प्रार्थना भी समूल सिद्ध हो जाती है, क्योंकि—स्थूल शरीर हट जानेसे उसकी ऐश्वर्यशालिता—ईश्वरता प्रकट हो जाती है। इससे

हमसे कहा हुआ अर्थ समूल सिद्ध हुआ। क्योंकि—यह सतीधर्म-का प्रतिपादक मन्त्र है, विधवाविवाहका तो इसमें कहीं गन्ध ही नहीं। सती-धर्म ही पुराण-धर्म माना गया है। महाभारतमें कहा गया है—'एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन' (सभापर्व ६८।३५) 'दीर्घायुरथवाऽल्पायुः सगुणो निर्गुणोपि वा। सकृद् वृतो मया भर्ता द्वितीयं न वृणोम्यहम्' (वनपर्व २९४।२७) यही सतियोंका धर्म है—जिसे सावित्रीने कहा था। इस सतीधर्मको एक कवि प्राकृतिक बताता है—'शशिना सह याति कौमुदी, सह मेघेन-तडित् प्रलीयते। प्रमदाः पतिमार्गगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि'। स्वा. दयानन्दजीने भी 'द्विजोंमें स्त्री और पुरुष-का एक ही वार विवाह होना वेदादि-शास्त्रोंमें लिखा है—द्वितीय वार नहीं' (स.प्र. ४ पृ. ७१) यहां विधवाका विवाह निषिद्ध किया है, विवाहका भाव है पतिसे योग। विधवा-विवाह वा नियोग कहीं भी पुराणधर्म नहीं कहा गया। यह वेनराजासे प्रवर्तित होनेसे आदिमान्-अर्वाचीन है, पुराण अर्थात् प्राचीन नहीं। इसे पाठकोंने स्पष्ट अनुभूत किया होगा कि—इस मन्त्रमें विधवाके पत्यन्तरका गन्ध नामको भी नहीं। अब इस विषयमें दिये जाते हुए दूसरे मन्त्रको भी 'आलोक'—पाठक देखें।

(२) 'उदीर्ष्व नारि।'

'उदीर्ष्व नारि' इस मन्त्रको सम्पूर्ण पहले लिख ही चुके हैं; अब पहले उसपर स्वा.द.जीका अर्थ उद्धृत करते हैं; अर्थमें जहाँ उन्होंने मूलसे कुछ बढ़ाया है, प्रक्षेप किया है, वा अर्थ

गलत किया है; उसपर हम '(?)' यह चिह्न अङ्कित करेंगे, विद्वान् पाठक सावधानतासे इसका भी निरीक्षण करें—

'हे (नारी) विधवे, तू (एतं गतासुम्) इस मरे हुए पतिकी आशा छोड़के (?) (शेषे) बाकी पुरुषोंमेंसे (?) (अभि, जीवलोकम्) जीते हुए दूसरे पतिको (?) (उपैहि ?) प्राप्त हो, और (उदीर्ष्व) इस बातका विचार और निश्चय रख (?) कि-जो (हस्तग्राभस्य दिधिषोः) तुझ विधवाके पुन (?) पाणिग्रहण करनेवाले नियुक्त (?) पतिके सम्बन्धकेलिए नियोग होगा (?) तो (इदं) यह (जनित्वम्) जना हुआ बालक (?) उसी नियुक्त (?) (पत्युः) पतिका होगा। और जो तू अपने लिए नियोग करेगी; तो वह सन्तान (?) (तव) तेरा होगा, ऐसे निश्चययुक्त (अभिसम्वभूथ) हो (?) [यहाँपर 'लिट्' का अर्थ 'लोट्' लकारका किया गया है।] (स.प्र.) ४ समु. पृ. ७१)

यहाँ संन्यासीजीके ऐसे अप्रासङ्गिक वा गलत अर्थ करनेपर वड़ा खेद होता है। इस निर्मूल अर्थको देखकर स्वा.द.जीसे श्रद्धा सर्वथा हट जाती है; पर आर्यसमाजमें कई विद्वान् हैं; ऐसे अर्थके अनर्थको देखते हुए भी उन्हें ऋषि-महर्षि कहते हैं; और उनपर श्रद्धा रखते हैं, यह देखकर उनकी विद्वत्तापर वड़ा खेद आता है। यहाँ तो स्वामीजी ईश्वरकी बनाई हुई पुस्तकके ईश्वरसे अनभीष्ट अर्थ करते हुए ईश्वरसे भी न डरे कि-कहीं इससे वह हमारी अकालमृत्यु न करादे ?।

स्वामीके अर्थमें प्रष्टव्य है कि-'गतासुम्' के अर्थमें 'आशा

छोड़के' यह किस पदका अर्थ है ? 'शेषे' यह क्रिया है, उसीका ही मन्त्रमें निघात (सर्वानुदात्त) स्वर है 'उप' यह उसीका उपसर्ग है; लेकिन स्वामीने उस 'शेषे' को सुवन्त बनाकर 'उप' का 'एहि' से योग करके या तो अपनी अनभिज्ञता प्रकट की है, अथवा संस्कृतसे अशिक्षित जनताकी आँखोंमें धूलि-प्रक्षेप किया है। यह तो उनके अनुयायी जान सकते हैं; जो प्रसङ्ग न होनेपर भी उनके अर्थोंमें बलात् स्वर-व्यत्यय वताया करते हैं। अन्य भी जो प्रक्षेप अपने अनर्थरूप अर्थमें स्वामीने किये हैं; जिनपर हमने (?) यह चिन्ह दिये हैं, उनकेलिए यहाँ लज्जाका स्थान है ! स्वामीके अनुयायी तो स्मृति-पुराणादिमें प्रक्षेप वताया करते हैं; अब तो उनके स्वामीजी ही स्वार्थसिद्ध्यर्थ वेदमें भी प्रक्षेप करनेकेलिए तत्पर हैं; अत्यन्त खेद !!! विद्वान् लोग स्वामीकी इस लीलाको घृणादृष्टिसे देखते हैं। यही 'वेदमन्त्रार्थ-हत्या' हुआ करती है।

कई उनके अनुयायी इस मन्त्रमें उनके किये हुए नियोग अर्थकी अनुपपन्नता देखकर 'विधवाविवाह' अर्थ करते हैं, वह भी ठीक नहीं। एक मन्त्र है—'आ नो अग्ने ! सुमतिं सम्भलो गमेदिमां कुमारीं, सह नो भगेन' (अथर्व. २।३६।१) दूसरा मन्त्र है-'मा हिंसिष्टं कुमार्यम्' (अ. १४।१।६३) यह विवाह-सम्बद्ध मन्त्र हैं। इनमें प्रष्टव्य है कि-'कुमारी' शब्दका क्या अर्थ है? यदि यहाँ 'कुमारी' का 'अविवाहिता' अर्थ है, जैसेकि महाभाष्य में लिखा है—'कुमारी अपूर्वपतिः पतिमुपपन्ना' (४।२।१३); तब

विधवाविवाह भी निषिद्ध होगया; तब इस मन्त्रमें सुधारकोंका विधवाविवाह अर्थ भी कैसा ? यदि यहाँ 'कुमारी' शब्द 'प्रथम-वयोवाचक' है, तो १७-२४ वर्षीय कन्याका प्रतिपक्षिसम्मत विवाह खण्डित होगया। 'सेयमुभयतःस्पाशा रज्जुः'।

जैसे स्वा.द.जीने 'स.प्र.' में 'उदीर्ष्व नारि' मन्त्रके अर्थावसरपर छल किया है, वैसे ही ऋ.भा.भू.में स.प्र. से भिन्न अर्थ करते हुए भी छलको नहीं छोड़ा। पाठक उनका वहाँका अर्थ भी देखें।—

'हे विधवे नारि ! (एतं गतासुं) गतप्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (?) [यहाँ भी स्वामीने 'त्यक्त्वा' शब्द वेदमन्त्रार्थमें प्रक्षिप्त कर दिया, वह मूलमें सर्वथा नहीं है] (अभि जीवलोकं) जीवन्तं देवरं द्वितीयवरं पतिं (एहि) प्राप्नुहि [यहाँ पर 'अभि जीवलोकं' यह 'एहि' क्रियाका कर्म ही नहीं है, किन्तु 'अभि' का कर्म है] (उपशेषे) तस्यैव सन्तानोत्पादनाय वर्तस्व [सत्यार्थ-प्रकाशमें 'शेषे' को 'सुप्' बनाकर उसका स्वामीने 'बाकी' अर्थ किया था, 'उप' उपसर्गको 'एहि' से जोड़ दिया था, यहाँपर भी सुप्का वैसा अर्थ कर दिया; और लिट् लकारके प्रयोगका लोट्लकारका अर्थ कर दिया; धातुका जो 'शयन' अर्थ था; उसे छिपाकर 'वर्तस्व' यह निर्मूल अर्थ कर दिया 'सन्तान' अर्थ भी बीचमें प्रक्षिप्त कर दिया] (हस्तग्राभस्य) तत्सन्तानं (?) विवाहे सङ्ग्रहीत (?) हस्तस्य पत्युः स्यात्। [यहाँ सत्यार्थप्रकाश-से विरुद्ध 'हस्तग्राभ' से मृतक पति लिया है, दूसरा पति नहीं;

परन्तु 'तत् सन्तानं' इस अविद्यमान भी शब्दको बीचमें प्रक्षिप्त कर दिया। 'सन्तान' इस पुंलिङ्ग शब्दको नपुंसकलिङ्गमें बना दिया;]। यदि नियुक्तपत्यर्थो नियोगः कृतः, तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव सन्तानं भवेत् [यहाँ भी स्वामीकी कपोलकल्पना है; क्योंकि-हस्त-ग्राभ और दिधिषु यह विशेषण मृतक-पतिके ही हैं। यदि दोनोंकी भिन्नता होती; तो बीचमें भिन्न करनेवाला 'च' होता; पर नहीं है; अतः यह अर्थ गलत है, स्वयं वर्धित है]। (तवेदं) इदमेव विधवायास्तव (जनित्वं) सन्तानं (?) भवति ['जनि' का अर्थ यहाँ 'जाया' है, सन्तान नहीं] हे विधवे ! विगतविवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं (?) त्वं (उदीर्ष्व) विवाहितपतिमरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ (?) [यह सभी पद स्वामीने स्वयं प्रक्षिप्त किये हैं; 'उदीर्ष्व' का 'नियोगमिच्छ' यह अर्थ बनावटी कर दिया] तथा (अभिसम्बभूथ) सन्तानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव (?) [यह शब्द भी स्वामीने स्वयं कल्पित किये हैं, इसके अतिरिक्त लिट्लकारके इस प्रयोगका अर्थ लोट्लकारका कर दिया, 'सुख-कल्पना' यहाँ संन्यासीजीकी अपनी कपोल-कल्पना है, उनको इन सुखोंका बड़ा विचार रहता था]।

अब हम इस मन्त्रका वास्तविक अर्थ लिखते हैं, इससे विधवाका नियोग वा विवाह अर्थकी निर्मूलता स्पष्ट हो जायगी। हम 'इयं नारी पतिलोकं वृणाना' इस अथर्ववेदके मन्त्रसे विधवाका पतिके साथ अनुमरण बता चुके हैं; यह 'उदीर्ष्व नारि'

उसके बादका मन्त्र है।

जो नारी विवाहित पतिके छोटे-बड़े पुत्रादिका विचार करके पतिके अनुमरणमें समर्थ नहीं, अतः ब्रह्मचर्य एवं संयमसे जीवनयात्राका निर्वाह करना चाहती है; उसकेलिए कौशिक-सूत्रानुसार (८०।४५) यह दूसरा मन्त्र है। मृतक-पतिके पास वह विधवा जो पूर्वमन्त्रानुसार अनुमरणकेलिए लेटी हुई थी, वहांसे उसे उठानेकेलिए यह मन्त्र है—'उदीर्ष्व नारि! अभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसम्बभूथ' (अथर्ववेदसं. १८।३।२) यहाँ मृत्युका अधिष्ठाता 'यम' देवता है-यह हम पूर्व कह चुके हैं। ऋग्वेदसं.में भी जहाँ यह मन्त्र आया है, वहाँ भी मृतकका प्रकरण है, जैसे—'परं मृत्यो!' (१०।१८।१) 'मृत्योः पदं' (२) 'इमे जीवा विमृतैः' (३) 'अन्तर्मृ त्युं दधतां' (४) फिर ७-८ मन्त्रसे 'पितृमेध' देवता है, जिसमें 'उदीर्ष्व नारि' यह आठवां मन्त्र है। पितृमेध—मृतककर्मका नाम है, जैसेकि-'गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्' इस मनुके पद्यमें स्थित 'पितृमेध' शब्दका अर्थ स्वा. दयानन्दजीने 'दाहकर्म' (स.प्र. २ पृ. १५) लिखा है। अब 'आलोक' के पाठक उक्त मन्त्रका अर्थ देखें—

हे नारि!-ऐ स्त्री, हस्तग्राभस्य दधिषोस्तव [अस्य मृतस्य पत्युः]-तेरे पाणिग्रहणकर्ता तथा तेरे गर्भके वा तेरे निधाता, परन्तु अब मरे हुए पतिका (हस्तग्राभस्य, दधिषोः-यह दो विशेषण उसी मृतक पतिके हैं, जो चितामें पड़ा है, जहांसे उसकी स्त्रीको

उठाया गया। पहले हम बता चुके हैं कि-कौशिकसूत्रानुसार यहाँ मृतक-पतिका उद्देश्य किया है। इसका कारण यह है कि-इस मन्त्रके पूर्वार्धमें 'गतासुम् एतम् उपशेषे' यहाँ मृतक पतिका वर्णन है कि-'ऐ स्त्री, जो तू इस मृतक-पतिके पास अनुमरणार्थ लेटी हुई है'। पर स्वामीने इस अर्थके हटानेकेलिए 'गतासुम् एतम् अपहाय' इस 'अपहाय' (छोड़कर) शब्दको स्वयं ही अपनी कपोल-कल्पनासे जोड़ दिया है। हम कह चुके हैं कि-इस सूक्तका मृतक-कर्ममें ही विनियोग है, कृष्णयजुर्वेद (तै. आ. ६।१) में भी यहाँ 'पितृमेध देवता' और अन्त्येष्टि कर्ममें विनियोग माना गया है। आर्यसमाजसे प्रकाशित ऋग्वेदसंहितामें भी इस मन्त्रका देवता 'पितृमेध' है, और 'पितृमेध' का अर्थ 'अन्त्येष्टि' है-यह हम स्वा.द.के प्रमाणसे भी कह चुके हैं। तव 'हस्तग्राभस्य' दधिषोः' यह विशेषण उस मृत-पतिके ही हैं, इससे उसकी पूर्व अवस्था दिखलाई गई है। अब उक्त मन्त्रका अर्थ यह हुआ—

हे नारि!-ऐ मृतककी पत्नी!, हस्तग्राभस्य-तुम्हारा अपनी जीवित-अवस्थामें हस्तग्रहण कर चुके हुए दधिषोः-धारण एवं पालन करनेवाले, ('धारयितुः' यह सायणने अर्थ किया है) तव पत्युः-तेरे इस अब मरे हुए पतिके [यहाँ उस पत्नीके पतिके जीवन-समयका चित्र चित्रित किया गया है] इदं जनित्वं-इस जायात्व-पत्नीत्वको तू [जनि स्त्रीका नाम होता है, जैसेकि-'संज्ञायां जन्या' (४।४।८२) इस पाणिनि-सूत्रके 'जन्या' शब्दका

अर्थ भी यही है-जनी-वधूः, तां वहति-प्रापयति-इति जन्या, हमारी मुलतानी भाषामें इसे 'जञ' इसी कारण कहते हैं, अथवा 'जनि' सन्तानका नाम भी माना जावे; तब 'इदं जनित्वं 'यह तुम्हारी सन्तान' यहाँ पूर्वसन्तानका भाव है, नियोग अर्थमें तो यह संगत हो ही नहीं सकता 'इदं जनित्वम्' इसमें 'इदम्' शब्द सन्तानकी समीपताको बता रहा है; सो नियोगी कोई सन्तान तो लाता नहीं; अतः वहाँ 'इदं' शब्द संगत न होनेसे वह अर्थ भी संगत नहीं] अभिसम्बभूथ-प्राप्त कर चुकी [यहाँपर भूतसामान्यमें 'छन्दसि लिट्' (३।२।१०५) इस पाणिनि-सूत्रसे लिट् है, और 'बभूथाततन्थ' (पा. ७।२।६४) इस सूत्रसे इट्का निषेध होगया। अथवा यहाँ परोक्षभूतका भी वर्णन हो सकता है, जैसेकि-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृ. ३७८) में स्वा.द.ने लिखा है-'लिटः कानज् वा' (३।१।१०६) प्रकृतेपि लिटि पुनर्ग्रहणात् परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति' । अब सम्पूर्ण अर्थ यह हुआ कि-ऐ नारी, तू इस मृतक-पतिके, जिसने तुम्हारा पाणिग्रहण एवं पोषण किया था-इस पत्नीत्वको प्राप्त कर चुकी।

गतासुम्-मृतक, एतं-इस सामने स्थित पतिके पास, उपशेषे जो कि तू चितामें अनुमरणार्थ लेटी है ['उप शेषे' यह यहाँपर तिङ्-क्रिया है, सुप् नहीं; जोकि स्वा.द.ने इसका अर्थ स.प्र.में 'बाकी' कर दिया। इसमें स्वरशास्त्रकी साक्षीसे भी स्वा.द.का उक्त अर्थ अशुद्ध है। उक्त मन्त्रमें 'उप शेष एहि' यहाँपर 'उप' (अतिङ्-सुप्) के सामने ठहरे हुए 'शेषे' इस तिङ्को 'तिङ्ङतिङः' (पा. ८।१।२८)

इस सूत्रसे निघात (सर्वानुदात्त) हुआ है, वैसा ही ऋग्वेद तथा अथर्वके उक्त मन्त्रके पदपाठमें प्रत्यक्ष है—'उप'। शेषे। आ। इहि'। फिर संहितामें 'स्वरितात् संहितायामनुदात्तानाम्' (पा. १।२।३९) इस सूत्रसे स्वरितके आगे पड़े हुए सभी अनुदात्तोंको प्रचय (एकश्रुति) होगया, उदात्तकी भांति प्रचयका चिन्ह भी नहीं होता। इस प्रकार 'शे' को प्रचय होगया। तब 'षे' इस अनुदात्तको भी प्रचय प्राप्त था; पर उसके सामने 'आ' यह उदात्त है; तब 'उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः' (पा. १।२।४०) इस सूत्रसे अनुदात्तके चिन्हवाला अनुदात्ततर होगया। तब 'शेषे' यह स्वर-शास्त्रानुसार तिङ्क्रिया सिद्ध हो जानेसे उसे सुप् बनाकर 'इस मरे हुएकी आशा छोड़के बाकी पुरुषोंमेंसे जीते हुए दूसरे पतिको प्राप्त हो' (स.प्र. पृ. ७१) यह 'बाकी' का अर्थ करना स्वा. दयानन्दका अशुद्ध-प्रयत्न सिद्ध होनेसे खण्डित होगया। इसलिए स्वा.द.के अनुयायी भी श्रीतुलसीराम-स्वामी आदिने स्वामीके इस 'बाकी' अर्थको अशुद्ध मानकर उसका अनादर कर दिया; क्योंकि-उसे स्वीकृत वा अनुकृत नहीं किया।]

जीवलोकमभि-अपने स्वामीके जीवोंके लोक-जीवित पुत्रोंके संसारको अभिलक्षित करके अर्थात् उनके पालनार्थ उदीर्ष्व—यहांसे-चितासे उठ, एहि-आ। [यह पुत्रोंवाली मृतककी पत्नीको जो उसके साथ ही चितामें जलकर मरना चाहती थी—कहा जा रहा है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि-यहाँ सती-प्रथा

स्त्रीकी इच्छानुसार थी; उसपर ज़ोर-जुल्म नहीं किया जाता था, उसको जबर्दस्ती नहीं जलाया जाता था-यदि उसे अपने संयम पर, अपने पातिव्रत्य पर विश्वास था, तब उसके जल जानेका प्रश्न ही नहीं उठता। जल जाना भी उसका सतीत्व, और संयम एवं पातिव्रत्यसे उसका जीना भी सतीत्व सिद्ध है]

उक्त मन्त्रका तात्पर्य यह है कि-तू अपने पतिकी जनि-जाया हो चुकी। जायाका अर्थ है कि-पति स्त्रीमें गर्भ-रूपसे प्रविष्ट होकर फिर नया बनकर दशवें मासमें पुत्र-रूपसे उत्पन्न होता है। जैसाकि श्रुति-स्मृतिमें कहा है 'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम्। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते। तज्जाया जाया भवति, यदस्यां जायते पुनः' (ऐतरेयब्राह्मण ७।१४, जाया-यास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः' (मनुस्मृति ९।८)

अब भाव यह हुआ कि-'ऐ नारी, जायारूप तुममें वह तेरा पति पुत्र रूपसे तुमसे उत्पन्न हो चुका; वह पुत्र तो तुम्हारा है ही, इसलिए अब तुम्हें मरने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि-तुम्हारे पतिका अंशावतार तो तेरे घरमें विद्यमान ही है, तू उसीका संरक्षण कर। इससे पुत्रवती-स्त्रीका पतिकी मृत्युमें पत्यनुमरण अनिवार्य नहीं बताया गया। इस प्रकार इस मन्त्रमें विधवाका अन्य पतिके साथ सम्बन्धका कोई गन्ध भी नहीं है। धन्य हैं ये प्रतिपक्षी, जो पतिका शव सामने पड़ा है; और वह विधवा 'प्रतिघ्नानाः सन्धावन्तु उरः पटूरावाघ्नानाः। अघा-रिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते' (अथर्व. ११।९।१४) 'प्रतिघ्नाना

अश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु। विकेशी पुरुषे हते' (अथर्व. ११।९।७) इस वेदमन्त्रानुकूल अपने प्रियतम-पुरुषकी मृत्युसे छाती पीट रही है, स्यापा कर रही है; कानोंसे जिसने वालियाँ उतार दी हैं; सिर मुंडवा दिया है, रो-पीट रही है, तेल लगाना बन्द कर दिया है; उसे श्मशानमें ठहरे हुए बाकी पुरुषोंमेंसे किसीको स्वामीजी स्वामी बना लेनेकेलिए आर्डर दे रहे हैं; बलात् अर्थका अनर्थ कर रहे हैं! यह बहुत खेदकी बात है। अंग्रेज़-अमेरिकन' भी मृतककी कब्र सूखने देते हैं; तब कहीं विधवाका विचार करते हैं; पर यहाँ तो श्मशानमें ही वैदिक! नियोग-विधि पूरी करनेकेलिए आज्ञा हो रही है।

एतदादिक मन्त्रोंमें विधवाविवाहकी गन्धमात्र भी न होनेसे 'यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना संप्रकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' (२।७) इस मनुस्मृतिके तथा 'वेदार्थोप-निबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्। मन्वर्थ-विपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते' इस बृहस्पतिके वचनसे प्रसिद्ध वेदज्ञ मनुजीने-'नौद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः' (९।६५) 'न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद् भर्तोपदिश्यते' (५।१६२) 'संस्थितं (मृतकं) न न लङ्घयेत्' (५।१५१) वेदमें विधवाविवाह तथा विधवा-नियोग-की सत्ता नहीं मानी है। उन्हींके अनुसार बृहत्पराशरस्मृतिमें भी कहा है—'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाम्' (४।४८) (जीता हो, चाहे मर गया हो; पति ही स्त्रीका प्रभु है)

तब उसकी मृत्युमें उसका अन्य प्रभु-पति कैसे हो सकता है ?। बोधायन-पितृमेधसूत्रमें (१।१२।१०) 'यावज्जीवं प्रेत-(मृतक) पत्नी [ब्रह्मचर्यम्]' विधवाका यावज्जीवन ब्रह्मचर्य कहा है। 'मान्या हि गुरवः सर्वे एकपत्न्यस्तथा स्त्रियः (महा. वनपर्व. २०५।५) यहाँ एकपतिका-स्त्रीकी माननीयता कही गई है।

अथर्ववेदके 'दधिषोः' पदकी तरह 'दिधिषोः' (१०।१८।८) इस ऋग्वेदके पदका भी रक्षण-पोषण आदि रूपसे 'धारक' ही अर्थ है; क्योंकि-वेद स्त्रीको वर-द्वारा ही 'पोष्या' बताता है— 'ममेयमस्तु पोष्या' (अथर्व. १४।१।५२)। निर्णयसागरीय-ऋ.सं. में तो यहाँ भी 'दधिषोः' ही पाठ है। 'उपपत्याः सुतो यस्तु यश्चैव दिधिषूपतिः। परपूर्वपतेर्जातः सर्वे वर्ज्याः प्रयत्नतः' (बृहत्पराशर. ५।३६७) 'पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे' (मनु. ३।१५५) 'यश्चाग्रेदिधिषूपतिः' (३।१६०) एतान् विगर्हिताचारान् अपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान् ।...उभयत्र विवर्जयेत्' (मनु. ३।१६७) 'परपूर्वा (पुनर्भू) पतिस्तथा । वर्जनीयाः प्रयत्नतः' (३।१६६) 'पौनर्भवस्तथा वर्ज्यः' (प्रजापतिस्मृति ८३।८४) 'भ्रातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कामतः । धर्मेणापि नियुक्तायां स ज्ञेयो दिधिषूपतिः' (मनु. ३।१७३) इत्यादि धर्मशास्त्रोंके वचनमें विधवाविवोढा तथा उनके लड़केको निन्दित एवम् अपाङ्क्तेय माना गया है। तैत्तिरीयब्राह्मणमें भी उसकी निन्दा स्पष्ट है— 'सूर्याभिनिम्रुक्तः कुनखिनि, कुनखी श्यावदति, श्यावदन् अग्रेदिधिषौ, अग्रेदिधिषुः परिवित्ते, परिवित्तो वीरहणि, वीरहा

ब्रह्महणि, तद् ब्रह्महणं नात्यच्यवत' (३।२।८(१२), यहाँ अग्रेदिधिषु, परिवित्ति, ब्रह्महत्यारा आदिको पापी कहा गया है। वादिप्रतिवादिमान्य मनुके अनुसार यह अपाङ्क्तेय (पंक्तिमें बैठनेके अयोग्य) हैं।

इनके साथ बैठनेसे एवं उस पंक्तिमें भोजन करनेसे क्या फल मिलता है—यह मनुजीके शब्दोंमें देखिये—'अपाङ्क्तेयैर्यदन्यैश्च...तद्वै रक्षांसि भुञ्जते' (३।१७०) 'अपाङ्क्तदाने यो दातुः...' (३।१६९) 'भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे' (मनु. ३।१८१) 'दिधिषूपपतिर्यः स्याद् अग्रेदिधिषुरेव च। ... पूर्वपूर्वस्तु गर्हितः' (महाभारत शान्तिपर्व ३४।४) इत्यादि धर्मशास्त्रीय वचनोंमें पुनर्भू, पौनर्भव, दिधिषू, दिधिषु आदि स्त्री-पुरुषोंकी स्पष्ट निन्दा होनेसे वह कर्म कर्तव्य-कोटिमें नहीं आता, अतः अधर्म हो जाता है; तब इनके उपजीव्य वेदमें भी उसकी विधि नहीं आ सकती। इसलिए सुधाव्याख्यामें 'दिधिषू' की व्युत्पत्ति भी यही की गई है—'दधाति पापम्' यद्वा-दिधिं-धैर्यं स्यति-नाशयति' (अमर. ६।६।२३) सो धृति धर्माङ्ग है जैसेकि-मनुजीने 'धृतिः क्षमा दमः···दशकं धर्मलक्षणम्' (६।९२) यहाँ सब अधर्मोंका मूल-कारण अधृति होनेसे 'धृति' को धर्मके लक्षणोंमें सबसे पूर्व कहा है, यह ठीक भी है; क्योंकि-क्षमा, दम, इन्द्रियनिग्रह, अक्रोध-अस्तेय यह सभी धर्म धैर्यको छोड़ देनेसे भङ्गको प्राप्त होते हैं, अतः उस धैर्यके नष्ट करनेसे भी दिधिषूमें अधर्म स्पष्ट है। स्वा. दयानन्दजीने भी अपने उणादि-

कोषमें 'दिधिषू'का यही विग्रह किया है–'दिधिं-धैर्यमिन्द्रिय-दौर्बल्यात् स्यति-त्यजति-इति दिधिषू:' (१।६३)। इस कारण स्पष्ट है कि-वेदमें 'दिधिषु' का वह अर्थ नहीं है-जिसे प्रतिपक्षी करते हैं, क्योंकि-वहाँ तो उस मृतक-पतिकी ही पूर्वावस्था-धारणपोषणका स्मरण करनेसे उसे दिधिषु, एवं 'दधिषु' कहा गया है। कोई स्वतन्त्र जीवित-पुरुष वेदके उस प्रकरणमें विवक्षित नहीं।

प्रतिपक्षि-गण वेदमें 'दिधिषु' का रूढ अर्थ कर भी नहीं सकते; क्योंकि-वे वेदमें सभी शब्दोंको यौगिक मानते हैं, रूढि नहीं। यदि इस समय वे अपने अशुद्ध-पक्षकी सिद्ध्यर्थ यहाँ 'दिधिषु, पुनर्भू' आदि शब्दोंका स्मृति-प्रसिद्ध रूढ अर्थ ही वेदमें लेते हैं; तो अथर्ववेदसं.के १५वें काण्डमें 'व्रात्य' की पूजा आई है, 'व्रात्य' मनु (२।३६-४०) आदिके अनुसार उपनयन-वेदाध्ययन-हीन ब्राह्मणका नाम है, तब क्या वैदिकम्मन्य प्रतिपक्षी भी उपनयन एवं अध्ययनहीन ब्राह्मणकी वेदानुसार पूजा मानेंगे? यदि ऐसा है, तो वे ब्राह्मणादि-वर्णोंकी जन्मसे ही व्यवस्था वैदिक मानें; और गुणकर्मानुसारिणी वर्ण-व्यवस्थाको अवैदिक माननेका उद्घोष अपने समाजमें कर दें।

स्मृति आदिमें वशा-वन्ध्या गायके दानका निषेध है; यदि वे इस प्रकार वेदमें भी वशाका अर्थ वन्ध्या मान लें; तो अथर्वके वशासूक्त (१०।१०) के अनुसार वन्ध्या गायका दान करना भी वैदिक मान लें। अथर्व (११।७) में 'उच्छिष्ट' का भी वर्णन

आता है; यदि वे वेदमें भी उच्छिष्टका अर्थ वही स्मृति-प्रसिद्ध 'जूठा भोजन'-जिसका स्मृतियोंमें निषेध आया है—मानते हैं; तब दूसरेकी जूठन भी सेवन करके पूरे वैदिक बनें। वेदमें दिन-रात्रि, उषाकेलिए 'पुनर्भू' (ऋ. १।६२।८, १।१२३।२) शब्द आता है; तब क्या उसे विधवाविवाह करनेवाली मान लिया जायगा? यदि वे ऐसा नहीं मानते; तब वेदमें भी 'दिधिषु'का स्मृतिप्रसिद्ध अर्थ कैसे लेते हैं! यह उनको पता नहीं कि-वेदमें 'इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षविद्विषः' (गोपथ. १।१।) इत्यादि कथनानुसार परोक्ष शब्द भी कहे जाते हैं, उनका लोकप्रसिद्ध अर्थ करना अनिवार्य नहीं होता। इसके एक-दो उदाहरण भी देख लीजिये—

निरुक्त दैवतकाण्ड (८।२०।१) में 'वनस्पते रशनया नियूय... वहा देवत्रा दिधिषोर्हवींषि' इस मन्त्रके 'दिधिषु' का अर्थ 'दातुः' ही किया गया है। क्या वे फिर 'मातुर्दिधिषुमब्रवं स्वसुर्जारः शृणोतु नः' (ऋ. ६।५५।५) इस मन्त्रमें अपनी माताके दिधिषु-दूसरे खसम (पति) को और बहिनके जार (उपपति) को बुलाया करते हैं? क्या वे 'आशवो दिधिषवो' (ऋ. १०।७८।५) में मरुतोंको भी दिधिषु—विधवाविवोढा ही मानते हैं?' 'दिधिष्वो विभृत्राः' (ऋ. १।७१।३)में प्रजाओंके उक्त विशेषणका 'धारयित्र्यः' अर्थ न करके दूसरे पति वाली अर्थ करेंगे?'

फलतः यहां 'दिधिषु'का अर्थ 'दूसरा पति' नहीं। यदि स्वामी जी वा उनके अनुयायी अमरकोषके अनुसार 'दिधिषु'का

'द्वितीय-पति' यह रूढ अर्थ करते हैं; तो अपने सिद्धान्तसे विरुद्धता करते हैं; क्योंकि-वे अपने वैदिकनिघण्टुकी भूमिकामें लिखे अनुसार वेदमें रूढि शब्द सर्वथा नहीं मानते; तब 'दिधिषू' रूढशब्द नहीं हो सकता। स्वामीने सत्यार्थप्रकाशके ४२ पृष्ठमें 'अमरकोष'को जालग्रन्थ-अप्रामाणिक माना है; तब क्या वे अपने स्वार्थकी सिद्ध्यर्थ निघण्टु, निरुक्त, मीमांसा, व्याकरणको छोड़ कर अमरकोष तथा उसकी टीकाको भी प्रमाणित करनेकेलिए उद्यत होकर 'यावज्जीवमहं मौनी' तथा 'यद् वान्तं तदेव भुक्तम्'का अनुसरण करने जा रहे हैं? अमरकोषमें उस शब्दके उल्लेख-मात्रसे उसकी कर्तव्यता कैसे हो जायगी? वहां तो विषके नाम भी कहे हैं; तो क्या विष भी खाइयेगा? स्वैरिणी-कुलटा स्त्रियोंके नाम भी वहां आए हैं; तो बनाइये सभी स्त्रियोंको कुलटा! यदि कहा जावे कि-मनुस्मृतिमें भी 'दिधिषू'का वर्णन है, तब तो उसी (९।१७)में गर्भिणी-कन्याके विवाहमें उत्पन्न पुत्रका नाम 'सहोढ' माना है; तब क्या कुमारीको गर्भ कराके, उसका विवाह करना मनुसम्मत हो जायगा? यदि नहीं; तब मनुजीने दिधिषूपतिकी भी निन्दा की है-यह हम पूर्व बता ही चुके हैं। तब 'अपत्यलोभाद् या तु स्त्री भर्तारमतिवर्तते। सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते' (मनु॰ ५।१६१) 'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः' (९।६५) इत्यादिसे दिधिषुके पापी सिद्ध हो जानेके कारण विधवाविवाह पाप सिद्ध हो गया।

उक्त-वेदमन्त्रमें तो 'दिधिषु' शब्द उसी समक्षस्थित मृतक-पतिका विशेषण है; क्योंकि-उसीको उद्दिष्ट करके मन्त्रका पाठ एवं विनियोग है; तब विशेषणोंके सदा यौगिक होनेसे 'दिधिषु' शब्द भी यहां 'यौगिक' सिद्ध हो गया। तब उसी मृतकके ही जीवलोक (पुत्रादि-संसार)के पालनार्थ ही उसका पतिका अनुसरण निषिद्ध करके उसे चितासे उठाया जाता है; उसके पुनर्विवाहार्थ वा नियोगार्थ नहीं, तभी मनुस्मृतिके पञ्चमाध्यायस्थित १५६-१५७-१५८-१५९-१६०-१६१-१६२ श्लोकोंका वेदके साथ समन्वय होता है। इसीलिए बोधायनपितृमेधसूत्रमें भी विधवाका अन्य पति निषिद्ध होनेसे उसका पुनरग्न्याधान भी निषिद्ध किया गया है—'नहि अस्या अपतित्वात् पुनरग्न्याधेयं विद्यते। विज्ञायते च—'तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते' इति (२।४।४)। इस प्रकार स्वा॰द॰जीका विधवानियोग अर्थ सुतरां खण्डित हो गया।

स्वा. दयानन्द और विधवापुनर्विवाह।

जो आर्यसमाजी आदि उक्त दोनों मन्त्रोंका अर्थ विधवा-विवाहपरक लगाकर वेदमें विधवाविवाह सिद्ध करते हैं; उनका तो स्वयं स्वा॰द॰जीने ही खण्डन कर दिया है। हम स्वा॰द॰जीकी विधवा-विवाहके विषयमें सम्मति लिखते हैं—

'[वेदे] स्त्रीपुरुषौ प्रति प्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन च एकस्य पुरुषस्य एकैव स्त्री कर्तुं योग्याऽस्ति, तथा एकस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च' (ऋभाभू॰ पृ॰ २२२) 'अनेनापि एकस्याः-स्त्रिया एक एव

पतिर्भवतु, एकस्य पुरुषस्य एकैव स्त्री च। अर्थाद् अनेक-स्त्रीभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य, तथा अनेकैः पुरुषैः सह एकस्याः स्त्रियाश्च [विवाहनिषेधः], सर्वेषु वेदमन्त्रेषु एकवचनस्यैव निर्देशात्' (ऋ. भा. भू. पृ. २२०) यहां स्वा.द.जीने सभी वेदोंके मन्त्रोंमें एकवचन मानकर, स्त्रीको पुनर्विवाहका स्पष्ट निषेध कर दिया है; तब जो आर्यसमाजी वा स्वा.द.में निष्ठा रखने वाले वेदमें विधवाविवाह मानते हैं, वे या तो स्वा.द.जीको वेदानभिज्ञ मानते हैं; या स्वा. द.के अनुसार स्वयं वेदानभिज्ञ हैं।

अन्य भी स्वा.द.के एतद्विषयक उद्धरण पाठकगण देखें—'कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरेकवारमेव विवाहः स्यात्, पुनरेवं नियोगश्च। नैव द्विजेषु द्वितीयवारं विवाहो विधीयते, पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्र-वर्ण एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात्' (ऋ. भा. भू. पृ. २२२) यहां स्वामीने द्विजोंमें विधवाविवाहका निषेध किया है। उसे शूद्रोंमें माना है।

अब सत्यार्थप्रकाशमें देखिये—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य वर्णोंमें क्षतयोनि स्त्री क्षतवीर्य पुरुषका पुनर्विवाह न होना चाहिये' स-प्र-४ पृ. ६६ 'पुनर्विवाहमें दोष-(चौथा) पतिव्रत और स्त्रीव्रत-धर्म नष्ट होना- इत्यादि दोषोंके अर्थ द्विजोंमें पुनर्विवाह वा अनेक विवाह कभी न होना चाहिये, (पृ. ६६) यहां स्वा.द.जीने विधवाविवाहमें पतिव्रत-धर्मका नाश माना है। 'द्विजोंमें स्त्री और पुरुषका एक ही वार विवाह होना वेदादिशास्त्रोंमें लिखा है, द्वितीय वार नहीं (स. प्र. ४ पृ. ७१) यहां स्वामीने वेदादिशास्त्रोंमें

विधवा-विवाह नहीं माना। उन्होंने क्षतयोनि स्त्रीका पुनर्विवाह नहीं माना—यह पूर्व कह चुके हैं। विवाहिता स्त्री स्वा.द.के अनुसार कोई भी अक्षतयोनि नहीं रह सकती; क्योंकि वे गर्भाधान करनेवाले दिनमें ही विवाह कराते हैं। देखिये—

'जिस दिन ऋतुदान देना योग्य समझें; उसी दिन 'संस्कार-विधि' पुस्तकस्थ-विधिके अनुसार मध्यरात्रि वा दश बजे अति प्रसन्नतासे सबके सामने पाणिग्रहणपूर्वक विवाहकी विधिको पूरा करके एकान्त-सेवन करें। पुरुष वीर्यस्थापन और स्त्री वीर्याकर्षणकी जो विधि है उसीके अनुसार दोनों करें' (स.प्र. ४ पृ. ५६)। अब इस विषयमें संस्कार-विधि देखें—'जब कन्या रजस्वला होकर शुद्ध हो जाय; तब जिस दिन गर्भाधानकी रात्रि निश्चित की हो; उसमें विवाह करनेकेलिए प्रथम ही सब सामग्री जोड़ रखनी चाहिये (पृ. १३४) अब जब स्वामीने गर्भाधानवाले ही दिन मध्यरात्रि तक विवाहविधि पूरी करके आगे उसी समय एकान्त-सेवनार्थ लिख दिया; स्त्रीको वीर्याकर्षणविधि भी बता दी; तब वह अक्षतयोनि कहां रही? जब वह क्षतयोनि होगई; तो स्वामीके अनुसार उसका पुनर्विवाह कैसे हो? आर्यसमाजके प्रसिद्ध शास्त्रार्थमहारथी कहे जानेवाले श्रीरामचन्द्र-देहलवी भी अपने एक पत्रमें विधवाविवाहको द्विजकेलिए शूद्रकर्म, नीचकर्म मानते हैं। और वे तो किसी भी स्त्रीको अक्षतयोनि नहीं समझते; तब क्षतयोनिका विधवाविवाह कैसे हो सकता है? तब विधवाविवाह वेदमन्त्रोंमें दिखलाना स्वा.दयानन्दानुसार वेदानभिज्ञता है।

इन दो सुप्रसिद्ध मन्त्रोंका समाधान हम कर चुके, अब अन्य मन्त्रों पर भी विचार किया जाता है।

(३) 'पतिमेकादशं कृधि'

'इमां त्वमिन्द्र! मीढ्वः! सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना-धेहि पतिमेकादशं कृधि' (ऋ. १०।८५।४५) यह मन्त्र भी विधवाके विवाह वा नियोगमें दिया जाता है। इसका अर्थ भी विचित्र किया जाता है। स्वा.द.जी लिखते हैं—'हे (मीढ्व इन्द्र) वीर्य-सिंचनेमें (?) समर्थ ऐश्वर्ययुक्त पुरुष (?) तू इस विवाहित स्त्री वा विधवाको (?) सौभाग्ययुक्त कर, विवाहित स्त्रीमें दश पुत्र उत्पन्न कर और ग्यारहवीं स्त्रीको मान (?)। हे स्त्री (?) तू भी विवाहित पुरुष वा नियुक्त (?) पुरुषोंसे दश सन्तान उत्पन्न कर और ग्यारहवें पतिको समझ'।

इनके साम्प्रदायिक शिष्य श्रीरामचन्द्र देहलवी भी अपनी संस्कृताभिज्ञता (?) सूचित करते हुए इस मन्त्रका अर्थ करके 'ग्यारह पतियोंके नए प्रकारको' लिखते हैं—। वे कहते हैं कि "पहले तीन पादोंमें तो पतिको आज्ञा दी गई है कि—इस स्त्रीको सुपुत्रा वा सुभगा कर, और इसमें दश पुत्र उत्पन्न कर। चौथे पादमें स्त्रीको सम्बोधन किया है कि—तू ११वां पति कर, अर्थात् ११वें तक पति कर। यदि इसमें पहले तीन पादोंको स्त्रीकेलिए बदल दिया जावे; और चौथेको पुरुषकेलिए, तो उसका अर्थ यह होगा कि—हे स्त्री, तू इस पतिसे १० सन्तान उत्पन्न कर, इसको अच्छे पुत्र वाला और सौभाग्यशाली बना, और हे पति, तू ग्यारहवीं स्त्री कर"।

संस्कृतके विद्वानोंने देख लिया कि—अपनी गलत बातको पूर्ण करनेकेलिए संस्कृत-भाषा वा श्रुतिके साथ कैसा बलात्कार किया गया है? जबकि यह मन्त्र विवाहसूक्तका है; और स्वामीकी संस्कार-विधिके अनुसार भी विवाहका है; और विवाह कुमारीका हो रहा है, न कि विधवाका; तब इसमें विधवा कहांसे निकल पड़ी? 'एकादशं पतिं कृधि'का 'ग्यारहवीं स्त्री' अर्थ कैसे हो गया? 'हे स्त्री' यह अर्थ वेदके किस मन्त्रसे निकल पड़ा? 'अस्यां पुत्रान् आधेहि'का तू नियुक्त पुरुषोंसे दश सन्तान उत्पन्न कर' यह अर्थ किस कोष वा व्याकरणसे निकल पड़ा?

'गुरु तो गुड़ चेला चीनी हो गये'के अनुसार दयानन्द-शिष्य श्रीदेहलवीजीने तो कमाल कर दिया। उक्त मन्त्रमें 'आधेहि' और 'कृधि' यह दो क्रियाएँ मध्यम-पुरुषकी हैं; और एक ही सम्बोध्य इन्द्रको कही जा रही हैं। वर यहां 'इन्द्र' (देवता)को यह प्रार्थना करे, यह सङ्गत है, और पूर्वापर-प्रकरणानुगृहीत है—यह हम आगे कहेंगे; पर वर यहां प्रतिपाद्य कैसे हो सकता है? वर यदि प्रतिपाद्य है, तो क्या उसीने अपना ग्यारहवाँ पति करना है कि जो कि—उसे कहा जा रहा है कि 'पतिमेकादशं कृधि'। यदि स्त्री प्रतिपाद्य है, तो क्या उसीने पतिमें गर्भाधान करना है—जो कि उसे कहा जा रहा है कि—'दशास्यां पुत्रान् आधेहि'?

जबकि प्रतिपक्षीके अनुसार 'मीढ्व इन्द्र' शब्दसे वीर्यसेक्ता वर प्रतिपाद्य है, तो उसी मन्त्रके चतुर्थपादमें स्त्री सम्बोध्या कैसे

हो गई ? और उसका सम्बोधनपद इस मन्त्रमें कौनसा है ? [अब स्त्रीसे कहते हैं] यह प्रक्षेप श्रीतुलसीरामने कैसे किया; जब वह मूलमन्त्रमें नहीं ? यदि कहा जावे कि-'मीढ्वः' यह स्त्रीका भी सम्बोधन है; तो इसका अर्थ तो होगा कि-वीर्य सींचनेवाली; तो क्या यह स्त्री अपना वीर्य पतिमें सींचेगी ? पतिका गर्भाशय कहाँ है, जहाँ वह विपरीत-रतसे सींचेगी ? उसका वीर्य कहाँ है, जिसे वह सींचेगी ? उसकेलिए 'मीढुषी' होता; 'मीढ्वान्' नहीं। सम्बोधनमें 'मीढुषि' होता, 'मीढ्वः' नहीं ? यदि वह (स्त्री) इस मन्त्रमें सम्बोध्य है; तो उस स्त्रीकेलिए 'त्वं' इस प्रकार 'युष्मद्'की प्रथमाका प्रयोग होता, पर यहां तो स्त्रीकेलिए 'इमां' यह 'इदम्'के द्वितीयाका ही प्रयोग है, न कि 'त्वं'का। तब स्त्री सम्बोध्य कैसे हो सकती है ? 'त्वं'का प्रयोग यहांपर सम्बोध्य 'इन्द्र'केलिए है- 'इन्द्र' यहां पति भी नहीं हो सकता; नहीं तो फिर 'पतिमेकादशं कृधि'में असङ्गति पड़ती है, तब 'पति' शब्दमें द्वितीया नहीं आनी चाहिये।

'एकादशं' इस डट्प्रत्ययका 'ग्यारहवें तक' अर्थ भी किसी सूत्रसे नहीं हो सकता। 'एकादशानां पूरण एकादशः' डट्प्रत्यय ग्यारहवें अर्थमें होता है; यदि प्रतिपक्षी इससे ग्यारह पति तक अर्थ लेते हैं; तो इस मन्त्रमें पूर्व दस पति कहाँ कहे गये हैं ? इसमें तो 'दशाऽस्यां पुत्रान्' दस पुत्र ही कहे हैं; दस पति नहीं। तब क्या 'पुत्र' पतिका नाम है ? यह मन्त्र विवाहका है; इसमें प्रतिपक्षी अपनी संस्कार-विधि देखें। जब यहाँ ग्यारहवां पति

विवाहमें कहा है; तो क्या दस पति उसके विवाहसे पूर्व होते हैं ? क्या वह दश पतियोंका नियोग विवाहसे पूर्व ही हो जाता है ? वह 'कुमारी' क्या तब 'विधवा' होती है ?। वस्तुतः असत्यके पांव नहीं हुआ करते।

'दशास्यां पुत्रान्' इस मन्त्रके चौथे पादकी पूर्ति इस मन्त्रका तृतीय पाद ही कर सकता है, इससे भिन्न तथा भिन्न-प्रकरणका मन्त्र नहीं। तीसरे पादमें यहां दस पुत्र कहे गये हैं, दस पति नहीं। चतुर्थ पादमें ग्यारहवां (एकादशः) पति कहा गया है, तब वह पति एक ही सिद्ध हुआ; दश-पुत्राः, एकादशः—पतिः। पूर्वार्धमें 'इमां त्वमिन्द्र ! मीढ्वः ! सुपुत्रां, सुभगां कृणु' यहाँ इन्द्र देवतासे स्त्रीकी दो बातोंकेलिए प्रार्थना की गई है, एक उसका सुपुत्रवती होना, दूसरा सुभगा होना। उसमें पुत्रोंके विषयमें तीसरे पादमें कहा गया है कि-'दशास्यां पुत्रान् आधेहि इन्द्रदेव !' यहां पुत्रोंकी संख्या दस बता दी गई। दूसरे सुभगात्वके विषयमें चौथे पादमें कहा गया है कि-'पतिमेकादशं कृधि हे इन्द्रदेव !' अर्थात् हे इन्द्रदेवता ! इस स्त्रीके ग्यारहवें पतिको स्थिर कर, अर्थात् पतिसे इसका सौभाग्य स्थिर कर' दश-पुत्रोंके बाद ग्यारहवां पति एक ही हुआ; उसी एकसे उसका सौभाग्य स्थिर रहनेकेलिए कहा है। 'कृ'का अर्थ स्थापन भी होता है, जैसे कि-'कुरु पदानि घनोरु ! शनैः-शनैः' क्योंकि कृ-धातु क्रिया-सामान्यवाची होती है ! सौभाग्यदाता तो विवाहित पति ही होता है। नैयोगिक तो उस दुर्भगाका सौभाग्यदाता,

बल्कि पति भी नहीं होता; किन्तु प्रतिपक्षीके स्वामीके अनुसार रातको केवल उस विधवामें वीर्यको सींचकर अपने घर चला जाता है; एक पूरी रात भी उसकी रक्षा नहीं करता। 'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं' (ऋ० १०।८५।३६) यहां वैवाहिक पतिका तो पाणिग्रहण आया है, नियोगीका कहीं नहीं। तब इस मन्त्रसे ग्यारह पति भी कट गये, वह वैसीकी वैसी विधवा ही रही। नहीं तो यहांपर 'एकादश पतीन् कृधि' इस प्रकार बहुवचन होता, एकादश शब्दमें एकवचन न होता। क्योंकि-'एकादश' बहुवचनान्त हुआ करता है। और उसमें डट् प्रत्ययकी भी आवश्यकता न होती। जैसे 'दशास्यां पुत्रान्'में बहुवचन होनेपर भी क्रम-क्रमसे दस पुत्र ही इष्ट हैं, एक-साथ नहीं; वैसे 'एकादश पतीन्'में भी 'एक-एक करके' यह अर्थ हो जाता; पर अब इसी डट्प्रत्ययसे वादीका पक्ष कट गया।

'यदि पहले तीन पादोंको स्त्रीकेलिए बदल दिया जाय, और चतुर्थ पादको पुरुषकेलिए बदल दिया जाय' देहलवीजीके इस वचनके अनुसार उनसे प्रष्टव्य है कि-किस प्रमाणसे बदल दिया जाय; क्या आपकी आज्ञासे ? 'इमां' यह स्त्रीकेलिए द्वितीयान्त पद स्त्रीको इस मन्त्रमें समीप-स्थित, सम्मुख-स्थित बता रहा है; और 'पतिं' यह पतिकेलिए द्वितीयान्त पद पतिको इस मन्त्रमें तटस्थ बता रहा है, अन्यथा दोनों सम्बोध्य होनेपर प्रथमान्त होते। वह स्त्री 'मीढ्वान्' कैसे होगी ? क्या वह भी पतिके गर्भाशयमें अपना वीर्य डालकर उससे दश पुत्र पैदा

करती है ? धन्य देहलवीमहाशय ! धन्य। 'हे स्त्री, तू इस पतिसे दस सन्तान उत्पन्न कर'; तो क्या यह 'दश अस्यां पुत्रान् आधेहि'का अर्थ है ? 'अस्यां'का 'अस्मिन् पत्यौ' अर्थ कैसे ? भास्कर-प्रकाशमें प्रतिपक्षीके धर्मशिक्षक श्रीतुलसीराम जी इस मन्त्रकेलिए लिखते हैं—'आधेहि' आङ् पूर्वक 'धा' धातुका अर्थ आधान करना होता है, जो विशेषकर गर्भाधानमें रूढ है'। (४ समु० नियोगप्र०) तो क्या स्त्री ही पतिमें गर्भाधान करेगी ? पतिका गर्भाशय भी बना-दिया ! आपने 'आधेहि'का अर्थ 'उत्पन्न कर' यह कैसे किया ?।

चौथे पाद 'पतिमेकादश कृधि'का 'हे पति ! तू ग्यारहवीं स्त्री कर' यह अर्थ कैसे किया गया ?, 'हे पति !' यह इस चतुर्थ-पादमें किसका अर्थ है ? 'पति'का अर्थ 'पत्नी' कैसे ?' 'एकादशम्'का 'एकादशीम्' अर्थ कैसे ?। क्या यह वेदाङ्ग-व्याकरण पढ़नेका प्रमाण (!!!) है ?

'ग्यारहवीं स्त्री' इस अर्थमें दश स्त्रियां पूर्व-पादमें कहां कही गई हैं ? वहां तो 'दश पुत्र' कहे हैं; तो क्या 'पुत्र'का अर्थ 'स्त्री' भी होता है ?। इस प्रकारके अनर्थ करते हुए भी प्रतिपक्षी अपने 'वैदिक' होनेका ढोल पीटते हैं। 'किमाश्चर्यमतः परम्' !!!

वस्तुतः उक्त मन्त्रमें इन्द्र-देवतासे वर प्रार्थना कर रहा है। वह वृष्टिका देवता है, इसलिए वह मीढ्वान् है, मिह सेचने (भ्वा० प० अ०)से क्वसुप्रत्ययमें निपातसे उक्त प्रयोग सम्बुद्धिमें है। 'दाश्वान्-साह्वान्-मीढ्वांश्च' (पा० ६।१।१२), 'मतुवसो रु

सम्बुद्धौ छन्दसि' (८।३।१) इन सूत्रोंसे सिद्ध है। वर कहता है—'हे मनोरथादिकी वृष्टिकर्ता इन्द्र ! इस स्त्रीमें दस पुत्रों-का आधान-स्थापन कर, और ग्यारहवें मुझ पतिको रख'। इसमें वधूकी प्रजाकेलिए प्रार्थना है। इन्द्रसे वधूकी प्रजाकेलिए प्रार्थना-'इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी···इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (अ. १४।१।५४) इस मन्त्रके अनुकूल है। इस-मन्त्रमें वर वक्ता है, प्रतिपाद्य नहीं। इसमें वरने अपनी नारीकी प्रजाकेलिए सबसे पूर्व इन्द्रकी ही प्रार्थना की है। यहां सं. वि.में स्वामीने भी 'इन्द्र'का अर्थ 'वर' नहीं किया। वर दोनों ही मन्त्रोंमें 'वक्ता' है, यह नहीं भूलना चाहिये।

ऋ. १०।८५।४३ का मन्त्र 'आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिः' है, यहां भी वर वक्ता है; वह प्रजापति इन्द्रादिसे वधूकी प्रजाकी प्रार्थना कर रहा है। इससे अग्रिम मन्त्र 'अघोरचक्षुरपतिघ्नी' (४४) है; यहां भी वर ही वक्ता है। इससे अग्रिम 'इमां त्वमिन्द्र !' (४५) इस प्रकृत-मन्त्रमें भी वर ही वक्ताहै। तब वह प्रतिपाद्य कैसे हो सकता है ? इससे अग्रिम 'सम्राज्ञी श्वशुरे' (४६) मन्त्रमें भी वक्ता वर है, उससे अगले ४७ 'समञ्जन्तु विश्वेदेवाः' मन्त्रका भी वक्ता वर है; जब इस प्रकार वेदमन्त्रोंका प्रकरण है; तब प्रतिपत्तीने बीचके 'इमां त्वमिन्द्र !' (४५) मन्त्रमें पति वा स्त्रीको प्रतिपाद्य किस प्रकरणसे किया ? क्या अपनी-इच्छानुसारी अर्थ करना वैदिकम्मन्योंका वेदपर आक्रमण नहीं ?।

फलतः उक्त मन्त्रमें इन्द्र-देवता ही वधूकी प्रजाके लिए-वरसे प्रतिपाद्यमान है, वर-वधू प्रतिपाद्य नहीं। वर तो प्रतिपादक है, इन्द्रको प्रार्थना कर रहा है कि-हे मीढ्वान् इन्द्र !' इत्यादि। 'मरुत्वान् इन्द्र ! मीढ्वः ! पिबा सोमं शतक्रतो !' (ऋ. ८।७६।७) इस मन्त्रमें उसी यज्ञके देव इन्द्रको 'मीढ्वः ! शब्दसे सम्बोधित वा प्रार्थित किया गया है। वरसे नहीं कहा गया; तब 'इमां त्वमिन्द्र !' इस प्रकृत मन्त्रमें भी यही समझ लेना चाहिये। इसका अन्य प्रमाण भी इसी-विवाह सूक्तमें वादी देखें—'प्रेतो मुञ्चामि [प्र—इतः-पितृगृहात्'] नामुतः [स्वगृहाद् न] सुबद्धाम् अमुतः [स्वगृहे, अत्र सार्वविभक्तिकस्तसिः] करम्। यथा इयम् इन्द्र ! मीढ्वः ! सुपुत्रा सुभगाऽसति' [भवेत्, तथा कुरु]' (ऋ. १०।८५।२५) इस ४५ मन्त्रके सदृश विवाह-सूक्तस्थ २५ वें मन्त्रमें भी वर वक्ता है। वह वर मीढ्वान् इन्द्रदेवको अपनेसे पृथक् बता रहा है, और उस इन्द्रदेवतासे अपनी स्त्रीके पुत्र एवं सौभाग्यकी प्रार्थना कर रहा है, और स्त्रीको अपने घरमें सुबद्ध कर रहा है—इससे अन्य पतिका सर्वथा निषेध भी प्रतिफलित हो जाता है। इन दोनों समान सूक्तके २५-४५ मन्त्रोंका अर्थ भी समान है ?' प्रति-पत्ती सम्बोध्य 'इन्द्र'का 'पति' अर्थ किस प्रमाणसे करता है, जबकि इस मन्त्रका वर ही स्वयं वक्ता है; क्या वर इस मन्त्रसे अपने आपको ही सम्बोधन दे रहा है ? इस विवाह-सूक्तमें वैसा मन्त्र दिखलाना चाहिये-जहां वरको 'इन्द्र !' कहा गया हो। वस्तुतः इन्द्रके प्रति तो विवाहमें पति-पत्नीके द्वारा प्रार्थना वैदिक है, जैसे कि-'इह इमौ इन्द्र ! सं नुद चक्रवाकेव दम्पती। प्रजया एनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम्' (अथर्व. १४।२।६४)

यहां भी पति-पत्नीकी प्रजाकेलिए इन्द्रदेवतासे प्रार्थना की गई है; तब 'इमां त्वमिन्द्र !' मन्त्रमें भी उसी इन्द्रदेवताका अर्थ है; तब उक्त मन्त्रसे नियोग वा विधवाविवाह सिद्ध करना प्रतिपक्षियोंका श्रुतिसे बलात्कार करना है। जब विवाहमें उनके मतानुसार नियोग वर्णित नहीं होता; तब इस विवाहसूक्तस्थ-मन्त्रमें उसका वर्णन कैसे हो सकता है ?

(४) 'देवृकामा'

'अघोरचक्षुः, अपतिघ्नी एधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे' (ऋ० १०।८५।४४) इसके उत्तरार्धके आदिम अंशका अर्थ स्वा० दयानन्द जी करते हैं—(वीरसूः) उत्तम वीर पुरुषोंको उत्पन्न करने हारी (देवृकामा) देवरकी कामना करती हुई अर्थात् नियोगकी भी इच्छा करने हारी' (सं० वि० विवाह पृ० १४४)। सत्यार्थप्रकाशमें ऐसे ही अथर्व० के मन्त्र का स्वा० द० अर्थ करते हैं—'(प्रजावती) उत्तम पुत्र-पौत्रादिसे सहित (वीरसूः) वीरपुत्रोंको जननेवाली, (देवृकामा) देवरकी कामना करनेवाली (स्योना) सुख देनेहारी, पति वं देवरको (एधि) प्राप्त हो, (पृ० ७२)। यहांपर स्वामीजी तथा उनके अनुयायी 'देवृकामा' पदसे नियोग वा विधवा-विवाह सिद्ध करते हैं। श्रीरामचन्द्र देहलवी तो और कमाल करते हैं, वह कहते हैं कि—'देवरका अर्थ है द्वितीय वर, और वह अपनी भ्रातृपत्नीको बुलाता है—'भाभी'। 'भाभी'का अर्थ है—भावी पत्नी। सो यहां मरने पर नियोग वा विधवा-विवाह

सिद्ध है।'

धन्य हैं यह महाशय। वह लोग विवाहमें नियोग वा विधवा-विवाहका वर्णन न मानते हुए भी फिर इस वैवाहिक-मन्त्रमें नियोग वा विधवा-विवाह निकालनेका व्याघात करते हैं, और इन मन्त्रोंमें भी व्याघात करते हैं। उक्त मन्त्रोंमें अपतिघ्नी, देवृकामा, प्रजावती, वीरसूः, यह पद ही व्याघातयुक्त हो जाते हैं। यदि प्रतिपक्षियोंके मतमें स्त्री 'देवृकामा' पतिके मरने पर ही बनती है, तो वह 'पतिघ्नी' हुई। यदि वह 'अपतिघ्नी' है; तो 'देवृकामा' (आ० स०के अर्थानुसार) कैसे हो सकती है ? देवरको प्राप्त होना तथा देवरकी कामना उसे 'पतिघ्नी' बनाकर 'अपतिघ्नी' पदको विप्रतिषिद्ध सिद्ध करती है, और फिर आप लोग विधवाका विवाह सन्तान न होनेपर मानते हैं, तो वेदके शब्दोंमें 'प्रजावती' और 'वीरसूः' और स्वा० द०के शब्दोंमें पुत्र-पौत्रादिसे सहित और वीरपुत्रोंके जननेवालीको आप 'देवृकामा' कहकर वेदमन्त्रमें यह और व्याघात बना रहे हैं।

वस्तुतः विवाहविधिमें ऋग्वेदसंहिताका ही उक्त मन्त्र आया है; सो ऋग्वेद-संहितामें 'देवकामा' ही पाठ है, 'देवृकामा' नहीं; आप सायणभाष्यवाली ऋ.सं. ही देख लीजिये। उसके भिन्न-भिन्न-संस्करणों (पूना, बम्बई आदि)में मूल तथा भाष्यमें 'देवृकामा' ही पाठ है 'देवृकामा' नहीं। इसके अतिरिक्त विवाहादि संस्कार गृह्यसूत्रोंसे होते हैं; पर किसी भी गृह्यसूत्रमें 'देवृकामा' पाठ नहीं; किन्तु सभी स्थान 'देवकामा' ही पाठ है। स्वा.द.ने

मैक्समूलरसे प्रकाशित वेद ही मँगाये थे, उन्हींकी प्रतिलिपि वैदिक यन्त्रालयमें छपाई थी; उस ऋग्वेद-संहितामें भी 'देवकामा' ही पाठ है, 'देवृकामा' नहीं। अथर्ववेद पैप्पलाद-संहिता जो श्रीपतञ्जलिसे स्वीकृत है—में भी यही पाठ है। स्वा. द.जीने भी प्रथम संस्कारविधि ८४ पृष्ठमें उक्त मन्त्रमें 'देवकामा' ही पाठ रखा था, दूसरे संस्करणमें भी यही रहा। तीसरे संस्करणमें वहां 'देवृकामा' वह पाठ परिवर्तन कर दिया गया; अर्थ भी नियोगपरक स्थायी कर दिया गया—यह स्वा० दयानन्दजीकी मृत्युके बाद हुआ। पहले संस्करणमें तो यह अर्थ भी नहीं था।

प्रतिपक्षी इस (देवृकामा)को पत्नीका प्रतिज्ञावाक्य मानते हैं, पर यह अशुद्ध है—'वीरसूर्देव (वृ) कामा' यह पतिका वाक्य है, वह उसे 'वीरसूः' (पुत्रोंवाली) और अथर्वके मन्त्रमें प्रजावती (सन्तानवाली) वताता है; नियोग वह स्वा० द० आदिके अनुसार सन्तानके अभावमें कराता है, और उसे 'अपतिघ्नी' कहता है, तब वह उसे 'देवरकामुकी' कह भी कैसे सकता है? सन्तानवती भी उसको देवरकामुकी कहकर 'सन्तान रहते हुए नियोग-विधिसे गमन करनेसे दोनों पतित होते हैं' (मनुस्मृति-टीका ९।५८) इस आर्यसमाजके वड़े नेता श्रीतुलसीराम-स्वामीके कथनानुसार वह वर अपनेको तथा अपनी पत्नीको पतित बनाना चाहता है—यदि वह ऐसा कहता है। अतः स्पष्ट है कि 'देवृकामा'का आर्यसमाजी दृष्टिकोणवाला यह अर्थ अशुद्ध ही है।

प्रतिपक्षी लोग 'नौद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्' (९।६५) अपने नेता श्रीतुलसीराम स्वामीके अनुसार इस मनु-पद्यका अर्थ करते हैं कि—'विवाहके मन्त्रोंमें नियोग नहीं कहा, किन्तु विवाहसे भिन्न प्रकरणके मन्त्रों (अथर्व० ९।५।२७-२८,५।१७। ८,१८।३।१, ऋ. १०।१८।८ इत्यादि)में तो नियोग-विधान है' जब ऐसा है तो 'देवृकामा' वाला मन्त्र विवाहके प्रकरणमें आता है-जैसा कि स्वा.द.जीकी संस्कारविधिमें प्रत्यक्ष है, तब उसका नियोग अर्थ एक आर्यसमाजी विद्वान्-नेताकी व्याख्यासे भी खण्डित हो गया।

हम बता चुके हैं कि–उक्त मन्त्रमें 'देवृकामा' नहीं है, किन्तु 'देवकामा' है। यदि 'देवृकामा' भी कहीं है; तो उसका अर्थ वह होता है कि–जो 'पुत्रकामा'का। 'मेरा पुत्र हो–इस कामना वाली' यह 'पुत्रकामा' (ऋ. १०।१८३।२) का अर्थ है, तो क्या यहां इस शब्दसे माताका पतिके मरनेपर पुत्रके साथ भी प्रतिपक्षियोंके अनुसार नियोग होगा? क्योंकि–वह उसके पतिका अंश होनेसे देवर–द्वितीयवर हो जावेगा, आजकल माताको भी 'भाभी' बुलाया जाता है, तब प्रतिपक्षीके अनुसार वह भी पुत्रकी 'भावी पत्नी हो जाएगी'? यदि यह अर्थ-'पुत्रकामा'का नहीं; तो 'देवृकामा'का भी यह अर्थ नहीं। वहां भी यही अर्थ है कि-मेरा देवर (पतिसहायक, पतिभ्राता) होवे; इस कामना वाली'। देवर भी पुत्रस्थानीय वा भ्रातृस्थानीय होता है। यदि यह अर्थ किया जाएगा कि–'मेरा दूसरा वर हो–इस कामनावाली; तब इससे

स्पष्ट होगा कि—वह हृदयसे पतिकी मृत्यु चाहती है, क्योंकि—दूसरे वरकी कामना पहले वरकी मृत्यु होनेपर ही आर्यसमाजानुसार वह चाहेगी; अन्यथा व्यभिचारिणी होगी। अतः स्पष्ट है कि—यह अर्थ असम्भव है, अतः माननीय नहीं। स्वा.द. जी की संस्कारविधिके अनुसार पत्नीकेलिए 'ध्रुवा एधि पोष्ये मयि' (पृ. १६६) 'यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम। यदिदँ हृदयं मम, तदस्तु हृदयं तव' (पृ. १६८) 'ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्' (पृ. १६५) 'रुद्धाऽहमस्मि अमुष्य (यहां विवाह्यमान पतिका नाम कहना पड़ता है) असौ (यहां अपना नाम कहना पड़ता है)' (पृ. १६५) 'ध्रुवाऽहं पतिकुले भूयासम् अमुष्य असौ' (पृ. १६५) यह शब्द आये हैं; और स.प्र.में यह शब्द हैं—'तन तो विवाह समयमें स्त्रीका पतिके समर्पण हो जाता है, पुनः मन भी दूसरेके समर्पण नहीं हो सकता; क्योंकि—मनके ही साथ तनका भी समर्पण करना बन सकता है; और जो करें; तो व्यभिचारी कहावेंगे' (११ समु० पृ० २३६); तब पतिको आत्मसमर्पण करनेवाली स्त्री यदि देवरको भी तन-मन देती है; तो व्यभिचारिणी हो जायगी; अतः स्पष्ट है कि—'देवृकामा'का नियोग-अर्थ सर्वथा नहीं।

यदि नियोग अर्थ माना जावेगा और देवरका 'भौजाई'को 'भाभी' बुलाना भावि-पत्नीवाचक होगा, तो यह भी स्मर्तव्य है कि नियोगमें स्त्री पत्नी नहीं हो जाती, और न नियोगी पुरुष पति। पत्नीत्व तो 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' (पा. ४।१।३३) लाजाहोमादि वैवाहिक यज्ञमें होता है; पर नियोगमें वैसा न होनेसे वह भावी

'पत्नी' कैसे होगी? तब क्या 'देवृकामा' होनेसे देवर इस वैदिक (?) आज्ञाके पालनार्थ अपने भ्राताके मरनेकी प्रतीक्षामें लगा हुआ विवाह ही न करेगा कि—मेरी भाभी—भावी पत्नी तो मेरे घरमें है ही, मैं विवाह कैसे करूं? अथवा वह उक्त वैदिक-आज्ञाकी पूर्त्यर्थ भ्राता को विषादि देनेसे मारकर उस भाभीको विधवा बना देगा?। अथवा यदि वह देवर स्वयं विवाहित है, तब उक्त वैदिक-आदेशको चरितार्थ करनेकेलिए अपनी पत्नीको विषादि द्वारा मारकर स्वयं ही उस भाभी-देवीका अधिकारी होगा? यदि वह ऐसा नहीं करेगा; तब 'देवृकामता' कब चरितार्थ होगी?' क्योंकि—प्रतिपक्षीके अनुसार विधुर होनेपर ही वह 'भाभी'के ग्रहणका अधिकारी होगा।

यदि मन्त्रमें 'देवृ' शब्द 'पतिके भ्राता' अर्थ वाला नहीं; किन्तु 'दूसरा वर मात्र' इस अर्थको रखता है; तब देवर उसे 'भाभी' (जिसका अर्थ प्रतिपक्षीने 'भावी पत्नी' किया है) कैसे कह सकता है? क्या वह पर-पुरुष पहलेसे ही उस स्त्रीके घरमें रहता है; और उसे 'भाभी' बुलाया करता है? तब तो 'देवरकी तो भाभी' न हुई, किन्तु 'जगत्की भाभी' होगई। यदि इस प्रकारके दुरभिप्राय आर्यसमाजी फैलाएंगे; तो स्त्रीके पतिका मरण कौन देखता है, वह देवर उसके जीवनमें भी उससे जुड़ जायगा। उसके पतिकी अनुपस्थितिमें भी वह उसका दूसरा वर हो जायगा। यदि पतिकी अनुपस्थितिमें पतिका पतित्व नहीं नष्ट होता; अत एव देवर उसका अधिकारी नहीं, तब पतिके

मरने पर भी उसका पतित्व नष्ट नहीं होता। 'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाम्' (बृहत्पराशर ४।४८)

वस्तुतः 'देवृकामा'का वही ठीक अर्थ है, जिसे हमने बताया है। नहीं तो पति विवाह-समयमें ही स्त्रीको 'देवृकामा' कहकर क्या अपना अमाङ्गलिक मरण, तथा अपनी पत्नीका वैधव्यरूप अमङ्गल और अपनी स्त्रीका दूसरेके साथ काम-सम्बन्ध कैसे सहन करे ? पति तो प्रतिपक्षियोंके अनुसार 'मरणधर्मा' रहेगा; परन्तु देवर तो उनके अनुसार अमर ही रहेगा। वह स्त्री भी सदा अमर ही रहेगी, और पति सदा उनके वेदार्थके अनुसार यौवनमें ही मरेगा। तभी तो 'देवृकामा' यह वैदिक-आज्ञा पूर्ण होगी।

प्रतिपक्षी 'देवृकामा'का कुत्सित (जाटों वाला) तात्पर्य बताते हैं; उनकी देखा-देखी ससुर-साहिब भी वहूमें 'देवृकामा' त्वको चरितार्थ करने लग जावेंगे। क्योंकि-वे भी कहेंगे कि-'प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च' (अ. १४।१।३६) यहां देवर और श्वशुर दोनोंकी समान ही वधूकी प्रतीक्षा है। 'स्योना श्वशुरेभ्यः' (१४।२।२७) यहां वधूका ससुरको भी आनन्दित करना बताया है, 'स्वा.द.जीने लिखा है—'हे वरानने ! तू मेरा पिता जो तेरा श्वसुर है, उसमें प्रीति करके......मेरे भाई जो तेरे देवर हैं, उनमें भी प्रीतिसे अधिकारयुक्त हो' (सं. वि. पृ. १७४) यहाँ भी पत्नीकी ससुर और देवरसे बराबर प्रीति कही है। 'सम्राज्ञी' यह दोनोंकेलिए समान शब्द है, अर्थ भी 'रानी' यह समान होगा, और व्यवहार भी समान होगा। तब तो ससुर भी पतिके मरनेपर वधूसे उक्त वैदिक-तात्पर्यके अनुसार नियोगका आग्रही होगा; उसको अधिकार न देनेपर वह मुकदमा भी वैदिक-अदालतमें चला सकता है। यदि प्रतिपक्षी यहाँ वैसा तात्पर्य नहीं मानते; तो 'देवृकामा' में भी वह तात्पर्य नहीं। हम पूर्व कह चुके हैं कि-प्रतिपक्षी 'भाभी' का 'भावी पत्नी' अर्थ करते हैं; पर यह ठीक नहीं; वे यह बात किसी कोष-काव्य-व्याकरणादिसे सिद्ध नहीं कर सकते। 'भाभी' यह 'भ्रातृभार्या'का वा 'भरजाई' यह 'भ्रातृजाया'का तो अपभ्रंश है, 'भावी-पत्नी'का नहीं। 'भाभी' यह 'भावी पत्नी'का अपभ्रंश कैसे हो सकता है-इसमें 'भावी' से तो 'भाभी' विगड़ा माना जाए; पर 'पत्नी' शब्दका कौनसा अपभ्रष्ट शब्द इसमें है ? 'भावी' यह तो पुंलिङ्गमें होता है, स्त्रीलिङ्गमें तो 'भाविनी' होता है। 'भाभी' तो प्रतिपक्षीके अनुसार देवरका नाम होना चाहिये—'भावी-पति' पर उसमें न होनेसे 'भावी-पत्नी' इस अर्थमें निर्मूलता है।

देवर जो उस भ्रातृपत्नीको हर समय 'भाभी' बुलाता है, क्या उसका अर्थ है कि-'ऐ मेरी भावी पत्नी !' वाह !! प्रतिपक्षीको इस विषयमें 'अभिनव-नैरुक्त' यह पदवी मिलनी चाहिये। इसका भाव यह हुआ कि-न मैं मरूंगा, न तू; किन्तु मेरा भाई ही जवानीमें मरेगा। इस तरहके अर्थ ही समाजमें दुश्चारित्र्के जन्म-दाता हुआ करते हैं—जिनका उत्तरदायित्व आर्यसमाज पर है, ऐसे अर्थ करके वे घरमें ही आग और बारूदको इकट्ठा रख

रहे होते हैं। इधर ननद भी बोलती है कि-'ऐ मेरी भाभी जी !' तब क्या वह ननदकी 'भावी पत्नी' होगी। यदि देवर बहुतसे हों; और सभी उसे भाभी बुलावें; तब क्या उन सभीकी वह 'भावी पत्नी' हो जायगी; धन्य हैं प्रतिपक्षी (श्रीदेहलवी) महाशय। इस प्रकार नियोगीको द्वितीय वर भी नहीं कह सकते। वर होता है दूल्हेका नाम; जिसकी बारात आये; पर नियोगमें विवाह न होनेसे वह वर भी नहीं हो सकता ?' फलतः प्रतिपक्षीका यह अर्थ गलत है।'

(५) विधवेव देवरम्'।

एक अन्य मन्त्र भी नियोग वा विधवा-विवाह विषयमें दिया जाता है-'कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोरश्विना, कुहाभिपित्वं करतुः कुहोषतुः। को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ' (ऋ. १०।४०।२) इसका अर्थ स्वा.द.जीने यह किया है—हे (अश्विनौ) स्त्रीपुरुषो ! जैसे देवरको विधवा, और (योषा मर्यं न) विवाहिता स्त्री अपने पतिको समान-स्थान शय्यामें एकत्र होकर सन्तानोत्पत्तिको करती है' इत्यादि। इस विषयमें निरुक्तका 'देवरः कस्माद् द्वितीयो वरः' यह प्रमाण भी दिया जाता है-इसपर भी हम विवेचना उपस्थित करते हैं, 'आलोक'-पाठक ध्यान दें, यह मन्त्र प्रतिपक्षियोंका ब्रह्मास्त्र है।

स्वा.द.जीने इसका विधवाविवाह अर्थ तो काट दिया, क्योंकि-'मर्यं न योषा'से विवाहिताका पति बताया; पर विधवा और देवरको पति-पत्नीभावसे अलग रखा; क्योंकि-मन्त्रमें भी

अलग-अलग उपमाएं हैं। अतः वे इसमें विधवा-विवाह न मानकर विधवाका नियोग मानते हैं। अब इस पर विचार किया जाता है। पहले 'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते' इस निरुक्तस्थ पाठपर हम बताते हैं, विद्वान् 'आलोक' पाठक ध्यान दें।—

'देवरः कस्माद् द्वितीयो वरः' यह निरुक्तस्थ पाठ प्रक्षिप्त है; इसलिए वह वहां कोष्ठक (ब्रैकेट)में है। उनमें यह कारण हैं—

(क) सर्वप्रतीकोंके व्याख्याता श्रीदुर्गाचार्यने इस प्रतीककी व्याख्या ही नहीं की। व्याख्या ही क्या, इस प्रतीकका उद्धरण ही नहीं दिया। (ख) आजकलके अर्वाचीन-विचार वालोंके माननीय श्रीसत्यव्रत-सामश्रमीने अपने 'निरुक्तालोचन'में भी उक्त वचनकी प्रक्षिप्तता स्वीकार की है, कहा है—'प्राचीनतमपुस्तके तथा पाठानुपलब्धेः। विधवेति पूर्वपदनिर्वचनमकृत्वैव देवरपदनिर्वचनस्य अयुक्तत्वप्रतीतेः। किञ्च-'कुहस्विद् दोषा' इत्येतन्निगमस्य च अन्यविधाऽर्थावभासाच्च। तथाहि-'कनीयसा ज्यायांसमुपमिमीते' इति श्लोकस्य उदाहरणभूता एषा ऋगुद्धृता यास्केन।...वां युवयोः शयुत्रा-शयने देवरं-बालकं पतिभ्रातरं प्रति विधवा-पतिहीना भ्रातृजायेव कः-पुरुषः सस्नेहं शुश्रूषेत ?' ...नहि विवाहितपतिभ्रातृका विधवा इत्युच्येत, नापि विवाहितभ्रातृजायोपि स्याद् देवरः। मिथोऽविवाहितयोरेव विधवा-देवरयोरेव अत्र मन्त्रे शयनस्थितिर्वर्णिता-इतिचेत्, तत् किं प्रेम्णा, वात्सल्येन वा ? आद्ये वेदस्य व्यभिचार-वर्णनदोषः स्याद् अनिवार्यः। अन्त्ये तु स्वीकृते 'देवरः द्वितीयो वरः' इति निर्वचनस्य अत्र उल्लेखः कुतो न प्र-

मत्तगीततामियात्' (पृ. २३८-३६)।

(ग) अनुसन्धातृ-शिरोमणि डा० लक्ष्मणस्वरूप M. A. डी. फिल (आक्सफोर्ड) आफिसर अकेडेमी (फ्रांस) महाशयकी भी इसमें साक्षी है। वे लिखते हैं—यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि-दुर्गाचार्यके अपने भाष्यमें निरुक्त-का प्रत्येक शब्द दोहराया जाता है। इस प्रकार केवल भाष्यमें ही निरुक्तके मूल पाठका सम्पूर्ण पुनर्निर्माण किया जा सकता है। ...'देवरः कस्माद् द्वितीयो वरः' इस उद्धरणमें स्पष्ट प्रक्षेप है; क्योंकि-जिस [वैदिक] सन्दर्भमें जिस क्रमसे शब्द आये हैं, उनके अनुसार यास्क स्वाभाविकतासे पहले 'विधवा' शब्दका निर्वचन देगा, फिर देवरका, न कि-इससे विपरीत। वास्तवमें यास्कने भी ऐसे ही किया है। विधवाकी व्याख्याके अनन्तर वह लिखता है-'देवरो दीव्यतिकर्मा' (ओरियण्टल कालेज मेगज़ीन' क्रमसंख्या ५८ पृष्ठ ६०)।

(घ) पाठकोंने समझ लिया होगा कि-श्रीयास्ककी शैली यही है कि-वह व्याख्येय-वेदमन्त्रोंके पदोंको मन्त्रके क्रमसे व्याख्यात करता है, अन्वयपूर्वक नहीं। 'विधवेव देवरम्' इस प्रतीकमें पहले 'विधवा' शब्द है 'देवर' नहीं; तब 'देवर'का निर्वचन पूर्व कर देना यास्कीय-शैली नहीं। 'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते' यहाँ 'देवर'का निर्वचन विधवासे पहले आ जाना स्पष्ट इसकी प्रक्षिप्तताका द्योतक है, और फिर 'विधवा'का 'विधातृका भवति' इत्यादि निर्वचन देकर फिर 'देवरो दीव्यतिकर्मा' यह देवरका निर्वचन दिया है, यह यास्कीय सिद्ध है, इससे पूर्वका

'द्वितीयो वरः' यह निर्वचन स्पष्ट अयास्कीय सिद्ध होनेसे प्रक्षिप्त सिद्ध हुआ। यदि 'देवरः कस्माद् द्वितीयो वर उच्यते' यही देवरका निर्वचन यास्कीय होता, तो 'देवरो दीव्यतिकर्मा, यह निर्वचन आगे उद्धृत न होता, क्योंकि-पूर्व ही जब 'द्वितीयो वरः' से निर्वचन किया जा चुका है; तो 'देवरः कस्मात्' की आकांक्षा शान्त हो चुकी; फिर उसकी शङ्का उत्थित न होनेसे निर्वचनके विकल्पतावाचक 'वा' शब्दके भी न होनेसे फिर उसीकी निरुक्ति व्यर्थ हो जाती। यदि यास्कको 'देवर' के दो निर्वचन इष्ट होते; तो वह अपनी विशिष्ट-शैलीके अनुरूप 'दीव्यतिकर्मा वा' यह 'वा' शब्द देता, पर उसने वैसा नहीं दिया। श्रीयास्कने एक ही पदका व्यवधानमें पृथक्-पृथक् कभी निर्वचन नहीं किया, परन्तु 'देवरो दीव्यतिकर्मा' यह निर्वचन अपने क्रममें है, उसकी दुर्गाचार्यने व्याख्या भी की है; अतः व्युत्क्रमप्राप्त 'देवरः द्वितीयो वरः' की प्रक्षिप्तता स्पष्ट सिद्ध होगई। आश्चर्य तो यह है कि-सर्वत्र प्रक्षिप्तताका अडङ्गा लगानेवाले प्रतिपक्षियोंको यहाँ स्पष्ट भी प्रक्षेप नहीं दीखता।

जो कि-सायणभाष्यमें निरुक्तके नामसे उक्त पाठ उद्धृत है; उसमें आधुनिक-संशोधकोंका प्रमाद ही कारण है; क्योंकि-सायणसे प्राचीन दुर्गाचार्यकी वृत्तिमें वह नहीं मिलता। इससे प्रतीत हो रहा है कि-सायणभाष्यके सम्पादक किसी आधुनिक पण्डितने यास्कके सायणोद्धृत पाठके मिलानेके समयमें सायण-भाष्यमें वह वाक्य न देखकर और अपने पास विद्यमान

आधुनिक-निरुक्तमें वह पाठ देखकर इसमें सायणभाष्यका प्रमाद मानकर उक्त वचन छपवानेके समय सायणभाष्यमें जोड़ दिया होगा। ऐसे बहुतसे प्रमाद आजकलके मुद्रित सायण-भाष्यमें दीखते हैं; जैसेकि—'निरुक्तालोचन' में श्रीसामश्रमीने साक्षी दी है—'यच्चालोक्यते—द्वा सुपर्णा' इत्यस्य सायणभाष्ये—'अत्र द्वौ द्वौ' इति निरुक्ते गतम्', न तत् सायणीय-वचनं मन्यामहे, अपितु टिप्पनी-टीपितम् आधुनिकमेव तत्, कालाल्लेखकाऽनवधानात् तदन्तर्भूतमित्यत्र सन्देहाऽभावः, अन्यथा सायणाचार्यस्य उन्मत्तता प्रसज्येत, इति सुधीभिरेव आकलय्यम्' (पृ. ४८-४६)।

और उस प्रसङ्ग-प्राप्त 'दीव्यतिकर्मा' का अर्थ म. म. पं० शिवदत्तजी शर्माने निरुक्तमें उक्त स्थलकी टिप्पणीमें (पृ. २२१-२२२) दिवु धातुका 'क्रीडा' अर्थ देखकर 'क्रीडामात्रासक्तोऽत्र क्षोदरपूर्त्युपायज्ञानविकलो बालः स्तनन्धयोऽपत्यमेव गृह्यते देवर-शब्दार्थः; तथाच तादृशं बालापत्यं पालयितुमस्मिन्नेव लोके तिष्ठेत्, नैव मृतपतेरनुगमनेन लोकान्तरं गच्छेद्-इत्येकोऽर्थः'। एवंच 'बालसंवर्धनं मुक्त्वा बालापत्या न गच्छति' इत्यादिस्मृतिषु प्रामाण्यं दर्शयत्ययं शब्दः।' एक बच्चे वा बच्चे देवरका शय्यामें अपने साथ सुलाना अर्थ बताया है, तब इसमें प्रतिपक्षिसम्मत अर्थ नहीं।

किसी प्रकार यहाँ 'देवरः द्वितीयो वरः' यह पाठ प्राचीन माना भी जावे; और प्रतिपक्षिसम्मत अर्थ भी माना जावे; तो

यहाँ दूसरे वर (पति) का वही अर्थ होगा, जो कि—'उपपति' शब्दका होता है। द्वितीयो वरः—उपपतिः। उपपति 'जार' शब्दसे कहा जाता है—जैसेकि—'शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनुमन्यते।' (यजुः २३।३१) 'शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति' (यजुः २३।३०) इत्यादि स्थलमें 'जार' शब्द 'उपपति'-वाचक देखा गया है, तब 'देवरः द्वितीयो वरः' ऐसा पाठ वा अर्थ निरुक्त-सम्मत होनेपर भी उपपति अर्थ होनेसे उपपतित्व व्यभिचार ही सिद्ध होता है—'अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छ्रं भयावहम्। जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः' (श्रीमद्भागवत० १०।२६।२६) इसीलिए मनुस्मृतिमें 'यस्य चोपपतिर्गृहे' (४।२१६) 'मृष्यन्ति ये चोपपतिं' (४।२१७) उपपति रखनेवालोंकी निन्दा की गई है। तब क्या प्रतिपक्षी देवरको घरसे निकाल देते हैं? 'गच्छन् जारो न (इव) योषितम् (ऋ. सं. ६।३८।४) इत्यादिमें जब वेदमें कही हुई भी जार—योषितकी उपमासे कोई अपनी स्त्रीका जारसम्बन्ध वैदिक वा स्वसम्मत नहीं मानता; तब 'विधवेव देवरम्' इस वेदप्रोक्त उपमासे भी उपपतित्व वैध नहीं हो जाता। इसीलिए 'पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे' (मनु. ३।१५५) एतान् विगर्हिताचारान् अपाङ्क्तेयान् द्विजाधमान्। द्विजातिप्रवरो विद्वान् उभयत्र विवर्जयेत्' (मनु. ३।१६७) मनुने पौनर्भव-आदिको निन्दित किया गया है।

तब 'विधवेव देवरम्' में विधवाओंका देवरोंके साथ आशङ्कित गुप्त व्यभिचार ही उक्त मन्त्रमें दिखलाया गया है,

उसका विवाह नहीं। यदि वह विधवा देवरसे विवाहित है; तो विधवा कैसे? उससे विवाहा उसका देवर कैसे? उसे 'सधवा' तथा उस विवाहकर्ताको 'पति' क्यों नहीं कहा गया? तब स्पष्ट है कि-विधवाका देवरके साथ यहाँ व्यभिचार ही सिद्ध है। यदि देवरको प्रतिपत्ती द्वितीय-वर मानते हैं; तब ज्येष्ठ-भ्राताके जीनेपर भी देवरको द्वितीय वर ही मानना चाहिये, क्योंकि-निरुक्तकारने कहीं कालनिर्देश तो किया ही नहीं। यदि ऐसा है; तो प्रतिपत्तियोंको क्या (जाटोंकी भान्ति) पत्नीके बहुत पति (मैथुनकर्ता) होना इष्ट है?

फलतः 'विधवेव देवरं' में विधवाविवाहके स्वप्नद्रष्टा भूलमें ही हैं; नहीं तो, इससे पृथक् 'मर्यं न योषा' यह उपमा ही व्यर्थ हो जाती। इसलिए आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वा. द.ने देवर-और विधवाको विवाहसे रहित ही माना है। तब यह विधवाका नियोग ही उनके मतमें प्रतिफलित हुआ। पर यहाँ यह स्मर्तव्य है कि-जिसका विवाह हो चुका हो, तो उसका आर्यसमाज-मतमें न मैथुनिक नियोग, न ही मैथुनिक विवाह इष्ट होता है; अतः यहाँपर वाग्दत्ता लड़कीका 'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (मनु. ५।१५२) इस मनुके पद्यके अनुसार (जिसकी व्याख्या श्रीकुल्लूकभट्टने यह की है—'यत्पुनः प्रथमं प्रदानं वाग्दानात्मकं तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम्। ततश्च वाग्दानादारभ्य स्त्री भर्तृपरतन्त्रा'।) विवाहसे पूर्व पतिमृत्युमें यदि वैधव्य उपस्थित हो; तो उस वाग्दत्ता-विधवाका ही देवरसे नियोग वा विवाह 'विधवेव देवरं'

में इष्ट है, पूर्वविवाहिताका विवाह वा नियोग यहाँ इष्ट नहीं। तभी 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' (९।६९) इस मनु-वचनसे उक्त वैदिक-वचनका सामानाधिकरण्य है। यहाँ वाग्दानमें भी 'पति'-शब्दका प्रयोग है, तब उस वाग्दत्त-पतिके मरने पर भी वह विधवा कही जा सकती है।

श्रीकुल्लूकभट्टने इस पद्यकी अवतरणिकामें लिखा है—'नियोग-प्रकरणत्वात् कन्यागतं विशेषमाह—' (९।६९) इससे उसके मतमें वाग्दत्ता-कन्याका ही वैधव्यमें नियोग सिद्ध हुआ, विवाहिताका तो नियोग वा पुनर्विवाह—'नान्यस्मिन् (देवरादौ) विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः। अन्यस्मिन् हि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम्' (९।६४) इस मनुपद्यसे निषिद्ध है। इसी प्रकार 'नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्' (महाभा. अनु. ८।२२) [यहाँ 'नारी' जातिशब्द (ङीन् प्रत्यय) होनेसे कन्या-वाचक है] 'कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियेत यदि शुल्कदः। देवराय प्रदातव्या यदि कन्यानुमन्यते' (मनु. ९।९७) इत्यादि पद्य वाग्दानमें ही पतिमरणमें देवर-स्वीकारमें चरितार्थ हैं। सो उक्त वेदमन्त्र 'विधवेव देवरम्' तथा पूर्वप्रदर्शित-मनुपद्यमें वाग्दत्ता ही विधवाका देवरसे नियोग वा विवाह सिद्ध हुआ। उस नियोग वा विवाहको मनुजीने इन शब्दोंमें लिखा है—'यथा-विध्यभिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्। मिथो भजेताप्रसवात् सकृत् सकृद् ऋतावृतौ' (९।७०)।

इसमें यह ध्यान रखना चाहिये कि-अन्य युगोंमें 'सप्त पौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः कुलाधमाः। वाचा दत्ता, मनोदत्ता, कृतकौतुकमङ्गला। उदकस्पर्शिता या च या च पाणिगृहीतिका। अग्निं परिगता या च पुनर्भूप्रभवा च या' इस उद्वाहतत्त्वधृत काश्यपवचनसे वाग्दानादिकालीन-पतिके मरनेपर भी कन्याको पुनर्भू मानकर उनका विवाह निन्दित माना जाता था। इसलिए सावित्रीने जब अपने आपको सत्यवान्‌को मनसे दे दिया; तब उसकी अल्पायु सुनकर उसने पुनर्भूत्वके विचारसे अपना अन्यसे विवाह नहीं किया; किन्तु उसीसे विवाह किया (महा॰ वनपर्व) देवीभागवतके नवमस्कन्धमें काशीनरेशकी कन्याने सुदर्शनके लक्षणोंको सुनकर उसको मनसे वरण कर लिया। काशीनरेशने उसका स्वयंवर करना चाहा, पर कन्याने पूर्वोक्त-कारणवश निषेध कर दिया और सुदर्शनसे ही विवाह किया। इसी प्रकार जब भीष्म स्वयंवरमें काशीनरेशकी तीन अम्बा आदि लड़कियों-को अपने भ्राताकेलिए हरण कर लाये, उनमें अम्बाने कहा कि-मैंने मनसे शाल्वको पति वरण कर लिया है, भीष्मने अक्षता उस लड़कीको शाल्वके पास भेजा, पर शाल्वने उस गतप्रत्यागता-को स्वीकार नहीं किया; उस बालाका भी पुनर्विवाह नहीं हुआ। अग्रिम-जन्ममें शिखण्डी बनकर वह भीष्मके विनाशमें कारण बनी। जब इस प्रकार वाचा दत्ता, मनोदत्ता कन्याओंका भी पहले समयमें पुनर्भूत्वकी शङ्कासे विवाह नहीं हुआ करता था, तब पूर्णविवाहिताका पुनर्विवाह शास्त्रीय कैसे हो सकता है?।

इस प्रकार कलियुगमें भी वाग्दत्ताविधवाओंका पुनर्भूत्व और वर्जनीयता न हो जावे; उस इस वचनका अपवाद कलियुगके-लिए व्यवस्थापित 'पराशरस्मृति' में 'क्लीवे च पतितेपतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते' (४।३०) यह पराशरका वचन नियतीकृत है। अर्थात् कलियुगमें वाग्दत्ता आदि कन्याओंका वैधव्यमें देवरसे नियोग न होकर देवरसे विवाह हो ही सकता है। इस विषयमें आगे देखें।

अब मनुवचनमें जो कि वाग्दत्ताके वैधव्यमें नियोग लिखा गया है; उसका उक्त पराशर-वचनानुसार विवाहमें ही पर्यवसान हो जाता है, जैसे कि श्रीकुल्लूकभट्टने भी उक्त मनुपद्यकी टीकामें लिखा है—'यस्याः कन्याया वाग्दाने कृते सति भर्ता म्रियते, तामनेन वक्ष्यमाणानुष्ठानेन भर्तुः सोदरभ्राता परिणयेत।' मेधातिथिने भी लिखा है—'वाचा सत्ये कृते—वाग्दाने निष्पन्ने निजसोदरो देवरो विन्देत विवाहयेत्'। सर्वज्ञनारायणने भी लिखा है—'वाग्दत्ताविषयकमेव, वाचा—सत्यवचनेन—सत्यं मया दातव्या इयमिति सत्याङ्गीकारे। अनेन विधिना—विवाह-विधिना, निजः पतिसोदरो देवरो विन्देत'। नन्दनने भी लिखा है 'अथ वाग्दत्तायाः पत्यौ मृते कर्तव्यं श्लोकद्वयेन आह'। रामचन्द्रने लिखा है—'वाग्दत्तां प्रति आह अनेन विधानेन—विवाहविधानेन निजो देवरः विवाहयेत्'। स्वा॰ दयानन्दजीने भी इसी मनुपद्यको अपूर्ण लिखकर उसका अर्थ किया है—'अक्षतयोनि विधवा हो जाय; तो पतिका निज छोटा भाई भी उससे विवाह कर सकता

है। (स-प्र- ४ पृ- ७२) यहाँ भी वही वाग्दत्ता-विधवाके विवाहमें ही भाव है; क्योंकि-तभी वह अक्षतयोनि होती है; विवाहवाले दिन तो स्वामीजी उसे क्षतयोनि करा दिया करते हैं। इस प्रकार आर्यसमाजके आर्यमुनिजीने भी तथा श्रीराजाराम शास्त्री आदि ने भी उक्त मनुपद्यको वाग्दत्ताके विवाहमें ही लगाया है इस प्रकार आर्यसमाजसे प्रकाशित 'अबला-रक्षक' पुस्तकमें भी।

'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनुः २।७) इस मनुस्मृतिके वचनसे सिद्ध होता है कि-मनुने अपनी स्मृतिमें जो सिद्धान्त स्थिर किया है; वह सब वेदमें कहा गया है। तदनुसार 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' (मनु- ९।६९) 'मिथो भजेताऽऽप्रसवात् सकृत् सकृद् ऋतावृतौ' (९।७०) यह मनुपद्य 'विधवेव देवरं' इस पूर्व-वेदमन्त्रकी व्याख्या है। सो इससे वाग्दत्ता-विधवाका ही यहां नियोग वा विवाह इष्ट है, विवाहिता-विधवाका नहीं—यह सम्यक्तया सिद्ध हो गया; उसमें कारण यह है कि-वेद अविवाहिता स्त्रीका ही विवाह मानता है, विवाहिताका नहीं। देखिये—'कन्या युवानं विन्दते पतिम्' (अथर्व ११।५।१८) 'कन्या विन्दते पतिम्' (अ- १४।२।२२) 'कन्या-शब्दोऽयं पुंसाऽभिसम्बन्ध-(विवाह) पूर्वके संप्रयोगे निवर्तते' (महाभाष्य ४।१।११६) 'कन्या-अकृतविवाहा' (सायणाचार्य अथर्ववेदभाष्य-११।७ (५) ।१८) 'कन्या-शब्दो विवाहरहितस्त्रीमात्रमाचष्टे' (पराशरमाधवीय)

'बुद्धिमते कन्यां प्रयच्छेत्' (आश्व- गृ- १।५।२) 'यदियं कुमारी अभिजाता' (आश्व- १।५।५) 'असमानर्षिगोत्रां हि कन्यां' (हारीत ४।१)।

विवाहिता हो जानेपर उन लड़कियोंके कन्यात्वके नष्ट होनेके कारण उनका विवाह मानने पर 'कन्या युवानं विन्दते पतिम्' (अथर्व-११।५।१८) इत्यादि वेद-वचन, तथा 'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः। नाऽकन्यासु' (मनु- ८।२२८) इत्यादि स्मार्त-वचन भी व्याकुपित होजाएंगे। वाग्दत्ता लड़कीके तो विवाहिता न होनेसे 'अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेताथो वरो यदि। न च मन्त्रोपनीता स्यात् कुमारी पितुरेव सा' (वसिष्ठस्मृति १७।६४) इत्यादि वचनोंसे कन्यात्वके कारण भावी पतिकी मृत्युमें भी 'विधवेव देवरं' इस वेद-वचनके अनुवादभूत 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' इस मनुपद्यसे विवाह सिद्ध हो ही जाता है, जो आजकल भी हुआ करता है। देवर पतिका भ्राता ही होता है; इसलिए वह निरुक्तके 'द्वितीयो वरः' इस प्रक्षिप्तपाठानुसार दूसरा वर यहां निष्पन्न हो जाता है। जो स्वा- दयानन्दादि देवरका अर्थ 'पतिका भाई' केवल न मानकर अन्य पुरुषमात्रको देवर मानते हैं; उनके मतमें-'या नियुक्ताऽन्यतः पुत्रं देवराद् वाप्यवाप्नुयात्' (९।१४७) इस मनुपद्यमें 'अन्यतः' और 'देवरात्'में पुनरुक्ति हो जावेगी, और 'देवराद् वा'में तथा 'देवराद् वा सपिण्डाद् वा' (मनु ९।५९) इनमें 'वा' शब्द व्यर्थ हो जाएगा। नहीं तो फिर श्वशुर भी अन्य होनेसे

यह भी उस वधूका देवर हो जाएगा। अतः उक्त पक्ष 'वा' शब्दसे ही खण्डित हो जाता है।

इस प्रकार 'विधवेव देवर'में उसी वाग्दत्ताका वर्णन है, जिसे मनुजीने अन्यत्र भी स्पष्ट किया है—'कन्यायां दत्तशुल्कायां म्रियते यदि शुल्कदः। देवराय प्रदातव्या यदि कन्याऽनुमन्यते' (मनु. ९।९७)। विवाहिता होनेपर तो उसमें उसके पतिका ही अधिकार होनेसे 'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाम्' (वृहत्पराशर० ४।४८) इस वचनके अनुसार पतिकी मृत्युमें भी उसी पतिका ही पतित्व रहता है; तब उसमें देवरका भी अधिकार नहीं रहता; अन्यका तो भला अधिकार ही कैसे सम्भव हो ?

शेष प्रश्न यह है कि—इस पक्षमें भी 'मर्यं न योषा' यह उक्त मन्त्रकी दूसरी उपमा व्यर्थ हो जाती है, उसपर वक्तव्य यह है कि—उस पूर्वपक्ष तथा इस उत्तरपक्षका आपसमें बड़ा अन्तर है, क्योंकि—पूर्वपक्षमें तो श्रुति एवं स्मृतिका विरोध है; पर उत्तर-पक्षमें तो विरोध नहीं। हां, यह अवश्य है कि—वाग्दत्ता विधवा-का देवरसे विवाह होनेपर भी मुख्य पतित्व नहीं रहता; किन्तु गौणपतित्व ही, क्योंकि—यहां मुख्य विवाहविधि नहीं होती, और 'मर्यं न योषा'में मुख्यपतिकी उपमा है; अतः इन दो उप-माओंकी पृथक्ता व्यर्थ नहीं। कारण यह है कि—वाग्दत्ता विधवाके विवाहमें 'यथाविध्यभिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्। मिथो भजेताऽऽ प्रसवात् सकृत् सकृद् ऋतौ-ऋतौ' (मनु० ९।७०) यह परतन्त्रता होती है; उसमें मुख्य पति वाली स्वतन्त्रता नहीं

होती। अतः स्पष्ट है कि—'विधवेव देवरम्'में वाग्दत्ताविधवाका देवरसे नियोग वा विवाह है; विवाहिता-विधवाका देवरसे नियोग वा विवाह नहीं; क्योंकि उसमें शास्त्रोंका निषेध है।

(६) 'या पूर्वं पतिं वित्त्वा'

पूर्वपक्षी लोग विधवाविवाह वा नियोगका एक अन्य मन्त्र भी उपस्थित करते हैं वह यह है—'या पूर्वं पतिं वित्त्वा अथान्यं विन्दते परम्। पञ्चौदनं च तौ अजं ददातो न वियोपतः' (अथर्व. ९।५।२७) 'समानलोको भवति पुनर्भुवा परः पतिः,' (२८) इसका अर्थ वे इस प्रकार करते हैं—जो स्त्री पहले पतिको प्राप्त कर फिर दूसरेको प्राप्त करती है; वे दोनों पञ्चौदन अजका दान करें; तो फिर परस्परसे वियुक्त नहीं होते। वह दूसरा पति उस पुनर्भू [पुनर्विवाहिता]के समान-लोकमें जाता है। यहां 'पुनर्भू' शब्द स्पष्टतया विधवाका पुनर्विवाह बता रहा है'। इस मन्त्रको श्रीतुलसीरामस्वामीने 'भास्करप्रकाश'में तो पुनर्विवाहवाचक माना है, पर मनुकी टीकामें नियोगका। यह परस्पर-विरोध है।

इसपर यह जानना चाहिये कि—प्रतिपक्षियोंके अर्थानुसार तो इस मन्त्रसे पतिके जीवनमें भी उसे छोड़कर दूसरा पति लेना भी वैदिक हो जायगा; क्योंकि—यहाँ पूर्व पतिके मरनेका नाम तो है-नहीं; किन्तु 'पूर्वं पतिं वित्त्वा, अथ अन्यं परं-श्रेष्ठं विन्दते' यह वहांके शब्द हैं। अथवा कुछ समयकेलिए यही प्रतिपक्षि-प्रोक्त अर्थ भी मान लिया जावे; तब भी यहाँ विधि सिद्ध नहीं होती; यहाँ 'विन्दते' यह लट्लकार है, आज्ञात्मक विधिलिङ् नहीं,

जिससे अन्यकेलिए वैसी विधि हो जावे। दूसरे मन्त्रमें तो इस सम्बन्धमें वहुत निन्दा आई है-'अपरः पतिः पुनर्भुर्वा समान-लोको भवति' अर्थात् उस दूसरे पतिको भी वही लोक मिलता है, जो पुनर्भू को। सब शास्त्रोंमें पतिव्रता-स्त्रीको पतिलोककी प्राप्ति ही कही जाती है; जैसे कि वेदमें-'इयं नारी पतिलोकं वृणाना' (अथर्व. १८।३।१) क्योंकि-स्त्री ही पतिकी मृत्युमें उसके साथ सती होती है, पति पत्नीके मरनेपर उसके साथ नहीं जलता। पतिको कहीं स्त्री-लोककी प्राप्ति नहीं कही जाती; पर इस मन्त्रमें तो उससे विपरीत पतिको ही पुनर्भूके लोककी प्राप्ति कही गई है। पुनर्भू स्त्रियोंकेलिए तो धर्मशास्त्रोंमें सर्वत्र निन्दा ही अङ्कित की गई है; उनको नरकलोककी प्राप्ति वा शृगालयोनि आदिकी प्राप्ति कही गई है; तव उन्हें उत्तम-लोक प्राप्त न होनेसे उस पुनर्भूके पतिको भी वही नरकादि लोक ही मिलता है-यही 'समान-लोको भवति पुनर्भुर्वा परः पतिः' कहनेका रहस्य है; और पौनर्भवको मनु (६।१६०) आदि स्मृतियोंमें अदायाद कहकर निन्दित एवम् अपाङ्क्तेय माना गया है।

वस्तुतः यह दो मन्त्र भी वाग्दत्ता-विधवाके विवाहको ही बताने वाले हैं; विवाहिताके पुनर्विवाहको नहीं। नहीं तो इन मन्त्रोंका 'सोमो ददद् गन्धर्वाय...अग्निर्मह्यमथो इमाम्' (ऋ. १०।८५।४१) इस वैवाहिक-मन्त्रसे विरोध हो जायगा, क्योंकि—अग्नि विवाहके समय वरको कन्यादान कर फिर स्वयं उसके पतित्वसे हटकर किसी अन्य पुरुषको उस स्त्रीके दान करनेमें अधिकारी नहीं रहता। जब

वह वैसा नहीं रहता; तो फिर उस स्त्रीका विवाह ही कैसा? अग्नि-द्वारा वरको कन्या देना ही विवाह होता है-इसका स्पष्टीकरण हम पुनः अन्य किसी निबन्धमें करेंगे। तब उसका अग्निदेव-द्वारा दान न होने पर भी विवाह करनेसे 'देव-दत्तां पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः' (६।६५) इस मनु-वचनका व्याकोप होगा; तव देवदत्तत्व न होनेसे परस्पर-विरोध होनेसे वेदमें ही व्याघात तथा अप्रामाण्य प्रसक्त होगा, पर यह अनिष्ट है।

जिस पतिव्रतधर्मके सब शास्त्र स्तुति करनेवाले हैं, जो पतिव्रतधर्म भारतवर्षको स्थिर कीर्ति देनेवाला बना, 'पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्व अमृताय कम्' (अ. १४।१।४२) 'साम अहमस्मि ऋक् त्वं, द्यौरहं-पृथिवी त्वम्। तौ इह सम्भवाव, प्रजाया जनयावहै' (अ. १४।२।७१) इत्यादि वेदमन्त्र भी जिस पतिव्रत-धर्मकी दृढताकेलिए कमर कसे हुए हैं, वहाँ वेद कैसे कह सकते हैं कि-स्त्री पतिके मरनेपर अन्य को ले ले। तब यहाँ स्पष्ट है कि-इस अथर्वके मन्त्रमें भी 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' (६।६६) इस वेदानुकूल लिखनेवाले मनुके पद्यमें उल्लिखित 'पति' के अर्थवाला वाग्दानकालीन ही पति इष्ट है; बल्कि यह मनुवचन ही इस मन्त्रका अनुवाद है। जैसा कि बृहस्पतिने कहा है-'वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्'।

शेष रहा इस मन्त्रमें उल्लिखित 'पुनर्भूः' शब्द; सो यह भी विवाहिता-विधवाकेलिए नहीं है, किन्तु वाग्दत्ता-विधवाकेलिए है,

क्योंकि-वाग्दत्ता होनेपर भी पति-मरणमें बालाको 'पुनर्भू' कहा जाता है। जैसे कि-'सप्त पौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः प्रयत्नतः। वाचा दत्ता मनोदत्ता' (धर्मचन्द्रिकादि निबन्धोंमें उद्धृत) इस काश्यपादिके वचनको हम पूर्व उद्धृत कर चुके हैं। यहां वाचादत्ता मनोदत्ताको भी पतिमरणमें विवाह करने पर 'पुनर्भूः' माना है। नारदने भी कहा है 'कन्यैवाऽक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता। 'पुनर्भूः' प्रथमा प्रोक्ता पुनः संस्कारकर्मणा' (१२।४६) यहां पर 'पाणिग्रहणदूषिता' शब्द वाग्दत्ता आदिके उपलक्षणार्थ है। याज्ञवल्क्यने भी कहा है—'अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः' (१।३।६७) यहां भी अक्षतासे वाग्दत्ता आदिका ग्रहण स्पष्ट है। उस वाग्दत्ताका पतिमरणमें विवाह मनुस्मृतिमें 'तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' (९।६९) से स्पष्ट है—यह हम पूर्व लिख चुके हैं इससे अग्रिम पद्यमें कहे 'यथाविधि' शब्दका मेधातिथिने 'यथाशास्त्रं वैवाह्यो विधिः, तथा विवाह्या। वाचनिकोऽयं विवाहः, पुनर्भूश्च तथोच्यते, नवा व्यूढापि सती भार्या भवति' यह अर्थ किया है सो वही वाग्दत्ता-पुनर्भू उक्त वेदमन्त्रमें इष्ट है। तब उक्त वेदमन्त्र और उक्त मनुवचनका आपसमें सामानाधिकरण्य सिद्ध होगया। अतः उक्त-मन्त्रमें 'या' से 'स्त्री' नहीं लेनी है, किन्तु 'कन्या' ही लेनी है, जिसका विवाह पहले नहीं हो चुका; सो वही वाग्दत्ता-कन्या ही यहां प्रतिफलित होती है। उसके विवाहको भी उत्तम नहीं माना जाता; वहांपर प्रायश्चित्तस्वरूप पञ्चौदनयागका विधान दीखता है; उसमें मुख्यपति-विवाह-

की तरह स्वतन्त्रता नहीं होती। इसीलिए सावित्रीको जब पतिके अल्पायुष्ट्वका नारदने वृत्त सुनाया; और वाग्दत्तात्व-कालीन पतिके सम्बन्धके त्यागार्थ कहा; तब उसने उसमें भी पुनर्भूत्ववश उत्तम-कक्षासे पतन देखकर उसका निषेध कर दिया। पर अन्य पुनर्भुवोंसे इसका बड़ा अन्तर है। वे विवाहिता तो पतिके जीवन वा मरणमें शास्त्र-विरुद्ध दूसरी बार पतिको लेती हैं; उसमें तो 'न विवाहविधावुक्तं विधवा-वेदनं पुनः (९।६५) यह वेदानुकूल स्मृति-प्रणेता मनुका निषेध है, पर इस वरदान-कालीन पुनर्भूमें मनुकी भी (चाहे वह संकुचित ही क्यों न हो) आज्ञा दीखती है (मनु० ९।६९-७०)। संकोचका कारण यह है कि-ऐसा करनेमें स्त्रीको पतिलोक नहीं मिलता; किन्तु पतिको ही उस पुनर्भूका लोक प्राप्त होता है—इससे ऐसे विवाहकी कुछ निन्दितता है; इसलिए 'कुहस्विद् दोषा' मन्त्रमें 'मर्यं न योषा' से 'विधवेव देवरम्'की उपमा कुछ अन्तरके कारण पृथक् दी गई है। पर विवाहित-विधवाको सर्वत्र पत्यन्तरका निषेध है; अतः इस मन्त्रसे भी वादियोंकी इष्टसिद्धि नहीं हो सकती; पर कलियुगकेलिए व्यवस्थापित पराशर-स्मृतिने तो कलियुगमें इस वाग्दत्तानियोगकी कठिनता जानकर 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतितेपतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते' (४।३२) इससे वाग्दत्ताका विवाह बिना ही संकोचके अभ्यनुज्ञात कर दिया है। इस पद्यमें 'पति' शब्द माना जावे; अथवा 'अपति' शब्द; पर यहाँ दोनों ही दशामें वाग्दानकालिक ही पति इष्ट है,

जैसे कि-'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' (९।६९) इस मनुपद्यमें वाग्दानकालीन पुरुषको भी 'पति' शब्दसे कहा गया है। इस विषयमें विस्तार अन्य निबन्धमें किया जाएगा।

(७) 'सोमः प्रथमो विविदे'

पाठकोंने देख लिया कि-जो मन्त्र दिये जाते हैं; उनमें विधवाविवाह वा नियोग सर्वथा नहीं है; इसलिए आर्यसमाजके प्रसिद्ध निष्पक्ष विद्वान् श्रीनरदेवजी शास्त्रीने 'आर्यसमाजका इतिहास' (प्रथम भागमें) लिखा है—'चारों वेदोंमें एक भी ऐसा मन्त्र नहीं, जिसमें स्पष्ट रीतिसे नियोगका प्रतिपादन किया गया हो, ...हम तो यह स्पष्ट कह सकते हैं कि—वेद नियोगसिद्धान्तका पोषक नहीं' (पृ. ८४) पर फिर भी कई व्यक्तियोंका यही काम रहता है कि-वेदसे खोद-खोदकर नियोग निकालें; वस्तुतः यह रास्ता उन्हें स्वा.द.जीने ही दिखलाया है। स्वामीने स.प्र.में ११ पति सिद्ध करनेकेलिए एक मन्त्र दिया है; उसे हम उनके अर्थ-समेत उद्धृत करते हैं—। वह मन्त्र यह है-'सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयोऽग्निष्टे पतिः तुरीयस्ते मनुष्यजाः' (ऋ. १०।८५।४०) यहाँ स्वा.द.जी 'मनुष्यजाः' को बहुवचन मानकर ग्यारह पति अर्थ करते हैं; उसमें उपोद्बलकरूपसे 'पति-मेकादशं कृधि' मन्त्र देते हैं; और आजकलके आर्यसमाजी उसमें 'उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रभीत् स एव पतिरेकधा' (अ. ५।१७।८) यह मन्त्र उपस्थित किया करते हैं-उसमें हम 'पतिमेकादशं कृधि' का तो पूर्ण

समाधान (३ संख्यामें) पूर्व कर चुके हैं; शेषका समाधान यहाँ बताते हैं।

इसमें 'सोमः प्रथमो विविदे' इस मन्त्रका स्वा.द.जी स.प्र.में इस प्रकार अर्थ करते हैं—'हे स्त्रि! जो (ते) तेरा (प्रथमः) पहिला विवाहित (?) (पतिः) पति तुझको (विविदे) प्राप्त होता है, उसका नाम (?) सोमः सुकुमारतादि-गुणयुक्त होनेसे सोम, जो दूसरा नियोगसे (?) प्राप्त हुआ, वह (गन्धर्वः) एक स्त्रीसे सम्भोग करनेसे (?) गन्धर्व और जो (तृतीय उत्तरः) दो के बाद तीसरा पति होता है, वह (अग्नि) अत्युष्णतायुक्त होनेसे (?) अग्निसंज्ञक, और जो (ते) तेरे तुरीयः 'चौथेसे लेके ग्यारहवें तक (?) नियोगसे पति होते हैं; वे (मनुष्यजाः) मनुष्य नामसे (?) कहाते हैं'।

वाह, स्वामीजीके सात्त्विक-मस्तिष्कसे कैसा सात्त्विक अर्थ निकला है? अब इसपर विचार किया जाता है। यह मन्त्र तथा उसके साथका 'सोमो ददद् गन्धर्वाय, गन्धर्वो दददग्नये। रयिं च पुत्राँश्चादाद् अग्निर्मह्यमथो इमाम्' (ऋ. १०।८५।४१) यह दोनों मन्त्र विवाहकाण्डके हैं; क्योंकि १०वें मण्डलका ८५ सूक्त वैवाहिक-सूक्त है; और पारस्करगृह्यसूत्रमें भी विवाहसंकारमें इन मन्त्रोंका उपयोग है। तब अपने मान्य गृह्यसूत्रसे विरुद्ध नियोगमें इनका विनियोग बताना स्वामीजीकी आहो-पुरुषिका-मात्र है। मनुस्मृतिमें कहा है—'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवा-वेदनं पुनः (९।६५)

(वैवाहिक-मन्त्रोंमें नियोग कहीं भी कीर्तित नहीं, विवाहविधिमें कहीं विधवा-वेदन नहीं कहा गया), जब ऐसा है, और स्वा० द० जी ने भी प्रथम सत्यार्थप्रकाशमें इसका यही अर्थ माना है, आर्यसमाजके श्रीतुलसीराम-स्वामी आदि भी इसका यही अर्थ मानते हैं; तब इन विवाहविधिप्रयुक्त मन्त्रोंमें नियोगका गन्ध भी कैसे आ सकता है ?'

यह अर्थ जो स्वामीजी ने किया है, वह निर्मूल है। इस मन्त्रका वक्ता वर है; उसके आगे वाले मन्त्रका वक्ता भी वही है; वह यह अपनी विवाह्यमान स्त्रीको कह रहा है। उसका प्रमाण है—इसके आगेके मन्त्रमें 'मह्यं' पद। 'अग्निर्मह्यमथो इमाम्' इस मन्त्रको स्वामीजी दबा गये हैं; इस मन्त्रका अर्थ यह है कि—सोमने तुझे गन्धर्वको दिया; गन्धर्वने अग्निको दिया, और अग्निने इस तुझ वधूको मुझे दिया। यह दोनों मन्त्र (४०-४१) इकट्ठे हैं; अतः इन दोनोंका अर्थ भी इकट्ठा लगेगा।

वर अपनी पत्नीको कहता है कि—मुझे अग्निने तुम्हें दिया है। अग्नि हुआ स्वामीजीके मतानुसार तीसरा अत्युष्णतायुक्त नियोगी पति; उसने सौंपा मनुष्यज चौथे पतिको; तब क्या स्वामीजीके मतानुसार विवाहित-वधूके विवाहसे पूर्व ही तीन पुरुषोंसे नियोग हो जाते हैं? क्या वह चौथा मनुष्यज वर भी नियोगी होता है? इस मन्त्रके अर्थमें स्वामीने पहलेको 'विवाहित' और दूसरे-तीसरेको 'नियोगी लिखा है—यह इस मन्त्रमें अन्तर कहां सूचित किया गया है? यहां पहले पतिको सुकुमारतादि-

गुणयुक्त होनेसे स्वामीने 'सोम' कहा है, दूसरेको 'गन्धर्व' और तीसरेको अत्युष्णतायुक्त होनेसे 'अग्नि' माना है—यह बात वहां कैसे सङ्गत है ?' अत्युष्णतायुक्त तो उल्टा पहला पति होगा—जिसने २४ वा ४८ वर्ष तक वीर्यको रोका, किसी स्त्रीसे जिसका मेल नहीं हुआ। वह जब नवविवाह करेगा; तो अत्युष्णता तो उसमें होगी; तीसरेमें तो क्षीणता हो जानेसे अत्युष्णता कहां होगी, उसमें तो क्षीणता होगी। गन्धर्वका एक स्त्रीसे सम्भोग करनेसे उक्त नाम होनेमें प्रमाण वा संगति क्या है? दो स्त्रियोंसे सम्भोग करनेसे पुरुषको स्वामीने अग्नि कहा है; यह कथन भी गलत प्रतीत हो रहा है। स्त्रीको तो तीन पुरुषोंसे संयोग करनेसे कामाग्नि बढ़ जानेसे 'अग्नि' कहा जावे, यह कुछ संगत भी हो; परन्तु पुरुषकी अग्नि-संज्ञामें क्या प्रवृत्ति-निमित्त है? पुरुषकी ११ स्त्रियां यहां कहां कही गई हैं?

'तुरीय'का 'चौथा' अर्थ तो होता है, परन्तु स्वामीजीने उसका 'चौथेसे लेके ग्यारहवें तक नियोगसे पति होते हैं', यह अर्थ किस निघण्टुसे किया है? 'तुरीयः' क्या बहुवचनान्त है? यदि नहीं; तब उसका वैसा अर्थ कैसे किया गया? 'मनुष्यजाः' का 'मनुष्य' अर्थ कैसे किया गया? 'मनुष्य नामसे कहाते हैं' ऐसा अर्थ किसका है?। पहले-दूसरे-तीसरे पतिके नामका तो भेद हुआ; पर चौथेसे लेकर ११वें तक एक ही 'मनुष्य' नामसे कैसे कहलाए? उनका नामभेद क्यों न हुआ? 'मनुष्य' नाम ही क्यों रखा गया? उनकी कामाग्नि कैसी है—वह नहीं बताया

गया ?। चौथे पतिका नाम मनुष्य होनेसे पहलेके तीन सोम, गन्धर्व, और अग्नि अमनुष्य-देवता सिद्ध हुए-यह भी क्या कभी स्वामीने सोचा ?

स्वामीजीने 'मनुष्यजाः' को बहुवचन समझ लिया है; तभी तो 'मनुष्य-कहाते हैं'-यह अर्थ बहुवचनका किया है; तभी उन्हें 'तुरीयः' इस एक वचनान्त पदका 'चौथेसे लेकर ग्यारहवें तक' यह अर्थ करनेका साहस होगया। वस्तुतः यह अज्ञान है। 'तुरीयः' यह एकवचनान्त विशेषण है; यदि इसका विशेष्य 'मनुष्यजाः' बहुवचन होता; तो 'तुरीयः' भी बहुवचनमें 'तुरीयाः' रूपमें होता; पर वैसा न होनेसे स्पष्ट है कि-'मनुष्यजाः' भी एकवचनान्त है। यह लौकिक प्रयोग नहीं है, वा 'मनुष्यज' शब्द नहीं है कि-'मनुष्यजाः' यह बहुवचनान्त हो; यह तो वैदिक शब्द है, और 'मनुष्यजा' शब्द है; उसीका एकवचन सु-प्रत्ययमें 'मनुष्यजाः' ही बनता है। देखिये इसकी सिद्धि—

यहाँपर 'मनुष्य' पूर्वक 'जन्' धातुसे 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (३।२।६७) इस पाणिनिसूत्रसे विट् प्रत्यय और 'विड्वनोरनुनासिकस्य आत्' (६।४।४१) इससे जन् धातुके 'न्' को 'आ' और विट् प्रत्ययका सर्वापहारी लोप होकर कृदन्ती होनेसे प्रातिपदिकसंज्ञा (१।२।४६) और 'सुँ' (४।१।२) होकर रुत्व और विसर्गें हुईं, और 'मनुष्यजाः' बना। 'तुरीयः' इस एकवचनान्त विशेषणसे तो एकवचनकी अन्य भी दृढता हुई। जब ऐसा है; तो चौथेसे लेकर ग्यारह तक पति यहाँ कहांसे निकलेंगे ?।

वस्तुतः यहाँ सोम, गन्धर्व, और अग्नि यह लड़कीके कुमारावस्थामें तीन देवता-पति माने गये हैं। आठ वर्षके बादसे गौरीसंज्ञक कन्यामें एक वर्ष तक सोम देवताका 'सोमो गौरी अधिश्रितः' (ऋ. ६।१२।३), नववर्षके बादसे रोहिणीमें गन्धर्व-देवताका, और दश वर्षके बादसे कन्यामें एक वर्ष तक अग्नि-देवताका आधिपत्य रहता है। इस प्रकार ११ वर्षके बाद अग्नि-देव अपना आधिपत्य उस लड़कीसे छोड़कर उसे मनुष्य-पतिको देता है-जिसकेलिए वर कहता है-'अग्निर्मह्यमथो इमाम्'। यही अग्निद्वारा वरको देना ही लड़कीका विवाह माना जाता है; इसलिए विवाहमें अग्निकी साक्षीमें ही कन्याका विवाह किया जाता है। यही यहाँ वास्तविक अर्थ है। वस्तुतः यह मन्त्र कन्याकी विवाहावस्था-को ही बता रहा है, इसमें कोई नियोगकी गन्ध भी नहीं। वैज्ञानिक अर्थ इसका लिया जावे; तो यह होगा कि-लड़कीके ऋतुकालका देवता वा स्वामी अग्नि है; जब उस ऋतुका भीतर-को छोड़कर बाहर आनेका काल होनेवाला होता है; वह अग्निका उसे छोड़नेका काल होता है; सो अग्नि अपनी उपस्थितिमें ही अर्थात् ऋतुकालसे कुछ पूर्व ही वह लड़की वरको सौंप देता है-इसका भाव यह हुआ कि-ऋतुकालसे पूर्व कन्याका विवाह हो, और ऋतुकाल उपस्थित होनेपर वह उस स्त्रीका पति रूपमें उपयोग ले। अब बोलिये कहाँ गया यहाँ स्वा.द.जीका नियोगार्थ ?

'सोमो ददद् गन्धर्वाय' मन्त्रमें कहा गया है कि-सोम-देवताने वह कन्या गन्धर्व-देवताको दी; पर नियोगमें विवाहित-

पति उस स्त्रीको नियोगीको भला कहाँ देता है ? वह तो मर जाता है, स्वा.द.जी ही उस स्त्रीको निर्मूलतासे नियोगीको देते हैं। 'गन्धर्वो ददद्ग्नये' में कहा है कि–गन्धर्व देवताने अग्नि देवताको दिया। अब बोलिये पहला नियोगी दूसरे नियोगीको वह स्त्री क्यों देने लगा ? क्या वह नपुंसक था, जो दूसरेको देने लगा ? जब नियोगीकी वह स्त्री नहीं; उसपर उसका अधिपत्य नहीं, अथवा वह भी मर गया; तब वह दूसरे नियोगीको दे ही कैसे सकता है ? आगे लिखा है कि–अग्निने मुझे दिया। यहाँ पर प्रश्न है कि–मुझे किसको ? यदि यहाँ चौथेसे ग्यारह तक' को दिया' यह अर्थ हो; तो यहां 'अस्मभ्यं' होना चाहिये, 'मह्य' कैसे आया ? 'मह्यम्'के 'मनुष्यजाः' होनेसे स्पष्ट है कि-पहलेके तीन पति देवता हैं–मनुष्य नहीं। तब यहां नियोग-अर्थ स्वतः ही कट गया। 'मह्य' में सम्प्रदानमें चतुर्थी होनेसे अब वह वर अन्य किसीको नहीं दे सकता, नहीं तो चतुर्थी व्याकुपित होती है। जब तक वर किसी दूसरेको अग्नि आदि की भान्ति अपनी स्त्री न दे; तब तक उसका पतित्व कभी हट नहीं सकता। परन्तु पुरुषका किसी अन्य पतिको अपनी पत्नीके दानका विधान किसी भी मन्त्र वा प्रामाणिक पुस्तकमें नहीं लिखा; तब उस पुरुषकी पतित्वनिवृत्ति भी जीवन वा मरणमें कभी नहीं हो सकती। स्वा.द.जीने भी स.प्र. ४र्थ समुल्लासमें कहा है–'जब विवाह होवे, तब स्त्रीके साथ पुरुष और पुरुषके साथ स्त्री विक चुकी' (४र्थ समु. पृ० ६६)। अन्यत्र भी स्वामीने कहा

है–'तन तो विवाह-समयमें स्त्री और पतिके समर्पण हो जाता है, पुनः मन भी दूसरेके समर्पण नहीं हो सकता, क्योंकि–मन ही के साथ तनका भी समर्पण करना बन सकता है, और जो [मनके साथ तन समर्पण] करें; तो व्यभिचारी कहावेंगे' (स.प्र. ११ समु. पृ. २३६)। इसी आशयका मन्त्र भी स्वामीने अपनी विवाह-संस्कारविधिमें मन्त्र-ब्राह्मणका गोभिलगृह्यसूत्रसे दिया है—'यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम। यदिदँ हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव' (पृ. १६८)। इस प्रकार विधवाविवाह वा नियोगका मूल ही कट गया।

पहले ही कहा जा चुका है कि–'सोमः प्रथमो' 'सोमो ददद्' यह मन्त्र कुमारीकी विवाहविधिमें पढ़े जाते हैं; (देखो पारस्करगृ.) अतः विधवामें इनका उपयोग कभी नहीं होता। पता नहीं स्वामी इन मन्त्रोंको स्त्रीके प्रति विवाहितपतिके द्वारा कहलाते हैं, वा नियोगी द्वारा ? और ग्यारह पतियोंका सम्बन्ध ही क्या है ? २३ वर्ष तक बेचारीको एक पति भी न मिला; फिर २४वें वर्षसे तो पतियोंकी बाढ़ आगई। इनके वर्षोंका हिसाब क्या होगा ? यह सन्तानार्थ होंगे, वा कामास्वादार्थ ? सन्तानकी प्रतीक्षाकी अवधि कितने-कितने वर्ष तक करनी पड़ेगी ?।

यदि पतिके मरनेपर दूसरा पति अभिमत है; तो अग्निके द्वारा दूसरे वरको दान ही कैसे हो सकेगा; क्योंकि–पूर्वमन्त्रोंसे प्रथम पतिको देनेके अवसर पर अग्निका पतित्व हट जाता है; अब उसे दूसरेको देनेका अधिकार है नहीं; क्योंकि–अपने स्वत्व-

को हटाकर दूसरेके स्वत्वको कर देनेका ही नाम ही दान होता है। यही बात मीमांसादर्शनके शावरभाष्यमें भी कही है—'ददातिरुत्सर्गपूर्वकः परस्वत्वेन सम्बन्धः (४।२।२८) 'दानमित्युच्यते स्वस्वत्वनिवृत्तिः, परस्वत्वापादनं च' (मीमां॰ शावर- ६।७।१)। तब वह दान तो पूर्व अग्नि-द्वारा वरको हो गया। यह 'रजकस्य वस्त्रं ददाति'की भान्ति भी दान नहीं है, नहीं तो 'मह्यमिमामददात्' इस मन्त्र-स्थित चतुर्थीका व्याकोप होता है। विवाह होता है अग्निकर्तृक, वरसम्प्रदानक, और कन्या-कर्मक, स्वतन्त्र नहीं। इस कारण मनुजीने कहा है—'देव-दत्तां पतिर्भार्यां विन्दते, नेच्छयाऽऽत्मनः' (६।६५)

तो जब अग्निने १२वें वर्षमें उस बालाको पुरुषपतिको दान कर दिया, तब वह वाला अब कन्या न रही; इसलिए वेदमें अग्निको कन्याओंका जार ('जारः कनीनाम्' ऋ॰ १।६६।४) कहा है। उस समय अग्निका अपना अधिकार उस स्त्रीमें नहीं रहता; किन्तु उस मनुष्यपतिका ही उसमें अधिकार हो जाता है; तब उस पतिके मरनेपर वह अन्यसे विवाह कैसे कर सकती है; क्योंकि—अग्निका अब दूसरेको दानका अधिकार रहा नहीं; कारण—उस अग्निकी १२वें वर्षमें पतित्वकी निवृत्ति हो जाती है—इस विषयको हम किसी अन्य पुष्पमें स्पष्ट करेंगे। फिर उस पुरुषका अन्य पुरुषको अपनी स्त्रीका देना किसी धर्मपुस्तकमें कहा नहीं, इससे सिद्ध है कि—'विधवा-विवाह' शब्द ही अशिष्ट है, क्योंकि—धर्मशास्त्रानुसार उसका विवाह ही नहीं हो सकता।

विवाहसे पूर्व 'कन्या' वा 'कुमारी' शब्द आता है; तब जिसका विवाह होता है, वह विधवा कैसे हो सकती है, क्योंकि—वह कन्या नहीं होती; पूर्व विवाह होनेपर उसका कन्याभाव नष्ट हो जाता है। यही बात मनुस्मृति (८।२२६-२२७) में स्पष्ट है। इससे सिद्ध है कि—'विवाह' यह पारिभाषिक-पद है, तब 'विधवा-विवाह' यह शब्द कभी प्रयुक्त नहीं हो सकता; क्योंकि-धर्मशास्त्रीय-परिभाषा तथा विवाहविधि-प्रतिपादक 'अग्निर्मह्यमथो इमाम्' इत्यादि पूर्वप्रोक्त वेद-वचनोंका व्याकोप होता है। और 'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्' (६।६५) इस मनुवचनाऽनुसार विवाह-मन्त्रोंमें कहीं नियोगका वर्णन न होनेसे नियोग भी असिद्ध है। पाठकोंने देख लिया कि—नियोग अर्थ करके स्वामी द्वारा श्रुतिके साथ कितना बलात्कार किया गया है; और उसकी संगति भी नहीं पड़ती। तब 'सोमः प्रथमो विविदे' 'सोमो ददद् गन्धर्वाय' इन मन्त्रोंका नियोग अर्थ भी सिद्ध नहीं।

(८) 'उत यत् पतयो दश स्त्रियाः'।

अब जो आर्यसमाजी 'उत यत् पतयो दश स्त्रियाः' इस मन्त्रसे ग्यारह पति अर्थ सिद्ध करते हैं, उसपर विवेचना देकर शेष इस विषयको अन्य पुष्पोंकेलिए रखकर यह विषय उपसंहृत किया जावेगा—

सम्पूर्ण मन्त्र यह है—'उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः। ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रभीत् स एव पतिरेकधा' (अ॰ ५।१७।८) इसका सीधा अर्थ तो यह है कि—स्त्रीके जो पाणिग्रहण-

से पूर्वके दस अब्राह्मण पति हैं; जब ब्राह्मणने उस स्त्रीका पाणिग्रहण कर लिया; तो वही उसका एक पति हो जाता है'।

इसपर यह जानना चाहिये कि-यहां पर कहे गये दस पति पाणिग्रहणके अभाव वाले देवता ही हैं, मनुष्य नहीं। यदि आर्यसमाजीगण हमारी बात न मानकर यहां मनुष्यपति अर्थ मानें; तो वेदभक्त क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आर्यसमाजियोंको अपनी स्त्रियां ब्राह्मणोंको दे देनी पड़ेंगी; क्योंकि-इस मन्त्रमें तो यह कहा ही है, अन्य मन्त्रमें भी कहा है-'ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्यः' (अ. ५।१७।६) तब जब क्षत्रिय, वैश्य आदि आर्यसमाजियोंका अपनी स्त्रियोंमें अधिकार ही नहीं है, उनका पति ब्राह्मण ही है; तब ब्राह्मण द्वारा उस स्त्रीका हाथ पकड़ लेनेपर वे अब्राह्मण स्वयं ही उसके पतित्वसे दूर हो जावेंगे; क्योंकि—इसी मन्त्रमें भी कहा है—ब्रह्मा-ब्राह्मणः, चेद् हस्तमग्रभीत्, स एव पतिः, [न तु पूर्वे अब्राह्मणाः]। यहां नियोगकी कुछ चर्चा भी नहीं है।

यदि आर्यसमाजी इस अर्थको स्वीकार न करें; तो इस मन्त्र-का अपने दृष्टिकोणका अर्थ लें। वह यह है कि-इसमें विधवा-विवाहका तो गन्ध ही नहीं है, कदाचित् सधवाविवाहकी गन्ध हो, तो हो। पर वहां पर प्रतिपक्षियोंकी भी इष्टापत्ति नहीं। तब इस मन्त्रका वे यह अर्थ करें कि-किसी लड़कीके पाणिग्रहणसे पूर्व दस भी अब्राह्मणकुमार वाग्दानकालमें उमीदवार हों [यह हमारा अर्थ ठीक है, क्योंकि-आगे ब्राह्मणके हस्तग्रहणका वर्णन किया गया है], और फिर ब्राह्मण उससे पाणिग्रहण करे; तो वही पति माना जावेगा।

यहां पर 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' (मनु० ९।६९)की तरह सम्भावनामात्रसे लड़कीके पति कह दिये गये हैं; अर्थात् उसका पतित्व चाहने वाले दस भी अब्राह्मण व्यक्ति तैयार हों। यहां प्रतिपक्षी यह भी अर्थ कर सकते हैं-'ब्रह्म-जानाति-इति ब्राह्मणः, न ब्राह्मण इति अब्राह्मणः', अर्थात् ब्रह्म वा वेदका ज्ञान न रखने वाले दस भी व्यक्ति तैयार हों; तब ब्रह्मा-ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञानी एक भी उस कन्याका पाणिग्रहण कर ले; तब उसका वही ब्राह्मण एक पति माना जावेगा, दूसरे अब्राह्मण नहीं; क्योंकि-वे उस प्रकृत ब्रह्मजायाके अधिकारी नहीं होसकते। जब वह (अ. ५।१७।७में) 'ब्रह्मजाया' कही गई है; तब उस ब्रह्म-जायामें अब्राह्मणोंका अधिकार ही क्या हो ?।

अथवा यहां यह रहस्य है—उक्त मन्त्रमें 'स्त्री' शब्द 'कन्या' वाचक है, जैसे कि-'स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः' (३।४९) 'स्त्रियो-ऽयुग्मासु रात्रिषु' (३।४८) इन मनुपद्योंमें 'स्त्री' शब्द पैदा हुई लड़कीकेलिए कहा गया है। तब यहां भी 'स्त्रियाः'-ब्राह्मण-कन्याके, उत यत् जो कि पूर्वे-विवाहसे पूर्व दश अब्राह्मणाः पतयः—दस ब्राह्मणभिन्न पति हों; यहां पर 'तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः' इस कथनसे नञ्का 'अन्य' अर्थ भी होता है, सो विवाह्यमान-ब्राह्मणसे भिन्न पूर्वके दस देवता पति होते हैं, जब ब्राह्मणका उस स्त्री-कन्याके साथ पाणिग्रहण-पूर्वक विवाह अग्निदेवकी

साक्षीमें होता है, 'ब्रह्मा चेद् हस्तमग्रभीत्' यहां ब्रह्माका अर्थ ब्राह्मण होता है जैसे कि—'समानार्थौ एतौ, ब्रह्मन्शब्दो-ब्राह्मण-शब्दश्च। अतश्च समानार्थौ, एवं ह्याह-कुतो नु चरसि ब्रह्मन्! कुतो नु चरसि ब्राह्मणेति। तत्र द्वयोः समानार्थयोरेकेन विग्रहः' (५।१।१।७) यह महाभाष्यमें लिखा है, स्वा० द० जी ने भी ऋ० भा० भू० के 'वेदसंज्ञाविचार (पृ० ८७)-में ऐसा ही माना है। जब वह ब्राह्मण उस बालिकाका पाणि-ग्रहण करता है, (यहां 'ब्राह्मण' शब्दका कथन 'प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायसे है), तब दस अब्राह्मण—ब्राह्मण-व्यतिरिक्त देवताओंका पतित्व हट जाता है; तब वह पाणिग्रहण वाला ब्राह्मण ही उसका एक पति हो जाता है। यही उसका तात्पर्य एवं रहस्य है।

जैसे वेदमें विवाहसे पूर्व सोम, गन्धर्व, अग्नि यह (ऋ० सं० १०।८५।४०-४१) देवता कन्याके पति-पालक कहे गये हैं, ब्राह्मण पुरुषका उसके साथ विवाह सम्पन्न होने पर क्रमशः उन देवोंका पतित्व हट जाता है, वैसे दस पति भी उक्त मन्त्रमें देवता ही इष्ट हैं। ब्राह्मण-पुरुषके उससे विवाह होने पर उनका पतित्व भी हट जाता है—यह यहां तात्पर्य है; क्योंकि—विवाहमें स्त्रीको देवता ही विवाह करने वाले पाणिग्रहणकर्ता ब्राह्मणको देते हैं; जैसे कि मनुस्मृतिमें भी कहा है—'देव-दत्तां (देवैर्दत्तां) पतिर्भार्यां विन्दते नेच्छयात्मनः' (९।९५)। वेदमें भी कहा है—'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथाऽसः।' यहांपर

वर कन्याका पाणिग्रहण करके अपनेको उस वधूका देवताओं-द्वारा प्रदान कहता है—'भगो, अर्यमा, सविता, पुरन्धिर्मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः' (ऋ० १०।८५।३६)। इस प्रकार पूर्व-मन्त्रमें भी वे दस देवता ही हैं, जिनका सङ्केत अन्य मन्त्रोंमें भी आता है—'दश साकमजायन्त देवाः' 'ये ते आसन् दश जाता देवाः' (अ० ११।१० (८)। १) वे दस देवता सोम-अकूपार-सलिल-मातरिश्वा-मयोभू-अप्-वरुण-मित्र-अग्नि-वनस्पति यह (अथर्व० १५। १७।१-२-५) इन वेद-मन्त्रोंमें कहे गये हैं; अथवा 'इन्द्राग्नी १, द्यावापृथिवी २, मातरिश्वा ३, मित्रावरुणा ४, भगो ५, अश्विनोभा ६। बृहस्पतिः ७ मरुतो ८ ब्रह्म ९ सोमः १०-इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु' (अ० १४।१।५४) यह दश पूर्वके पति हैं देवताओंका पतित्व स्थूल नहीं हुआ करता, किन्तु सूक्ष्म। जैसे कि—'पतिरेक आसीत्' (ऋ० १०।१२१।१) यहां आर्यसमाजिन-कन्याओंका भी हिरण्यगर्भ पति होगा ही, तब वह क्या उनका स्थूल पति होगा? यदि नहीं; तब देवोंके पतित्व-विषयमें भी जान लेना चाहिये! वे भी सूक्ष्म पति होते हैं। तब ब्राह्मणके पाणिग्रहण-पूर्वक विवाहमें उसी ब्राह्मणका उस कन्यामें एक-पतित्व हो जाता है, देवताओंका अब नहीं रहता। तब प्रति-पक्षियोंका इष्ट तात्पर्य निरस्त हो गया। वस्तुतः तो यहां ब्रह्मजाया-बृहस्पतिकी स्त्री ताराका वर्णन है; हमने प्रतिपक्षियोंका इसमें स्वेच्छानुसारी अर्थ देखकर उन्हींकी शैलीसे उसका समाधान किया है।

गुरुकुल कांगड़ीके श्रीधर्मदेवजी विद्यामार्तण्ड (आर्यसमाजी) 'वेदोंका यथार्थ स्वरूप' पृ० ४६०-४६१ में इसका अर्थ विचित्र लिखते हैं। 'ब्रह्मजाया'का वे वेदविद्या अर्थ करते हैं, वे 'उत यत् पतयो दश स्त्रियाः' का अर्थ यह करते हैं—'तपस्वी सच्चा ब्राह्मण ही उस वेदविद्याका सच्चा स्वामी होता है। यदि दस भी अब्राह्मण हों, जिन्होंने परमेश्वर और वेदके स्वरूपको नहीं समझा; तो वे वेदविद्याके पति-सच्चे रक्षक नहीं बन सकते, क्योंकि—वेदविद्याका रहस्य केवल तपस्वी ब्राह्मणके आगे ही खुल सकता है, (पृ० ४६०)। 'ब्राह्मण एव पतिः' ऐसा सच्चा सात्त्विक ब्राह्मण ही वेदविद्याका सच्चा पति वा रक्षक बन सकता है, राजस, तामस गुणयुक्त स्वार्थसम्पन्न क्षत्रिय वैश्य नहीं, (पृ० ४६१) तब इस मन्त्रसे जो श्रीदेहलवी आदि आर्यसमाजी ११ पतियोंका अर्थ करते हैं, वह गलत सिद्ध होगया। यहां श्रीधर्मदेवजीके अनुसार वेद पर क्षत्रिय, वैश्यका भी जब अधिकार न रहा, तब शूद्रान्त्यजोंका वेदाधिकार तो सुतरां हट गया।

पाठकोंके समक्ष हमने उन सब प्रसिद्ध मन्त्रों—'इयं नारी पतिलोकं वृणाना १, उदीर्ष्व नारि! अभि जीवलोकं २, 'इमां त्वमिन्द्र! मीढ्वः' ३, 'अघोरचक्षुः···देवृकामा' ४, 'कुह स्विद् दोषा···विधवेव देवरम्' ५, 'या पूर्वं पतिं वित्त्वा' ६, 'सोमः प्रथमो विविदे' ७, 'उत यत् पतयो दश स्त्रियाः' ८,—का जिनसे विधवाविवाह वा नियोग प्रतिपक्षी लोग निकालते हैं, समाधान कर दिया। प्रतिपक्षी लोग 'उदीर्ष्व नारि!' इस तैत्तिरीयारण्यक

स्थित मन्त्रके 'दिधिषोः-पुनर्विवाहेच्छोः' पदसे श्रीसायणके मतमें विधवाविवाह सिद्ध करते हैं; उसका समाधान हम पृथक् निबन्ध 'सायण और विधवाविवाह'में कर चुके हैं; पाठक वहीं देखें।

अब शेष बच जाता है स्वा. दयानन्दजीका पतिके जीते-जी नियोगका मन्त्र यमयमीसूक्तका 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' इसका भी हम पृथक् निबन्धमें समाधान करते हैं।

(१८) यमयमीसूक्त।

('अन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्')

स्वा. दयानन्दजी तथा उनके अनुयायियोंने 'देवृकामा' आदिमें नियोगको मृत्युके समय माना है। जब उनको कहा जाता है कि—यहाँ मरनेका नाम तो लिखा नहीं है; अतः वह स्त्री पतिके जीवनमें भी 'देवृकामा' हो सकती है; तब वे कहते हैं कि—एक समयमें दो पति नहीं हो सकते; पर वे अब हमारी ही बातको पूरी करके दिखाते हैं, अर्थात् पतिके जीवनमें भी स्त्रीको अन्य पति दिलाते हैं। स्वामीजी प्रश्नोत्तर करते हैं—(प्र०) नियोग मरे पीछे ही होता है, वा जीते पतिके भी? (उ०) जीते भी होता है—'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' (ऋ. १०।१०।१०) जब पति सन्तानोत्पत्तिमें असमर्थ होवे; तब अपनी स्त्रीको आज्ञा देवे कि—हे सुभगे! सौभाग्यकी इच्छा करने हारी स्त्री, तू मुझसे दूसरे पतिकी इच्छा कर, तब स्त्री दूसरेसे नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे। स्त्री भी जब रोगादिसे ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति-

में असमर्थ हो; तब अपने पतिको आज्ञा देवे कि-हे स्वामी, आप सन्तानोत्पत्तिकी इच्छा मुझसे छोड़के किसी दूसरी विधवा-स्त्रीसे नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिये'।

यहाँपर स्वामी श्रुतिसे बलात्कार करते हैं। यहाँपर स्वामीने पहले तीन पादोंको छिपा लिया, वे यह हैं-'आ घा तागच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि। उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे! पतिं मत्' (ऋ. १०।१०।१०) इसका अर्थ यह था कि-यम यमीको कहता है कि-वे युग आगे आवेंगे, जब बहिनें न बहिनों वाला काम भाइयोंसे करेंगी; अतः अब तू दूसरे वृषभ (तेरे मनोरथवृष्टि-कर्ता) के आगे बाहु फैला, मुझसे भिन्न पतिको चाह'। यह 'भाई-बहिनोंका परस्पर विवाह न हो'-इसको बतानेकेलिए आख्यानात्मक सूक्त था, पर प्रतिपक्षी इसका अर्थ बदल देते हैं-वह आगे लिखा जायगा। इस यम-यमी सूक्तके संवादसे वेद भाई-बहनके विवाहका निषेध करता है। यही कारण है कि-हिन्दुधर्ममें भाई-बहनका विवाह जारी न हुआ। यदि यह संवाद न होता, जो यहाँपर भी मुसलमानादि-की भांति भाई-बहनका विवाह प्रवृत्त होगया होता। पर प्रतिपक्षियोंने इसमें पति-पत्नीसंवाद बनाकर भाई-बहनके विवाहकी भूमिका बाँध दी है। विधवाकी देवर-कामुकता कहते हुए यह लोग जनताकी उसमें उदासीनता देखकर प्रवृद्धोत्साह हुए-हुए अब सधवाको भी देवृकामा बनाते हैं। तब इनका 'विवाहमें देवृकामना पतिके मृतकत्वमें होती है' यह बहाना

खतम होगया। वह पतिके जीते जी भी 'देवृ-(द्वितीयवर) कामा' होगई। पतिव्रत-सिद्धान्तमें तो स्त्री परपुरुषसे सम्बन्ध करनेमें सभया रहती थी; पर जब यह लोग परपुरुषकेलिए स्त्रीको प्रोत्साहित करनेमें लगे हैं; इससे स्त्री जानती है कि-परपुरुषकी अङ्क-शायिनी होकर भी मैं धर्मात्मा एवं पतिव्रता हूँ, तब वह निश्शङ्क होकर स्वतन्त्र हो सकती है। नव-नव विषयानन्द चाहनेवाली स्त्रियाँ भी उस समय विचारती हैं कि-परपुरुषसे सम्बन्ध करनेमें सनातनधर्मसे कहा हुआ कोई नरकादि-भय नहीं, बल्कि-कोई नरक भी नहीं। यहीं उल्टा स्वर्ग मिल जाता है, इस प्रकार स्त्रियोंमें व्यभिचार-प्रवृत्ति जारी हो पड़ती है। इसलिए आजकी तथाकथित शिक्षित स्त्रियाँ परपुरुष-सम्बन्धको विनोदमात्र समझती हैं। उसमें वे सनातनधर्मसे दर्शित नरक-भय नहीं मानतीं; क्योंकि-नरकादि प्रतिपक्षियोंने पहले ही उड़ा रखे हैं-इसलिए यह लोग व्यभिचारकी प्रवृद्धिमें सहायक हैं।

वस्तुतः यमयमी-सूक्त भ्रातृ-भगिनी-सूक्त है। यम-यमी एक गर्भमें इकट्ठे पैदा हुए भाई-बहिन थे-यह हम आगे स्पष्ट करेंगे। बहिन यमी अशिक्षिता होनेसे गर्भमें इकट्ठे रहने तथा इकट्ठे पैदा होनेसे परमात्माके द्वारा किये हुए दोनोंके पति-पत्नीत्वको मानकर भाई यमको अपना पति बननेकेलिए कहती है; पर भाई यम शिक्षित होनेसे भाईका बहिनसे विवाह पापजनक मानकर उसे भिन्न पुरुषको पति बनानेकेलिए कहता है-यह वेदमन्त्रोंमें स्पष्ट है; पर प्रतिपक्षी लोग अपने स्वामीकी नाक

रखते हुए बलात् यहाँ पति-पत्नी संवाद बनाते हैं; और इसपर आक्षेप करते हैं कि–'यदि यह भ्रातृ-भगिनीसंवाद होता तो; यम और यमाका संवाद होता, 'यम-यमीका नहीं। 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा॰ ४।१।४८) इस सूत्रसे यमस्य स्त्री यमी–इस अर्थमें ङीष् हुआ करता है।' यह आर्यसमाजके शास्त्रार्थमहारथी श्रीदेहलवीजीका तर्क है।

इसपर जानना चाहिये कि–क्या यमकी भगिनी 'यमा' प्रतिपक्षीने कहीं सुनी है? "'यम' की बहिन 'यमा' होती है, 'यमी' नहीं" इसमें वादीके पास वेदाङ्ग-व्याकरणका क्या प्रमाण है? 'यमी' में 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा॰ ४।१।४८) से ङीष् होता है। इसमें पुंयोग केवल दाम्पत्यरूप ही नहीं; किन्तु जन्यत्वादि भी होता है-यह श्रीहरदत्त आदिने स्वीकृत किया है। यह ठीक भी है। यहाँ पुंयोगसे स्त्रीत्व विवक्षित होनेपर ङीष् कहा गया है, पत्नीत्वमें नहीं, क्योंकि–यहां 'स्त्री' शब्द सामान्य है। तब 'यमी' में पुं (भ्रातृ) योगसे स्त्रीलिङ्गमें आनेसे ङीष् (४।१।४८) होता है। तब भ्राताके योगसे स्त्रीत्व होनेसे भी 'पुंयोगादाख्यायाम्' यह ङीष् होता ही है। इससे हमारे पक्षको प्रतिपक्षी काट नहीं सकता। कृप-कृपी क्या भाई-बहिन नहीं थे? इसमें महाभारत देखिये। वहाँ भी यही ङीष् होता है। तब कृपी कृपकी बहिन थी वा पत्नी? इसमें महाभारत देखिये—क्या कृपीको प्रतिपक्षी कृपकी पत्नी सिद्ध कर सकता है? कृपी कृपाचार्यकी बहिन थी; पत्नी तो वह द्रोणाचार्यकी थी। तब

कृप की बहिन 'कृपी' थी वा 'कृपा' थी–यह प्रतिपक्षी बतावे? रेवतकी लड़की 'रेवती' थी, पत्नी नहीं, देखो देवीभागवत (७।७।४४,४६,८–१७) श्याल-श्याली क्या आपसमें भाई-बहन होते हैं; वा पति-पत्नी? यदि भाई-बहन; तो प्रतिपक्षीके अनुसार 'श्यालः-श्याला' क्यों नहीं होता? केकय-केकयी (केकयकी लड़की) यह कैसे होता है?।

वैदिक यन्त्रालय-अजमेरमें प्रकाशित मूल ऋग्वेदसंहितामें इस यम-यमी-सूक्तके ऋषि-देवता 'वैवस्वती यमी, तथा 'वैवस्वतो यमः' कहे गये हैं। विवस्वान्की पुत्री यमी, और विवस्वान्का पुत्र 'यम' था। तब एक पिता वाले-यम-यमीका आपसमें भाई-बहन-पना होगा, वा पति-पत्नीत्व? यह प्रतिपक्षीको सोचना चाहिये। निरुक्तमें भी इस विषयमें लिखा गया है—

'त्वाष्ट्री सरण्यूः विवस्वत आदित्याद् यमौ मिथुनौ [यमं च यमीं च] जनयाञ्चकार'। (१२।१०।२) यहां विवस्वान्से यम और यमीका इकट्ठा पैदा होना कहा है। क्या यह पति-पत्नी इकट्ठे ही पैदा किये गये? यदि इन्हें स्त्रीप्रत्ययवश पति-पत्नी माना जावे; तो कुमारः–कुमारी, पुत्रः–पुत्री यह भी क्या पति-पत्नी माने जावेंगे?। देवकः-देवकी (देवकपुत्री) रेवतः-रेवती (रेवत-पुत्री) क्या यह पिता-पुत्री भी दम्पती होजाएंगे? यम-यमी, कृप-कृपी, श्याल-श्याली आदि भाई-बहन हैं। देवक-देवकी, रेवत-रेवती आदि पिता-पुत्री हैं।

जहां यम-यमीका भाई-बहिनपना वेदकी ऋष्यादि-अनु-

क्रमणिकासे, व्यवहारसे, व्याकरणसे, इतिहास-पुराणसे, तथा निरुक्तादिसे सिद्ध है, वहां इस पक्षमें वेदका भी अनुग्रह है। जैसे कि—'असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यत् शयीय' (अ. १८।१।१४) यहां यम अपना पतित्व प्रार्थित कर रही बहिन यमीके प्रति खेद प्रकाशित करता है कि-भ्राताऽहं यमः मैं भ्राता यम, स्वसुः-बहिन तुझ यमीकी, शयने यत् शयीय—शय्यामें जो सोऊं, एतद् मे मनसो हृदो असंयत्'—यह मेरे मन एवं हृदयके प्रतिकूल है। 'न ते भ्राता सुभगे! (भगिनि!) वष्टि एतत्' (ऋ. १०।१०।१२) हे बहिन यमि! तेरा भ्राता यह नहीं चाहता। 'पापमाहुर्यः [भ्राता] स्वसारं [भगिनीं] निगच्छात्' (ऋ. १०।१०।१२) जो भ्राता भगिनीगमन करता है, उसे पापी कहते हैं। इत्यादि मन्त्रोंमें यमी यमकी बहिन सिद्ध होती है; तब यहां यम वृद्धता वा नपुंसकतादिके कारण सन्तानोत्पत्तिमें, असमर्थ होनेसे उसका गमन निषिद्ध नहीं कर रहा; किन्तु भ्राता होनेसे भगिनी-गमनके पाप होनेके कारण वैसा निषेध करता है। यहां यह आक्षेप करना कि-'बहिन भाईसे कहे कि-तुम मेरे पति बन जाओ, वेदशास्त्र, स्मृति, इतिहासादिके प्रतिकूल है-अतः यहां बहिन-भाईका ऐसा संवाद सर्वथा अयुक्त है'—यह प्रतिपक्षीका कहना ही अयुक्त है। यहां तो वेदने ही एक घरमें रहनेवाले भाई-बहन कहीं आपसमें मैथुनमें वा विवाहमें प्रवृत्त न हो जावें-वहाँ रोकनेकेलिए ऐसा संवाद उपस्थित किया है। यदि यह संवाद वेदमें न होता; तो आज भाई-बहिनोंके विवाह हो

रहे होते। हमारी ही देखादेखी मुसलमान भी बहिनसे बचे; शेष हमारी बहिनकी सीमा अधिक थी; पर मुसलमान लोगोंने चाचा-मामाकी लड़कीको बहिन न समझा। फलतः जब भाई-बहनके संयोगके निषेधमें कोई आख्यायिका उपस्थित करनी हो; तो वहां भाई वा बहिन एकके मुखसे उसकी संयोगकी इच्छा बतानी ही पड़ेगी-और दूसरेको उसका निषेध करना ही पड़ेगा। जैसे-मद्यपानके निषेधकी आख्यायिका बतानी हो; तो एकको शराब पीनेके गुण बताने ही पड़ेंगे। इससे वेदकी शानमें कोई बट्टा नहीं लग जाता। लोग उसका निषेधक तात्पर्य स्वयं समझ जाते हैं। 'जायेव पत्ये' (ऋ. १०।१०।७) यह प्रकृत सूक्तमें कही उपमा भी यम-यमीके दम्पतिभावको निराकृत करती है; क्योंकि-'साधर्म्यमुपमा भेदे' इस नियमसे उपमान उपमेयसे भिन्न हुआ करता है। यदि दोनों पति-पत्नी होते; तो यमी अपने लिए यह उपमा न देती। इससे प्रतिपक्षियोंका यम-यमीको पति-पत्नी बताना निरस्त हो जाता है।

यम कहता है-'अन्येन मद् आहनः! याहि' (अ. १८।१।१६) अर्थात् तू मुझ भ्रातासे भिन्नसे सम्बन्ध कर। तब यमी कहती है—'बतो बतासि यम! नैव ते मनो हृदयं च अविदाम। अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजातै लिबुजेव वृक्षम्' (अ. १८।१।१५) 'अन्य स्त्री तेरा आलिङ्गन करेगी, क्योंकि-तू मेरे साथ विवाह नहीं करना चाहता; आज तक मैं तेरे मनको न जान सकी'। यदि यम वृद्धत्वादिसे अशक्त होता; तो यमी उसका

अन्य स्त्रीसे संयोग कैसे दिखलाती ? जो पति उसकी कामपूर्ति नहीं कर सकता—यह वह जानती है, तो वह असमर्थ वृद्ध अन्य स्त्रीकी कामपूर्ति कैसे कर सकता है; जिसके लिए वह उसकी अशक्ति जानती हुई भी उसे कह रही है—यह प्रतिपक्षी लोग नहीं सोचते।

यदि यम यमीका पति है; तो वह उसका 'यम' यह नाम क्यों कहती है ? निरुक्तकार भी इसे भ्रातृ-भगिनी संवाद मानते हैं। जैसेकि—'यमी यमं चकमे, तां प्रत्याचचक्षे' अर्थात् यमीने गर्भमें सह निवासवश उसे पति मानकर उसकी कामना की; पर यमने यमीका वचन तिरस्कृत कर दिया, नहीं माना। यदि वह उसका वृद्ध पति होता, तब वह उसकी कामना ही न करती। पहले कहे हुए 'त्वाष्ट्री विवस्वतः यमौ मिथुनौ [यमं च यमीं च] जनयांचकार' इस निरुक्तके प्रमाणसे दोनों भाई-बहन हैं, एक दूसरेको जाननेवाले हैं—यह पहले हम बता चुके हैं। अनुक्रमणिकाने भी इनका मिथुनत्व (एक गर्भसे इकट्ठा पैदा होना) स्पष्ट बताया है। इसलिए इकट्ठी हुई सन्तानोंको आज भी 'यम', वा 'यमज' कहा जाता है। तब क्या पति-पत्नी गर्भमें इकट्ठे निषिक्त होते हैं ? वह यमी तो दोनोंके इकट्ठे गर्भ-निवाससे ही ब्रह्मा द्वारा अपना पति-पत्नीभाव बताया हुआ मानकर उसे विवाहार्थ कहती है—'गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्_ देवः' (अ. १८।१।५) तो क्या वादी लोग पति-पत्नीका समानवयस्कतामें ही विवाह मानते हैं ? तब निरुक्तानुसार भी उनकी भाई-बहिन वाली व्याख्या वास्तविक है। नहीं तो यदि यम वृद्ध-पति होनेसे यमी-

पत्नीकी कामपूर्ति नहीं कर सकता; तब 'यमी यमं चकमे' यहाँ निरुक्तने यमीकी यम-कामना कैसे दिखलाई ? प्रतिदिन उसके साथ रहनेवाली यमी-पत्नी उस वृद्ध-पतिकी कामना कैसे कर सकती थी ? क्या वह उसकी अङ्कशायिनी स्त्री होती हुई भी उसका वार्धक्य नहीं जानती थी ? तो क्या वह वृद्धपतिसे व्याही थी, और यह उसकी कामना की पहली रात्रि थी कि—उसको पतिकी वास्तविकताका पता नहीं था ? क्या वेद प्रतिपक्षियोंके अनुसार वृद्ध-विवाहका भी आदेश देता है ?

'आ घा ता गच्छान् उत्तरा युगानि'का प्रतिपक्षी लोग इस प्रकार अर्थ करते हैं—'ऐसे समय आजावेंगे, अथवा निस्सन्देह यदि ऐसे समय आजावें, जबकि—कुलवधुएं अजामि-कुलवधुओंके अयोग्य कर्म करने लगें; तो [पति कहे] वीर्य सेचनमें समर्थ पुरुषकेलिए बाहु बढाओ; और हे सुभगे ! मुझसे अन्य पतिकी इच्छा करो' (श्रीरामचन्द्र देहलवी) इस प्रतिपक्षिप्रोक्त अर्थमें वृद्धत्वादि कारण नहीं दिखलाया; तब यह स्त्रियोंकेलिए व्यभिचारका स्पष्ट प्रोत्साहन है।

हम इस सूक्तके पूर्वापर-प्रकरणके सामञ्जस्यसे भाई-बहनका संवाद सिद्ध कर चुके हैं; तब पति-पत्नी अर्थ सर्वथा अशुद्ध सिद्ध है। यह प्रतिपक्षियोंका स्पष्ट छल है। इस दशम-मन्त्रका ऋषि (वक्ता) वैवस्वत (विवस्वान्का पुत्र) यम है; और देवता (प्रोच्यमाना) वैवस्वती (विवस्वान्की पुत्री यमी) है। तब एक विवस्वान्की पुत्र-पुत्री होनेसे दोनों भाई-बहन हुए। एक पितासे

कभी पति-पत्नी इकट्ठे पैदा नहीं होते। अन्य अर्थ करनेमें 'वैवस्वत' यह यम-यमीका विशेषण व्यर्थ रहता है। जब उक्त दशम मन्त्रका ऋषि-वक्ता यम है, और यमी श्रोता है; तो प्रष्टव्य यह है कि-इस दशम सारे मन्त्रका वक्ता यम है; अथवा केवल उत्तरार्धका ही वक्ता यम है ? यदि यम उत्तरार्धका ही ऋषि है; तो पूर्वार्धका ऋषि यमसे भिन्न अन्य होना चाहिये। पर अनुक्रमणिकामें ऐसा नहीं है। यम-यमीसे भिन्न इन मन्त्रोंका अन्य कोई ऋषि-देवता नहीं बताया गया। इसे अजमेर वैदिक यन्त्रालयके मूल ऋग्वेद सं.में देख लिया जा सकता है। तब 'आ घा-ता'से ही यम वक्ता है; उत्तरार्धसे नहीं।

इसका अर्थ निरुक्तकारने इस प्रकार किया है-'आगमिष्यन्ति तानि उत्तराणि युगानि, यत्र जामयः करिष्यन्ति अजामि-कर्माणि' (४।२०।१) यह पूर्व कहे हुए प्रकारसे यमका ही वाक्य है। इसमें दुर्गाचार्यने लिखा-है—'जामि इत्येतद् भगिनी, बालिशः, पुनरुक्तं च-अस्याभिधानानि। प्रकरणादेव एतेषाम् अन्यतमम् अस्मिन् अवतिष्ठते। यथाऽनेन तावद् भगिनी उच्यते, तथा इदमुदाहरणम्'। इससे स्पष्ट है कि-यहां 'जामि' बहनके अर्थमें है। इसलिए निरुक्तमें 'न जामये तान्वो रिक्थमारैक्' इस मन्त्रके अर्थमें निरुक्तकारने लिखा है-'जामये-भगिन्यै। जामिः-अन्ये अस्यां जनयन्ति जाम्-अपत्यं [न तु स्वकीयभ्रातृपित्रादयः], चकार एनां [जामिं] गर्भनिधानीं हस्तग्राहस्य [भाई अपनी पत्नीको दूसरेको पाणिग्रहणार्थ नहीं देता, किन्तु बहिनको ही देता है]'

(३।६।१) इस प्रकार निरुक्तने वेदमें 'जामि'का अर्थ 'बहन' स्वीकार किया है, इसी प्रकार ऋ.(८।१०२।१३ मन्त्र)के भाष्यमें श्रीसायणाचार्यने लिखा है-'जामयः-स्वसारः'। निघण्टु और वेदमें अङ्गुलियोंका नाम 'जामि' इसीलिए है कि-वे एक हाथसे उत्पन्न होनेसे आपसमें बहिनें होती हैं। इसी कारण वेदमें 'बहिन' वाचक 'स्वसृ' शब्द भी 'जामि'के साथ दिखाई पड़ता है, जैसे कि-'जामिवद् भगिनीवद्' (ऋ. १०।२३।७) जैसे कि अथर्व० सं०में 'कीर्तिं च यशाश्च' (६।६+३।३५)। जैसे कि-'मनसो हृदो मे' (अ. १८।१।१४) यहां मनः-और हृद् दोनों कहे हैं। इसके अतिरिक्त यहां वक्ता वैवस्वत भाई है; तब यहां 'जामि'का अर्थ 'बहिन' ही प्राकरणिक है। 'अजामि-कर्म'का अर्थ 'अभगिनी-कर्म' है, जिसका तात्पर्य है-'भ्रातृगमन'। अर्थात् 'वे युग आगे आवेंगे, अर्थात् कलियुगकी तीव्रतामें; जब बहनें भाइयोंसे न भाइयोंवाले कर्म करेंगी। पर अब वह समय नहीं; इस कारण हे बहिन ! तुम मुझे पति न चाहकर अन्य पतिको ही चाहो'। यह भ्राता यम, यमीको कह रहा है; तब इस प्राकरणिक-अर्थको छोड़कर अपने मनः कल्पित अर्थको करना-यह प्रतिपक्षियोंका दुस्साहस है। इसीलिए यमी यमके भगिनीत्वको न चाहती हुई कहती है-'यमीर्यमस्य विवृहाद् अजामि' (अ. १८।१।१०) अर्थात् यमी यमके अभगिनीत्व अर्थात् पत्नीत्वको धारण करे'। इससे इस मन्त्रमें 'जामि' यह बहनका नाम है, स्त्रीका नहीं-यह स्पष्ट है।

अब प्रतिपक्षीके पक्षमें यह अनुपपत्तियाँ आती हैं—। जब कि 'आ घा ता गच्छान्' यह यमका वाक्य है; तब ऐसे समय आजाएंगे-इसे प्रतिपक्षीने स्वतन्त्र वाक्य कैसे माना ? और फिर 'यदि ऐसे समय आजावें' यहां प्रतिपक्षीने 'यदि' शब्द वेदमें प्रक्षिप्त कैसे किया ? 'यदि'की आकांक्षा पूर्ण करनेवाला 'तो' यह शब्द वादी मन्त्रके किस पदके अर्थमें लाया ?। 'ऐसे समय आजावेंगे' यह अर्थ पहले करके फिर इससे भिन्न 'यदि ऐसे समय आजावें' यह अर्थ वादीने कैसे किया ?' पूर्व अर्थ और इस अर्थकी की सङ्गति कैसे ?। निरुक्तके अनुसार किये हुए 'आगमिष्यन्ति' इस अर्थको छोड़कर 'आजावें' यह अर्थ वादीने कैसे किया ?

'जबकि कुलवधुएं कुलवधुओंके अयोग्य कर्म करने लगें' वादीके मतमें यह किसका वचन है ? जबकि—यहां यम सारे मन्त्रका ऋषि है, तब इस अंशका वक्ता भी यम ही होगा; तब यहां वादी कैसे सङ्गति लगाएगा ?' उत्तरार्धमें '(पति कहे)' यह वाक्य उसने मन्त्रार्थमें प्रक्षिप्त कैसे किया ? यह वहांके किस पदका अर्थ है ? क्या यह वेदपर आक्रमण नहीं ? जब यहां यम-यमी दोनों वैवस्वत–विवस्वान् (सूर्य)के लड़का-लड़की अतएव भाई-बहन हैं; तब यहां यही अर्थ हुआ कि—ऐ बहिन ! यमि ! तू बहिन जो मुझ भाईसे उपगमन करना चाहती है [यह पूर्वोत्तर मन्त्रोंमें प्रकृत है] जब जामयः—बहिनें अजामि-बहिनके अयोग्य-भ्रातासे मैथुन आदि कार्य, कृणवन्—करेंगी, तानि

युगानि उत्तरा आगच्छान्—वे युग आगे आवेंगे, अर्थात् कलियुगकी पूर्णतामें आवेंगे; अब वह कुत्सित काल नहीं। हे सुभगे-भगिनि ! ['भग' शब्द दोनों स्थान समानार्थक है] मद् अन्यं-मुझ भ्राता यमसे भिन्नको पतिमिच्छस्व-पति बनाना चाह, मुझ भ्राताको अपना पति बनाना न चाह।

यमी जो कि—यमको पति बनाना चाहती थी; यमने उसे पति बनानेकेलिए अपना निषेध करके दूसरेको पति बनानेकेलिए प्रेरणा की, क्योंकि—यह वाक्य भ्राता-यमका है—'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्' (जो भ्राता भगिनी-गमन करना चाहता है; उसे पापी कहा जाता है। इसलिए—) 'न ते भ्राता सुभगे ! वष्टि एतत्' (ऋ॰ १०।१०।१२)—(ऐ बहिन ! तेरा भाई यम यह—भगिनीके साथ मैथुन-सम्बन्ध नहीं चाहता)। 'असंयदेतत् (प्रतिकूलं) मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः (भगिन्याः) शयने यत् शयीय' (अ॰ १८।१।१४) यह संवाद वेदने 'भ्राता बहिनोंसे मैथुन-सम्बन्ध न करें' इस निषेधकेलिए यम-यमीकी आख्यायिका-द्वारा उपनिबद्ध किया। यहाँपर भ्रातृ, भगिनी, स्वसा आदि शब्द आये हैं, पति-पत्नी आदि शब्द नहीं। जहाँ 'पति' शब्द कहा है; वहाँ 'पतिः सन् त्वं' इस प्रकार पति होनेकेलिए प्रेरणा है। पति होनेपर ऐसी प्रेरणा व्यर्थ होती; तब यहाँ यम-यमीका भाई-बहिन होना स्पष्ट है। तब जो कई व्यक्ति कहते हैं कि—"इसमें 'अन्यपति' यह शब्द विचारणीय है। जब वह स्वयं पति नहीं है, अर्थात् पहला भी पति नहीं है, तो दूसरा

पति किस प्रकार कहा जा सकता है ? जो मनुष्य अपने आपको पति मानता है, वही यह कह सकता है कि-उससे दूसरे पतिकी इच्छा कर। जब पहला ही पति नहीं, तो दूसरा कैसा ?" यह बात खण्डित होगई। जब यमी उसे पति बनाना चाहती है; तब यम अपना पति बनना निषिद्ध करके दूसरेको पति बनानेकेलिए कहता है कि-हे सुभगे-बहिन ! मत्-मुझ भाईको पति बनाना छोड़कर [यहाँ पर 'ल्यप्-लोपे कर्मण्यधिकरणे च' (वा. १।४।३१) से पञ्चमी है] अन्यं पतिम्-भ्रातासे भिन्न पतिको इच्छस्व-चाह। यहाँ स्पष्टता है; अतः वादीका यह तर्काभास खण्डित होगया।

जो कि वादी कहता है-'यदि ऐसे समय आ जाएँ जबकि-कुलवधुएँ कुलवधुओंके अयोग्य कर्म करने लगें' यहाँ कुलवधुएँ कुलवधूके अयोग्य क्या कार्य करने लगेंगी-यह प्रतिपक्षीने नहीं कहा; तो क्या परपुरुषसे मैथुन ही यहां कुलवधूके अयोग्य कर्म इष्ट है ? यदि ऐसा है; तो फिर पति परपुरुषके पास भेजकर उसे क्या 'अकुलवधू'-वेश्या बनाना चाहता है ? तब क्या कुलवधूका कुलवधूसे अयोग्य कर्म—परपुरुषसे सम्बन्ध वेदको इष्ट है ? यदि इष्ट है; तो वह फिर उस कुलवधूको परपुरुषके पास भेजनेकी व्यर्थता क्यों करता है, उसका वह परपुरुषसे सम्बन्ध तो पूर्वसे हो रहा है। प्रतिपक्षी कहता है-'जबकि कुलवधुएँ कुलवधुओंके अयोग्य कर्म करने लगें' तो उस कर्मको वे गुप्तरूपसे करेंगी, या पतिके सामने ? यदि गुप्तरूपसे; तो पति कैसे जानेगा ? यदि पतिके सामने; तो क्या पति उस अयोग्य कर्म करनेवालीको बिना ही दण्डके पर-पुरुषकेलिए अनुज्ञा देगा ? उसमें तो व्यर्थता हुई। यदि पतिके सामने ही वह पर-पुरुषके साथ लगी हुई है; तब वहाँ पतिकी सम्मति स्वतः सिद्ध हुई; तब अलगका नियोग क्या ? यदि उस कुलवधूमें दूसरे पुरुषसे वीर्य-सेचन हो रहा है; तब पति फिर उसे दूसरेसे तीसरे पुरुषके पास क्यों भेजता है ? वह जिससे लगी है, उसकी क्या उसमें वीर्य-सेचनमें सामर्थ्य नहीं है ? क्या वह दूसरा भी नपुंसक है ?। पति स्वयं उस अपनी पत्नीमें वीर्य-सेचन क्यों नहीं करता ? यदि वृद्ध होनेसे नहीं कर सकता; तो क्या वेदने यहाँ वृद्धका युवतिसे विवाह कराया है ? तब वैदिकम्मन्य प्रतिपक्षीको भी क्या वेदानुसार वृद्ध-विवाह इष्ट है ? यदि नहीं; तो प्रतिपक्षी अपने आपको वैदिक कैसे मानता है ? वेदने तो वृद्ध-विवाह अनुज्ञात कर ही दिया था।

इसी मन्त्रके अर्थमें वादीके आचार्यने लिखा है कि-'स्त्री भी...अपने पतिको आज्ञा देवे—हे स्वामी ! आप सन्तानोत्पत्तिकी इच्छा मुझसे छोड़के किसी दूसरी विधवा-स्त्रीसे सन्तानोत्पत्ति कीजिये ?' (स. प्र. पृ. ७३) यह अर्थ मन्त्रके किन पदोंका है ? वह तो सधवा दूसरे पुरुषके साथ सम्भोग करे; पर स्वामीको किसी सधवाके साथ सम्भोगार्थ आज्ञा क्यों नहीं दी ? उसे विधवा क्यों ? वह क्या विधुर है ? क्या पत्नी भी पतिको आज्ञा देनेमें अधिकृत है ?।

इस मन्त्रमें यह प्रष्टव्य है कि-प्रतिपक्षीके अनुसार जो कि

वेद अन्य पतिकी इच्छाकेलिए प्रेरित करता है; वह विवाहसे वा नियोगसे ? यहाँ तो न नियोगका नाम कहा है, न विवाहका ही। यदि वादी कहे कि-यहाँ विवाह है; तो क्या सधवाविवाह भी वादीके अनुसार वेदसम्मत है ? यदि वह कहे कि-यहाँ नियोग है; तो नियोगमें तो वीर्यसेक्ता पति नहीं बनता; क्योंकि-वह उसकी (पाति-रक्षतीति पतिः) रक्षा नहीं करता; किन्तु वीर्य-निषेक करके उसी समय चला जाता है; तो उसे यहाँ पति कैसे कहा ? इसके अतिरिक्त यमका वृद्धत्व आदिसे असामर्थ्य उक्त मन्त्रके पूर्वोत्तर-मन्त्रोंमें कहे हुए यमीके वाक्यसे भी विरुद्ध पड़ता है कि-'अन्या किल त्वां...परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्' (१०।१०।१३) जब वह वृद्ध अपने आपको मैथुनमें असमर्थ जानता है; तब उसकी पत्नी तो उसे मैथुनमें असमर्थ विशेषरूपसे जानती होगी; तभी तो वह परपुरुषसे कुलवधूत्वके अयोग्य कर्मको करनेमें प्रवृत्त होगई; तब वह उस वृद्ध वा नपुंसकको 'दूसरी स्त्री आपसे मैथुन करेगी' यह कैसे कह सकती है-यह वादी नहीं विचारते, इससे उनका अर्थ खण्डित हो रहा है। वह यह जानती हुई भी फिर उसे 'सख्या (सख्य-सम्भोगकेलिए) वावृत्याम्' (ऋ० १०।१०।१) 'पतिः [सन्] तन्वम् आविविश्याः' (मुझसे सम्भोग कर) (१०।१०।३) 'समाने योनौ सहशेय्याय' (समान शय्यामें इकट्ठे सोवो) (७) 'तन्वा मे तन्वं संपिपृग्धि' (मुझसे सम्भोग कर) (११) यह कैसे कहती है ? इस प्रकार फिर-फिर सम्भोगार्थं प्रेरणा स्वा० दयानन्दसम्मत उसकी

वार्धक्यादिवश अशक्तिका खण्डन कर रही है; किन्तु समर्थ भी यम भाई होनेसे उसको निषेध करता है—यह वेदका अभिप्राय है।

'किं भ्राताऽसद् यद् अनाथं भवति [स्वस्रादिकं], किमु स्वसा [भगिनी, यस्यां सत्यां भ्रातरं] निर्ऋतिः [दुःखं] निगच्छात्' (वह भ्राता क्या हुआ, जोकि उसके होनेपर वहिन दुःखी हो, वह वहिन क्या, जिसके होनेपर भी भाईको दुःख हो) (१०।१०।११) इस यमीके वाक्यसे तथा 'न वा उ ते तन्वं संपिपृच्यां पापमाहुर्यः [भ्राता] स्वसारं [भगिनीं] नि गच्छात्। ... अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व, न ते भ्राता सुभगे ! वष्ट्येतत्' (१०।१०।१२) [मैं तुझसे संगम नहीं करूँगा, जो भाई भगिनी-गमन करता है, उसे पापी कहते हैं। तू मुझसे अन्यसे रंग-रेलियाँ मना (विवाह कर), तेरा भ्राता यह नहीं चाहता) इस यमके वाक्यसे दोनोंका वहिन-भाई होना प्रत्यक्ष-सिद्ध है। यदि वह वृद्ध होनेसे उसमें शुक्र-निषेकमें असमर्थ था; तो 'अहं ते तन्वा तन्वं न संपिपृच्याम्, हे सुभगे ! तव भ्राता एतद् न वष्टि' यह यम न कहता। यह तो रेतःसेचन-सामर्थ्य होनेपर भी वहिन होनेसे 'पापमाहुर्यः स्वसारं' इत्यादि वाक्योंसे पाप मानकर ही यमने अनिच्छा बताई, असामर्थ्यसे नहीं। और वह भी पतिकी नपुंसकता-मूलक असमर्थता जानती हुई उस पतिको पूर्वोक्त-वचन न कहती; यह परम स्पष्ट है। यम भी उसे भ्रातासे भिन्न पुरुषसे संयोगार्थ कहता है—'यमि ! अन्य उ त्वां

परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्' (१४) यमी भी उसे वैसा ही कहती है—'अन्या किल त्वां...परिष्वजाते लिबुजेव (लतेव) वृक्षम्' (१३) दोनों स्थान अर्थ समान है।

इससे स्पष्ट सिद्ध हो रहा है कि-दोनों ही मैथुनमें समर्थ थे; परन्तु यमी तो अपने और यमको गर्भमें इकट्ठा निवास होनेसे (१०।१०।५) दम्पति दिखलाती है; परन्तु यम विद्वान् होनेसे भाई-बहनके संयोगमें पाप बताता है। इससे उसकी बहिन यमी अविदुषी, न पढ़ी-लिखी, मुग्धा और एतद्विषयक ज्ञानसे हीन दिखलाई गई है। वह अविदुषी होनेसे दोनोंका समान-गर्भमें निवासवश ही दोनोंको पति-पत्नी समझती है; पर विद्वान् भाई यमने उसके अज्ञानको दिखलाकर उसका प्रत्याख्यान कर दिया।

यह इसमें नहीं कहा जा सकता कि-"मुसलमान भी चाचे-मामेकी लड़की लेते हुए भी बहिनको बचाते हैं; वेदमें बहिनके विषयमें ऐसा कैसे आवे"; वेदको सर्वादिम माना जाता है। उसीने हमें सबसे पूर्व कर्तव्याकर्तव्य बतलाना है। जैसे सनातनधर्मसभा आदिके नगर-कीर्तनोंमें दो लड़के परस्पर कवितामें संवाद करते हुए ठहरते हैं; एक गिलासमें पानी डाल-कर उसे शराब बतलाता हुआ उसे पीता है, उसके स्वादका बखान करता है, उसके लाभ बताता है; और दूसरा शराबके दोष बताकर उसकी निन्दा करता है; तब वह दूसरेकी की हुई निन्दासे प्रभावित होकर स्वयं भी शराबके न पीनेकी प्रतिज्ञा

करता है, बल्कि-उस शीशेके गिलासको भी सबके सामने गिराकर तोड़ दिया करता है, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि-पहला लड़का सचमुच शराब पीता था। यह तो केवल लोगोंको शराबकी बुराई बतलानेकेलिए यह नाटक रचा जाता है, वैसे वेदकी तथा तदनुगामी पुराणादि-शास्त्रोंकी यह शैली होती है कि-कोई कल्पित वा परम्परासे आई हुई आख्यायिका-को उपस्थित करके स्वाभिमत-सिद्धान्तको उत्तरपक्षमें कर दिया जाता है। इसीको निरुक्तकारने कहा है-'ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीति-र्भवति आख्यानयुक्ता' (१०।१०।२) अर्थात् दृष्टार्थ-सिद्धान्ताभिज्ञ ऋषि (वेदादि) की किसी अर्थकी सिद्ध्यर्थ उपाख्यानके कहनेमें प्रीति अर्थात् रुचि हुआ करती है; पुराण-इतिहासमें सारा यही तो प्रकार है। इसीका नाम भूतार्थवाद हुआ करता है; तब इस यम-यमीके आख्यान (भूतार्थवाद) से 'भ्रातृ-भगिनीका परस्परविवाह न हो' यह सिद्धान्तित किया गया है; तब प्रति-पक्षियोंका पूर्वोक्त उपालम्भ निस्सार हो जाता है; तथा पूर्व बतलाये गये पूर्वोत्तर-प्रकरणसे वादीका अर्थ भी निरस्त होगया।

इस सूक्तसे वेदने एक ढंगसे भाई-बहिनके विवाहका निषेध कर दिया है-यह तात्पर्य है। 'जायेव पत्ये' (१०।१०।७) यह उपमा भी यम-यमीका पति-पत्नीत्व काट रही है-यह हम पूर्व बता चुके हैं। इसी प्रकार पति-पत्नी होनेपर वह 'पतिस्तन्वमा-विविश्याः' (१०।१०।३) 'भ्राता तू पति बनकर मुझसे सम्भोग कर' यह यमी न कहती। इससे यमका भाई होना स्पष्ट है,

पति होनेपर फिर 'पतिः' कहना व्यर्थ था।

प्रतिपक्षीगण अपने साम्प्रदायिक-सिद्धान्तके साधनमें मस्त होकर इस पर ध्यान नहीं देते कि-यदि पति यम वृद्ध और इसीसे असमर्थ होता और इसी कारण अपनी युवति-स्त्रीकी कामपूर्तिके योग्य अपने आपको न समझता; तो यह बात वह इतनी न जान सकता, जितनी कि उसकी पत्नी। क्योंकि-वह वृद्ध भी क्यों न हो; वह उसके अङ्गमें शुक्रका सेचन तो कर ही सकता है; शुक्रोत्सर्गसे उसे थोड़ा-बहुत आनन्द भी हो सकता है, परन्तु उसके शीघ्र-पतनवश उसके द्वारा उसकी युवति-पत्नीको आनन्द नहीं आ सकता। तब जब उसकी स्त्री उसके संयोगके अनुभवसे यह जानती है कि-इसके मैथुनसे मुझे आनन्द नहीं आता, तब इस अनुभव वाली भी वह उसे पुनः-पुनः क्यों कहे कि-'पतिः तन्वमाविविश्याः' (अ. १८।१।३) '[भवान्] आदधीत' (१) 'तन्वं रिरिच्यां' (८) 'विवृहाद् अजामि (अभगिनीत्वम्)' (१०) 'काममूता बहु एतद् र (ल)-पामि; तन्वा मे तन्वं संपिपृग्धि' (१२) [अर्थात् तुम मुझसे सङ्गम करो; मैं कामिनी होकर तुम्हें बार-बार कहती हूँ] और यह क्यों कहे—'बतो बतासि यम! नैव ते मनो हृदयं चाऽविदाम' (अ. १८।१।१५) अर्थात् मैं तुम्हें नहीं जान सकी। इत्यादि; इसके उत्तरमें ही यम यह कैसे कहता है—'न ते नाथं (नाथः) यमि! अत्राहमस्मि,...भ्राता [ते अहमस्मि, अतः-] न ते तनूं तन्वः संपिपृच्याम्' (१३) (मैं तेरा नाथ-पति नहीं हूँ, किन्तु भ्राता हूँ; अतः तुमसे संगम नहीं कर सकता]

इस प्रकार पुनः-पुनः यमीके द्वारा मैथुनकी प्रेरणासे यमकी मैथुनमें योग्यता (यौवन) सिद्ध हो रही है; क्योंकि-दोनों ही इकट्ठे पैदा हुए थे-यह वेदमें ही स्पष्ट है—'गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर' [प्रजापतिने गर्भमें ही हमें पति-पत्नी बनाया है]' (ऋ. १०।१०।५, अ. १८।१।५); तब उनमें एक वृद्ध नहीं था, जैसा कि प्रतिपक्षी कहते हैं। देवता उत्पन्न होते हुए ही युवा होते हैं, वे नित्य युवा ही रहते हैं। यम-यमी दोनों देवता थे-यह वेदमें स्पष्ट है; अतः यह वार्धक्यका बहाना निःसार है।

इससे यह भी सिद्ध हो रहा है कि-वह उसे नहीं जानती थी। प्रतिपक्षीके अनुसार यदि यम वृद्ध पति था; तो क्या यमी उससे अभी-अभी व्याही थी कि-वह उसके वृत्तको नहीं जानती थी, और उसको पुनः-पुनः मैथुनार्थ कहती थी? तब क्या वेद वृद्धके साथ भी युवतिका विवाह सिद्धान्तित करता है? यदि वह उससे यौवनमें ही विवाहित हुई; तो उसका पति तो वृद्ध होगया, और वह युवति ही रही-यह कैसे? क्या वह स्वा. दयानन्दके अनुसार ४८ वर्ष ब्रह्मचारी रहा; और क्षत्रिय होनेसे ११ वर्ष उपनयनसे पूर्वकालके थे, इस प्रकार ५९ वर्षके स्वप्नदोष-वाले उसने यमीसे विवाह किया; और वह मैथुन करता हुआ थोड़े ही समयमें नपुंसक होगया? यदि ऐसा है तो यमी उसका वृत्त जानती होगी, तब वह उससे मैथुनार्थ पुनः-पुनः कैसे कहती थी? इसीसे प्रतिपक्षीका यहांका पक्ष बालूकी भित्ति सिद्ध होता है। प्रतिपक्षी, तथा उसका स्वामी तथा उसके सम्प्रदायके व्यक्ति

सभी मिलकर एकमत होकर भगवती-श्रुतिसे बलात्कार करते हैं—यह बहुत लज्जाकी बात है।

यमकी यमी—यहांपर 'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा. ४।१।४८) इस सूत्रसे ङीष् प्रत्यय होता है। इसका अर्थ यह है—'पुंयोगाद् हेतोर्यत् प्रातिपदिकं स्त्रियां वर्तते पुंस आख्याभूतम्; तस्माद् ङीष् प्रत्ययो भवति' (काशिका) 'या' पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते, ततो ङीष् (सिद्धान्त-कौमुदी)। 'स्त्रीलिङ्गमें वर्तमान पुरुषके योग कहनेमें प्रातिपदिकोंसे ङीष् प्रत्यय हो' (स्त्रैणतद्धितमें स्वा. दयानन्द)'। 'पुंसा योगः पुंयोगः, तस्माद्धेतोर्यत् प्रातिपदिकं स्त्रियां वर्तते, ततो ङीष् भवति' (कैयटः)। यहां पति-पत्नीभाव नहीं कहा गया, किन्तु पुंलिङ्ग-शब्दके योगसे स्त्रीलिङ्ग विवक्षित होनेपर ङीष् कहा गया है। जैसे कि आर्यसमाजिधुर्य श्रीब्रह्मदत्तजी जिज्ञासुके शिष्य श्रीदेवप्रकाश-पातञ्जलने 'अष्टाध्यायी-प्रकाशिकाके २३३ पृष्ठमें प्रकृत-सूत्रकी व्याख्यामें कहा है—"पुंयोगाद् हेतोर्यत् प्रातिपदिकं स्त्रिया आख्यायां वर्तते, तस्मात् ङीष् प्रत्ययो भवति। पुरुषसे सम्बन्धके कारणसे जो प्रातिपदिक स्त्रीलिङ्गको कहनेमें समर्थ होता है; उस प्रातिपदिकसे ङीष् प्रत्यय होता है"। तब यहां कन्या तथा बहिन एवं पत्नी भी उदाहर्तव्य हो जाती हैं, केवल पत्नी नहीं। इसके वार्तिकका 'गोपालिका' यह शब्द भी गोपालकी बहिन तथा बालिकामें भी प्रयुक्त होता है।

इसका प्रमाण यही है कि—इसी सूत्रका 'सूर्याद् देवतायां

चाप्' यह वार्तिक है। इसका उदाहरण भाष्यकारने लिखा है—'सूर्यस्य स्त्री सूर्या'। यहां भी 'स्त्री'का अर्थ 'पत्नी' नहीं, किन्तु 'स्त्री' ही है। स्त्री शब्द 'पत्नी'का पर्यायवाचक नहीं होता। 'पत्नी पाणिगृहीती च द्वितीया सहधर्मिणी। भार्या जाया' (अमर. २।२।६) इन पत्नीके पर्यायोंमें 'स्त्री' शब्द नहीं बताया गया। तब 'स्त्री' यह सामान्य-शब्द है। जैसे कि-'स्त्री योषिद् बला' (अमर २।२।२) इत्यादि। तब स्त्री 'कन्या' भी हो सकती है; बहिन भी, केवल पत्नी नहीं। वहां प्रकरण देखना पड़ता है। इसलिए मनुस्मृतिमें जातमात्र लड़कीका नाम भी 'स्त्री' (३।४६) लिखा है।

अब वेदमें 'सूर्या' देखनी चाहिये, जिसे वेदाङ्गके अनुसार 'सूर्यस्य स्त्री' कहा गया है, वह वेदमें सूर्यकी पत्नी है, वा लड़की वा बहिन? 'तं वां रथं वयमद्य हुवेम अश्विनौ! यः सूर्यां वहति' (अथर्व० २०।१४३।१) यहां 'सूर्या'का अश्विनोंके रथपर आरोहण बताया गया है। ऋग्वेदसं०में 'युवोः [अश्विनोः] रथं दुहिता सूर्यस्य' (ऋ. १।११७।१३) 'आ वां [अश्विनोः] रथं दुहिता सूर्यस्य' (१।११६।१७) 'सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं सविता [तस्याः पिता सूर्यः] अददात्' (ऋ. १०।८५।९) एतदादिक मन्त्रोंके संवादसे 'सूर्या'-का 'सूर्यस्य दुहिता' यह अर्थ निकला। तब 'पुंयोगाद्' इस सूत्रके वार्तिकसे सिद्ध हुई सूर्यकी स्त्री सूर्या वेदमें 'सूर्यकी पत्नी' नहीं, किन्तु 'सूर्यकी लड़की' सिद्ध हुई।

'यं (गन्धं) संजभ्रुः सूर्याया विवाहे अमर्त्याः' (अ. १२।१।२४)

यहां सूर्याके विवाहमें देवताओंने गन्ध तैयार की-यह कहा है। तो सूर्या यदि सूर्यकी लड़की नहीं है, किन्तु सूर्यकी पत्नी है, तो क्या सूर्यकी पत्नीका विवाह भी फिर हुआ? ऐसा सम्भव नहीं, किसीकी कन्या वा बहिनका तो विवाह होता है, परन्तु किसीकी पत्नीका विवाह नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि-सूर्यकी कन्या भी 'सूर्या' होती है, बहिन भी उसकी 'सूर्या' होती है। तब यम-यमीका भाई-बहिन होना भी उक्त सूक्तसे कभी कट नहीं सकता। तब प्रतिपक्षीका पक्ष कट गया। वेद-मन्त्रोंमें पूर्व कहे प्रकार से भाई-बहन होना स्पष्ट है; तब प्रतिपक्षी तथा उसके स्वामीका जीवित-नियोगपक्ष भी खण्डित होगया।

प्रतिपक्षीके दाम्पत्य-पक्षमें यहां व्यभिचार भी सिद्ध है; क्योंकि यहां केवल दम्पति उपस्थित हैं, कोई सभा नहीं की गई; क्योंकि—'अन्यमिच्छस्व' यह परिवार-जनोंकी अनुपस्थितिमें जिस-किसी भी वीर्यसेचकके ग्रहणमें स्वातन्त्र्य कर दिया गया है। हमारे पक्षमें तो 'अन्यं' से 'भ्रातासे भिन्न गोत्रवाले'का अर्थ है, अतः कोई दोष नहीं। इसमें भ्रातृसम्बन्ध जितनी पीढ़ियों-तक हो सकता है, उसका निषेध भी अन्तर्गर्भित हो गया। यहां वादीके मतमें जिस-किसी भी वृषभ-वीर्यसेचन समर्थके आगे बाहु फैलाना कहा है। उस पुरुषकी आकृतिसे तो वीर्यसेचन-सामर्थ्य नहीं जानी जा सकती; क्योंकि—ऊपरसे युवा दीख रहे हुए भी शीघ्र-पतनवाले हो सकते हैं; तब क्या उस स्त्रीको उसके वृषभत्वकी परीक्षाकी भी आज्ञा मिल जाएगी! इसके अतिरिक्त

उस वृद्धकी स्त्री भी वृद्धकल्प होगी, तब क्या वह अपनी आयुसे छोटे—युवाको ग्रहण करेगी, या अपनी आयुसे अधिक-अपनी पतिकी आयुवालेको? यदि वैसे वृद्धको; तब उसकी वृषभता—वीर्यसेचनसामर्थ्य वह किस ढंगसे जानेगी? हमारे पक्षमें तो 'वृषभ'का अर्थ 'मनोरथोंका वर्षक-पूरक' होगा; उसमें कोई दोष नहीं। फलतः इस यम-यमीसूक्तमें पति-पत्नी अर्थ करनेपर जहां श्रुतिसे बलात्कार होता है; वहां दोष भी उपस्थित होते हैं। अतः वादीका पक्ष कट गया। नहीं तो फिर वेदा-नुसार बहिन-भाईके विवाहका निषेध किसी सूक्तसे सिद्ध न होगा।

सर्वानुक्रमणीमें यहां भाई-बहिनका संवाद कहा है—'वैवस्वतयोर्यमयम्योः संवादः, षष्ठ्ययुग्मिर्यमी मिथुनार्थं यमं प्रोवाच। स तां नवमीयुग्भिरनिच्छन् प्रत्याचष्टे'(१०।१०)। वेदार्थ-दीपिकामें षड्गुरुशिष्यने भी कहा है—'विवस्वत्सुतयोर्यमयम्योः परस्परं संवादः। वैवस्वती यमी वैवस्वतं भ्रातरं मिथुनार्थं-मैथुनार्थं प्रोवाच—प्रणयेन उक्तवती। ततः स यमस्तां यमीं स्वसारम् अनिच्छन् मनसैव अकार्यमिति रतिस्पृहारहितः सन् प्रत्याचष्टे—मा स्म मां बाधिष्ठाः, अन्यं भजस्वेति'। आर्यसमाजके श्रीचन्द्र-मणि पालीरत्न, श्रीराजाराम शास्त्री, तथा श्रीपाददामोदर सातवलेकर आदि भी उक्त सूक्त भ्रातृ-भगिनीपरक लगाते हैं। अमरोहा (मुरादाबाद) शास्त्रार्थमें (१९ मार्च १९२२) आर्यसमाजी श्रीआर्यमुनिने 'अन्यमिच्छस्व' मन्त्रको नियोगार्थक नहीं माना,

किन्तु व्यभिचारिणी स्त्रीको तलाक' अर्थ माना है, इनकी लीला विचित्र है।

श्रीजयदेवविद्यालंकारजीने अपने अथर्ववेदभाष्यमें श्रुतिसे बड़ा बलात्कार किया है, फिर भी वे उसमें सफल नहीं हो सके। उनके अर्थमें कोई भी सङ्गति नहीं। बनावटी अर्थमें ऐसा होना स्वाभाविक ही होता है। 'प्रियतम, प्रियतमे' ऐसे सम्बोधन स्वयं घड़ लिए हैं। 'न ते भ्राता वष्ट्येतत्' तेरा भाई यह नहीं चाहता—इस सीधे अर्थकी जगह—यह असमर्थ पति तेरा भ्राता ही सही, यह शरीर—सम्पर्क आदि कार्यको नहीं चाहता' यहाँ पतिको भी वृद्ध होनेसे भ्राता बना देना—यह कितनी असभ्यता है, यदि वह नपुंसक है, तो शरीर-सम्पर्कको यह शब्द कहना ही अभित्तिचित्र है। स्त्रीको बहिन बनाना, फिर उसे 'प्रियतमे' कहलाना कितना असङ्गत है? क्या दोनोंका विवाह-विच्छेद होगया कि—अब पति-पत्नी न होकर भाई-बहिन होगये? फिर नियोगसे उत्पन्न सन्तान ही उसकी कैसे होगी—जब वह उसकी स्त्रीकी सन्तान नहीं; किन्तु बहिनकी सन्तान है? बहिनको दूसरेके घर भेजा जाता है; पर वादी लोग नियोग अपने घरमें कराते हैं—बहिन हो जानेपर वहाँ उसका उसके नियोगसे क्या सम्बन्ध? 'ते तनूं तन्वा न संपिपृच्याम्' का अर्थ किया है—'तेरे शरीरको अपने शरीरसे...' सम्पर्क नहीं कराऊँ [जब वह नपुंसक है-तो यह उसकी मनाही करनी क्या अर्थ रखती है'?] क्योंकि—विद्वान् इसको 'पापमाहुः यः स्वसारं निगच्छात्-पाप कहते हैं

कि-जो अपनी बहिनका भोग करे; क्योंकि-यदि मैं भ्राता स्वसुः शयने शयीय-तेरा भाई होकर अपनी बहिनकी सेजपर सो जाऊँ; तो मेरे हृदय और चित्तका यह असंयत-संयमभङ्ग है [जबकि वह नपुंसक है; तब उससे हो ही कैसे सकता है?। 'मैं तेरा भाई हो कर' अर्थसे स्पष्ट हो रहा है कि-यह भाई-बहनका संवाद है-पति-पत्नीका नहीं; फिर पति-पत्नीका कैसे कहा जाता है, पति-पत्नी भला भाई-बहन कैसे हो सकते हैं?।]

आगे वे महाशय लिखते हैं—'संयम वा तपस्याके कारण पति-पत्नीमें भाई-बहनकी भावना हो, तो भी स्त्री पुनः संयोग करे (?) 'नष्टे मृते प्रव्रजिते' इस पराशरके विधानमें 'प्रव्रजिते' इसका यही मन्त्र आधार है' यह अस्पष्ट तथा असंगत है—यह सब कृत्रिमताका फल है। विद्वान् पाठकोंने देखा होगा कि-ऐसा बलात्कार श्रुतिसे जो इन लोगोंने किया है, उसका कारण साम्प्रदायिक-दुराग्रह है'। पराशरके वचनका २० संख्यामें विवेचन होगा।

कई शेरसिंह आदि आर्यसमाजी तो इस दुराग्रहसे भी अन्य अधिक भयङ्कर दुराग्रहको अपनाते हैं। वे इन मन्त्रोंमें आये हुए भ्राता, स्वसा आदि शब्दोंका अर्थ वेदमें यौगिक अर्थका बहाना करके भर्ता, तथा स्त्री अर्थ करते हैं। यह तो श्रुतिसे सीमातीत बलात्कार है। वेदमें केवल यौगिक शब्द नहीं होते। किन्तु यौगिक भी तथा योगरूढ भी तथा रूढ भी शब्द हुआ करते हैं, एतदर्थ हमारा भिन्न×निबन्ध द्रष्टव्य है। भ्राता तथा स्वसा आदि

× 'क्या वेदमें केवल यौगिकता है?' इस पुष्पमें ५म संख्यामें देखें।

शब्द योगरूढ है; प्रकृतका विरोध पड़नेसे इनका यहाँ पति-पत्नी अर्थ असम्भव है। यौगिकताकी भी सीमा हुआ करती है। अतियौगिकतामें भी 'भ्राता'का 'भर्ता' और 'भर्ता'का अर्थ 'भ्राता', 'पति' का अर्थ 'पिता' और 'पिता' का अर्थ 'पति', 'पत्नी' का अर्थ 'माता' और 'माता' का अर्थ 'स्त्री' नहीं हुआ करता। नहीं तो फिर भाषाशास्त्र भी बाधित हो जाए, बड़ी उच्छृङ्खलता खड़ी हो जाए ?

फलतः 'यम-यमीसूक्त' जीवितके नियोगका वाचक नहीं; किन्तु भ्रातृ-भगिनीसंवाद है, जिससे इकट्ठे घरमें रहनेवाले भाई-बहिन आपसमें कुटेव न कर लेवें; इसलिए उन्हें डराया गया है; और ऐसा करना पाप बताया गया है। हमने पाठकोंके समक्ष नियोग-विषयक जो वेदमन्त्र दिये जाते हैं-उनका सम्यक् समाधान कर दिया। अब स्मार्त प्रमाणों पर कुछ विचार दिया जाता है।

---

(१६) विधवाविवाहपरक कई स्मार्त श्लोक (!)

कई आजकलके अन्वेषक कई स्मार्त-श्लोकोंसे विधवाविवाह सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, वे पूर्वपक्षरूप पद्य यह हैं—

(१) 'उद्वाहितापि या कन्या न चेत् सम्प्राप्तमैथुना। पुनः संस्कारमर्हेत यथा कन्या तथैव सा' (नारद) (जिस कन्याका विवाह हो चुका हो, और मैथुन न हुआ हो, उसका पुनर्विवाह हो सकता है, वह कन्या जैसी है)। (२) 'स तु यद्यन्यजातीयः

पतितः क्लीव एव च। विकर्मस्थः सगोत्रो वा दासो दीर्घामयोपि वा। ऊढापि देया सान्यस्मै सहाभरणभूषिता' (कात्यायन) (यदि वह अन्य जाति वाला सिद्ध हुआ हो, पतित, नपुंसक, विकर्मी, समानगोत्र वाला, शूद्र वा दीर्घ-रोगी सिद्ध हुआ हो; तो व्याही भी लड़कीको भूषणोंसे सजाकर दूसरेसे विवाह दे। (३) 'दत्तामपि हरेत् कन्यां श्रेयाँश्चेद् वर आव्रजेत्' (याज्ञवल्क्य) (यदि अच्छा वर मिल जावे, तो व्याही भी कन्याको उस पतिसे लेकर उस श्रेष्ठ वरसे व्याह दे)। (४) 'स्त्रीणां पुनर्विवाहस्तु देवरात् पुत्र-सन्ततिः। स्वातन्त्र्यं वा कलियुगे न कर्तव्यं कदाचन' (ब्रह्मपुराण) 'ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा। कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्' (आदित्यपुराण) इसमें कलियुगमें विधवाविवाह आदिके निषेधसे मालूम होता है कि-अन्य युगोंमें विधवाविवाह ग्राह्य था; उसे इस युगमें भी करना चाहिये'।

उत्तरपक्ष-(१) 'उद्वाहितापि या कन्या' इस पहले पद्यका चौथा पाद है-'यथा कन्या तथैव सा'। इसीसे सिद्ध हो रहा है कि-विवाह कन्या-कुमारी (जो अविवाहित हो) का ही होता है, अकन्या (पूर्णविवाहिता) का विवाह नहीं होता। श्रीमनुजीने भी कहा है-'पाणिग्रहणिका [वैवाहिका] मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः। नाऽकन्यासु क्वचिन्नृणां, लुप्त-[विवाह-] धर्मक्रिया हि ताः' (८।२२६)

विधवा पहलेसे विवाहित होनेसे अकन्या होती है, इसलिए वह फिर विवाहके योग्य भी नहीं हो सकती। इससे प्रतिपक्षीसे सिद्धान्तित विधवाविवाह तो खण्डित होगया। यदि प्रतिपक्षी

इस पद्यको मानता है; तब उसे विधवाविवाहका आग्रह छोड़ देना चाहिये। यदि वह इस पद्यको स्वयं नहीं मानता; केवल हमें इससे विधवाविवाहकी सिद्धि बताता है; तब हम इसकी व्यवस्था बताते हैं।—

(क) यह वचन नारदका नहीं है, किन्तु 'लघुशातातपस्मृति' (४४) का है। यह पद्य विवाह हो चुकी हुईका विवाह नहीं बताता, किन्तु व्याही जाती हुईके विवाहकी अपूर्णतामें वरकी मृत्यु आदि हो जानेपर उसका विवाह बताता है। यह वचन सप्तपदीसे पूर्वका है। सप्तपदीमें विवाह पूर्ण हो जाता है। जैसेकि-मनुजीने कहा है—'पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दार-लक्षणम्'। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे' (८।२२६-२७) पाणिग्रहणके मन्त्र ही विवाह होता है, उनकी समाप्ति सप्तपदी-में होती है। उस समय वह कन्या न रहकर भार्या हो जाती है; पर इस पद्यमें 'कन्या' शब्द आया है। व्याही जा चुकी हुई को 'कन्या' नहीं कहा जाता। अतः उक्त पद्यसे सनातनधर्मके सिद्धान्तमें कोई क्षति नहीं पड़ती। इसमें स्पष्टता देखिये—

(ख) उक्त पद्यमें 'उद्वाहिता' पदमें क्त-प्रत्यय आदि-कर्म अर्थमें है, अर्थात्-वहाँ उक्त पदमें 'क्त' प्रत्यय भूतकालमें नहीं है, किन्तु जिस लड़कीका विवाह शुरू हुआ है, वैसी कन्या यहाँ इष्ट है-'उद्वाहिता-उद्वाहयितुमारब्धा'। इस अर्थमें लिङ्ग (ज्ञापक) है 'कन्या' शब्द। शब्दके अर्थमें जब सन्देह हो; तो उस समय 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थः

प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः॥ सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' (वाक्यपदीय २।३१६-३१७) यह संयोग आदि १४ पदार्थ विशेष सहायता दिया करते हैं। तब उक्त स्मृति-पद्यमें 'उद्वाहिता' के साथ ठहरा हुआ 'कन्या' शब्द 'शब्दस्यान्यस्य सनिधिः' इस हेतुके बलसे कन्याके विवाहकी भूतकालीनता वा समाप्ति वा पूर्णता नहीं बता रहा, किन्तु उसके विवाहके आरम्भ वा अपूर्णताको बताता है, क्योंकि-विवाह पूर्ण हो जानेपर उसकेलिए 'कन्या' शब्द नहीं रहता; तभी ऋसं. (१।६६।४) मन्त्रकी व्याख्या करते हुए श्रीसायणाचार्यने वेदका अभिप्राय यह कहा है—'विवाहसमये अग्नौ लाजादिद्रव्यहोमे सति तासां कन्यात्वं निवर्तते'।

(ग) अब आदिकर्ममें क्त प्रत्यय होता है—इसकी स्पष्टता देखिये—कृदन्तप्रकरणमें सिद्धान्तकौमुदीमें एक वार्तिक आया है—'आदिकर्मणि निष्ठा (क्तः) वाच्या'। यहाँ 'कर्म'का अर्थ है—'क्रिया'। क्रियाके आरम्भमें क्त-प्रत्यय करो-यह भाव है। इस वार्तिकके नये रूपमें बनानेमें श्रीकैयटने (३।२।१०२ सूत्रके महाभाष्यके प्रदीपमें) कहा है—'आद्येषु क्रियाक्षणेषु भूतेष्वपि सर्वस्याः क्रियाया भूतत्वाभावाद् निष्ठा न प्राप्नोतीति वचनम्' (क्रियाके आदिम क्षण कुछ वीत जानेपर भी सारी क्रिया न बीतनेसे भूतकालमें होने वाला क्त-प्रत्यय प्राप्त नहीं था; तभी यह वार्तिक बनाया गया है।)

इस विषयमें उद्योतमें श्रीनागेशभट्टने स्पष्टता की है-'सम्पूर्ण-समूहस्य व्यपवृक्तत्वे हि भूतव्यवहारः' (सारी क्रिया वीत जाने पर ही भूतकालका व्यवहार होता है।) यही लघुशब्देन्दुशेखर तथा सिद्धान्तकौमुदीकी तत्त्ववोधिनी-टीकामें स्पष्ट किया गया है। यहांपर वालमनोरमा-टीकामें इस प्रकार स्पष्टता की है—'प्रकृतः कटः। दीर्घकालव्यासक्तायाः कटाद्युत्पादन-क्रियाया आरम्भकाल-विशिष्टांश आदिकर्म। तत्र विद्यमानाद् धातोर्निष्ठा वक्तव्या। तत्र आद्येषु क्रियाक्षणेषु भूतेष्वपि, क्रियाया भूतत्वाभावाद् भूते निष्ठा [क्तः] न प्राप्ता—इति आरम्भः'।

इससे बढ़कर स्पष्टता और क्या हो ?। इसका आशय यह है कि-क्तप्रत्यय भूतकालमें होता है, जिसका अर्थ होता है कि-यह क्रिया हो चुकी। परन्तु 'प्रकृतः कटः'का अर्थ यह नहीं है कि-चटाई बन चुकी; किन्तु यह है-'वनने शुरू होगई है'। सो क्रियाके आरम्भिक कई क्षण वीत जानेपर भी क्रिया समाप्त न हो चुकनेसे भूतकालमें होनेवाला क्त-प्रत्यय क्रियामें नहीं हो सकता। तब इस वार्तिकसे उस क्रियाके आरम्भिक कुछ क्षण वीत जानेपर भी उक्त क्रियामें 'क्त' प्रत्यय हो जाता है।

इस पर सूत्रकार कहता है—'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' (पा. ३।४।७१) अर्थात्—आदि-क्रियाका क्त-प्रत्यय कर्तृवाच्यमें भी हो जाता है। स्वा.द.जीने भी आख्यातिक (पृ. ३३७) में लिखा है—'आदिकर्म (प्रथमक्रिया)में धातुसे निष्ठासंज्ञक प्रत्यय [क्त] कहना चाहिये (११८)। आदिमें जो क्त-प्रत्यय विहित है,

वह कर्ता और भाव-कर्ममें हो (११८१) इस प्रकार स्पष्ट होगया कि-'उद्वाहितापि या कन्या'का 'प्रकृतः कटः-कटः कर्तुमारब्धः'-की भान्ति 'उद्वाहयितुमारब्धा या कन्या' (जिसका विवाह शुरू है) यह अर्थ है। तब पूर्वपक्षीसे इष्ट भूतकालका अर्थ खण्डित हो गया।

(घ) अथवा-'उद्वाहितापि या कन्या'का 'उद्वाहयितुमिष्टा' अर्थ भी है कि-जिसके विवाह करनेकी इच्छा है, ऐसी लड़की। इस अर्थमें 'आशंसायां भूतवच्च' (पा. ३।३।१३२) यह भूतकालीन क्त-प्रत्यय भविष्यत्कालमें होता है। इसके उदाहरण देखिये। (क) मुद्राराक्षसके आरम्भमें चाणक्यके लिए 'मुक्तां शिखां परिमृशन्' छोड़ी हुई शिखाका छूना कहा है। ७वें अङ्कमें चाणक्यने 'मया पूर्णप्रतिज्ञेन केवलं बध्यते शिखा' इस उपान्तिम-पद्यमें प्रतिज्ञा पूर्ण करके शिखा वांधी है; परन्तु उससे पहले ३य अङ्कमें चन्द्रगुप्तके साथ बनावटी झगड़ेमें कहा है-'शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनर्धावति करः' यहां 'बद्धामपि शिखाम्'में क्त-प्रत्यय कहा है, पर यहां शिखा वांधी नहीं गई थी, तब यहां भूतकालीन क्त-प्रत्यय कैसे प्रयुक्त किया गया ? यहां यही उत्तर है कि-'बद्धां' का अर्थ है—'बन्धुमिष्टाम्' अर्थात् बान्धी जानेवाली। यहां आशंसाके भविष्यत्-कालीन होनेपर भी भूतकी भान्ति 'क्त' कर दिया गया।

(ङ) इस प्रकार 'उद्वाहितापि या कन्यामें भी 'उद्वाहिता' इस क्तान्तपदका 'उद्वाहयितुमिष्टा' (जिसका विवाह होनेवाला

है) यह अर्थ भी हो सकता है। जैसे कि किरातार्जुनीयमें 'भवत्कृतां भूतिमपेक्षमाणाः' (३।४६) यहां 'भवत्कृताम्'का अर्थ भूतकालका नहीं है, किन्तु 'भवता करिष्यमाणाम्' यह भविष्यत्कालका अर्थ है।

(च) यहां अन्य प्रसिद्ध उदाहरण भी देख लीजिये—'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः' (गीता १।२१) यहां 'शस्त्रसम्पात-के प्रवृत्त होनेपर गीताका आरम्भ कहा है। 'प्रवृत्ते'में 'क्त' प्रत्यय है, पर इसे भूतकालमें नहीं माना जा सकता; नहीं तो 'योत्स्य-मानान् अवेक्षेहं' (१।२३) इस अर्जुनके वाक्यमें 'योत्स्यमानान्' इस भविष्यत्-कालका प्रयोग न होता। और शस्त्रसम्पातके प्रवृत्त होनेपर ७०० श्लोकोंकी गीताका सुनाना भी असम्भव होता। अतः 'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते'का क्त-प्रत्यय भी निकट-भविष्यत्कालका बोध करा रहा है कि-'शस्त्रसम्पातकी तैयारीके समय'। इस प्रकार 'उद्वाहितापि या कन्या'का अर्थ भी 'कन्या-विवाहकी तैयारीके समय' यह है।

(छ) 'प्रिये लोकान्तरं गतासि' (उत्तररामचरित ७म अङ्क) यहां 'गतासि' इस 'क्त' प्रत्ययका 'गमिष्यन्ती' यह अर्थ हैं। क्योंकि उत्तररामचरित सुखान्त होनेसे उसमें लोकान्तरगमन नहीं दिखलाया गया हैं।

(ज) 'भो मित्र! सञ्जातोऽयं तावन्मम मृत्युः' (पञ्चतन्त्र मित्रसं-में) चित्राङ्ग कह रहा है। यहां 'सञ्जातः'के क्तका भूतकाल अर्थ नहीं; किन्तु 'सञ्जनिष्यमाणः' यह भविष्यत्का अर्थ है।

(झ) इस सारे उल्लेखका यह तात्पर्य है कि-कई स्मृति-वचनोंमें 'मनोदत्ता, वाग्दत्ता, व्याही जानेवाली, विवाहके आरम्भ वाली कन्याएं भी पुनर्भू मानी जाकर विवाहमें वर्जनीय मानी गई हैं; पर उसके अपवादभूत इस वचनमें वैसीको कन्या बताकर उसे विवाहसंस्कारके योग्य बता दिया गया है।

(ञ) अब 'न चेत् सम्प्राप्तमैथुना' की परीक्षा करनी चाहिये। इसका अर्थ है-'न समाप्तविवाहा' जिसका विवाह समाप्त न हुआ हो। 'मिथुन'का अर्थ 'विवाह' है, विवाह होनेपर दोनोंका जोड़ा बनना है। 'द्वन्द्वाद् वैरमैथुनिकयोः' (४।३।१२५) इस पाणिनिसूत्रमें भी 'मैथुनिका' पदका अर्थ विवाह है। 'मिथुनं हि दम्पतिकर्म-क्रियानिष्पादनम्' (मनोज्ञादिमें पाठ होनेसे वुञ् प्रत्यय होगया)। इसका उदाहरण दिया जाता है-'कुत्सकुशिकिका'। इसका अर्थ तत्त्वबोधिनीमें लिखा है-'कुत्सकुशिकयोर्विवाहरूपः सम्बन्धोऽर्थः'। वैसे ही शातातपके वचनमें भी 'न चेत् सम्प्राप्त-मैथुना' का 'असमाप्तविवाहसम्बन्धवती' अर्थ है। विवाह-सम्बन्ध सप्तपदी तक पूर्ण हो जाता है; तब 'कन्या' शब्द दूर हो जाता है, और 'भार्या' (स्त्री) शब्द आजाता है, जैसेकि मनुजी-का वचन (८।२२७) पीछे लिख चुके हैं।

(ट) अमरकोषके अनुसार 'मैथुनं सङ्गतं रते' (३।३।१२२) तथा 'सम्बन्धे सुरते युग्मे राशौ मिथुनमिष्यते' इत्यादि वचनोंसे 'सम्बन्ध'का नाम भी 'मैथुन' होता है। सम्बन्ध सगाई एवं विवाहके आरम्भसे हो जाता है। उसकी अवधि सप्तम-पदसे

पहले तक होती है। सो सप्तम-पदसे पूर्व तक कन्यात्व होनेसे कारणविशेषवश उस लड़कीका विवाह हो सकता है। इसीलिए मुहूर्तमार्तण्डमें भी कहा है—'पूर्वं सप्तपदीविधेः, अधिगते दोषे, वरे वा मृते, देयाऽन्यत्र विवाहितापि च बलाद् यद्धा च योनिर्न चेत्'। फलतः 'न चेत् सम्प्राप्तमैथुना' इसका अर्थ यह हुआ कि-जिसका मिथुनीभाव अर्थात् पतिसे पूर्ण-पत्नीत्व न हुआ हो; सप्तपदी नहीं हुई; उसके पतिके मरने पर अपूर्णविवाह होनेसे पुनर्विवाह हो सकता है। जैसेकि कुल्लूकभट्टने कहा है-'एवं च सप्तपदीदानात् प्राग् भार्यात्वाऽनिष्पत्तेः, अनुशये जह्याद्, न ऊर्ध्वम्' (मनु॰ ८।२२७)।

बल्कि-नारदस्मृतिमें तो ऐसीको 'पुनर्भू' कहा है। जैसेकि-'कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता। पुनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनः संस्कारकर्मणि'। शास्त्रोंमें पुनर्भूकी निन्दा आई है। फलतः प्रतिपक्षीसे दिये हुए पद्यमें उससे इष्ट विधवा-विवाह सिद्ध न हुआ। इस प्रकारके पद्य तो विवाहके आरम्भवाली एवं असमाप्तविवाहवाली लड़कियोंकेलिए हैं, पूर्णरूपसे विवाहित स्त्रियोंकेलिए नहीं। इसलिए इसका नाम 'विधवाविवाह' भी नहीं है। यह 'उद्वाहितापि या कन्या' पद्यकी व्यवस्था तो बता दी गई, अब शेष पद्योंकी व्यवस्था भी दिखलाई जाती है।

(२) दूसरा पद्य यह है 'स तु यद्यन्यजातीयः-'ऊढापि देया साऽन्यस्मै' (कात्यायन)। इस पद्यमें विधवाविवाह तो नहीं है, शायद सधवा-विवाह हो। तब इस पद्यको विधवाविवाहके

पक्षपाती उपस्थित करनेके अधिकारी नहीं।

वस्तुतः यहां भी 'ऊढा' शब्दमें पूर्वकी भांति 'आदिकर्म'में 'क्त' प्रत्यय है। अब अर्थ हुआ—'विवाहयितुमारब्धापि सा अन्यस्मै विधिवद् देया'। विवाहके आरम्भवालीका कारण-विशेषसे दूसरेके साथ विवाह भी सम्भव है, इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं। 'क्त' प्रत्यय क्रियाके आरम्भको भी बताता है। 'ऊढा'में भी 'क्त' प्रत्यय है।

इस विषयमें पहले हम बहुतसे प्रमाणगर्भित उदाहरण दे चुके हैं। एक और भी उदाहरण इस विषयमें यहां देते हैं। वह यह है-'अनुत्तमो रसो ह्येष प्रमीत (मृत) मपि चेतयेत्' यहां 'प्रमीत' शब्दमें 'क्त' प्रत्यय है, कि उक्त रस मृतको भी लाभ पहुँचाता है। जैसे 'उद्वाहितापि'में 'क्त' प्रत्यय और 'अपि' है; और 'ऊढापि'में 'क्त' प्रत्यय और 'अपि' है, वैसे 'प्रमीतमपि'में भी 'क्त' प्रत्यय और 'अपि' है; सो जैसे यहां 'प्रमीतमपि'में 'मर चुके हुए'का ग्रहण नहीं, किन्तु 'मरनेके लगभग पहुँचे हुए' का ग्रहण है, वैसे ही 'उद्वाहितापि' तथा 'ऊढापि'में भी यही समझना चाहिए कि-'जिसका व्याह पूरा होनेके लगभग है'। 'जिसका व्याह हो चुका' यह अर्थ यहांपर नहीं। सो यहां सप्तपदीसे पूर्व वाग्दत्ता आदि अवस्थावाली कन्याका ग्रहण है, समाप्तविवाहा, भार्या हो चुकी हुईका यहां ग्रहण नहीं; पूर्ण-विवाहितामें वैवाहिक-मन्त्रोंका प्रयोग व्यर्थ है।

इसके अतिरिक्त उक्त पद्यमें 'ऊढा'का पूर्ण-विवाहिता अर्थ

मानने पर सगोत्रा-विवाहिताका भी-जिसका उक्त पद्यमें उल्लेख है-पुनर्विवाह करना पड़ेगा। फिर 'भोगतस्तां परित्यज्य पालयेज्जननीमिव' इस पद्यके साथ उसका विरोध हो जायगा, क्योंकि-उस सगोत्रा-ऊढाको भोगको हटाकर उसका माताकी भांति पालना लिखा है, पुनर्विवाह नहीं।

उक्त पद्यको प्राचीन टीकाकारों एवं निबन्धकारोंने वाग्दान-कालीन माना है। इस कारण श्रीभट्टोजिदीक्षितने 'चतुर्विंशति-मतसंग्रह'में 'ऊढापि'के 'अपि' शब्दसे कैमुतिक-न्यायके द्वारा वाग्दत्ताका ही दूसरेको दान कहा है-पूर्णविवाहिताका नहीं। नहीं तो सगोत्रोढाके भी पुनर्विवाह करनेपर 'मातृवत् परिपालयेत्' यह शास्त्रीय-वचन व्याकुपित हो जावे। इस प्रकार पराशर-स्मृति की विद्वत्मनोहरा टीकामें भी उक्त पद्यको वाग्दानपरक माना है। इस प्रकार 'वीरमित्रोदय'के संस्कार-प्रकरणमें भी। ऐसा वसिष्ठका वचन भी मिलता है—'कुलशीलविहीनस्य षण्ढादि-पतितस्य च। अपस्मारिविधर्मस्य रोगिणां वेषधारिणाम्। दत्तामपि हरेत् कन्यां सगोत्रोढां तथैव च'। यहां भी 'दत्तां'का अर्थ 'वाग्दत्तां' ही है। उक्त वशिष्ठवचनको शब्दकल्पद्रुमकोष, स्मृतितत्त्व, अपरार्का टीका, पारस्करके गदाधरभाष्य तथा वीर-मित्रोदयमें भी वाग्दत्तापरक ही माना है।

(३) इसी प्रकार 'दत्तामपि हरेत् पूर्वां श्रेयाँश्चेद् वर आव्रजेत्' (याज्ञवल्क्यस्मृति-१।३।६५) इस पद्यको भी विधवाविवाहप्रेमी व्यर्थ ही देते हैं; क्योंकि-यह पद्य विधवाविवाहको तो नहीं कह

रहा, किन्तु सधवाविवाहको कह रहा है। सधवा भी विवाहिता नहीं; किन्तु वाग्दान की हुई ही यहां इष्ट है। 'सकृत् कन्या प्रदीयते' (मनु. ९।४७) 'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (मनु. ५।१५२) यहांपर श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—'यत् पुनः प्रथमं प्रदानं वाग्दानात्मकं, तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम्। ततश्च वाग्दानाद् आरभ्य स्त्री भर्तृपरतन्त्रा'। अर्थात्-वाग्दानसे उसका भर्ता कुछ स्वामी हो ही जाता है।

'अन्यदत्ता तु या कन्या पुनरन्यस्य दीयते' (अङ्गिराः ६५) इत्यादि-स्मृतिपद्योंमें 'दत्ता' शब्द 'वाग्दान' अर्थमें ही प्रसिद्ध है। अतएव उक्त याज्ञवल्क्यपद्यकी मिताक्षरामें भी कहा है—'तदा दत्तामपि हरेत्, एतच्च सप्तमपदात् प्राग् द्रष्टव्यम्'। इस प्रकार अपरार्का, स्मृतितत्त्व, पारस्करगृह्यसूत्रका गदाधरभाष्य, शब्दकल्पद्रुमकोष, वीरमित्रोदय, मनुस्मृति (८।२२७) पद्यकी मेधातिथिटीका तथा 'न दत्त्वा' (मनु. ९।७१) इस पद्यके राघवानन्द आदि टीकाकार भी उक्त पद्यको वाग्दत्तापरक ही मानते हैं।

इस विषयमें पराशरमाधवमें भी कहा गया है—'यस्मै वाचा दत्ता, ततोऽन्यश्चेत् प्रशस्ततरो लभ्यते; ततस्तस्मै देया, नतु दुष्टाय पूर्वस्मै, इससे विधवाविवाहकी शास्त्रीयता कट गई। इसीलिए उक्तपद्यके पूर्वार्ध 'सकृत् प्रदीयते कन्या हरँस्तां चौरदण्डभाक्'में वाग्दानकालीनता स्पष्ट है। तब उक्त पद्य 'न दत्त्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्याद् विचक्षणः। दत्त्वा पुनः प्रयच्छन् हि प्राप्नोति

पुरुषोनृतम्' (९।७१) इस वाग्दान परिवर्तन न करनेके मनुपद्यका अपवादभूत है। इस प्रकार गौतमधर्मसूत्रमें भी ऐसा अपवाद कहा है—'प्रतिश्रुत्यापि अधर्मसंयुक्ताय न दद्यात्' (१५।२१)। यह वचन स्मृतितत्त्व, पराशरमाधवीय आदि द्वारा वाग्दानपरक ही माना गया है। नारदस्मृतिमें भी कहा है—'दत्तां न्यायेन यः कन्यां वराय न ददाति ताम्। अदुष्टश्चेद्-वरो, राज्ञा स दण्ड्यस्तत्र चोरवत्' (१२।३३) यहां 'अदुष्ट' शब्द दुष्टकेलिए अपवाद बता रहा है कि-वाग्दत्ता लड़की दुष्टको नहीं देनी चाहिये। फलतः स्मृतियोंमें 'दत्ता' शब्द भी आदिकर्ममें निष्ठा (क्तप्रत्यय) होनेसे विवाहसे पूर्वता ही बता रहा है।

(४) 'ऊढायाः पुनरुद्वाहं...कलौ पञ्च न कुर्वीत' इत्यादि वचनोंसे जोकि अन्य युगोंमें विधवाविवाह न्याय्य सिद्ध किया जाता है, इसपर यह जानना चाहिये कि-अब-जब सत्ययुग, आदि-युग नहीं हैं; तब विधवाविवाह उस समय होता था—यह विचार ही व्यर्थ है, प्रत्यक्षमें परोक्षकल्पना अन्याय्य हुआ करती है।

यहां यह समझना चाहिये कि—किसी बातके कलियुगमें निषेध होनेसे वह बात अन्य युगोंमें वैध नहीं हो जाया करती। कई कार्योंका किसी समयमें साधारणरूपमें निषेध होता है; और अन्य समयमें विशेषरूपसे निषेध होता है। 'स्त्रीणां पुनर्विवाहस्तु...स्वातन्त्र्यं वा कलियुगे न कर्तव्यं कदाचन' इस ब्रह्मपुराणके वचनमें इन बातोंको कलियुगमें करनेका निषेध है।

उक्त वचनमें कलियुगमें स्त्री-स्वातन्त्र्यका भी निषेध किया गया है। तब इसका यह अभिप्राय नहीं कि—अन्य युगोंमें स्त्री सर्वथा ही स्वतन्त्र रहे। यदि यह अभिप्राय होता, तो 'न भजेत स्त्री स्वतन्त्रताम्' (मनु॰ ५।१४८) 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (९।३) इत्यादि सैंकड़ों मनु आदिके वचन सर्वथा त्यक्तव्य हो जाते। परन्तु यह इष्ट नहीं है। मनुस्मृति सत्ययुगकेलिए मानी जाती है। जैसेकि—'कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः। द्वापरे शङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः' (पराशर॰ १।२४) पर इससे मनुस्मृतिके धर्मोंकी कलियुगमें और पराशरके धर्मोंकी सत्ययुगमें अकर्तव्यता नहीं हो जाती।

अनेक निबन्धग्रन्थोंमें आदित्यपुराण तथा बृहन्नारदीय पुराणके नामसे कलिवर्ज्यप्रकरणमें 'कन्यानामसवर्णानां विवाहश्च द्विजातिभिः' 'द्विजानामसवर्णासु कन्यासूपयमस्तथा' इत्यादि वचन असवर्णा-कन्याके विवाहनिषेधके मिलते हैं; तब इनका यह अभिप्राय नहीं कि—कलियुगमें ही इनका निषेध है, अन्य युगोंमें नहीं। ऐसा माननेपर सत्ययुगकेलिए नियमित मनुस्मृतिके 'उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्' (३।४) 'हीनजातिस्त्रियं मोहाद् उद्वहन्तो द्विजातयः। कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम्' (३।१५) इत्यादि सवर्णा-विवाह-विधायक वचन सत्ययुगमें अनादरणीय सिद्ध हो जावेंगे, पर यह इष्ट नहीं। नहीं तो ऐसे पद्य सत्ययुग-नियमित मनुस्मृतिमें लिखे ही न जाते।

तब यहाँ तात्पर्य है कि-स्त्रीस्वातन्त्र्य आदिका निषेध तो सभी युगोंके लिए है, परन्तु सत्ययुग आदिमें धर्मकी प्रधानता होनेसे स्वतन्त्र स्त्रियाँ भी अपना चारित्र बचा सकती थीं; परन्तु अब कलियुगमें अधर्मकी बहुत रुचि होनेसे स्वतन्त्रतावश स्त्री हानि प्राप्त कर सकती है। इस कारण कलियुगमें यह निषेध विशेषरूपसे अनुसरण करना चाहिये—'स्वातन्त्र्यं वा कलियुगे न कर्तव्यं कदाचन'। इससे स्पष्ट है कि-शास्त्रोंमें कालविशेषका नाम न लेकर निषेध होनेपर कलियुगमें फिर उसका निषेध उसकी विशेषता बताता है। लोकमें भी कोई कहे कि-प्रातः असत्य नहीं बोलना चाहिये। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि-प्रातःकालसे भिन्न कालमें असत्य बोलनेसे पाप नहीं हुआ करता। इस प्रकारके लोक वा शास्त्रमें बहुतसे उदाहरण मिल सकते हैं। इस प्रकार स्मृतिकारोंने निर्णय किया है कि-जो स्त्री विधवा होकर अन्य पतिसे सम्बन्ध चाहती है, यदि वह अक्षत-योनि है; तब अन्य-पुरुषसे संस्कार होनेपर वह पुनर्भू कही जाती है।

इसपर यह जानना चाहिये कि-अन्य युगोंमें तो 'कामं तु क्षपयेद् देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः। नतु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु' (५।१५७) इस प्रकार सत्ययुग-नियमित मनुस्मृति-के द्वारा विधवाविवाहके निषेध होने पर भी यदि कलियुगमें उसका विशेषरूपसे निषेध न किया जाय; तब सत्ययुगमें तो धर्मप्रधानतावश कहीं पुनर्भूत्व हो जानेपर भी मर्यादा वा

मुख्य-व्यवस्थाका अतिक्रमण आशङ्कित नहीं होता; परन्तु कलियुगमें तो अधर्मकी प्रधानतासे कितना अनर्थ तथा कितना मर्यादानाश हो सकता है-यह कौन नहीं मानेगा? कलियुगमें तो वैसा निषेध न होनेपर फिर अक्षतयोनित्वकी मर्यादा भी टूट जावेगी, जैसे कि आजकल दीख रहा है।

तब जो कि शास्त्रोंमें अन्य पतिको लेनेवाली विधवाको पुनर्भू कहा है, और पुनर्भूको निन्दित माना गया है; उसका पति तथा पुत्र निन्दित माने गये हैं; वह मर्यादा भी टूट जायगी। तब उस पुनर्भूका पतिव्रता स्त्रीकी अपेक्षा न्यून पद न रहेगा, बल्कि विषयी लोगोंकी वैसी स्त्रीसे बहुत सहानुभूति हो जावेगी; और पतिव्रता-विधवाका 'पौराणिकी, कट्टरपन्थिन' इत्यादि शब्दोंसे तिरस्कार वा उपहास जारी हो जायगा; बल्कि उसपर झूठे कलङ्क लगाये जाएँगे। इससे पतिव्रतधर्मकी भी हानि होगी। भविष्यमें तो इससे भी बढ़कर अन्य अमर्यादित काम होने लग पड़ेंगे। यही रहस्य था कि-विशेष-निषेध कलि-वर्ज्य किये गये हैं।

इस विषयमें प्रत्यक्षका अनुग्रह भी देख लीजिये। आर्य-समाज वा अन्य संस्थाओंने विधवाविवाह जारी किया। तब उन लोगोंने यही लक्ष्य रखा था कि-जो बालविधवाएँ हैं; वे अक्षतयोनि हैं, उन्होंने एक दिन भी पतिको नहीं देखा, इसलिए वे पुनर्विवाहके योग्य हैं। कलियुगमें आर्यसमाजादि द्वारा की हुई इस घोषणाका परिणाम क्या हुआ?। यही कि-अब युवति-

विधवाएँ भी व्याही जाती हैं, क्षतयोनि भी व्याही जाती हैं; सन्तानवाली विधवाएँ भी व्याही जाती हैं। इसीके परिणाम-स्वरूप अब सधवाएँ भी दूसरे पुरुषोंसे पुनर्विवाहित हो रही हैं। ऐसा होनेसे अब पतिव्रतधर्म वेचारा कहाँ रहेगा ?

अब असवर्णविवाहका परिणाम देखिये—श्रीगान्धिजीने अपने वैश्य लड़के श्रीदेवदासका श्रीराजगोपालाचार्य-ब्राह्मणकी लड़कीसे प्रतिलोमविवाह कराकर असवर्णविवाह जारी किया, यद्यपि पहले ला० मुन्शीरामजीने भी अपने क्षत्रिय-लड़के श्रीइन्द्रचन्द्रका ब्राह्मणकुमारीसे व्याह कराया था; पर गान्धिजी-का प्रभाव बहुत पड़ा। उसका परिणाम क्या हुआ ? यही कि-अपने वर्णकी अयोग्य जातियों वा प्रतिलोम जातियोंसे सम्बन्ध करनेमें वाधा दूर होगई। अब तो हिन्दुओंके अहिन्दुओंके साथ विवाह शुरू होगये। अरुणा ब्राह्मणी आसफअलीकी पत्नी बनी, श्यामकुमारी नेहरू जमीलखाँ की, इन्दिरा फीरोज-पारसी की, एक ब्राह्मणी अम्वेदकर अन्त्यज की। एक अन्य हिन्दु-लड़की जिसका एक मुसलमानसे विवाह हो रहा था-देहलीमें विरोध हुआ। वह यहांसे चली गई, और अन्यत्र जाकर उसने उससे सम्बन्ध कर लिया। इसीके फलस्वरूप अब विवाहविधि भी समाप्त हो रही है। अथवा 'सिविल मैरिज' कानून द्वारा बिना ही विधि-के विवाह किया जाता है, जिसमें लिखाना पड़ता है कि-मैं न हिन्दु हूँ, न मुसलमान, न ईसाई। मैं जातिहीन हूँ। इस प्रकार-के लोग ऐसा करके हिन्दुजातिकी संख्याको कम कर रहे हैं।

अब तो यह नियम ही हटाया जा रहा है-हिन्दुजातिको दूषित करनेकेलिए 'हिन्दुकोड' कानूनको हिन्दुजातिपर बलात् लादा जा रहा है। पुरुषोंके कोमल मनों पर निम्नताका प्रभाव शीघ्र पड़ता है। यह सब स्वतन्त्रताके परिणाम हैं। कलियुगमें कलिवर्ज्य-नियमोंके चालू करनेके यह परिणाम हैं। इससे कितने अनर्थ हो रहे हैं, पर हमारे प्राचीन-महानुभाव दूरदर्शी तथा इन विषयोंमें अत्यन्त सप्रतिभ थे। इसी कारण उन्होंने पहले समयमें निन्दित तथा कई अनिन्दित परन्तु कठिन कार्योंका कलियुगमें विशेषरूपसे निषेध किया, और कहा—'ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा। कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्'।

इस प्रकार प्राचीनकालमें स्त्रियोंकी आवरण-प्रथा भी थी। कई इसके अपवाद भी थे। इस युगमें तो इस प्रथाकी अत्यन्त दृढता अपेक्षित है, पर आधुनिक अदूरदर्शी-सुधारकाभासोंने जहाँ-तहाँ इस प्रथामें शिथिलता करा दी है। देखिये-इसका फल क्या हो रहा है। पहले स्त्रियाँ अन्तःपुरमें रहती थीं; घरसे बाहर पैर न निकालती थीं, यही उनका पर्दा होता था। इस प्रथामें कुछ शिथिलता करनेपर उसमें यह परिवर्तन होगया कि-किसी परपुरुषको देखकर वे वहांसे हटकर आड़में हो जाती थीं। उसमें भी शिथिलता की जानेपर वे दूसरे पुरुषके सामने तो ठहरती थीं, परन्तु सभी अङ्गोंको कपड़ोंसे ढके रहती थीं। उसमें भी शिथिलता करने पर केवल मुखका ढकना यह घूँघट रह

गया। तब आजकल उस शिथिलताके परिणाममें मुख कुछ घूँघटसे निकला। फिर मुख पूरा बाहर आगया; फिर सिरसे कपड़ा भी हट गया। फिर भुजाएँ पर्देसे बाहर आगई। तब निक्करके प्रचारसे उनकी जांघें बाहर आगईं। अब ऊरुभाग भी नंगा होगया है। अब छातीका ऊपरका भाग भी नग्न होगया। आगे इससे और तरक्की होगी।

फिर स्त्रियाँ घरसे निकलकर गलीमें बैठती थीं। फिर उनका बाजारमें आना-जाना शुरू हुआ; अब तो वस्त्र खरीदना, दुकानदारोंसे बातचीत, कपड़े आदि का मूल्य चुकाना-यह सब काम शुरू होगया है। पर-पुरुषोंसे बातचीत, पढ़ना, हाथ मिलाना आदि भी हो रहा है। इससे जो अनर्थ हो रहे हैं; सुधारकोंका उधर ध्यान नहीं है। वे सनातनधर्मके मारनेमें अपनी सफलता तथा अपने जीवनको धन्य मानते हैं। पर वह समय शीघ्र आवेगा, जो इनके गालोंपर थप्पड़ लगावेगा। तब वे प्राचीनोंकी दूरदर्शिता समझेंगे। तब स्त्रियोंको वे परतन्त्र एवं पर्देमें कर देंगे। कलिवर्ज्य नियमोंको फिर उन्हें कलिवर्ज्य करना पड़ेगा। अदूरदर्शी यह लोग दुष्फल मिलने पर फिर पछताते हैं। पर अब उधर कौन ध्यान दे ?। आशा है-पाठकोंने चतुर्थ-प्रश्नके उत्तरका रहस्य समझ लिया होगा।

'आलोक' पाठकोंने विधवाविवाहके विषयमें दिये जाते हुए वैदिक एवं स्मार्तपद्योंका वास्तविक-रहस्य समझ लिया। अब 'क्लीबे च च पतितेपतौ' इस पराशर वचनपर विचार किया जाता है।

(२०) 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतितेपतौ'

पूर्वपक्ष—पराशरस्मृतिका बहुत प्रसिद्ध 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतितेपतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते' (४।३२) यह पद्य जब तक विद्यमान है, तब तक विधवाविवाह कोई हटा नहीं सकता। इसमें पतिके नष्ट, मृत, संन्यासी, नपुंसक वा पतित होनेपर इन पाँच आपत्तियोंमें नारियोंकेलिए दूसरे पतिका विधान है। यह कितना स्पष्ट विधवाविवाहका प्रतिपादक पद्य है (सुधारकगण)

उत्तरपक्ष—(१) यह पद्य भी सप्तपदीसे पूर्व तक पतिकी मृत्यु आदि हो जावे, तब अन्य पतिका विधान करता है, पर यह विधवाका पुनर्विवाह नहीं बताता है। इस पर विवेचना सुनिये—यहाँपर 'पतौ' यह सप्तम्यन्त पद है। इस पद्यमें 'पतौ' में विवाद है। आर्यसमाजी यहाँ पर 'पतौ' ही मानते हैं। सनातनधर्मी यहाँ पर 'अपतौ' भी मानते हैं, 'पतौ' भी। 'अपतौ' पक्षमें प्रतिपक्षियोंकी ओरसे प्रश्न होता है कि-'यहाँ पर 'पतिते अपतौ' पाठ होनेपर 'एङः पदान्तादति' (पा० ६।१।२०६) सूत्रसे पूर्वरूप करनेपर 'पतितेऽपतौ' इस प्रकार आकृति होनी चाहिये, परन्तु पुस्तकोंमें 'ऽ' यह चिन्ह नहीं पाया जाता है'। इसपर हमारा तो यह मत है कि-प्रतिपक्षियोंके मतानुसार 'पतौ' मानने पर व्याकरण-सम्बन्धी दोष उपस्थित होता है, पर 'अपतौ' में कोई दोष नहीं आता। क्योंकि-'पति' शब्द अकेला हो, तो उसकी घि-संज्ञा नहीं हुआ करती। उसका सप्तमीमें

'पत्यौ' बनता है। परन्तु 'पति' शब्द यदि समासमें आ जावे, तो उसकी 'पतिः समास एव' (पा. १।४।८) इस सूत्रसे घि-संज्ञा होकर 'भूपतौ' बनेगा। पर यदि प्रतिपक्षीके अनुसार उक्त पद्यमें 'पतौ' यह पाठ है, तो विना समासके घि-संज्ञा कैसे हो सकती है? सो यहाँ सभी धर्मशास्त्रोंकी अनुकूलतासे 'अपतौ' यह छेद है।

यहाँ 'पति' के साथ नञ् का समास होकर और 'न' का लोप होकर 'अ' वचता है। इस प्रकार समास होनेसे विना वाधाके घि-संज्ञा हो जाती है 'अपतौ' बन जाता है। उसके बाद 'पतिते अपतौ' की सन्धिमें 'एङः पदान्तादति' (पा. ६।१।१०६) से पूर्वरूप होकर 'पतितेपतौ' यह प्रयोग बन जाता है।

(२) कई साधारण-बुद्धिके व्यक्ति जो यह कहते हैं कि-'क्लीबे च पतितेपतौ' इस पद्यमें 'ऽ' यह चिह्न नहीं पाया जाता है; तब 'अपतौ' यह छेद कैसे माना जाय? उनके ज्ञानार्थ कहना पड़ता है कि-'ऽ' यह पूर्वरूप-बोधनकेलिए प्रयुक्त किया जाता हुआ चिह्न प्राचीन नहीं है, किन्तु आधुनिक है। इस विषयमें प्रमाण लीजिये। 'भ्यसोभ्यम्' (७।१।३०) इस पाणिनिसूत्रके पातञ्जलमहाभाष्यमें इस प्रकार प्रश्नोत्तर-प्रक्रिया है—'किमयं 'भ्यम्' शब्दः, आहोस्विद् 'अभ्यम्'-शब्दः? (उक्त सूत्रमें 'भ्यम्' छेद है, वा 'अभ्यम्'? इसपर प्रति-वक्ताने पूर्वपक्षीसे पूछा कि-) कुतः सन्देहः? (तुम्हें यह सन्देह ही कैसे उठा? पूर्वपक्षीने उत्तर दिया-) 'समानो निर्देशः-(चाहे 'भ्यम्' छेद करें, चाहे

'अभ्यम्'; दोनों दशाओंमें 'भ्यसोभ्यम्' इस प्रकार समान ही लिखा जावेगा, तब पूर्वोक्त सन्देह हो सकता है?)। इससे स्पष्ट हुआ कि-पूर्वरूपमें 'ऽ' यह चिह्न नहीं हुआ करता; किन्तु पर 'अ' को पूर्व ए, वा ओका रूप हो जाता है। यदि 'ऽ' का चिह्न भाष्यकारके समयमें होता; तो महाभाष्यमें 'समानो निर्देशः' कभी कहा ही नहीं जा सकता था। तब 'ऽ' यह चिह्न अर्वाचीन प्रतिफलित हुआ, केवल पूर्व के 'पतिते' के 'ए' का रूप, पूर्वरूप हो जाता है।

भाष्यकारका समय छोड़ दीजिये, बहुत पुराना है; श्रीभट्टोजिदीक्षित तो बहुत अर्वाचीन हैं। सत्रहवीं शताब्दीमें हुए हैं। उन्होंने 'समुदाङ्भ्यो यमोग्रन्थे' (पा. १।३।७५) इस सूत्रको आत्मनेपद-प्रक्रियामें लिखकर उसकी वृत्तिमें 'अग्रन्थे' इतिच्छेदः' यह लिखा है। यदि 'यमोऽग्रन्थे' ऐसा लिखनेकी श्रीभट्टोजिदीक्षितके समयमें भी परिपाटी होती; तो फिर श्रीदीक्षितजीको 'अग्रन्थे इतिच्छेदः' लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। वस्तुतः पूर्वरूपमें 'ऽ' यह चिह्न लिखना है भी अनार्ष ही। 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०६) पाणिनिसूत्रसे 'अ' को पूर्वरूप-पूर्व 'ए' 'ओ' का रूप हो जाता है, अर्थात् 'अ' की पृथक् कोई आकृति नहीं रहती। तब 'ऽ' इस चिह्नकी आवश्यकता ही नहीं। तब 'ऽ' यह चिह्न आधुनिक सिद्ध हुआ। केवल आधुनिक-जनोंकी स्पष्टताकेलिए आजकल व्यवहृत होने लगा है। सो यदि 'पराशरस्मृति' के 'क्लीबे च पतितेपतौ' में वह

चिह्न नहीं मिलता; तब इससे 'अपतौ' यह छेद ही न निकल सके, ऐसी कोई राजाज्ञा नहीं है। महामहोपाध्याय वैयाकरण-धुरीण पं० शिवदत्तजी शर्मा अपनी टिप्पणियोंमें पूर्वरूपसन्धिमें 'ऽ' यह चिह्न नहीं जोड़ते। आजकलके स्वा. भगवदाचार्य भी अपने संस्कृतभाष्योंमें पूर्वरूपमें उक्त चिह्न नहीं लगाते; तो क्या उनमें 'अ' का छेद नहीं हो सकेगा ?।

(३) 'पति' शब्दका 'ङि' में 'पत्यौ' रूप बनता है, न कि 'पतौ'। जैसेकि-पराशरस्मृतिमें भी 'पत्यौ' (४।१७-२४) यह मुख्यपति-शब्दकी सप्तमीमें भी प्रयोग प्रयुक्त किया गया है। इसलिए फिर जो पराशरस्मृतिमें 'पतौ' दीखता है, यह मुख्यपति-केलिए नहीं है, किन्तु औपचारिक 'पति' केलिए 'अपतौ' है।

पति शब्दका 'ङि' में 'पत्यौ' रूप बनता है, न कि 'पतौ'। परन्तु समासमें घि-संज्ञा हो जानेपर वैसा बन सकता है। तब नञ्-समासमें 'अपति' शब्दकी घि-संज्ञा हो जानेपर सप्तमीमें 'अपतौ' हो जानेसे उक्त पराशर-वचनमें 'अपतौ' छेद हो जाना सर्वथा युक्त है। इससे न कोई धर्मशास्त्र-विरुद्धता होती है, और न कोई व्याकरणका विरोध वा तोड़मरोड़।

(४) नञ् के 'तत्सादृश्यम्१ अभावश्च२ तदन्यत्वं३ तदल्पता४। अप्राशस्त्यं५ विरोधश्च६ नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः' इस प्रकार छः अर्थ हुआ करते हैं। उनके क्रमसे उदाहरण हैं—१ अब्राह्मणः, २ अपापम्। ३ अनश्वः। ४ अनुदरा कन्या। ५ 'अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः'। ६ अधर्मः। इनमें 'अल्पता' अर्थ भी

बहुत प्रसिद्ध है, जिसका 'अनुदरा कन्या' 'अनमित्रोऽयं राजा' आदिमें प्रयोग मिलता है। तब यहाँ भी 'अपति' का अर्थ 'ईषत्पति' है। ईषत्पतित्व बहुसम्मतिमें 'सप्तपदी' से पूर्व तक हुआ करता है, अल्पसम्मतिमें चतुर्थीकर्मसे पूर्वतक। उस समय (सप्तपदीसे पूर्व) 'ईषत्पति' के मरने आदिपर भी वह मुख्य विधवा नहीं कहाती। अतः उसका विवाह भी 'विधवाविवाह' नहीं होता। तभी 'अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेतोर्ध्वं वरो यदि। न च मन्त्रोपनीता च कुमारी पितुरेव सा' (वसिष्ठ १७।६४) इस प्रकारके पद्य स्मृतियोंमें मिलते हैं उस समय वह लड़की पिताकी मानी जाती है, और कुमारी ही मानी जाती है; पतिकी पत्नी नहीं। सप्तपदी पूर्ण हो जानेपर तो पति भी पूर्ण जाता है। उस समय उसपर पिताका अधिकार भी नहीं होता, तब पतिकी मृत्यु हो जानेपर वह विधवा कही जाती है, उसका विवाह भी फिर शास्त्रानुसार नहीं हो सकता। इस प्रकार 'अपतौ' में जहाँ व्याकरणका विरोध नहीं पड़ता; वहाँ पर 'न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु' (मनु. ५।१५७) इत्यादि स्मृतियोंका विरोध भी नहीं पड़ता; क्योंकि—उक्त पद्य पूर्ण-पतिके विषयमें चरितार्थ हैं, तभी मनुके वाक्यमें 'पत्यौ' आया है, 'पतौ' वा 'अपतौ' नहीं। यह 'अपतौ' के छेदवाला पक्ष सुगम है।

(५) अथवा 'पतौ' मान लेनेपर भी 'पति' शब्दसे पूर्ण-पति अभीष्ट नहीं। तभी श्रीभट्टोजिदीक्षितने 'चतुर्विंशतिमतसंग्रह' के विवाहप्रकरणमें उक्त पद्यके 'पतौ' का 'सम्भावितोत्पत्तिकपति-

त्वे पूर्वस्मिन् वरे नष्टे' यह अर्थ किया है। तब फिर प्रश्न होता है कि-इस अर्थमें समास न होनेसे घि-संज्ञा न होगी; तो 'पतौ' यह प्रयोग कैसे बनेगा ?। इस पर व्याकरणके माने हुए विद्वान्, सिद्धान्तकौमुदीकी तत्त्वबोधिनी-टीकाके रचयिता श्रीज्ञानेन्द्र-सरस्वतीस्वामीने पतिशब्दपर अच्छा प्रकाश डाला है। पाठकगण देखें—'अथ कथं 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ' इति पराशरश्च। अत्राहुः—'पतिरित्याख्यातः पतिः। 'तत् करोति तदाचष्टे' इति णिचि टिलोपे 'अच इः' इति औणादिके 'इ' प्रत्यये 'णेरनिटि' इति णिलोपे च निष्पन्नोऽयं पतिशब्दः 'पतिः समास एव' इत्यत्र न गृह्यते, लाक्षणिकत्वादिति' अर्थात् यहाँ 'पति' शब्द लाक्षणिक है, 'पति'-शब्दव्यपदेश्य है, नामधारी 'पति' है, वास्तविक नहीं, प्रतिपदोक्त नहीं, तब 'पतिः समास एव' यह सूत्र भी उस लाक्षणिक-पतिशब्दमें प्रवृत्त नहीं होता। तब 'क्लीबे च पतिते पतौ' यहाँका 'पति' शब्द भी 'पतिरिति आख्यातः' इस प्रकार पति-नामधारी, किन्तु वस्तुतः 'अपति' है। जैसे कि-मनुस्मृतिके 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' (९।६९) इस पद्यमें वाग्दान-कालीन-वरका नाम भी 'पति' रखा गया है, वैसा ही पराशरके पद्यमें भी जानना चाहिये। इस 'पति' शब्दका भी अपूर्ण-पति अर्थमें पर्यवसान हुआ करता है।

(६) अथवा पराशरके पद्यमें 'अपतौ' न भी माना जाय, 'पतौ' ही माना जाय, 'पतौ' का अर्थ 'ईषत्पति' न करके 'पूर्णपति' ही किया जाय, तब 'पतिरन्योविधीयते' में 'पतिरन्यो-ऽविधीयते' इस प्रकार 'ऽ' का छेद करना पड़ेगा, ऐसे छेदका कारण अन्य धर्मशास्त्रवचनोंका तथा स्वयं पराशरप्रोक्त इससे अग्रिम-पद्योंका सामञ्जस्य है। तब प्रश्न होगा कि लोकमें सुप्का सुप्के साथ समास होता है, तिङ्के साथ नहीं; तब नञ्-समास आपने तिङ्के साथ लोकमें कैसे कर डाला ? इसपर हम कहते हैं, कि जिस प्रकार आपने पाणिनि-व्याकरणानुसार 'पत्यौ' प्राप्त होनेपर भी 'आर्षत्वात्' 'पतौ' को शुद्ध मान डाला था; उसी प्रकार हम भी 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' (महाभाष्य नदी-संज्ञासूत्रमें स्थित) इस परिभाषाके अनुसार 'सह' (पा. २।१।४)में 'सह' का योगविभाग करके 'पर्यभूषत् आदि छान्दस प्रयोगोंकी भान्ति 'विधीयते' इस तिङ्के साथ सुप्-नञ्का समास कर डालेंगे। परन्तु नहीं, यहाँ हम छान्दसताकी शरण नहीं लेना चाहते। हम यहाँ नञ्-समास करते ही नहीं, हम यहाँ 'नञो नलोपस्तिङि क्षेपे' इस वार्तिकसे नञ्के 'न्' का लोपमात्र करते हैं, शेष 'अ' बचेगा; उसका 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप होगा। 'न' का लोप 'क्षेप' अर्थमें 'अ पचसि जाल्म' की भांति निन्दामें होगा। अर्थात् पतिकी मृतकता आदिमें अन्य पतिका विधान कुत्सित है, धर्मविरुद्ध है; यह सूचित होगा। तब भी विधवा-विवाह अधर्म प्रतिफलित हुआ।

(७) अथवा न 'अपतौ' छेद किया जाय, न 'पतौ' का तत्त्वबोधिनीकारके अनुसार 'अपूर्णपति' अर्थ किया जाय, न

'अविधीयते' छेद किया जाय, सब बातें इस विषयमें प्रतिपत्ती-की ही मानी जाएँ; तब भी हमारे पत्तकी हानि नहीं। यहाँपर 'पति' से वाग्दानकालीन पति ही पराशरको इष्ट है। जैसे मनुस्मृतिके 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' (६।६६) इस पद्यमें वाग्दानकालीन वरको भी जो अभी पूर्ण-पति नहीं हुआ-का नाम भी 'पति' रखा गया है, वैसा ही पराशरके वचनमें भी जान लेना चाहिये। उसका कारण यह है कि-प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (मनु० ५।१५२) ('यत् पुनः प्रथमं प्रदानं वाग्दानात्मकं तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम्' (कुल्लूक) के अनुसार वाग्दानसे ही वरको 'पति' मान लिया जाया करता है। तब उस वाग्दानकालीन पतिके पूर्णपति न होनेसे उसके मरने आदिपर आपत्तिकाल मानकर अन्य पतिसे विवाह करना अशास्त्रीय नहीं। इस पद्यको विद्वन्मनोहरा आदि बहुत प्राचीन टीकाकारोंने वाग्दत्तापरक लगाया है। पूर्णपति अर्थ माननेपर भी श्रीमाधवाचार्य-सायणाचार्य आदि विद्वानोंने 'कलौ पञ्च न कुर्वीत' इत्यादि-वचनोंके बलसे कलियुगमें इसे अकर्तव्य माना है।

(८) अथवा कई विद्वान् पराशरस्मृतिमें-'नष्टे मृते प्रव्रजिते' (४।३२) इस पद्यके आगे 'मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्ये व्रते स्थिता। सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः' (४।३३) 'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे। तावत् कालं वसेत् स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति' (४।३४) व्यालग्राही यथा व्यालं

विलादुद्धरते बलात्। एवं स्त्री पतिमुद्धृत्य तेनैव सह मोदते' (४।३५) इन पद्योंमें सतीका ब्रह्मचर्य, तथा मृतकपतिके साथ चितान्वारोहण देखकर इनको द्विजोंका धर्म तथा 'नष्टे मृते' इस पत्यन्तरविधानको शूद्रपरक मानते हैं; तब भी उसकी अकर्तव्यता सिद्ध हो जाती है।

वस्तुतः 'नष्टे मृते' की शूद्रपरकता सिद्ध नहीं। शूद्रकेलिए भी विधवाविवाह करना अनिवार्य नहीं। मनुजीने शूद्रकेलिए कहा है-'न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति। नास्याधिकारो धर्मेस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम्' (१०।१२६) तो जब शूद्र प्रायः शास्त्रीय विधि-निषेधसे बहिर्भूत है; जब उसका समन्त्रक पाणिपीडन ही नहीं होता, जिसे विवाह कहा जा सके; तब 'पञ्चस्वापत्सु नारीणां' के केवल शूद्र ही कैसे लक्ष्य हो सकते हैं? इधर इस पद्यमें 'प्रव्रजिते' जिसका अर्थ संन्यासी है-इस लिङ्गसे यह पद्य द्विजपरक है, क्योंकि-संन्यासका अधिकार जब अब्राह्मणको ही नहीं होता, तब भला शूद्रको कैसे हो सकता है? शूद्र तो 'न शयानः पतत्यधः' इस न्यायसे पतित ही नहीं; तब 'पतिते' इस लिङ्गसे भी द्विजपरकता ही हुई। तब यह पद्य भी द्विजपरक है, वाग्दत्ताके वाग्दत्त पतिकी मृत्यु आदिमें ही यह पद्य पत्यन्तरविधान अनुशिष्ट कर रहा है, विधवाविवाह नहीं।

सो अब इस पद्यमें चाहे 'पतौ' माना जावे; चाहे अपतौ, दोनों ही पद सङ्गत हो जाते हैं। इन दोनों पदोंका चाहे 'अपूर्णपति', अर्थ किया जावे; चाहे 'पूर्णपति' कोई बाधा नहीं

पड़ती। हाँ, इतना अवश्य है कि–उक्त पद्यका सब धर्मशास्त्रोंके सामञ्जस्यसे विधवाविवाह अर्थ नहीं होगा। जिन प्राचीनोंने इस पद्यको स्त्रीपुनर्विवाहविषयक भी माना है, उन्होंने भी अन्य स्मृतियोंके अनुरोधसे कलिमें इसकी अकर्तव्यता मानी है, जैसेकि हम पूर्व सप्रमाण सूचित कर चुके हैं। परन्तु प्रायः विद्वानोंने इसे वाग्दत्तापरक ही माना है। इस अर्थमें विद्वन्मनोहरा, धर्म-रत्न, बालम्भट्टी, चतुर्विंशतिमतसंग्रह, वीरमित्रोदय, शब्दकल्पद्रुम-कोष, निर्णयसिन्धु आदि सहमत हैं; जिनके दिङ्मात्र उद्धरण आगे दिये जा सकेंगे। तब 'अपतौ' यह छेद सर्वथा ठीक है, अथवा 'पतौ' होनेपर भी अर्थ वही 'अपतौ' वाला है। अथवा 'पतौ'को आर्ष मानकर पूर्ण-पति अर्थ करने पर भी धर्मशास्त्रोंके अनुरोधसे 'पतिरन्योविधीयते'में 'अविधीयते' इस प्रकार छेद करना पड़ता है–यह हम पूर्व दिखला चुके हैं।

(६) यह प्रश्न हमपर भी लागू होगा कि–'अपतौ' आदिमें या 'पतौ' आदिके अपूर्णपति अर्थमें आपके पक्षमें भी क्लिष्ट कल्पना है, इसपर हम कहते हैं कि–नहीं। हमारे पक्षमें श्रुति, स्मृति तथा स्वयं पराशर स्मृतिका अनुग्रह है—। श्रुति कहती है–'यदेकस्मिन् यूपे द्वे रशने परिव्ययति, तस्माद् एको द्वे जाये विन्दते। यन्नैकाँ रशनां द्वयोर्यूपयोः परिव्ययति, तस्मान्नैका द्वौ पती विन्दते' (कृष्णयजुर्वेद तै. सं. ६।६-(३) ।४) यहांपर एक यज्ञमें परिवीत रशनाका अन्य यज्ञमें–चाहे कालान्तरमें भी किया जाय-पुनः परिव्ययन नहीं हो सकता, क्योंकि–वह रशना प्राथमिक

यज्ञमें उपयुक्त होजानेसे उच्छिष्ट हो जाती है; तब उसका अन्य यज्ञमें उपयोग नहीं हो सकता। इसी दृष्टान्तसे स्त्रीका अन्य पतिसे विवाह भी निषिद्ध ठहराया गया है।

श्रुतिके प्रमाणके बाद स्मृतिका प्रमाण देखिये—'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः' (९।६५) वादिप्रतिवादिमान्य मनुस्मृतिके इस पद्यमें बतलाया गया है कि-विवाहविधिमें विधवाविवाहका गन्ध भी नहीं; क्योंकि–विवाहमें 'कुमारी' तथा 'कन्या' शब्द आते हैं; जिनका अर्थ है–'अविवाहितपूर्वा'। तो फिर विवाहिताका पुनर्विवाह हो ही कैसे सकता है? सप्तपदीसे पूर्व तो विवाह कहा ही नहीं जा सकता; क्योंकि–सप्तपदी होजानेपर ही विवाहकी सम्पन्नता होती है (मनु. ८।२२७) फिर कन्यात्व हट जाता है। तब अकन्याका विवाह ही कैसे हो? विवाहके मन्त्रोंमें तो 'कन्या' शब्द प्रयुक्त किया गया है—'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः। नाऽकन्यासु क्वचिन्नॄणां लुप्त [विवाह-]धर्म-क्रिया हि ताः' (८।२२६) तब श्रुतिके-स्मृतिके विरुद्ध पराशरस्मृति विधवाविवाह बता ही कैसे सकती है? क्योंकि–'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' (रघुवंश २।२) तब 'पतौ' या 'अपतौ' होनेपर भी सप्तपदीपूर्वताका ही बोध होगा।

हमारे अर्थमें स्वयं पराशरस्मृतिका भी अनुग्रह है, क्योंकि–उक्त (४।३२) पद्यके अनन्तर ही पराशर जी कहते हैं—'मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता। सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते

ब्रह्मचारिणः' (४।३३) 'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे। तावत्कालं वसेत् स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति' (४।३४) 'जारेण जनयेद् गर्भं मृते त्यक्ते गतेपतौ। तां त्यजेदपरे राष्ट्रे पतितां पापकारिणीम्' (१०।३१) यहांपर श्रीपराशरने पतिव्रताकी प्रशंसा, सतीकी सद्गति, अन्य पतिसे सम्बन्धको जार-सम्बन्ध तथा नरकप्रद माना है। तब यदि श्रीपराशरजी 'क्लीबे च पतिते-पतौ'से विधवाविवाह लेते हैं; तब वे अपने वचनके विरोधी-तथा श्रुतिस्मृतिके विरोधी सिद्ध होकर अप्रमाण हो सकते हैं। पर ऐसा नहीं है, इसलिए उक्त पद्यमें चाहे 'पतौ' चाहे 'अपतौ' छेद किया जाय; उसका वाग्दानकालीन अपूर्णपति ही अर्थ होगा।

(१०) कई लोग 'पत्यौ' के स्थानमें 'पतौ' रखनेमें 'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं न कारयेत्' यह कारण देते हैं, यह तुच्छ है। यह वचन अर्थवाद है। इसका तात्पर्य छन्दोभङ्ग न करनेमें है, न कि शुद्धपदनिवेशके सम्भव होनेपर भी अशुद्ध शब्द रखनेमें। 'क्लीबे च पतिते धवे' अथवा 'पत्यौ त्यक्ते मृते गते' आदि शुद्ध पाठ होसकनेपर भी 'पतौ' शब्द लेना 'अपतौ' अर्थ या शब्दका परिचायक है। 'जारेण जनयेद् गर्भं मृते त्यक्ते गते-पतौ' इस पराशरके पद्यमें भी 'पतौ'में 'अपतौ' ही इष्ट है; क्योंकि–जाररताकी दृष्टिमें अपना पति भी गौणपति होनेसे 'अपति' है। पराशरजीने अपनी स्मृतिमें मुख्य पतिके अर्थमें 'पत्यौ'का (४।१७,२४) प्रयोग किया है।

इसलिए सब आपत्तियोंके निवारणार्थ 'क्लीबे च पतितेपतौ'में 'अपतौ' छेद ही ठीक है, अथवा 'पतौ' होनेपर भी 'पतिरिति आख्यातः' इस प्रकार अपूर्ण पति ही इष्ट है। फलतः इस पद्यसे वाग्दत्ता कन्याके पतिकी मृत्युमें तो उसका अन्यसे विवाह इष्ट है, पर विधवा-स्त्रीका विवाह शास्त्रीय-दृष्टिसे अकर्तव्य ही है। फिर भले ही उसे कोई शूद्र तो क्या, कोई द्विज भी करता रहे। शास्त्र तो स्पष्ट कहता है—'न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद् भर्तोप-दिश्यते' (मनु. ५।१६२)।

पर कई व्यक्ति कहते हैं कि—"पञ्चस्वापत्सु नारीणां' में 'नारी' शब्द है, 'कन्या' शब्द नहीं; तब इससे विधवाविवाह ही सिद्ध है, वाग्दत्ता-कन्याका विवाह नहीं, इसपर यह स्मरण रखना चाहिये कि—'नारी' शब्द 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' (पा. ४।१।७३) इस सूत्रस्थित 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' इस गणसूत्रसे जाति अर्थमें ङीन् प्रत्यय एवं वृद्धि करनेपर बनता है। तब जातिवाचक होनेसे यह लड़कीका नाम भी हो-यह स्वाभाविक है। 'नारी' शब्दका पर्यायवाचक 'स्त्री' शब्द भी होता है, इसका 'स्त्यायतः शुक्रशोणिते यस्यां सा स्त्री, स्त्रियः स्त्यायतेरपत्रपणकर्मणः' (निरु. ३।२१।२) यह निर्वचन दीखनेसे विवाहिताका नाम सिद्ध होता है; पर यह भी जातिवाचक होनेसे लड़कीके नाममें भी प्रयुक्त किया जाता है, जैसे कि–मनुस्मृति (२।३३), आश्वला.गृ. (१।१५।६), पारस्क. (१।१७।३) में नामकरणमें ११ वें दिनकी लड़कीकेलिए भी 'स्त्री' शब्द प्रयुक्त किया गया है। मनुजीने

'स्त्रीणां धर्मान्निबोधत' (५।१४६ में) स्त्रियोंके धर्म कहनेकी प्रतिज्ञा की है, उसमें 'बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता' (५।१४७) 'बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्' (५।१४८) बालाके धर्म बताकर 'स्त्री' में बालाका भी ग्रहण मान लिया है। 'युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु' (३।४८) यहाँ तो मनुजीने जातमात्रा लड़कीका नाम भी 'स्त्री' कहा है। तब 'स्त्री' के पर्यायवाचक 'नारी' के भी उक्त पराशरपद्यमें जातिशब्द होनेसे 'अपतौ' इस लिङ्गको देखकर वाग्दत्ता-कन्याका नाम है। 'नारी' का 'नरस्य तुर्वा धर्म्या नारी' यह निर्वचन भी माना जाता है। 'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (५।१५२) इस मनुवचनसे उस वाग्दत्ता कन्या पर पतिका स्वामित्व हो जानेसे उस 'कन्या' को भी 'नारी' कहा जा सकता है—इसमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं। तब स्पष्ट है कि—उक्त पराशरपद्यमें वाग्दानकालीन पतिके पूर्णपति न होनेसे उसे ईषदर्थक नञ् से 'अपति' कहा गया है; अथवा 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' (९।६९) इस मनुजीके वचनकी भांति उस अपूर्ण-पतिको पति शब्दकी लाक्षणिकतावश उसकी 'घि' संज्ञा होनेसे उसे 'पतौ' कहा गया है, अथवा आर्षतासे 'पतौ' माननेपर भी उक्त मनुके पद्यकी तरह वाग्दान-कालीनको भी 'पतौ' कहा गया है—आशा है 'आलोक' पाठकोंने यह बात समझ ली होगी)।

(२१) 'पतौ या अपतौ' (?)

(१) पूर्वपक्ष—गत लेखमें 'पतौ या अपतौ' छेदमें विचार किया गया है। यद्यपि मैं विद्वानोंकी कक्षामें नहीं हूँ, तथापि मैं भी इस विषयमें तत्त्व रखता हूँ।

१ 'पतितेपतौ' में अकारका प्रश्लेप कर व्याकरणकी अशुद्धिका मार्जन तो हो सकता है, परन्तु अन्यत्र 'सीतायाः पतये नमः' इस तथा 'जारेण जनयेद् गर्भं मृते त्यक्ते गते पतौ' इस पराशरके ही वचनमें, सिवा आर्ष प्रयोग माननेके कैसे निर्वाह हो सकता है? अतः व्याकरणकी अनुपपत्तिके आधारपर 'अपतौ' के अर्थमें ऋषिका तात्पर्य लगाना ठीक नहीं।

२ तत्त्वबोधिनीकारकी रीतिसे आख्यानार्थकण्यन्तसे 'पति' शब्द सिद्ध कर 'पतिः समास एव' इस नियमसे इसे घि संज्ञाके निषेधके पचड़ेसे अलग रखा जा सकता है। इस लक्षणनिष्पन्न 'पति' का अर्थ 'वाग्दत्तापति' ही है, परन्तु 'सीतायाः पतये नमः' इत्यादि स्थलमें उक्त अर्थ सङ्गत नहीं होता।

३ दूसरी बात यह है कि—अकारका प्रश्लेप करनेपर या तत्त्वबोधिनीकारकी रीतिसे वर्णित वाग्दत्तापतिरूप अर्थमें 'पतिरन्यो विधीयते' इस वाक्यकी सङ्गति नहीं लगती। 'अन्यपति' शब्दको प्रथम-पतिकी अपेक्षा बनी रहती है। यदि प्रथम-पुरुष अपति है; तो द्वितीय पुरुषमें अन्यपतित्व नहीं आसकता। यहाँपर प्रथमत्व-अन्यत्व एक प्रकारके ही पतिके अर्थमें पुरुषवृत्ति प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु स.ध. की रीतिके अनुसार यह अर्थ

ऋषिको विवक्षित नहीं होना चाहिये, इसलिए यहाँपर अकारका प्रश्लेष बताकर या 'पतितेपतौ' में अकारका प्रश्लेष न माननेपर 'विधीयते' में अकारका प्रश्लेष बताकर दाँव-पेच खेला गया है।

४ असलमें किसी भी लिखित या मुद्रित प्रतिमें आजतक लुप्त अकारका 'ऽ' यह चिह्न नहीं पाया जाता, और न किसी टीकाकारने अकारप्रश्लेषकी चर्चा की है। उन्हें भी उक्त अर्थ खटकना चाहिये था, प्रत्युत तत्त्वबोधिनीकार आदि विद्वानोंने अकारप्रश्लेषकी ओर ध्यान न देकर घिसंज्ञक पति-शब्दके साधनकी कोशिश की है—अस्तु।

५ फिर किस प्रकार अर्थकी सङ्गति होनी चाहिये? इसका उत्तर यह है कि—इस श्लोकके अग्रिम दो श्लोकोंको साथ मिलाकर अर्थकी सङ्गति लगाई जा सकती है। जैसे—'नष्टे मृते प्रव्रजिते' के बाद 'मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता। सा मृता लभते स्वर्गं यथा ते ब्रह्मचारिणः'। 'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे। तावत्कालं वसेत् स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति'।

यहाँपर यह ध्यान देने योग्य है कि—स्मृतिकारोंकी यह एक शैली है कि—पहले लोक-सम्भावित अर्थका अनुवाद करके फिर द्वितीय वाक्यमें उसका निराकरण कर दिया जाता है। जैसे मनुस्मृतिमें नियोगकी रीति बताकर पीछे उसका निराकरण किया गया है, और वही मनुजीका स्वमत है। इसी प्रकार अन्य स्थलमें भी 'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने। प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला' इस वाक्यमें प्रथम मांस-

भक्षणादि तथा रागतः लोकप्रवृत्तिका अनुवाद कर अन्तमें 'निवृत्तिस्तु महाफला' इस वाक्यसे निवृत्ति बताई गई है। यहाँपर 'तु' पद पूर्वपक्षका व्यावर्तक है। श्रीमद्भाग॰में भी इसी रीतिका अनुसरण किया गया है—'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना। ......आसु निवृत्तिरिष्टा' यहाँ भी मैथुन आदि लोकरीतिका अनुवादकर अन्तमें निवृत्ति ही बताई गई है। 'सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति' इस न्यायसे वही अर्थ सिद्धान्त बताया गया है।

इस शैलीका अनुसरणकर पराशरऋषिने पहले यह दिखलाया कि—प्रायः इन उक्त पाँचों अवस्थाओंमें नारियाँ द्वितीयपति कर लिया करती हैं, परन्तु जो नारी पतिके मरनेपर ब्रह्मचर्यसे आयु बिताती है, वह स्वर्गको जाती है; अर्थात् द्वितीय-पति करना अस्वर्ग्य है। यदि द्वितीय-पतिकी विधि हो वा वह शास्त्रसम्मत पक्ष हो, तो ब्रह्मचर्यका कुछ भी महत्त्व शेष नहीं रह जाता, श्लोक ही सारा व्यर्थ हो जाता है। शेष चार अवस्थाओंकेलिए तीसरा श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसका आशय यह है कि—जो नारी शेष चार अवस्थाओंमें पतिका साथ देती है, ५वीं अवस्था पतिके मर जानेपर सती होती है, वह ३॥ करोड़ वर्ष तक स्वर्गमें निवास करती है। ब्रह्मचर्य तथा पत्यनुगमन-यह दो ही पक्ष विधवाओंकेलिए सकलशास्त्रसम्मत हैं।

६ इस प्रकार जब उक्त पद्यकी संगति लग जाती है, तब व्यर्थकी खींचातानी भूल है। जैसे कई लोग 'न मांसभक्षणे

दोष:' इत्यादि पद्यमें खींचातानी करते हैं-क्या मांसभक्षणमें दोष नहीं ? अपितु है, यह काकुसे सङ्गति स्थूलबुद्धि-पुरुषोंके मुखमुद्रणार्थ लगाई जाती है, न कि सिद्धान्तकी रीतिसे।' (श्रीद्वारकानाथ शास्त्री)

उत्तरपक्ष—हमने 'पतौ या अपतौ' दोनों पक्षोंसे सनातनधर्म-पक्षकी सिद्धि दिखलाई है; पर पूर्वपक्षमें एक सनातनधर्मी भी लेखकने 'अपतौ' छेद करनेमें वा पतौ छेद करने तथा उसका वाग्दत्ता पति अर्थ करनेमें हमारा 'दाँव-पेच खेलना' माना है। स्वयं पूर्वपक्षीने पराशरपद्यमें 'पतौ' ही मानकर उक्त पद्यको लोक-सम्भावित अर्थका अनुवादक अर्थात् विधवाविवाहका पोषक मानकर अग्रिम 'मृते भर्तरि या नारी' आदि पद्योंको उस पक्षका बाधक बताया है।

थोड़ी देरकेलिए 'अपतौ' आदि छेद करना 'दाँव-पेच खेलना' भी मान लिया जाय, तथापि जैसे वितण्डा आदि पदार्थ क्षेत्रकी रक्षाकेलिए कण्टक-वृतिकी तरह तत्त्वाध्यवसायकी रक्षा-केलिए (न्यायदर्शन ४।२।५०) मान लिये जाते हैं; वैसे ही सनातनधर्मकी रक्षार्थ कभी 'कण्टकेनेव कण्टकम्' न्यायको चरितार्थ भी कर लेना पड़ता है। पर पूर्वपक्षी सनातनधर्मी होकर 'विभीषण' क्यों बनता है ? उसका यह प्रयास निरर्थक है।

पूर्वपक्षी लिखता है—'यदि प्रथम पुरुष अपति है; तो द्वितीयमें अन्यपतित्व नहीं आ सकता। यहाँपर प्रथमत्व-अन्यत्व एक प्रकारके ही पतिके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं'। पर यह कथन

तब ठीक होता; जब 'अपतौ' का अर्थ हमारे मतमें 'पत्यभाव' इष्ट होता, नञ् का अर्थ हमारे मतमें यहाँ निषेधार्थक इष्ट होता; परन्तु ऐसा नहीं है। हमारे मतमें तो 'अपति'का अर्थ 'ईषत्पति' विवक्षित है। 'ईषत्पति' भी तो पति ही होता है। मनुस्मृतिमें लिखा है—'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (५।१५२)। यहाँपर कुल्लूकभट्ट लिखते हैं—'यत् पुनः प्रथमं वाग्दानात्मकम्; तदेव भर्तुः स्वाम्य-जनकम्। ततश्च वाग्दानादारभ्य स्त्री भर्तृ-परतन्त्रा:'। यहाँपर वाग्दानसे ही स्त्री पति वाली मान ली जाती है। तभी तो मनुजीने 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः।' (९।१६९) उस वाग्दानकालीनको भी 'पति' शब्दसे लिखा है। हाँ, वहाँपर भार्यात्वसंस्कारसम्पादक-सप्तपदीके न होनेसे वैवाहिक-पूर्णता न होनेके कारण उसे पूर्णपति नहीं कहा जाता। तो जब 'ईषत्पति' भी 'पति' हुआ; तब उसके मरने आदिपर 'पतिरन्यो विधीयते' कहकर अन्य पतिकी अभ्यनुज्ञा दी गई है। इसमें भेद यह है कि–'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' (९।६९) इस मनुपद्यके अनुसार वाग्दत्तापतिके मरनेपर वाग्दत्ता उस विधवाका नियोग-विधान था; और 'सप्त पौनर्भवाः कन्या वर्जनीयाः कुलाधमाः। वाचादत्ता, मनोदत्ता, कृतकौतुकमङ्गला' इत्यादि कश्यपवचना-नुसार वाग्दत्ता आदि कन्याएँ भी युगान्तरमें पतिके मरनेपर अन्य पति करनेसे 'पुनर्भू' मानकर निन्दित समझी जाती थीं, पर उक्त पराशर-वचन कलियुगकेलिए पूर्ववचनोंका बाधक होकर

उसके अन्यपति-विधानको न्यायसिद्ध सिद्ध करता है, उसे पुनर्भू नहीं मानता। नहीं तो फिर पूर्वपक्षीके अनुसार वाग्दान-कालीन पति मर जानेपर वाग्दत्ता कन्याएँ 'पुनर्भू' बनकर निन्दित बनें, अथवा मनु (९।७०)-याज्ञवल्क्य प्रोक्त नियोग ही करें; उनका विवाह न्याय्य न हो।

मनुके 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः' (९।६९) इस पद्यमें वाग्दानकालीन अधिपति अर्थात् अपूर्ण पतिको भी 'पति' कहा गया है। उसके मरनेपर 'देवर' अर्थात् अन्य पतिको उसमें नियुक्त किया गया है, तभी 'देवरः' की 'द्वितीयो वरः' यह प्रतिपक्षसे इष्ट निरुक्त-प्रोक्त निरुक्ति भी घट जाती है। यहाँ वाग्दानकालीन पतिके मरनेपर फिर देवरका द्वितीय-पतित्व कहा गया है। पूर्वपक्षीके अनुसार तो उसका द्वितीयत्व संगत नहीं होता। पर यहाँ 'देवर' शब्दसे उसका 'द्वितीयपतित्व' सूचित किया ही गया है। इसी प्रकार 'क्लीबे च पतितेपतौ' (४।३२) यहाँपर भी अपति-ईषत्पति-वाग्दानकालीन पति भी पति ही होता है, तब 'पतिरन्यो विधीयते' के अन्यत्वमें कोई बाधा नहीं पड़ती। इसका एक अन्य उदाहरण भी देख लेना चाहिये।

'वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यतः' यह काव्य-प्रकाशमें सन्देहसङ्करालङ्कारका एक प्रत्युदाहरण दिया गया है। यहाँपर 'वक्त्रेन्दौ सति अपरः शीतांशुः' कहा गया है। पहला इन्दु केवल 'इन्दु' नहीं है, 'किन्तु वक्त्रेन्दु' है। यह उसका भेद होनेपर भी 'अपरः शीतांशु' (इन्दुः) के अपरत्वमें कोई बाधा नहीं आती। हाँ, इस पद्यमें 'अपरः शीतांशुः' न कह कर 'अपरः इन्दुः' होना चाहिये था; इससे पर्यायगत भग्नप्रक्रम न पड़ता, पर पद्यकी विवशतावश कवि यहाँ वैसा न कर सका। इसी प्रकार वाग्दानकालीन पतिके अथवा तत्त्वबोधिनीकारके अनुसार लाक्षणिकपतिके भी पति-विशेष होनेसे उसके मरनेपर पूर्णपतिसे कुछ भेद होनेपर भी अन्यपति करनेपर अन्यपतित्वमें कोई बाधा नहीं आती। बल्कि प्रथमत्व तथा अन्यत्वमें कुछ थोड़े भेदका होना ठीक है, नहीं तो फिर प्रथमत्व तथा अन्यत्व न होकर समानत्व, बल्कि समानत्व भी क्या—अभिन्नता हो जायगी, जोकि इष्ट नहीं।

उक्त पराशरके वचनका मूल 'या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽथान्यं विन्दते परम्। पञ्चौदनं तावजं ददातो न वियोषतः' (अथर्ववेद-शौसं. ९।५।२७) यह वेदमन्त्र है। यहां 'या'से कन्या (कुमारी) विवक्षित है, 'पूर्वं पतिं' से 'वाग्दानकालीन-पति' इष्ट है। 'अन्यं पतिं'से भविष्यत् वैवाहिक-पति इष्ट है। तब फिर प्रश्न हो सकता है कि—फिर पराशरके उक्त (४।३२) पद्यमें 'अपतौ' न मानकर 'पतौ' ही क्यों न मान लिया जाय? इसका उत्तर यह है कि—दोनों ही पाठ हो सकते हैं, अर्थ भी दोनोंका समान (वाग्दान-कालिक पति) हो सकता है; इसकेलिए हमारा गत निबन्ध ही साक्षीभूत है। 'अपतौ वा पतौ' दोनोंसे ही समान-अर्थ निकल आता है। 'अपतौ' पक्षमें जरा सुगमता होती है। तत्त्वबोधिनी-कारके अनुसार भी 'पतौ'में घिसंज्ञा प्राप्त होजानेपर भी जरा

प्रक्रियागौरव करना पड़ता है। अन्योंके अनुसार 'पतौ' रखनेपर उसका वाग्दानकालिकपति अर्थ करनेपर भी 'आर्षता'का गौरव करना पड़ता है।

अब जबकि—'विद्वन्मनोहरा, धर्मरत्न, बालम्भट्टी, चतुर्विशतिमतसंग्रह, वीरमित्रोदय, शब्दकल्पद्रुमकोष, निर्णयसिन्धु' आदि उक्त पराशरीयपद्यमें वाग्दानकालीन-पति ही अर्थ मानते हैं, तब क्या पूर्वपक्षीके अनुसार सभी दांव-पेच खेलने वाले हैं? म. म. पं० शिवदत्तजी, पं० भीमसेन जी, म. म. पं० गिरिधर शर्मा आदि भी यही मान चुके हैं; बल्कि—'अपतौ' छेद स्वीकार कर चुके हैं, इस प्रकार अन्य सनातनधर्मी विद्वान् भी यह मानते हैं, तब क्या यह सब दांव-पेच खेलने वाले हैं? यहांपर 'यद्यपि मैं विद्वानोंकी कक्षामें नहीं हूँ' यह कहकर भी सभी विद्वानोंपर आक्रमण करना लेखकका क्या व्यक्त कर रहा है?

जब सभी विद्वानोंने इस पद्यको वाग्दानकालीन माना है; तब चाहे कोई 'पतौ' माने, चाहे 'अपतौ', चाहे कोई 'पतौ'को आर्ष मानकर निर्वाह करे, या नञ्-समास करके 'घि' संज्ञा कर 'अपतौ' माने; चाहे लाक्षणिक-पतिका अर्थ करके घिसंज्ञामें 'पतौ' माने, अर्थ उसका 'ईषत्पति' ही हुआ, जिसका सप्तपदीपूर्वतामें पर्यवसान हो जाता है, यों तात्पर्य समान होगया। जब वाग्दत्तारूप-पति अर्थ सभीको विवक्षित है, तब 'पतिरन्यो विधीयते' भी सभीके सामने था; तो क्या सभी विद्वान् 'दांव-पेच' खेलने वाले बने कि—किसीने इसपर विचार नहीं

किया, वा उसे छिपाया !!!

'क्लीबे च पतिते पतौ'में तत्त्वबोधिनीकारकी रीतिसे सिद्ध पति-शब्दको 'पतिः समास एव' इस नियमसे जब पूर्वपक्षीके अनुसार भी अलग रखा जा सकता है, और उसमें घिसंज्ञा हो सकती है, और उसी 'पतौ'से पूर्वपक्षीके अनुसार भी 'वाग्दत्तापति' अर्थ लिया जा सकता है; तब 'पतौ' भी तो गत-लेखमें हमने बताया ही था; तब पूर्वपक्षी व्यर्थ क्यों आक्षेप करता है?

जोकि—पूर्वपक्षीने 'सीतायाः पतये नमः' 'जारेण जनयेत्... मृते त्यक्ते गतेपतौ'में आर्षताके बिना निर्वाह न होना माना है, उसमें भी दूसरे पद्यमें 'अपतौ' ही है, क्योंकि—जारकी अपेक्षा उस छिनाल-स्त्रीकी दृष्टिमें अपना पति भी ईषत्पति-गौणपति हैं, अथवा 'अपतौ (वाग्दत्तापतौ) मृते गते वा सति 'पतिरन्यो विधीयते' इत्यनुशिष्टं वैवाहिकपतिं न कृत्वा जारेण गर्भं जनयेत्, पापकारिणीं पतितां तामपरे राष्ट्रे त्यजेत्' इस अन्वयसे वहां 'घि' संज्ञा वाला ईषत्पति इष्ट है; तब आर्षता माननेकी यहां आवश्यकता नहीं।

'सीतायाः पतये' को फिलहाल अप्रकृत होनेसे प्रतिपक्षीमहाशय छोड़ ही दें, अथवा 'सीतायाः पतये' में भी लोकविलक्षण पतित्व इष्ट होनेसे यहांपर भी 'पतिरित्याख्यातः' यह तत्त्वबोधिनीप्रोक्त लाक्षणिक-अर्थ संगत हो सकता है। तब उसे भी तत्त्वबोधिनीके कहे अनुसार 'पतिः समास

एव' इस नियमसे अलग रखा जा सकता है। तत्त्वबोधिनीकारने पराशरके वचनके साथ 'सीतायाः पतये' को भी पूर्वपक्षमें उपक्षिप्त करके उसके उत्तरमें उसे भी अलौकिक पतित्ववश लाक्षणिक ही बताया है, तब उसे विना आर्ष माने भी समाधान होगया; वैयाकरणधुरीण-श्रीज्ञानेन्द्रसरस्वतीने उसका समाधान किया ही तो है। तब उसमें आर्षताकी रट लगाना पूर्वपक्षीकी व्याकरणमें अन्तर्मुखता न होना बता रहा है। 'सीतायाः पतये'में भी आर्ष माननेकी आवश्यकता नहीं। अथवा वहां 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' मानकर 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा' (पा. १।४।९)से घिसंज्ञा कर दीजिये। सब स्थान समान-समाधान अनिवार्य नहीं। अथवा 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।३।१४)में बहुलग्रहणको सर्वोपाधि-व्यभिचारक मानकर इससे 'वाचस्पति'की तरह 'सीतायाः पतये'में षष्ठीका अलुक् कर दीजिये, तब घिसंज्ञा सुलभ हो जायगी। वाचस्पतिकी भांति 'सीतायाः पतये'में 'षष्ठ्याः पतिपुत्र' (८।३।५३)से 'स' तो न होगा; क्योंकि—उक्त-सूत्र छान्दस है। और यह लौकिक-प्रयोग है।

पूर्वपक्षीका यह कहना भी कि—'असलमें किसी भी लिखित तथा मुद्रित प्रतिमें लुप्त अकारका 'ऽ' यह चिह्न नहीं पाया जाता' व्यर्थ है। अकार लुप्त नहीं होता, किन्तु वह पूर्व (ए-ओ)के रूपमें हो जाता है। तब उसे 'पतितेपतौ' इसी रूपमें ही लिखा जायगा। चाहे फिर कोई आधुनिक, स्पष्टताकेलिए 'पतितेऽपतौ' लिखे, या 'पतितेपतौ' लिखे। 'भ्यसोभ्यम्'में कहा हुआ भाष्यकारका कथन

गत लेखमें ही देख लेना चाहिये। 'हयवट्' पक्षमें 'रलोव्युपधात्' सूत्रमें भाष्यकारने 'रलः, अव्, व्युपधात्' छेद माना है, पर न तो वहां 'ऽ' कहीं लिखा है, न दूसरा 'व्'। तथापि अनुमान करना पड़ता है कि—'रलोव्युपधात्' यहाँपर पहले दो 'व्' रहे होंगे, चाहे वे 'अनचि च' के द्वित्वके ही क्यों न रहे हों। यह 'ऽ' चिन्ह उसमें न तो तब था, न अब है। इसी प्रकार निरुक्तमें 'तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यतेयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानां' (१।२।१-२) यह पाठ है, यहाँ 'उपपद्यते' और 'युगपत्' में 'ऽ' का कोई चिन्ह नहीं; पर इसमें 'अयुगपत्' यह छेद करना पड़ता है। तब क्या प्रकरणको देखकर 'अ' का छेद करनेपर पूर्वपक्षी इसमें दाँव-पेच मान लेगा?' वस्तुतः 'ऽ' यह पूर्वरूपका चिन्ह तो है ही अनार्ष। केवल इसका पदपाठोंमें समास आदिमें अवग्रहके प्रदर्शनार्थ प्रयोग होता था, पूर्वरूप आदिमें नहीं।

यदि कोई टीकाकार अकार-प्रश्लेषकी चर्चा करता; तब तो पूर्वपक्षी उसे मानता; परन्तु इसी प्रकार 'नष्टे मृते' का लोकसम्भावित अर्थ देकर उसका अग्रिम-पद्योंसे निराकरण भी किसी टीकाकारने नहीं माना; तब पूर्वपक्षीने उसे ही ग्राह्य कैसे किया? जब प्रायः सभी टीकाकारोंको 'पतौ' का यथाश्रुत अर्थ खटका; तभी तो उन्होंने वहाँ वाग्दत्ता-पति अर्थ माना है, तब पूर्वपक्षीने उसे ग्राह्य क्यों नहीं किया? तत्त्वबोधिनीकारको भी 'पतौ' का आपाततः प्रतीयमान अर्थ खटका; तभी तो उन्होंने 'पतौ' में लाक्षणिक-पतित्व दिखलाया; तब आक्षेप्ताका 'उन्हें

भी उक्त अर्थ खटकना चाहिये था' यह आक्षेप व्यर्थ है। यदि उन्हें न खटकता; तब वे उस पतिकी लाक्षणिकता क्यों बताते? शेष रहा कि-उन्होंने अकार-प्रश्लेषकी चर्चा नहीं की; सो यह आवश्यक नहीं; सबको समाधानमें समान ही स्फूर्ति आवे; 'अपतौ' करनेसे सब कठिनताएँ हल हो जाती हैं। इस पक्षमें 'घि' संज्ञाकी सरलता है। प्रक्रिया-गौरव भी नहीं, सब स्मृतियों-के वचनोंका सामञ्जस्य भी है ही।

पूर्वपक्षीने 'नष्टे मृते' को पूर्वपक्ष माना है, उसमें 'न मांस-भक्षणे दोषः' 'लोके व्यवायामिष' यह उदाहरण रखे हैं; पर यह व्यर्थ है, क्योंकि-समान ही श्लोकोंमें पूर्वपक्ष-उत्तरपक्षकी अभीष्टता सम्भव है; चतुर्थपादसे पूर्वपादत्रयकी बाध्यता सम्भव है। पर पराशरवचनमें एक पद्य नहीं, किन्तु तीन हैं। मनुस्मृति-के 'देवराद्वा सपिण्डाद् वा' में प्रोक्त नियोगका 'नान्यस्मिन् विधवा नारी' से निराकरण करना-यह पूर्वपक्षीका दृष्टान्त भी यहाँ समन्वित नहीं होता, क्योंकि-वहाँ 'नान्यस्मिन् विधवा नारी' में 'न' कहकर पूर्वपक्ष (नियोग) का खण्डन कर दिया गया है। जैसे 'न्यायदर्शन' में 'तदप्रामाण्यमनृत–' (२।१।५७) कहकर फिर 'न, कर्मकर्तृसाधन-वैगुण्यात्' (२।१।५८) में पूर्वपक्षका 'न' शब्दसे खण्डन कर दिया है; पर पराशरके वचनमें यह नहीं घटता। 'नष्टे मृते' के बाद 'मृते भर्तरि या नारी' में पूर्वके निषेधका वाचक 'न' शब्द नहीं है, जिससे पूर्वपद्यका निराकरण ग्रन्थकारको विवक्षित हो।

पूर्वपक्षीका यह कथन भी कि-'इस शैलीका अनुसरण कर पराशर-ऋषिने पहले यह दिखलाया कि-प्रायः इन पाँच अवस्थाओंमें नारियाँ द्वितीय पति कर लिया करती हैं' ठीक नहीं है, क्योंकि-श्रीपराशरको यह अर्थ विवक्षित नहीं है। उक्त पद्यमें 'पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते' यह पाठ है, 'नारीभिः पतिरन्यो विधीयते', यह पाठ नहीं है, जिससे पूर्वपक्षि-सम्मत अर्थ हो सके। 'आपत्सु' पाठ है, 'अवस्थासु' नहीं।

'नष्टे, प्रव्रजिते, क्लीवे, पतिते' इन चार अवस्थाओंमें 'भर्तारं यानुगच्छति' पतिका साथ देती है' ऐसा अर्थ भी पूर्व-पक्षीका ठीक नहीं। पति संन्यासी हो जाय तो क्या पत्नी उसके साथ जाय? क्या संन्यासी पूर्वपक्षीके मतमें पत्नीको साथ रख सकता है? अथवा वह संन्यासिनी हो जाय, यही उसका साथ देना होगा?। पति यदि पतित हो जाय, मुसलमान हो जाय; तो क्या स्त्री उसका साथ दे? अपना हिन्दुधर्म छोड़कर मुसलमान हो जाय, तभी उसे ३॥ करोड़ वर्ष तक स्वर्ग मिलेगा? यदि वह हिन्दु बनी रहे, ब्रह्मचर्य रखे; तो उसे साधारण स्वर्ग प्राप्त होगा?। तब पतित होना तो ब्रह्मचर्यसे बहुत अच्छा हुआ। अथवा वह हिन्दु बनी रहकर मुसलमान पतिके साथ चली जाय, तो क्या पतिके साथ खान-पान तथा विहार आदि उसकी इच्छा-नुसार करे, वा निषेध कर दे? किस दशामें उसे ३॥ करोड़ वर्ष स्वर्ग मिलेगा? पति यदि नष्ट (गुम) हो जाय; तो क्या स्त्री भी गुम हो जाय? वा गुम हुए पतिके साथ यदि चली जाय, तो

पतिका गुम होना क्या हुआ? पति यदि क्लीव बन जावे; तो क्या स्त्री भी क्लीव बन जाए?]।

वस्तुतः 'मृते भर्तरि' यह पद्य भर्ताकी मृत्युमें स्त्रीका ब्रह्मचर्य बताता है। 'तिस्रः कोट्यः' पद्य भर्ताकी मृत्युमें अनुगमन-स्त्रीका सहमरण बताता है। इन दोनों पद्योंका 'नष्टे मृते' से कोई पूर्वपक्षोत्तरपक्षभाव नहीं है। 'नष्टे मृते' स्वतन्त्र पद्य है। उसमें सप्तपदीसे पूर्वतक पतिकी मृत्यु आदि आपत्तिमें अन्य पतिका विवाहविधान बताया है। इस स्मृतिके कलियुगकेलिए व्यवस्थापित होनेसे ऐसी वाग्दत्ता स्त्रीको कश्यपादि-वचनानुसार अब 'पुनर्भू' न मानना पड़ेगा; तथा मनुजीके अनुसार उस वाग्दत्ताको नियोग-परतन्त्र न रहना पड़ेगा।

पूर्वपक्षीके अनुसार तो फिर वाग्दत्ताके पतिके मरनेपर भी वह लड़की विवाह न कर सकेगी, वा विवाह करनेपर नरकमें गिरेगी-यह दोष आता है। अन्य दोष यह है कि-अन्य नारद-आदि स्मृतियोंमें 'नष्टे मृते' यह श्लोक इसी रूपसे आया है, परन्तु उसके आगे 'मृते भर्तरि' आदि श्लोक नहीं आये। तब पूर्वपक्षीके मतानुसार बाध्यता न होनेसे वहाँ विधवा-विवाह न्याय्य हो जाएगा।

सबसे भारी दोष है सनातनधर्मकी हानि। इसे यों समझिये कि-जब विधवाविवाहविषयमें आर्यसमाज-सनातनधर्ममें शास्त्रार्थ छिड़ता है; तब आर्यसमाजी लोग 'नष्टे मृते' इस पद्यको ही अपने पक्षकी पुष्टिकेलिए रखते हैं। जब उन्हें एक सनातनधर्मी पण्डित श्रीद्वारकानाथजीका कथा मिल जाय, कि-यह पद्य विधवाविवाह-विषयक है, तब तो उनके पौ-बारह हैं। उस समय 'मृते भर्तरि' आदिकी उत्तरपक्षता तथा 'नष्टे मृते' की पूर्वपक्षतारूप सूक्ष्मतामें कोई नहीं जाता। बल्कि वे कह सकते हैं कि-'विधवाका ब्रह्मचर्य विधवा-विवाहसे उत्तम है, यह हम भी मानते हैं, पर विधवा-विवाहको 'नष्टे मृते'में नरकप्रद नहीं माना गया। सम्भव है कि-'पुनर्विवाह करनेवाली मरकर स्वर्ग न जाय, पर नरकमें भी न जायगी; क्योंकि यहां ऐसा लिखा नहीं गया। वह फिर मनुष्यलोकमें आ सकती है; इससे हमारे (आर्यसमाजी) पक्षकी कोई हानि नहीं। वास्तवमें तो नरक-स्वर्ग होते ही नहीं। अतः 'स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि' आदि श्लोक ही प्रक्षिप्त हैं। वह विधवा-विवाह करके नये पतिसे ही स्वर्ग-सुख लूट सकती है'। अब बतलाइये कि-श्रीद्वारकानाथजीके थोड़े-से दांव-पेचने क्या-क्या सनातनधर्मपक्षकी हानि नहीं की-इस प्रकार उनके पक्षमें बहुत दोष आते हैं। आशा है-'आलोक' पाठकोंने यह विषय हृदयङ्गम कर लिया होगा।

(२) पूर्वपक्ष—'नष्टे मृते प्रव्रजिते...पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते' यह श्लोक पराशरस्मृति (४।३०) का है। 'कलौ पराशरस्मृतिः'के अनुसार कलियुगमें हमारे पौराणिक भाई पराशरस्मृतिको सबसे अधिक प्रमाण मानते हैं। मुझे मालूम है कि-पौराणिक भाष्यकार तथा अन्य भाई इस श्लोकका अर्थ 'विवाहित पति' न मानकर 'भावी पति' अर्थ करके इस पद्यका

सम्बन्ध विवाह-संस्कारसे पूर्व केवल वाग्दानकी अवस्थामें मानते हैं, और व्याकरणकी दृष्टिसे तोड़-मोड़कर ऐसा अर्थ करनेका दुस्साहस करते हैं, किन्तु 'पतिरन्यो विधीयते' इन शब्दोंसे जिनका अर्थ सिवाय इसके कोई हो ही नहीं सकता कि-दूसरे पतिका विधान किया जाता है, उनके प्रयासकी निस्सारता सिद्ध होती है' यहां पर 'पतौ' को आर्ष-प्रयोग ही मानना उचित है।' (श्रीधर्मदेवजी 'हिन्दुकोड' के समर्थनमें 'वीर-अर्जुन'में)।

उत्तरपक्ष—हम इस आक्षेपका उत्तर गत-निबन्धोंमें दे चुके हैं। इसमें व्याकरणकी कोई तोड़-मरोड़ भी नहीं है। 'तोड़-मरोड़' तो आप लोगोंकी ही उपज्ञा (आदिम ज्ञान) है, सनातनधर्मियों-की नहीं। कहिये-'अपतौ' में घि-संज्ञा होनेसे क्या तोड़-मरोड़ है? प्रतिपक्षीके महामान्य म०म० पं० शिवदत्तजी शर्माने भी यहां सिद्धान्तकौमुदीमें 'अपतौ' छेद माना है। आप यहां 'आर्षता'की कल्पना करते हैं, व्याकरणकी तोड़-मरोड़ आप करते हैं, 'आर्ष' कहते हैं 'वैदिक'को। तव क्या आप स्मृतिको वेद मानते हैं? वेदमें भी षष्ठीयुक्त होनेपर 'घि' संज्ञा पति-शब्दकी होती है, यहां तो वह भी नहीं, सो यह प्रतिपक्षी की कितनी जबर्दस्ती है।

शेष है 'पतिरन्यो विधीयते' की सङ्गति, सो उसका उत्तर भी गत-निबन्धमें हम 'वक्त्रेन्दौ तव' इस उदाहरणसे वता चुके हैं। अभिप्राय यह है कि-'प्रदानं स्वाम्यकारणम्' (मनु. ५।१५२) 'यत् पुनः प्रथमं वाग्दानात्मकम्, तदेव भर्तुः स्वाम्यजनकम्' (कुल्लूक)के अनुसार वाग्दानकालीन अपूर्ण पतिको भी 'पति' कहा जाता है। तभी वाग्दत्ताके मर जानेपर पतिकुलमें तीन दिन तक अशुद्धि मानी जाती हैं। जैसे कि-'स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्र्यहात् शुध्यन्ति बान्धवाः' (मनु. ५।७२) 'स्त्रीणामकृतविवाहानां वाग्दत्तानां मरणे बान्धवाः-भर्त्रादयस्त्र्यहेण शुध्यन्ति'। तव उस वाग्दानवाले पतिके मर जानेपर उसका 'पतिरन्यो विधीयते' अन्य पति किया जाता है, इसमें कोई विधवा-विवाह वा तलाककी बात नहीं।

सनातनधर्मी 'पराशरस्मृति'को कलियुगकेलिए मानते ही हैं। इसलिए वे वाग्दत्ताके पतिके मर जानेपर उसका उक्त पराशर-वचनानुसार विवाह कर ही दिया करते हैं, नहीं तो काश्यप आदिके वचनसे सत्ययुगादिकी भांति वैसी वाग्दत्ता भी 'पुनर्भू' मानी जाती, और निन्दित होती, पर अब नहीं। न इसे 'विधवा-विवाह' कहा जा सकता है। श्रीमनुजीने भी इसकी पुष्टि की है—'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' (९।६९)। यहाँपर मनुजीने वाग्दान होजानेपर उसके स्वामीको अपूर्ण होनेपर भी 'पतिशब्द-व्यपदेश्य' माना है, फिर उसके मरनेपर उसी वाग्दत्ताका देवर-द्वितीयवरसे ('देवरः'के 'द्वितीय वर' अर्थ होनेमें प्रतिपक्षीके स्वामीजी तथा वे स्वयं भी निरुक्तानुसार सहमत हैं ही) विवाह कहा है। मनुजीने कुछ बन्धन उसकेलिए रख दिया है (मनु०

६।७०) जिसकी चरितार्थता युगान्तरोंमें है; पर श्रीपराशरऋषिने वाग्दत्ताको कलिमें बन्धनमें नहीं रखा। प्रतिपक्षीकी अब 'पतिरन्यो विधीयते'के अन्यत्वकी असङ्गति अब कहां रही; क्योंकि-वाग्दानकालीन स्वामीको 'पति' तथा उसके मरनेपर द्वितीयपति (देवर) को देना कहा है। 'अपतौ' छेदमें भी नञ् पतित्वका निषेधक नहीं, किन्तु 'ईषत्पतित्व'का बोधक है। ईषत्पति-अपूर्णपति भी 'पति' ही तो होता है। तब उसके मरने वा खोजानेपर 'पतिरन्यो विधीयते'से पतिके अन्यत्वकी कोई असङ्गति नहीं पड़ती। शेष 'वक्त्रेन्दौ तव' इस अन्य उदाहरणकी साक्षी गत-निबन्धमें देखें।

प्रतिपक्षीके स्वामीजीने स.प्र. ४ समुल्लासके अन्तमें 'नष्टे मृते' इस पद्यका अर्थ 'स्त्री नियोग कर लेवे' यह माना है, उनके मतमें प्रतिपक्षी 'पतिरन्यो विधीयते' की सङ्गति कैसे लगायेगा? क्योंकि-नियोगवाला पति पूर्ण पति तो नहीं होता; क्योंकि उसका पूर्णपति तो विवाहित ही होता है, उससे उसका विवाह होता है, नियुक्त पतिसे उसका विवाह होता ही नहीं; तब वह तो पति हुआ ही नहीं; तब प्रतिपक्षी अपने स्वामीके मतमें 'पतिरन्यो विधीयते' की संगति क्या लगाएगा?। उसे स्वयं मानना पड़ेगा कि-अपूर्णपतिको भी 'पति' शब्दसे कहा जाता है। तब वाग्दानकालीन पतिके अपूर्ण-पति होनेसे अपति (ईषत्पति) होनेपर उसके मरने आदिपर अन्यपति करनेसे न पतिके अन्यत्वमें कोई बाधा पड़ती है, न ही यह 'विधवाविवाह'

या 'विवाहोच्छेद' होता है। सो प्रतिपक्षीके मतमें जब पराशर-स्मृति वेद नहीं, पुराण है, उसके माननेवाले पौराणिक हैं; तब 'पतौ' भी पौराणिक हुआ, आर्ष कैसे हो सकता है? 'अपतौ' होनेपर तो 'पतिः समास एव' से इसका सामानाधिकरण्य हो ही जाता है। यहां 'नञ्'का अर्थ 'ईषत्' है, जैसे कि-प्रतिपक्षी (श्री ध.दे.जी)ने 'सार्वदेशिक'के जुलाई १९४९ के अङ्क (पृष्ठ २१५)में 'शब्दकल्पद्रुम' का प्रमाण देकर माना है। जिसका 'अनुदरा कन्या' 'अनमित्रोऽयं राजा' आदिमें, प्रयोग मिलता है। प्रतिपक्षीने भी उक्त स्थलमें उदाहरण दिया है। सो यहां अपूर्णपति अर्थ होकर वाग्दान वा सप्तपदीसे पूर्वका अर्थ हुआ।

(३) (पूर्वपक्ष) 'क्लीबे च पतिते पतौ'में 'पतौ' आर्ष प्रयोग है, और विवाहितपतिवाचक है, इसमें प्रमाण नारदीयमनु-संहिताका निम्न श्लोक है—'पत्यौ प्रव्रजिते नष्टे क्लीबे च पतिते मृते। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते' (१२।९६) इसमें तो 'पत्यौ' स्पष्ट है, और विवाहित-पतिवाचक है, तब पराशरीय-पद्यमें भी 'पतौ'में व्याकरणकी खींचातानी ठीक नहीं; दोनों स्थलमें समान अर्थ है। इसी प्रकारका पाठ अग्निपुराणमें तथा वृद्धमनुस्मृति (६।१११) तथा स्मृतिचन्द्रिकामें तथा गौतमधर्म-सूत्रके मस्करिभाष्यमें भी है, जिसे बृहस्पति नामक निबन्धकारने भी उद्धृत किया है। जो श्लोक इतने स्मृति-पुराण आदियोंमें पाया जाता हो; उस पराशर-स्मृतिके वचनको ऐसे ही टाला नहीं जा सकता। (श्रीधर्मदेवजी)

(उत्तरपक्ष) पूर्वपक्षी पहले अपनी बात बतावे कि—क्या वह पराशरस्मृतिको प्रमाण मानता है ? पूर्वपक्षी श्री ध.दे.जीने 'श्रीः' पत्रिका श्रीनगरमें इस पराशरस्मृतिको—जिसका कि अब वे प्रमाण दे रहे हैं—मूल-स्मृति माना ही नहीं, किन्तु 'बृहत्पराशर-स्मृति'को ही उसमें पूर्वपक्षीने मूलस्मृति माना है, उसमें तो 'नष्टे मृते' वाला श्लोक मिलता ही नहीं। उसमें तो 'स्त्रीणामुद्वाह एको वै वेदोक्तः पावनो विधिः-' इस प्रकार स्त्रीके एक ही विवाहको वैदिक माना है। 'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाम्' (बृहत्पराशर. ४।४८) तब उसमें मृतकपतिके भी पतित्व रहनेसे अन्यपति कैसे होसकता है ? वैसा करनेपर 'नैकस्या बहवः सह-पतयः' (ऐ. ३।२३, गो. २।३।२०) इस श्रुतिका विरोध आता है। पर अब आप अपनी मानी हुई मूलस्मृति-बृहत्पराशरस्मृतिको अमूल-स्मृति मानकर 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' वाली, अपने शब्दोंमें अमूलस्मृति—पराशरस्मृतिको मूलस्मृति मान लेते हैं, यह है आप लोगोंकी लीला; जिसकेलिए उसी 'श्रीः' पत्रिकामें आपके पूर्वोक्त मतका खण्डन करते हुए मैंने लिखा था—

'वस्तुतस्तु भवतां यस्मिन् पुस्तके कृपादृष्टिर्भवेत्; तदेव अप्रसिद्धमपि, अनाप्तमपि च, मूलपुस्तकं वैदिकमप्रक्षिप्तं च भवति। तस्मिन्नेव ग्रन्थे यदा भवद्विरुद्धता दृश्येत; तदा तदेव प्रमाणकोटितो बहिर्गच्छति। यदि विधवा-विवाहसिद्धिर्भवदा-दिभिश्चिकीर्ष्येत प्रसह्य; तदा लघुपराशरस्मृतिः प्रमाणभूता भवति-भवदादिकमते। यदि अस्माभिर्बृहत्पराशरस्मृतिद्वारा मध्यान्ह-

सन्ध्या (२।१६-२४,२६) ग्रहगणपत्यादिशान्तिर्नवमाद्यध्याये प्रोक्ता, मृतस्यापि स्वस्त्रियां पतित्वं (बृहत्परा. ४।४८) एवमन्ये च विषयाः साध्येरन्; तर्हि सा बृहत्स्मृतिर्भवतां मते अमूलम् अर्वाचीनं वा पुस्तकं भवेद्-इति भवतामिच्छैव सर्वत्र स्वतः-प्रमाणं भवति' ('श्रीः' ६।१-२)। देखिये आज प्रतिपक्षीके अनुसार अप्रमाण एवं अमूल पुस्तक भी लघुस्मृति मूलपुस्तक बन गई; और मूलपुस्तक भी अब अमूल होगई।

प्रतिपक्षीके स्वामीने स.प्र.में 'नष्टे मृते' इस पराशरीके पद्यको कपोलकल्पितरूप वेदविरुद्ध माना है, तब प्रतिपक्षीने ही इस कल्पित पद्यको क्यों मान लिया ? क्या 'हिन्दुकोड'का समर्थन करनेकेलिए ? अब इस पद्यके आश्रयसे बनाया हुआ 'हिन्दुकोड' भी वेदविरुद्ध सिद्ध हुआ। तब प्रतिपक्षीने वैदिकधर्मिमानी होकर 'वीरअर्जुन'के सम्पादक श्रीइन्द्रजीके शब्दोंमें 'वेद वा प्राचीन' साहित्यके अनुसन्धानमें लगे रहने वाले' होकर भी अब 'पुराणधर्मके आगे सिर झुका दिया ?' स्वा.द.जीने 'नष्टे मृते' पद्यसे नियोग अर्थ माना है, स्त्रीका पतिसे विवाहविच्छेद नहीं माना, पर प्रतिपक्षीने इस पद्यसे तलाकका समर्थन कैसे मान लिया ?

वस्तुतः 'पराशरस्मृति' उक्त पद्यसे न ही विधवाविवाह बताती है, और न तलाक ही। उसमें 'पतौ' और 'अपतौ' दोनों प्रकार-का छेद है, और अर्थ बराबर है—यह हम गत निबन्धमें बता चुके हैं। शेष रहा नारदीय-मनुसंहिताका 'पत्यौ प्रव्रजिते नष्टे

पद्यका 'पत्यौ' शब्द। इस विषयमें भी हम पूर्व बता चुके हैं कि-वाग्दत्ताके स्वामीका नाम भी 'पति' शब्दसे व्यपदिष्ट किया जाता है, जैसे कि मनुस्मृतिका ९।६९ पद्य उपस्थित किया जा चुका है। तब प्रतिपक्षीका यह व्याज भी कट गया।

नारदप्रोक्त मनुस्मृतिके पद्यमें तथा 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः। तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः' (९।६९) भृगुप्रोक्त इस मनुस्मृतिके पद्यमें, तथा स्मृति-चन्द्रिकामें उद्धृत उक्त पद्यमें समान ही अर्थ विवक्षित होनेसे सब स्थलोंमें वाग्दत्ताका ही नियोग वा विवाह सिद्ध होगया। यही बात 'गौतमधर्मसूत्र' के 'अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात्' (१८।४) इस मस्करि-भाष्यमें भी समझ लें। क्योंकि-उक्त गौतमसूत्र भी 'यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पतिः'। ...यथाविध्यभिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम्' (९।६९-७०) इस प्रधानस्मृति मनुस्मृतिके संवादसे वाग्दत्ता कन्याके पतिमरणमें नियोजनके विषयमें कह रहा है, जिसकेलिए श्रीकुल्लूकभट्टने अवतरणिका दी है—"नियोग-प्रकरणत्वाद् कन्यागतं विशेषमाह–'यस्या म्रियेतेति'। श्रीमेधातिथिने भी लिखा है—'वाग्दाने निष्पन्ने निजसोदरो देवरो विवाहयेत्'। सर्वज्ञनारायण भी कहता है—'वाग्दत्ताविषयमेव'। रामचन्द्र भी कहता है—'वाग्दानदत्तां प्रति आह'। तब उसकेलिए मस्करीको भी 'नष्टे मृते' यही नारदप्रोक्त मनुस्मृतिका पद्य देना ही था, जिसे बृहस्पतिनामक निबन्धकारने अपनी पुस्तकमें प्रमाणित किया। 'अविद्यमान-

भर्तृका, अयोग्यपतिः' यह मस्करिभाष्यमें सप्तपदासे पूर्व पतिकेलिए है। इससे जहां नारदप्रोक्त तथा भृगुप्रोक्त मनुस्मृतिके वचनोंका सामञ्जस्य होगया; वहीं प्रतिपक्षीके पक्षका भी पूर्णरूपेण खण्डन होगया।

उसी वाग्दत्ताके नियोग-प्रतिपादक पद्यको श्रीपराशरने अपनी स्मृतिके कलियुगकेलिए व्यवस्थापित होनेसे और नियोगके पराशरस्मृतिके नामसे कलियुगमें निषिद्ध प्रसिद्ध होनेसे वाग्दत्ताके नियोगमें नहीं लगाया, किन्तु वाग्दत्ताके विवाहमें लगाया है। अन्य युगोंकेलिए 'वाचा दत्ता, मनोदत्ता' आदि कन्याओंका कश्यप—अत्रि आदिके वचनसे पुनर्विवाह करनेपर जो 'पुनर्भू' शब्दसे व्यवहार था; जैसा कि पहले हम संकेत दे चुके हैं; तथा श्रीमेधातिथिने भी कहा है–'पुनर्भूश्च तथोच्यते, न वा व्यूढापि सती भार्या भवति' (९।७०) तपस्वी धर्मशास्त्रनिर्माता पराशर-ऋषिके वचनमें उसका अपवाद कहकर कलियुगकेलिए उसका पुनर्भूत्व हटा दिया गया। इससे अब उन्हें नरकपात भी नहीं होगा। इस प्रकार प्रतिपक्षीकी सभी आपत्तियोंका निराकरण कर दिया गया, और प्रतिपक्षीका परिश्रम व्यर्थ गया, इसका कारण उस द्वारा पूर्वोत्तरप्रकरणका छिपाना ही है। अग्निपुराणादिके वैसे वचनका समाधान भी इसी प्रकार ही है।

प्रतिपक्षीके माननीय वीरमित्रोदयकारने भी यही माना है—'पराशरः–'नष्टे मृते' इत्यादि। वसिष्ठबोधायनावपि 'बलाद-

पहृता कन्या'। याज्ञवल्क्योपि-'दत्तामपि हरेत् पूर्वं श्रेयाँश्चेद् वर आव्रजेत्'। एतच्च वाग्दत्ताविषयम्। वाग्दत्तापि वरदोषे ज्ञाते गुणवतेऽन्यस्मै देया' इत्यर्थः (संस्कारप्रकाश-प्रकरण ७३६ पृष्ठ)। श्रीभट्टोजिदीक्षितने भी 'चतुर्विंशतिमतसंग्रह'में यह कहा है—'दुष्टे तु पूर्ववरे वाग्दत्तापि वरान्तराय देया। तथा च पराशरः-'नष्टे मृते'। अस्यार्थः-वाग्दानानन्तरं पाणिग्रहणात् प्राक् पतौ-सम्भावितोत्पत्तिकपतित्वे पूर्वस्मिन् वरे नष्टे परदेशगमने अपरिज्ञातवृत्तान्ते सति-इत्यादि (पृ. ८७) प्रतिपक्षीके महामान्य म.म. पं० शिवदत्तजीने तत्त्वबोधिनी टीका वाली सिद्धान्त-कौमुदीमें 'पति' शब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा है-'वस्तुतस्तु पराशरस्मृतौ तु 'अपतौ' इत्येव छेदः। तथाच-ईषदर्थकेन नञा सह समासे घिसंज्ञा निर्बाधैव। सप्तपदीतः प्राग् ईषत्पतित्वस्यैव सत्त्वेन 'न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु' (५।१५७) 'पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विवाहात् सप्तमे पदे' (८।२२७) 'न विवाहविधावुक्तं विधवा-वेदनं पुनः'(६।६५), (६।६६-६७,६६) इति मनूक्त्या 'अद्भिर्वाचा च दत्तायां म्रियेतोर्ध्वं वरो यदि। न च मन्त्रोप पनीता स्यात् कुमारी-पितुरेव सा' इति स्मृत्यर्थसारेण सह च न विरोध इति दिक्।'

इससे प्रतिपक्षीका मत पूर्णरूपेण खण्डित हो गया। अथवा थोड़ी देरकेलिए हम अपने पक्षका अर्थ न भी करें, प्रतिपक्षीका ही किया हुआ अर्थ करें; तो 'नष्टे मृते'के आगेके पराशरके दो पद्यों (४।३३-३४)से प्रतिपक्षीसे दिया हुआ पराशरका पद्य

पूर्वपक्ष सिद्ध हो जाता है, परन्तु 'सत्यमुत्तरः पक्षः' (तै.उ. २।४) उत्तरपक्ष ही माननीय होता है, पूर्वपक्ष नहीं। नहीं तो 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्त भ्यः' (२।१।५७) इस न्यायदर्शनके पूर्वपक्षसूत्रको ही गोतमका ही सिद्धान्त मान लेनेपर क्या प्रतिपक्षी वेदका खण्डन मानकर उसे भी सिद्धान्त मान लेगा? स्वा.द.जीने स.प्र.में नियोगप्रकरणमें पूर्वपक्षमें नियोगको वेश्याधर्म वा पाप आदि लिखा है, तब क्या प्रतिपक्षी इस पूर्वपक्षको ही सिद्धान्त मान लेगा?

इस हमारे पक्षमें कोई तोड़-मोड़ या निर्मूलता वा निस्सारता भी नहीं है, जैसे कि-प्रतिपक्षीने अपने लेखमें सूचित किया है, हमारे पक्षमें श्रुति, स्मृति तथा स्वयं पराशरस्मृतिकी भी अनुमति है। यह तो प्रतिपक्षियोंकी ही त्रुटि है कि-वे प्रकरणको छोड़कर बीचके पद्य लिख देते हैं। फिर समझमें न आनेपर उल्टा उपालम्भ भी दे देते हैं। प्रतिपक्षीके स्वा.द.जीने भी लिखा है-'जो कोई इसे ग्रन्थकर्ताके तात्पर्यसे विरुद्ध मनसे देखेगा, उसको कुछ भी अभिप्राय विदित न होगा। वाक्यार्थमें ४ कारण होते हैं—'आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। जब इन चारों बातों पर ध्यान देकर जो पुरुष ग्रन्थको देखता है, तब उसको ग्रन्थका अभिप्राय यथायोग्य विदित होता है। आकांक्षा किसी विषयपर वक्ताकी और वाक्यस्थ पदोंकी आकांक्षा परस्पर होती है।......आसत्ति जिस पदके साथ जिसका सम्बन्ध हो उसीके समीप उस पदको बोलना वा लिखना। तात्पर्य, जिसके-

लिए वक्ताने शब्दोच्चारण वा लेख किया हो, उसीके साथ उस वचन वा लेखको युक्त करना। बहुतसे हठी, दुराग्रही मनुष्य होते हैं कि-जो वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध कल्पना किया करते हैं, विशेषकर मत वाले लोग। क्योंकि-मतके आग्रहसे उनकी बुद्धि अन्धकारमें फँसके नष्ट हो जाती है'। (सत्यार्थप्र० भूमिका पृ० ४)

यह बात प्रतिपक्षी पर ठीक घट रही है। प्रतिपक्षीके इस प्रकारके बीसों उदाहरण हम 'श्रीः-श्रीनगर, सिद्धान्त-काशी आदिमें दिखला चुके हैं। प्रतिपक्षी अब भी उस प्रकृतिको नहीं छोड़ना चाहता। पराशरस्मृतिमें 'नष्टे मृते' के ही आगेके 'मृते भर्तरि या नारी ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता। ...तावत्कालं वसेत् स्वर्गे भर्तारं यानुगच्छति' (४।३३-३४) इन दो पद्योंमें भर्ताके मरनेपर स्त्रीका ब्रह्मचर्य वा उसके साथ सती होना अनुशिष्ट किया गया है, और सतीत्वमें ३।। करोड़ वर्ष स्वर्गमें रहना कहा है; ऐसा कहने वाले पराशर भला पतिके मरनेपर स्त्रीको अस्वर्ग्य विधवा-विवाह स्वयं कैसे अनुशिष्ट कर सकते हैं—यह बात साधारण-बुद्धि वाला भी जान सकता है, पर प्रतिपक्षी पक्षपातकलुषित-बुद्धितावश यह बात नहीं देख पाता। तब स्पष्ट है कि-श्रीपराशर-मुनिको 'नष्टे मृते...पतितेपतौ' में 'अपतौ' ही इष्ट है, क्योंकि-मुख्य पतिको सप्तमीमें 'पत्यौ' लिखना पराशरमुनिकी शैली है। उन्होंने पराशरस्मृतिके ४।१७-३४ पद्योंमें 'पत्यौ' ही तो लिखा है। यहाँपर सप्तपदीसे पूर्वके पतिके ईषत्पति होनेसे ईषदर्थक नञ् वाला 'अपतौ' माना है, जिससे 'पतिः समास एव' से घि-

संज्ञा निर्बाध हो जाती है, अन्य स्मृतियोंके वचनोंसे सामञ्जस्य भी हो जाता है। तब स्पष्ट है कि-सप्तपदीके बाद श्रीपराशर स्त्रीका अन्य अन्य पति नहीं चाहते। अन्य श्रुति-स्मृतिवचन हम पूर्व दिखला ही चुके हैं।

---

(२२) विधवाविवाह पर लौकिक दृष्टि

कई महाशय विधवाविवाहको धर्मशास्त्रोंसे विरुद्ध मानते हुए भी समयकी गति देखकर विधवाविवाहकी आज्ञा देना उचित समझते हैं। इसके लिए वे धर्मशास्त्रोंके परिवर्तनका प्रस्ताव भी उपस्थित करते हैं। धर्मशास्त्रोंका वे परिस्थितिके अनुसार जब-तब बनाया जाना और उनमें परिवर्तन करना भी मानते हैं। वैधव्यका मूल वे स्त्रियोंका बूढ़ोंके साथ विवाह मानते हैं। विधवाओंकेलिए व्रतोपवासोंको वे कठोरता मानते हैं। उनके आनन्दकेलिए और भ्रूणहत्या दूर करनेकेलिए अपनी सहानुभूति दिखलाकर वे उनका पुनर्विवाह प्रस्तुत करते हैं। विधवाविवाहमें उन्हें कोई हानि नहीं दिखाई पड़ती। विधवाविवाह प्रचलित कर देने पर वे महाशय भ्रूणहत्या आदिका अत्यन्ताभाव मानते हैं। छोटी आयुमें कन्याओंकी विवाह-प्रथाका आरम्भ वे मुसलमानी समयसे मानते हैं। हम इस विषयमें भी कुछ लिखते हैं। पहले, पहले विषय पर ही विचार किया जाता है।

क्या शास्त्रों का परिवर्तन हो सकता है ?

(क) आजकल बुद्धिवाद अथवा तर्कवादका दौरदौरा बड़े

जोर-शोरसे चल रहा है, परन्तु बुद्धिवाद या तर्कवाद अप्रतिष्ठ एवं अनियमित होता है, उसके पांव नहीं होते। इसीलिए सनातनधर्म भी बुद्धिवाद या तर्कवाद पर निर्भर नहीं, किन्तु उसमें प्रधानतासे प्रमाणवाद या शास्त्रवाद आश्रित या आदृत किया जाता है। इसलिए सनातनधर्ममें परिवर्तन भी नहीं होता। 'सना भवः सनातनः।' सदा होनेवाले धर्मका नाम सनातनधर्म होता है, इसलिए उसका स्वरूप भी स्थिर है। मत-मतान्तरोंमें प्रमाणवादका आदर नहीं, किन्तु तर्कका आदर होता है, इसीलिए उनका स्वरूप भी स्थिर नहीं होता, किन्तु वह विरूप हो जाया करता है, क्योंकि वे तर्क जब प्रबल तार्किकके तर्कसे खण्डित हो जाते हैं, तब उन तर्कोंके आश्रित सिद्धान्तोंके भी पतन हो जानेसे उनका परित्याग अनिवार्य हो जाया करता है।

इधर सांसारिक-जीवोंकी प्रवृत्ति प्रायः निम्नगामिनी हुआ करती है। वह सदा आलस्य दोष एवं अनर्गल आनन्दकी अभिलाषासे धर्मके कठिन बन्धनोंको तोड़कर स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त होना चाहती है और उसकी युक्तताको सिद्ध करनेकेलिए लोगोंकी बुद्धि निज-कल्पित अनेक हेतुवादों अथवा तर्कवादोंकी सृष्टि करती रहती है। इस प्रकार मनुष्यकी बुद्धिके अनुसार प्रवृत्तिको प्रवृत्त कर दिया जाय, तो वह सदाकेलिए निम्न-गामिनी ही हो सकती है, उच्च मार्गमें फिर वह नहीं जा सकती। परन्तु शास्त्र-प्रामाण्यके आधारसे धर्म-बन्धन दृढ़ हो जाया करता है, जिससे सर्वसाधारण लोग उन्मार्गगामी नहीं

हो पाते।

यदि शास्त्रशृङ्खलाको तोड़ दिया जाय, तो फिर सर्वसाधारण जनता उच्छृङ्खल होकर न मालूम कहाँ जा पड़े, किस दुर्दशासे जा टकराये। रोगीको कड़वी दवाई अभीष्ट प्रतीत नहीं होती, वह उसे पीना नहीं चाहता, उसमें कठोरता मानता है, पर जब वह उसे पीता है, तब परिणाममें लाभ प्राप्त करता है। इसी-प्रकार शास्त्रके नियम असंयमी पुरुषोंको यद्यपि अनभीष्ट प्रतीत होते हैं, तथापि 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' (भगवद्-गीता १८।३७) इसप्रकार परिणाममें वे लाभजनक होते हैं। हमारे शास्त्रोंमें केवल एक प्रकारका नियम नहीं होता, किन्तु देश, काल, पात्रके बलाबल सोचकर उसमें सदाकेलिए उपयुक्त नियम पहलेसे ही नियमित कर दिये जाया करते हैं। इससे उनमें परिवर्तनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती, क्योंकि हमारा प्राच्य-शास्त्र पूर्ण ही है।

इसप्रकार सिद्ध हुआ कि धर्मके विषयमें जितना मूल्य प्रमाणका होता है, उतना तर्क या बुद्धिवादका नहीं, क्योंकि प्रमाणमें परार्थ होता है और तर्कमें स्वार्थ सन्निविष्ट होता है। तर्क तो प्रमाणका सहायकमात्र होता है, पर किसीको तर्कमात्र पर निर्भर नहीं हो जाना चाहिए, नहीं तो फिर एक दिन धर्म या वेदादिको भी छोड़ना पड़ सकता है। आज किसीके तर्कसे ईश्वरकी सिद्धि होगई, तो वह पुरुष भी ईश्वरको मानने लग गया। दूसरे दिन प्रबल तर्कवादी नास्तिकसे ईश्वरका खण्डन

हो जानेपर उसका मानना भी हेय हो जायगा। इसलिए तर्करूप बुद्धि पर धर्मविषयक विश्वास नहीं किया जा सकता। यदि बुद्धिकी प्रमाणता मानी जाय, तो किसकी बुद्धि, किस देशवाले-की बुद्धि और कैसी बुद्धि प्रमाणित की जाय? 'भिन्नरुचिर्हि लोकः', 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार प्रत्येक व्यक्तिकी बुद्धियोंमें पारस्परिक भेद स्वाभाविक है; और फिर एक पुरुषकी बुद्धिमें भी एकरूपता नहीं हुआ करती। उसके जीवनमें उसकी बुद्धिके अनेक रूप दृष्टिगोचर होते रहते हैं।

इसके अतिरिक्त एक ऐसी भी बुद्धि होती है, जो अधर्मको धर्म तथा धर्मको अधर्म, कार्यको अकार्य एवं अकार्यको कार्य मानती है, जिसे 'भगवद्गीता' राजसी तथा तामसी मानती है। ऐसी स्थितिमें बुद्धिके सर्वोपरि प्रामाण्यकी प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती। इसी बातको विचारकर विवेकी-पुरुषोंने धर्माधर्मके विषयमें बुद्धिरूप तर्कको प्रमाण न मानकर शास्त्रका ही प्रमाण स्वीकृत किया है। धर्मकी अपेक्षा यदि तर्क-बलसे सिद्ध हो जावे, तो फिर शास्त्रकी कोई आवश्यकता रहती भी नहीं। इसलिए यह सिद्धान्त है कि प्रत्यक्ष आदिके अगोचर विषयोंके बोधनके लिए शास्त्र ही प्रवृत्त तथा सफल हुआ है। तब फिर उसकी उपेक्षा करके बुद्धि पर निर्भर रहना कल्याणप्रद नहीं।

आजकल बुद्धिवादका महान् संरम्भ होगया है। उस बुद्धि-वादका स्वरूप होगया है शुष्क-कुतर्कवाद। प्रत्येक वादकी तर्क-निकष (कसौटी) पर परीक्षा करनेसे कोई भी हानि नहीं,

प्रत्युत लाभ ही है, परन्तु प्रत्येक वादकी कसौटी पर परीक्षाके समय सावधानता भी स्थापन करनी पड़ती है कि बुद्धिवादके प्रवाहमें बुद्धिको ही कहीं अजीर्ण न हो जाय। कसौटी द्वारा परीक्षा करनेपर कौनसा वाद खरा उतरा और कौनसा खोटा, इस निर्णयमें पक्षपातरूप चश्मेका उपयोग न हो जाय।

इसके अतिरिक्त बहुतसे वाद इस प्रकारके भी होते हैं, जो तर्कसे सिद्ध नहीं हो सकते। ऐसी अवस्थामें बुद्ध्यधिकार-बहिर्भूत उस वादकी तर्क-निकषसे परीक्षणकी चेष्टा बुद्धिमत्ता नहीं, क्योंकि बुद्धिसे परे भी कोई सत्ता हुआ करती है, और वह सत्ता ऐसी होती है, जिससे बाहर कोई भी नहीं जा सकता, उसकी इच्छाके विरुद्ध एक पत्ता तक नहीं हिल सकता। इसीलिए 'भगवद्गीता' में कहा है—'यो बुद्धेः परतस्तु सः' (३।४२)।

जब ऐसा है, तब फिर उसी बुद्धिसे परे भगवान्ने कार्या-कार्य-व्यवस्थितिमें तर्कवादात्मक बुद्धिवाद न कहकर 'यः शास्त्र-विधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्' (१६।२३), 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ' (१६।२४) इस प्रकार शास्त्रानुसारी व्यवहारका आदेश दिया है। तब शास्त्र अवश्य ही माननीय है। बुद्धि तर्क है और शास्त्र प्रमाण है। तर्ककी अपेक्षा प्रमाण ही अभ्यर्हित होता है। परन्तु आजकलके लोग अपने आपको क्रान्तदर्शी मानते हुए कर्तव्याऽकर्तव्यको अपनी बुद्धिपर निर्भर कर लेते हैं। उनके गाल पर भगवान्ने यह कहकर चपत मारी

है कि 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' (४।१६)। परन्तु यह न विचार कर वे लोग शास्त्रके ही शत्रु हो रहे हैं। कई शास्त्रोंको देखना ही नहीं चाहते। कई शास्त्रोंको समुद्रमें डुबाने योग्य मानते हैं। कई उन्हें दियासलाईके उपहारयोग्य मानते हैं। कई अपनी दयालुता दिखलाना चाहते हुए उन्हें पुस्तकालयमें दृढतासे बन्द करनेकी सम्मति देते हैं और तबतक उन्हें खोलनेका निषेध करते हैं, जबतक कि उनके योग्य समय फिर वापस नहीं आता, जिस समयकेलिए वे बनाये गये हैं। कई अत्यन्त दयालुसे बनकर स्वेच्छानुसार उनमें परिवर्तन चाहते हैं।

परन्तु ये लोग यह नहीं जानते कि शास्त्रोंको प्रकट करनेवाले ऋषि-मुनि त्रिकालदर्शी थे। उन्होंने तीनों कालों तथा देश एवं पात्रका विचार करके धर्मशास्त्र बनाये हैं, जो त्रिकालाऽबाधित है। उनमें प्रत्येक परिस्थितिके अनुकूल व्यवस्था मिल सकती है, उसका कारण यह है कि उन्होंने वेदके अनुकूल ही स्मृतियां बनायी हैं। वेदार्थके स्मरणका नाम ही स्मृति होता है, तब उन्होंने जो स्मृतियोंमें लिखा है, वे मूलभूत वेदवचनोंको देखकर ही। परन्तु अब बहुत वेदशाखाओंके उच्छिन्न होनेसे उन स्मृतियोंके मूलभूत सब वेदवचन नहीं मिल सकते। जब वेद त्रिकालाऽबाधित तथा अपरिवर्तनशील हैं, तब उनका अनुसरण करके बनायी हुई स्मृतियाँ भला कैसे परिवर्तित हों? स्मृतियाँ वेदानुकूल बनी होनेसे ही तो उनमें स्थित वेदविरुद्ध

वचन अमान्य माना जाता है। तब वेदके अपरिवर्तनीय होने तथा नियतसे अधिक न होनेसे स्मृतियोंमें परिवर्तन कैसे सम्भव हो? या क्यों नयी स्मृतिके प्रणयनकी आवश्यकता हो? हाँ, वेदकी शाखाओंकी तरह स्मृतियाँ भी बहुत सी लुप्त हैं। पर हमारा शास्त्र पूर्ण है, इसमें विवाद नहीं।

फलतः तर्कवाद या बुद्धिवाद शास्त्रसे प्रबल नहीं होता। बुद्धिवादकी प्रबलता युक्त नहीं है, पुरुषकी बुद्धि अनित्य हुआ करती है; उससे कोई व्यवस्था नहीं की जा सकती। इसलिए 'निरुक्त'में कहा है—"पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे" (१।२।७)। इसलिए बुद्धि तथा शास्त्रमें शास्त्र अथवा तर्क और प्रमाणमें प्रमाण अतिशायी हुआ करता है, यह स्वाभाविक है। कालानुकूल व्यवस्थापित की गई स्मृतियाँ स्थिर नहीं हुआ करतीं, किन्तु क्षणक्षण परिवर्तनशील हुआ करती हैं। पुनः-पुनः परिवर्तन करने पर शास्त्रोंका रूप ही विरूप होकर महत्त्व नष्ट हो जाता है।

आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी दयानन्दजीको ही देखिये, उन्होंने वेदोंके सम्भवी अर्थकी उपेक्षा तथा धर्मशास्त्रोंकी अवहेलना कर अपनी नवीन स्मृति (?) 'सत्यार्थप्रकाश' बनाया। वेदोंको भी उसीके अनुसार चलाया। उसका फल क्या हुआ? यही कि उनका 'समाज' उनके सिद्धान्तोंको भी अब नहीं मानता। स्वामी दयानन्दजीने द्विजोंमें विधवाविवाह नहीं माना, शूद्रोंमें उन्होंने विधवाविवाह माना है। परन्तु उनके अनुयायी

आजकल विधवाविवाहके अनुकूल हो रहे हैं। तब उन्हें 'सत्यार्थ-प्रकाश'में भी परिवर्तन करना पड़ेगा। स्वामीजी 'सत्यार्थप्रकाश'में चाण्डालादिको शास्त्रानुसार अस्पृश्य मान गये हैं, पर अब उनके अनुयायी गान्धीजीकी बातोंमें आकर उन्हें 'हरिजन' नाम दे उन्हें स्पृश्य मानने लग गये हैं। तब उन्हें 'सत्यार्थप्रकाश'में भी परिवर्तन करना पड़ेगा। फिर और स्मृतिके बनाने पर कालमें भेद हो जानेसे उसमें भी भेद करना पड़ेगा। परन्तु यह उचित नहीं। वस्तुतः हमें शास्त्रानुसार कार्य करना चाहिए, अपने कार्यके अनुसार शास्त्र नहीं बनाने चाहिएं। कालानुकूल भी बनाये 'सत्यार्थप्रकाश'में थोड़े ही समयमें परिवर्तन करना आ पड़ा, परन्तु हमारी स्मृतियाँ मुनियोंने स्थिर ही बनाई हैं। अतः सुबहुप्राचीनतामें भी स्मृतियोंमें त्रिकालमें भी परिवर्तन नहीं करना पड़ता, क्योंकि वे कालानुकूल नहीं बनाई गईं, किन्तु वेदका अनुसरण करके बनाई गई हैं। स्मृतियोंके बाहुल्यका कारण वेदशाखा-भेद है, न कि काल-भेद। वेदका परिवर्तन जब त्रिकालमें भी नहीं, तब स्मृतियोंमें भी परिवर्तन कैसे हो?

विधवाविवाह-समस्या

(ख) इस विषयमें यह जानना चाहिए कि "दूषितं धर्मशास्त्रज्ञैः परदाराभिमर्शनम्" (महाभारत अनुशासनपर्व १६।८६) जब इस प्रकार परकीय स्त्रियोंका अभिमर्शन धर्मशास्त्रोंने दूषित माना है, साधारणजन भी वैसा होना पाप समझते हैं, तब क्या 'विधवा' परकीय स्त्री नहीं होती? सुधारकगण विधवा-स्त्रीके विवाहके-

लिए नवीन स्मृति बनवाया चाहते हैं, परन्तु आजकलके लोग चाहते हैं कि एक स्त्री नियत न हो, जिस-किसी स्त्रीको जब चाहें, वह हमारी सहचरी बन जाय; तब क्या सुधारक उनके लिए भी नई स्मृति बनवाया चाहते हैं?

सुधारक किन विधवाओंका विवाह चाहते हैं? अक्षतयोनि-बालविधवाओंका, या क्षतयोनि युवति-विधवाओंका? सन्तान-रहित विधवाओंका, या सन्तानवाली भी विधवाओंका? या वृद्ध-विधवाओंका भी? वे विधवाओंकी कामपूर्तिकेलिए उनका विवाह चाहते हैं, या उनकी सन्तानकेलिए उनका विवाह चाहते हैं? और क्या सुधारक केवल विधवाविवाहकेलिए ही धर्मशास्त्रोंका परिवर्तन चाहते हैं, अथवा अन्य परिस्थितियों-केलिए भी?

जो कि सुधारक विधवाविवाह न होनेपर भ्रूणहत्याका पाप मानते हैं, वे यह कहें कि भ्रूणहत्या पाप है, यह कहाँ लिखा है? यदि कहें, शास्त्रोंमें; तो शास्त्रोंमें विधवाविवाहको भी पाप माना गया है। एक जगह शास्त्रको मानना, अन्य स्थानमें उसका परिवर्तन करना यह कहाँका न्याय है?

सुधारक यह भी बतलायें कि विधवाविवाहके प्रेमी वे विवाहविच्छेद मानते हैं या नहीं? यदि नहीं, तो वे फिर युवकहत्या कराना चाहते हैं, क्योंकि विधवाविवाहकी वैधतामें सधवा स्त्रियाँ, जिनकी कामपूर्ति अपने पतिसे (शीघ्रपतनादि दोषके कारण) नहीं हो रही है, सधवा होनेसे ही जिनको अन्य-

पतिसे विवाहकी आज्ञा नहीं, वे यह सोचकर कि हम शीघ्र विधवा हो जाएं, जिससे हमें पुनर्विवाहका अधिकार प्राप्त हो जाय, अपने उस पतिको विष आदिसे मारनेका यत्न करेंगी, तब क्या युवक-हत्या भ्रूणहत्यासे भी अधिक अनर्थावह न होगी ? क्या विधवा-विवाहके प्रचारसे युक्त विलायत आदिमें भी भ्रूणहत्याएं नहीं होतीं, अथवा गुप्तधात्री-भवन वहाँ नहीं हैं ? भ्रूणहत्याएं तो आजकल सन्तानके मारसे बचावकेलिए सधवाओं द्वारा भी हो रही हैं। आपने उनकेलिए क्या विचार किया है ?

विधवाविवाह-पक्षपाती विधवाओंके तो विवाहकेलिए प्रयत्न करते हैं, पर सधवाओंके विवाहकेलिए भी कोई स्मृति बनाना चाहते हैं या नहीं ? यदि नहीं, तब क्या यह पक्षपात नहीं ? जिन कुमारियोंने उनके अनुसार वृद्धोंसे अपने लोभी-पिताके कारण विवाह किया है; जिनकी उस वृद्धसे तृप्ति नहीं हो रही है, उन सधवाओंके आनन्दकेलिए भी वे प्रवृत्त क्यों नहीं होते ? अथवा क्या वे उस वृद्धको विष-आदिसे मारकर विधवा होकर ही विवाहकी अधिकारिणी हो सकेंगी ? क्या फिर भ्रूण-हत्याकी तरह वृद्धहत्यासे सुधारक न डरेंगे ? यदि वे कहें कि इस दोषके हटानेकेलिए वृद्धविवाह ही नहीं करना चाहिए, तो हम भी कहते हैं कि वृद्धविवाहको रोकिये कि वे विधवाएं न हों। वृद्धोंके साथ हम या शास्त्र विवाह नहीं कहते।

(ग) विधवाविवाह जारी करनेपर सुधारक हानियोंका अभाव मानते हैं, पर ऐसा नहीं है। सुनिये उसकी हानियां—

विधवाविवाहकी हानियां।

विधवाविवाहपक्षपाती लोग विधवाविवाह न करनेपर हानियाँ तथा करनेपर हानियोंका अभाव मानते हैं, पर ऐसा नहीं है। यहाँपर हम उसकी हानियाँ बताते हैं—

(१) विधवाविवाहको वैध कर देनेपर यह प्रवाह इतने वेगसे बहेगा कि—तब उचित-अनुचित सभी प्रकारके विवाह जारी हो जाएँगे, जिन्हें कोई उनके विरुद्ध भी सुधारक नहीं रोक सकेगा-यह एक हानि है। उसका प्रमाण यह है कि—पहले आर्यसमाजने अक्षतयोनि-बालविधवाओंकेलिए पुनर्विवाह चालू किया। उसका प्रचार हो जानेपर फिर उन्होंने क्षतयोनि-विधवाओंका भी विवाह जारी कर दिया। इस प्रकार वे अपने नवीन मतसे भी फिसल गये। जब इसमें भी रोक हट गई, तब अब वे अपने मतके विरुद्ध सन्तान वाली भी विधवाओंका विवाह करने लग गये हैं। अब इसके चालू हो जानेपर उन्हें 'विवाहोच्छेद-प्रथा' (तलाक) भी चलानी पड़ जायगी, अथवा सधवाओंका भी विवाह करना जारी कर देना पड़ेगा। क्योंकि—इस प्रकारकी सधवाएँ भी हैं, जिनके साथ शीतला आदि रोगके कारण हुई-हुई कुरूपतावश, अथवा दहेजके थोड़े मिलनेसे हुए-हुए क्रोधके कारण पति लोग सम्बन्ध नहीं रखते; वा अन्य विवाह कर लिया करते हैं। इस प्रकार होने पर विवाहप्रथा ही रोकनी पड़ेगी-ऐसा होजानेपर जो आगे विशृङ्खलताएँ हिन्दुजातिमें शुरू हो जाएँगी,

जैसेकि-इसके परिणाममें भगिनीगमन भी प्रारम्भ हो जाए; सम्बन्धियोंके घरमें जाना भी हानिकारक हो जाए; उनकी कल्पनासे भी हृदय कांप उठता है।

(२) जिन मुसलमान-ईसाई आदि जातियोंमें विधवाविवाह चालू है; क्या उनकी स्थिति सन्तोषप्रद है ? क्या उन जातियोंमें व्यभिचार अधिक नहीं ? क्या उन जातियोंमें स्त्रियोंके घर छोड़कर भाग जानेके समाचार आये दिन नहीं मिलते ? क्या उनमें व्यभिचार कम होगया है ? नहीं-नहीं। कम कैसे हो सकता है ? क्योंकि-विधवाविवाहका प्रचार असंयम वा व्यभिचारकी भूखको घटाता नहीं, बल्कि विषय-तृष्णाको बढ़ा ही देता है। मनुजीने ठीक कहा है—'न जातु कामः कामाना-मुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' (मनु. २।९४) 'आहारो मैथुनं निद्रा सेवनात्तु विवर्धते' आहार, मैथुन आदिका जितना नया-नया आस्वाद लिया जावेगा, उतना-उतना ही वह बढ़ेगा। वह अवैध-विवाह, अधर्मसे भय भी हटवा देगा। विधवाविवाह माननेवाली मुसलमान आदि जातियोंमें स्त्री-सम्बन्धी जितने मुकदमे न्यायालयोंमें होते हैं, विधवाविवाह न माननेवाली हिन्दुजातिमें स्त्री-सम्बन्धी अभियोग उतनी मात्रामें दिखाई नहीं देते। इस जातिमें भी विधवा-विवाह वैध कर देनेपर वे दोष अनिवार्य हो जाएँगे—यह द्वितीय हानि है।

(३) विधवाविवाहकी आज्ञा सर्वसाधारणतासे प्रचलित हो

जानेपर सन्तान वाली भी विधवाएँ कामुक होकर विवाह करना चाहेंगी। तब उनकी सन्तानोंको न उसके पूर्व-सम्बन्धी रखेंगे, और न नये सम्बन्धी ही। यदि उसकी पूर्व घरकी नवयुवति लड़की हुई; तो नये सम्बन्धियोंके लड़के वा वे स्वयं ही उस लड़कीको संरक्षणके व्याजसे ले लेंगे; अपनी लड़की न होनेसे उससे मनचाहा व्यवहार कर लेंगे; उस विवाहिता-विधवाको अपने आनन्दमें विघ्न न आने देनेकेलिए इधरसे आंख मून्दनी पड़ेगी ! यदि रोकेगी, तो झगड़े बढ़ेंगे। यदि वह लड़की कुरूपा हुई; तो उसका विवाह करना नये सम्बन्धी अपनेपर बोझ समझेंगे; किसी तरह उसे वहांसे निकाल देंगे—या उसपर अत्याचार करेंगे। यह तृतीय हानि है।

यदि सन्तानवाली युवति - विधवाओंका विधवाविवाह-पक्षपाती लोग विवाह रोकेंगे; तो क्या वे अपने आनन्दकेलिए भ्रूण-हत्याएँ नहीं करेंगी ? बल्कि—वे उन पूर्व-सन्तानोंको भी छोड़कर या मारकर क्या वहांसे अपने आनन्दकेलिए भाग नहीं जावेंगी ? क्या यहां प्रतिपक्षियोंके मतमें भ्रूण-हत्या, तथा भ्रूण-हत्यासे भी अधिक सन्तानहत्याका पाप न होगा ? विधवाविवाह प्रचलित न करनेपर तो प्रतिपक्षियोंके अनुसार केवल भ्रूणहत्या होगी; प्रचलित कर देनेपर तो भ्रूणहत्या, बालहत्या, युवकहत्या तथा वृद्धहत्या (जिसे हम आगे दिखलायेंगे) बढ़ेगी-इस ओर प्रतिपक्षियोंका क्या ध्यान नहीं जाता ?

(४) किन विधवाओंका विवाह हो; और किन विधवाओंका

नहीं, इसकी सीमा भी तो नियमित नहीं की जा सकती। कई विधवाओंको विवाहकी आज्ञा देनेपर और कई विधवाओंको विवाह निषिद्ध कर देनेपर क्या निषिद्ध-विधवाएँ प्रतिपक्षिप्रोक्त हानियोंको न पहुँचाएँगी? एक विधवाके विवाहकी सीमा भी तो नियमित नहीं की जा सकती। क्या जितने पति उसके मरते जाएँ, वह भी उतने विवाह करती चली जाए? यदि सीमित कर दें; तो उसमें युक्ति क्या होगी? यह चतुर्थ हानि है।

(५) विधवाविवाह चालू कर देनेसे सती स्त्रियोंके चित्तमें भी विकार प्रारम्भ हो जाएगा? जबकि स्त्री-समाजमें पुनर्विवाह करनेवाली स्त्रीका भी वही मूल्य आंका जायगा; जो पुनर्विवाह न करने वालीका, क्योंकि-इसमें कोई भेद नहीं रखा गया है; तब अत्यन्त उत्कृष्ट और भारतवर्षके मुखको उज्ज्वल करनेवाले सतीधर्मका समूल उन्मूलन हो जायगा। क्या पातिव्रत्यका समूलोन्मूलन कर देना सुधारकोंको प्रिय है?

(६) विधवाविवाहके वैध घोषित कर दिये जानेपर आस्वाद-मत्त स्त्रियाँ शीघ्रपतनादि-दोषवश वर्तमान-पतिसे असन्तुष्ट होकर पुनर्विवाहका अवसर पानेकेलिए विषादि-प्रयोगसे वर्तमान पतिको मारकर अपने आपको बलात् विधवा बना डालेंगी। तब उनकी सुविधा तथा उनके पतियोंकी रक्षाकेलिए, पतिकी जीवित-दशामें विवाह-विच्छेद (तलाक) सदृश घातक प्रथाको-जिससे भयङ्कर हानियोंकी सम्भावना है-चलाना पड़ जायगा।

(७) विवाह करनेवाली विधवाएँ पूर्व पतिकी सम्पत्तिको भी

उड़ाना चाहेंगी, और फिर बढ़ी हुई अपनी कामेच्छाको पूर्ण करनेकेलिए निर्लज्ज बनकर दूसरे पतिको भी नपुंसक, निकम्मा, आलसी तथा शीघ्रपतनादि-दोषवान् सिद्ध करनेकेलिए उसके वैसा न होनेपर भी प्रयत्न करेंगी, जिसकी वास्तविकताका ज्ञान भी कठिन हो जायगा। इस प्रकार तब सधवाओंको भी अपने पतिके विषयमें इन मिथ्या-दोषोंके आरोपित करनेका साहस हो जायगा; जिसकी परीक्षा कठिन हो जायगी। तब उनकी सुविधाकेलिए स्त्रीजनहितैषी सुधारकोंको विधवाविवाह-सभाकी तरह 'सधवाविवाह-सभा' भी बनानी पड़ेगी। तब क्या-क्या हानियाँ न होंगी?

(८) विधवाविवाहके प्रचारसे स्त्रियोंके संयमव्रत पर आघात पड़नेसे उनकी छिपी हुई कामकी अष्टगुणा शक्ति अवश्य उद्दीप्त हो जायगी, जिसका अन्तिम परिणाम वेश्यावृद्धिकारक हो सकता है। क्रमशः इससे स्त्रियोंमें निर्लज्जता भी बढ़ जायगी। वे पतियोंके अविद्यमान भी दोष निकाला करेंगी।

(९) शास्त्रोंसे विरुद्ध विधवाविवाहके प्रचारकी सफलता हो जानेपर फिर लोगोंकी शास्त्रोंसे श्रद्धा हट जायगी, फिर वे उन्हें अपने लिए बन्धन मानने लगेंगे। एक बन्धन तोड़ देने पर शास्त्रका भय गया हुआ जानकर शास्त्रके सब तरहके बन्धनोंको वे तोड़नेकेलिए तत्पर हो जायंगे। तो फिर क्या सुधारक भी उनकी इच्छानुसार बार-बार अपने धर्मशास्त्रोंमें परिवर्तन करते रहेंगे? यह अवश्य याद रखना चाहिए कि प्राचीन-शृङ्खलाको

तोड़ देने पर फिर विश्रृङ्खलता ही बढ़ जायगी। जिसका प्रमाण हम पहली हानिमें दे चुके हैं।

(१०) विधवाविवाहके प्रचारसे स्त्रियोंकी प्रचण्ड कामाग्नि प्रज्वलित होनेपर वे भी पुरुषोंकी तरह बहुत पति करना चाहेंगी, तब क्या सुधारक उनका बहुतोंके साथ सम्बन्ध रोक सकेंगे? याद रखिये—स्त्री-जातिपर यदि अंकुश न रखा जाय, तो वे हर काममें सीमातीतता कर देती हैं। तब उसके बहुसंख्यक प्रेमियोंमें उस स्त्रीका किसीसे अधिक प्रेम होनेसे, किसीसे साधारण प्रेम होनेसे उनके आपसमें कैसे विवाद उपस्थित हो सकते हैं? यह दस साधारण हानियाँ हमने पाठकोंके सामने रख दी हैं।

(घ) इधर यह भी तो विचारना चाहिए कि विधवाका विवाह हो ही कैसे सकता है? वैवाहिक-मन्त्रोंमें 'कन्या' शब्द आता है। कन्या शब्दका अर्थ है 'अविवाहितपूर्वा'। तब विधवाके 'अकन्या' होनेसे उसका विवाह ही कैसे हो? मनुजीने स्पष्ट कहा है—'नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः' (९।६५) अर्थात् विवाहके विधानमें विधवाका पुनर्विवाह वा नियोगका गन्धमात्र भी नहीं है। यदि ऐसा है, तब विधवाविवाह कैसा?

(ङ) इधर विवाहविधिमें कहा गया है—'अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत। स नो अर्यमा देवः प्र इतो [पितृलोकाद्] मुञ्चतु मा पतेः' (पारस्कर गृ० १।६।२) अर्थात् मुझे परमात्मा पितृगृहसे छुड़ाये, पतिके घरसे नहीं—यह कन्याकी ओरसे प्रार्थना है। बल्कि—'काठकगृह्यसूत्र' के अनुसार 'अर्यमा प्र-इतो मुञ्चतु मा अमुष्य गृहेभ्यः' (२५।३०) यहाँ कन्याको 'अमुष्य' के साथ उस अपने पतिका नाम भी लेना पड़ता है कि 'मुझे परमात्मा इस नामवाले पतिके घरसे न छुड़ाये।' तब बोलिये कि उसका उस पतिसे भिन्नके साथ विवाह ही कैसे हो सकता है? 'अश्मेव त्वं स्थिरा भव' (पारस्क० १।७।१), 'ध्रुवाऽहं पतिकुले भूयासम्' (गोभि० गृ० २।३।८), 'ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्' (गोभिल० २.३।११), 'सकृत् कन्या प्रदीयते' (मनु० ९।४७), 'न दत्त्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्याद् विचक्षणः' (मनु० ९।७१) इत्यादि प्रमाणोंसे उसका विवाह्यमान पतिसे दृढ सम्बन्ध कहा है, तब उसका अन्यसे विवाह ही कैसे हो सकता है? इधर कन्याके विवाहमें पितृगोत्रका भी परिवर्तन होकर विवाह्यमान पतिका गोत्र हो जाता है। तब विधवा होनेपर यदि वह अन्यसे विवाह करना चाहती है, तो जहाँ वह उक्त प्रतिज्ञासे भ्रष्ट होती है, वहाँ प्रष्टव्य है कि उसका दान उसका श्वशुर करेगा, या पिता? भिन्न-गोत्र वाली हो जानेसे पिताका तो उसपर अधिकार नहीं और श्वशुर द्वारा कहीं दान लिखा ही नहीं, तब विधवाका विवाह कैसा?

(च) इधर विवाहमें 'अग्निर्मह्यमथो इमाम्' (ऋ० १०।८५।४१) इस मन्त्रके अनुसार अग्निदेव अपना स्वत्व उस लड़कीसे हटाकर विवाह्यमान वरका उसपर स्वत्व कर देता है। फिर उस वरके मरनेपर अब अपना अधिकार न होनेसे अग्नि उसे

अन्यको दे ही कैसे सकता है? और विवाह होता है अग्नि-द्वारा वर को देना, यह गृह्यसूत्रज्ञ-विद्वानोंसे तिरोहित नहीं। इसी अभिप्रायसे मनुने यह वचन कहा है--'नौद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्। न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥' (९।६५) तो फिर क्या विधवाविवाह प्रचलित करनेकेलिए सुधारक विवाहपद्धतिका परिवर्तन करनेकेलिए नई स्मृति बनाना चाहते हैं, वा नहीं? यदि वर्तमान-परिस्थितिको देखकर वे शास्त्रोंके परिवर्तनमें आग्रह करते हैं, तो फिर विवाह-प्रथाको ही क्यों नहीं तोड़ देते? 'न रहे बाँस न बजे बाँसुरी।' आजकल विवाहप्रथामें भी लोगोंको बहुत अड़चनें उपस्थित होती हैं। यदि विवाह-संस्कारमें आप लोग शास्त्रप्रामाण्य चाहते हैं, तो फिर विवाह-विषयमें शास्त्रप्रामाण्यको स्वीकृत क्यों नहीं करते? देखिये धर्मशास्त्र कहता है—'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः। नाऽकन्यासु क्वचित्' (मनु. ८।२२६) अर्थात् विवाह अकन्याका नहीं होता, किन्तु कन्या (अविवाहितपूर्वा) का।

फलतः लोक तथा शास्त्रके अनुसार विधवाका विवाह कभी नहीं हो सकता। हाँ, यदि उसकी अन्य पुरुषमें इच्छा दीखे, तो बिना संस्कारके उसका अन्यसे सम्बन्ध कर देना चाहिए। तब उसे भोजनादि-व्यवहारसे पृथक् कर देना चाहिए तथा उसकी सन्तानको सङ्कर कहना-समझना चाहिए, जिससे सती स्त्रियोंका मूल्य उनकी अपेक्षा अधिक रहे। यदि सुधारकको यह स्वीकृत नहीं, तो इससे सिद्ध होगा कि वे वास्तवमें उन

स्त्रियोंको कामसुख नहीं देना चाहते, किन्तु शास्त्रका ही उल्लङ्घन करना चाहते हैं, वा फिर पुरुषोंकी ही कामपूर्ति चाहते हैं।

(छ) इधर विधवा तथा सधवा स्त्रियोंको प्राचीनकालकी भांति अवरोधमें ही (अन्तःपुर-पर्दा) रखना चाहिए। उनमें विधवाओंका निवास दम्पतिगृहमें न रखना चाहिए। गृहकार्य, भक्ति तथा स्वयोग्य-पूजामें उन्हें व्यापृत रखना चाहिए। उनका अपमान नहीं करना चाहिए। उनको संन्यासिनियोंके समान समझना चाहिए। पतिव्रताओंकी कथाओंसे उनका उत्साह बढ़ाना चाहिए। वे व्रत, उपवास आदिमें लगी रहें—यह उनके लिए कठोरता नहीं, किन्तु परिणाममें लाभप्रद है। विधवाएँ व्रतोपवास न करेंगी, तो क्या सधवाएँ करेंगी? श्रीरामचन्द्रजीने तो सीताको अपने वियोगमें भी व्रतोपवासकेलिए कहा था—'याते च मयि कल्याणि! वनं मुनिनिषेवितम्। व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयाऽनघे' (वाल्मी. २।२६।२६) तब पतिकी महायात्रा-में तो व्रतोपवासोंका क्या कहना?

(ज) अकन्याओंके अन्य पुरुषसे उत्पन्न सन्तान भी सङ्कर होते हैं, जैसेकि मुनि श्रीमनुजीने कहा है—'अवेद्यावेदनेन च। जायन्ते वर्णसङ्कराः' (१०।२४) भगवद्गीतामें भी कहा है—'स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय! जायते वर्णसङ्करः' (१।४१), 'सङ्करो नरकायैव' (१।४२)। इसी साङ्कर्यसे बचानेकेलिए नरक आदि लोकोंके माननेवाले हमारे ऋषि-मुनियोंने स्त्रियोंकेलिए कठोर नियम रखे थे। इससे परिणाममें लाभ है—'यत्तदग्रे विषमिव

परिणामेऽमृतोपमम्' (गीता १८।३७)। स्त्रियोंकी विशुद्धिसे ही कुल तथा सारी जाति एवं देशकी विशुद्धि होती है। कठोरताका कारण यह है कि चाकू खर्बूजे पर गिरे या खर्बूजा ही चाकू पर गिरे, दोनों ही प्रकारसे छेदन खर्बूजेका ही होगा। इसी तरह स्त्री पर-पुरुषमें अनुरक्त हो, वा उससे सम्बन्ध कर ले, वा परपुरुष अन्य स्त्रीसे सम्बन्ध कर ले, हानि दोनों ओरसे स्त्रीकी ही है, जिससे सङ्कर सन्तान हो सकती है। इसलिए स्त्रीकी ही विशिष्ट-रक्षाका आयोजन किया गया है, जिससे सब तरहकी हानि दूर हो जाय।

(झ) 'सनातनधर्म ही स्त्रियोंको कष्ट देता है'—यह लोगोंका आक्षेप अविचारपूर्वक है। इस प्रकार तो प्रकृति भी उन्हें कष्ट देती है। प्रतिमास अस्पृश्यताका कष्ट स्त्रियां ही धारण करती हैं, दस मास गर्भधारणका कष्ट वे ही उठाती हैं, प्रसवका भारी कष्ट—जिसमें उनके जीवनके भी समाप्त हो जानेकी आशङ्का होती है—वे ही धारण करती हैं, सन्तानके पोषणका कष्ट भी वे ही उठाती हैं। तब सनातनधर्म पर ही आक्षेप क्यों? वस्तुतः स्त्रीजातिकी पवित्रतामें ही देशका उद्धार है, स्त्रीजातिका पतन होनेपर देशका पतन भी अनिवार्य है। इसीलिए हिन्दुधर्म-शास्त्रोंमें पुरुषोंकी अपेक्षा कन्या या स्त्रियोंकी रक्षामें ही अधिक ध्यान रखा गया है, क्योंकि सन्तानपर जितना माताका प्रभाव पड़ता है, उतना पिताका नहीं। इसलिए हमारे सुदक्ष-शास्त्रकारोंने स्त्रियोंकेलिए कठिन नियम बनाये हैं। इस प्रकार उन्होंने स्त्री-

जातिको सुरक्षित कर डाला है। स्त्रीजातिकी सुरक्षामें ही 'न रहे बांस, न बजे बांसुरी' इस प्रकार व्यभिचार असम्भव हो जाता है। तब इस विषयमें आक्षेप करना अदूरदर्शिता है।

श्रीमनुने कहा है—'स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च। स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति" (९।७), "पति-र्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते। जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः" (९।८) अर्थात् स्त्रीकी रक्षामें ही अपने कुल तथा अपने धर्मकी रक्षा है। पुरुषका ही रूप उसकी सन्तान होती है। जिस प्रकार पतिके यात्रा आदिमें होनेपर अन्यसे सम्बन्ध कर लेना व्यभिचार है, वैसे ही पतिकी महायात्रा होने पर भी अन्यसे सम्बन्ध कर लेना व्यभिचार है; क्योंकि 'बृहत्पराशरस्मृति'में कहा है कि "जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाम्' (४।४८) अर्थात् जीता हो या मरा, स्त्रीका पति ही स्वामी है। यही बात 'वाल्मीकि-रामायण'में भी कही गई है—"इह लोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल! अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेपि तस्य सा' (२।२९।१८) अर्थात् पिताने जिस कन्याको सङ्कल्पजल-द्वारा जिस पतिको दिया है; पति मर जानेपर भी वह उसी पतिकी है। यदि ऐसा है, तो उससे सम्बन्ध करने-वाला पुरुष भी व्यभिचारी होगा।

(ञ) वस्तुतः देखा जाय तो स्त्रियोंको विकारमें लानेमें जितना पुरुषसमाज दोषी है, उतनी स्वयं स्त्रियां नहीं। ऐसे ही लोग स्त्रियोंमें उत्तेजना उत्पन्न करके उन्हें धर्मसे विरुद्ध रास्तेमें ला

पटकते हैं। महाराज अश्वपतिने अपने राज्यका वर्णन करते हुए कहा था कि "न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।...न स्वैरी स्वैरिणी कुतः" (छान्दोग्य उ० ५।११।५) अर्थात् मेरे राज्यमें कोई व्यभिचारी पुरुष ही नहीं है, तब व्यभिचारिणी स्त्री कहांसे होगी? स्त्रीमें इस प्रकारकी स्वाभाविक लज्जा होती है कि वह अपने पतिको भी अपनी इच्छा स्पष्टरूपसे नहीं बताती, पर-पुरुषको भला वह अपनी इच्छा कैसे बताने लगी? इसलिए पुरुषसमाज ही इस अवसर पर दमनीय है, जो बलात् उन्हें उत्तेजित करता है।

(ट) 'महाभारत'में कहा है—"असम्भोगो जरा स्त्रीणाम्" (उद्योगपर्व ३६।७८)। इस प्रकार कौटलीय-अर्थशास्त्रान्तर्गत चाणक्यसूत्रोंमें भी कहा है—"स्त्रीणाममैथुनं जरा" (२८५)। इन उक्तियोंसे सम्भोग न होनेसे स्त्रियोंमें कामका स्वयं ही नष्ट होना सिद्ध होता है। यह ठीक भी है-'आहारो मैथुनं निद्रा सेवनात्तु विवर्धते'। केवल उत्तेजित करनेसे ही उनका काम बढ़ता है। उत्तेजनाका कारण है उनको स्वतन्त्रता देना, तथा पुरुषसमाजसे एकान्त वा सबके सामने सम्मेलनका अवसर देना। इसे दूर कर देना चाहिए-इससे बहुत हानि हुआ करती है। आजकलके आन्दोलनोंमें पुरुषोंके साथ स्त्रियां भी सम्बन्धित की जाती हैं, पर प्रवर्तक लोग यह नहीं सोचते कि "घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्। तस्माद् घृतं च वह्निं च नैकत्र स्थापयेद् बुधः" (पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ४६।२१) वारूद और आग-

का क्या एक स्थानमें रखना बुद्धिमत्ता है?

उत्तेजनात्मक वेषभूषा, उत्तेजक खान-पान, सिनेमा आदिसे स्त्रियोंको दूर रखना चाहिए। उनको निकम्मा भी न रहने देना चाहिए। उन्हें आजकी अक्षरशिक्षा जिससे बड़ी हानि होती है—देना ठीक नहीं। दुराचारी पुरुषोंका दमन करना चाहिए। इस प्रकार हानियां दूर हो सकती हैं। जो यह कहा जाता है कि कन्याओंका छोटी आयुमें विवाह मुसलमानी-राज्यमें प्रारम्भ हुआ है, यह भी निष्प्रमाण है। सीता एवं उत्तरा आदिके विवाह छोटी आयुमें हुए, इसे ७म पुष्पमें देखिये। क्या उस समय मुसलमानी राज्य था? मुसलमान क्या विवाहित-स्त्रियोंको नहीं उड़ाते थे? पद्मिनी विवाहिता ही तो थी। पतियोंके मरने पर राजपूत-रमणियां इसीलिए 'जौहर' कर लेती थीं कि मुसलमान न ले जांय। फलतः विधवाविवाह जहां शास्त्रीय-दृष्टिसे निषिद्ध है, वहां लौकिक-दृष्टिसे भी बहुत हानिप्रद है। वैधव्य पूर्वदुरदृष्टोंका फल होता है, उसे सहन करना ही उस पूर्वदुरदृष्टको नष्ट करना है। पुनर्जन्मवादी आस्तिकों को इधर ध्यान देना चाहिए।

(ठ) प्रश्नः—जब स्त्रीके मरनेपर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है, तो फिर स्त्रीको भी पतिके मरनेपर पुनर्विवाह करनेमें क्या आपत्ति है? (उत्तर) स्त्रीके मरनेके बाद पुरुषके पुनर्विवाह-कर लेनेपर भी उसकी पहलेकी सन्तान उसी कुलगोत्रमें ही रहकर अपने पिताके द्वारा रक्षित और पालित होसकती है, और उसका उस घरमें दायभाग रहता है, उसके अपने हिस्सेके अनुसार

अधिकार कायम रहता है, किन्तु पतिकी मृत्यु होजानेपर स्त्री यदि-बच्चोंको वहीं छोड़कर दूसरे पुरुषसे विवाह करके वहां चली जाती है; तो बच्चे बिल्कुल अनाथ हो जाते हैं, उनका पालनपोषण भी असम्भव-सा हो जाता है। यदि सन्तानको साथ ले जाय; तो उनका इस कुल वा गोत्रसे सम्बन्धविच्छेद होनेके कारण वे अपने पैतृकधनसे वञ्चित रह जाते हैं। जहां दूसरे घरमें वह जाती है, वहाँ उसका पति न तो-उन बच्चोंसे प्यार करता है, और न उन्हें दायभागका हिस्सा ही देता है। इस प्रकार वे पहलेवाले घरसे भी हाथ धो बैठते हैं, और दूसरे घरसे भी उन्हें कुछ नहीं मिलता, उनके शादी-विवाह भी बहुत कठिन हो जाते हैं। इस प्रकार वे महान् कष्टमें पड़ जाते हैं। यदि उस स्त्रीकी दूसरे घरसे भी नहीं पटती; तो उसे तीसरा घर देखना पड़ता है। इस प्रकार घर-घर भटकना भी साधारण क्लेश नहीं। लोग उसे घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। यह उसकेलिए महान् क्लेशका कारण है। इसलिए भी शास्त्रोंने स्त्रीके पुनर्विवाहका निषेध किया है।

---

(२३) विधवाविवाहकी उपपत्तियाँ तथा उनपर विचार

कई लोग विधवाविवाह पर उपपत्तियाँ दिया करते हैं, उन्हें उपक्षिप्त करके उनपर विचार दिया जाता है।

(१) शास्त्रोंमें जब विधवाविवाहकी व्यवस्था है; तब उनका विवाह क्यों न किया जाय?

उत्तर—शास्त्रोंमें विधवाविवाहकी विधि सर्वथा नहीं है;

इसे हम गत-निबन्धोंमें स्पष्ट कर चुके हैं; भिन्न-पुष्पमें भी प्रकाशित करेंगे। संक्षेप यह है कि-'न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु' (५।१५७) यह 'यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः' (मनु. २।७) [जो किसीका कोई धर्म मनुने बताया है, वह सब वेदमें कहा गया है, क्योंकि-वह मनु सभी वेदका ज्ञान रखनेवाला है।] वेदज्ञ श्रीमनुजीका विधवाविवाहनिषेधका प्रसिद्ध वचन है। इस प्रकार स्मृतियोंमें मूर्धन्य वेदप्रोक्त सबके धर्मोंके बतलानेवाली मनुस्मृति जब विधवाविवाहका निषेध करती है, तब 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' इस न्यायसे अन्य स्मृतियोंका भी इसीमें चरम तात्पर्य सिद्ध है। किसी स्मृतिकारने यह आज्ञा नहीं दी कि-यदि विधवा ब्रह्मचारिणी न रह सके, तो वह पुनर्विवाह कर ले।

इसके अतिरिक्त यह भी सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है कि-वेदमन्त्रसे जो विवाह होता है, वह कन्याका होता है, अकन्याका नहीं। जैसे कि-मनुजीने कहा है-'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः। नाऽकन्यासु क्वचिन्नृणां, लुप्तधर्मक्रिया हि ताः' (८।२२६) [वैवाहिकमन्त्र कन्याओं (अविवाहितपूर्वा लड़कियों) के ही होते हैं, अकन्याओंके (विवाहितपूर्वा लड़कियोंके) नहीं। क्योंकि-वे विवाहितपूर्वा होनेसे उनकी पुनर्विवाहधर्मक्रिया लुप्त हो जाती है।

अब यहां प्रश्न है कि-कन्याओंका कन्यात्व कब दूर होता है, इस पर 'यमो ह जातः...जारः कनीनां' (ऋ. १।६६।४) यह मन्त्र

देखना चाहिये। यहां (क) श्रीसायणने लिखा है-'अग्निरेव... कनीनां-कन्यकानां जारो-जरयिता, यतो विवाह-समयेऽग्नौ लाजादिद्रव्यहोमे सति तासां कन्यात्वं निवर्तते, अतो जरयिता-इत्युच्यते'। यहांपर विवाहमें लाजाहोम करनेपर कन्याओंके कन्यात्वकी निवृत्ति होजाना बताया है। (ख) स्वा. दयानन्दजीने भी लिखा है-'जब तक विवाह नहीं होता, तब तक कन्या कहाती है' (प्र.स.प्र. पृ. १०७ पं. १६)। (ग) आर्यसमाजी श्रीतुलसीरामस्वामीने भी लिखा है-'अग्नि कन्याओंका जार-जीर्ण करनेवाला है; क्योंकि-विवाह-समयमें धानकी खील आदि द्रव्योंका अग्निमें होम करनेपर कन्याभाव निवृत्त हो जाता है-' (वेदप्रकाश प्रथमवर्ष ७ माङ्क ८६ पृ., दिवाकरप्रकाश' २५ पृ.)।

(घ) निरुक्तमें भी यही कहा है—'जरयिता-कन्यानां पालयिता जायानाम्, तत्प्रधाना हि यज्ञसंयोगेन भवन्ति, 'तृतीयो अग्निष्टे पतिः' इत्यपि निगमो भवति' (१०।२०।२, २०।२१।१) यही दुर्गाचार्यने भी लिखा है—'स एवाग्निर्जरयिता कन्याभावस्य। यदा हि अग्निसन्निधौ ऊढा भवन्ति, अथ तासां कन्याभावो जीर्णो भवति। (ङ) यही आर्यसमाजी पण्डित राजारामशास्त्रीने लिखा है—'विवाहके समय अग्निमें लाजा-होमादि करनेसे कन्याओंका कन्यात्व निवृत्त होता है'। इसप्रकार सनातनधर्मी, आर्यसमाजी दोनों विद्वानोंकी व्याख्याओंसे यह सिद्ध होगया कि-'जारः कनीनाम्' इस ऋग्वेदके मन्त्रके अनुसार कन्याका कन्यात्व लाजाहोमसमयमें हट जाता है। तब उस कन्याके विवाहमें

कन्यात्व नष्ट होकर अकन्यात्व होजानेपर फिर उसका पूर्वके ('पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः' (मनु. ८।२२६) इस वचनसे विरुद्ध पाणिग्रहणिक-मन्त्रोंसे विवाहाधिकार नहीं रहता, तब 'विधवाविवाह' शब्द ही असम्भव है।

(च) 'कन्यायाः कनीन च' (पा. ४।१।११६) इस सूत्रके महाभाष्यमें कहा है-'कन्याशब्दोऽयं पुंसाऽभिसम्बन्ध (विवाह)-पूर्वके सम्प्रयोगे निवर्तते, या च इदानीं प्रागभिसम्बन्धात् (विवाहात्) पुंसा सह संप्रयोगं गच्छति, तस्यां 'कन्या'शब्दो वर्तते एव'। यहां कैयटने लिखा है-'शास्त्रोक्तविवाहोऽभिसम्बन्धः, तत्पूर्वके पुरुषसंयोगे 'कन्या' शब्दो निवर्तते। या तु शास्त्रोक्तेन विवाहसंस्कारेण विना पुरुषं युनक्ति, सा कन्यात्वं न जहाति, कन्यैव साऽभिमता स्मृतिकाराणाम्'।

यहां विचारणीय है कि-श्रीपतञ्जलिने कन्यात्वके हटनेमें विवाहको मुख्य माना है? वा संयोगको या दोनोंको? यदि कहा जावे कि-संयोगको ही उसने कन्यात्वको हटानेमें मुख्य माना है, तब भाष्यकारका 'या च इदानीं प्रागभिसम्बन्धात् पुंसा सह संप्रयोगं गच्छति, तस्यां कन्याशब्दो वर्तते एव' यह कथन तथा उसका कैयटका अर्थ व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि-यहां संयोग होनेपर भी कन्यात्व उसका माना गया है। तब कन्यात्वके नाशमें संयोग मुख्य कारण न रहा, किन्तु विवाह ही मुख्य कारण रहा। यदि कहा जावे कि-विवाह और संयोग दोनों ही कन्यात्वके दूर करनेमें मुख्य हैं, केवल विवाह नहीं; केवल संयोग भी नहीं, तब भी

'या च इदानीं प्रागभिसम्बन्धात् पुंसा सह संप्रयोगं गच्छति, तस्यां कन्याशब्दो वर्तते एव' यह भाष्यकारका कथन तथा उसपर कैयटका अर्थ व्यर्थ होता है; तब तो पहला ही वाक्य पर्याप्त था। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि-कन्यात्वके दूर करनेमें मुख्य कारण उसका विवाह ही है। नहीं तो भाष्यकारका दूसरा वाक्य व्यर्थ होता है। वह दूसरा वाक्य ही बता रहा है कि-विवाहसे ही कन्यात्व नष्ट होता है, संयोगसे नहीं। इससे 'जिस लड़कीका विवाहमात्र हुआ है; और संयोग नहीं हुआ; उसका कन्यात्व नष्ट नहीं होता; इससे अक्षतयोनि विधवाका विवाह शास्त्रीय है' यह कहनेवालों का पक्ष कट गया।

यदि यह माना जावे कि-जब संयोगसे कन्यात्व दूर नहीं होता, तो क्षतयोनि कन्याके विवाहमें क्या दोष है, उस पर उत्तर यह है कि-क्या प्रश्नकर्ता यहां विवाहिता-क्षतयोनि कन्याका विवाह चाहता है, या अविवाहिता-क्षतयोनिका ? यदि विवाहिता क्षतयोनिका; तो उसका तो विवाहसे कन्यात्व समाप्त हो गया, अब कन्या न होनेसे उसका विवाह ही सिद्ध नहीं। यदि वादी अविवाहिता-क्षतयोनिका विवाह चाहता है; तो शास्त्रानुसार उसका विवाह हो सकता है; पर वह अप्रशस्त-विवाह माना गया है। इसमें 'पाणिग्रहणिका मन्त्राः' (८।२२६) इस मनुके श्लोकमें कुल्लूकभट्टकी टीका देखनी चाहिये। 'नासौ धर्म्यो विवाहः'।

जिनके मतमें विवाहमात्रसे कन्यात्व दूर नहीं होता; उनके

मतमें विवाह होनेपर भी कन्यात्व रह जानेसे उससे संयोग करनेसे कन्यागमनका दोष भी होगा; उसकी सन्तानको फिर 'कानीन' कहना पड़ेगा; क्योंकि-कन्याके पुत्रको ही 'कानीन' कहा जाता है। हमारे मतमें तो दोष नहीं, क्योंकि-'पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे' (मनु. ८।२२७) इस मनुजीकी उक्तिसे सप्तपदीमें ही कन्यात्व हट जाता है। इस प्रकार विधवाविवाहका प्रश्न ही समाप्त हो गया; शास्त्रीयता तो उसकी हो ही कैसे ?

इसीलिए 'कन्यायाः कनीन च' (पा. ४।१।११६) इस सूत्रमें श्रीदीक्षितने भी 'कन्यायाः-अनूढाया एव अपत्यम्' यही अर्थ किया है। इसपर तत्त्वबोधिनीमें प्रश्न है-'ननु कन्या हि अक्षत-योनिः, तस्याश्च अपत्यसम्भव एव नास्ति' (कन्या अक्षतयोनि हुआ करती है, उसकी सन्तान कैसे ?) इस पर उसने उत्तर दिलाया है—'कन्यायाः-अविवाहिताया इत्यर्थः। बालमनोरमाने भी प्रश्न कराया है-'ननु कन्याया अप्रादुर्भूतयौवनत्वात् पुंसंयोगाऽभावात् कथमपत्यसम्बन्धः ? (इसका भी वही भाव है) इसका उत्तर दिया है—कन्यायाः-अलब्धविवाहाया इत्यर्थः, एतच्च भाष्ये स्पष्टम्'। लघुशब्देन्दुशेखरमें श्रीनागेशभट्टने तो बहुत स्पष्ट कर डाला है—'नत्वक्षतयोनित्वं कन्यात्वमिति भावः'। अर्थात्-कन्यात्व अक्षतयोनित्वसे नहीं होता, किन्तु अविवाहिता-त्वसे होता है। इस प्रकार इन सभीने विवाहको ही कन्यात्व दूर करनेमें मुख्य माना है। तब विवाहिताओंके अकन्या हो

जानेसे, और वैवाहिक-मन्त्रोंमें 'कन्या' शब्द होनेसे उनका विवाह ही कैसे हो सकता है? इस प्रकार विधवाविवाहकी प्राप्ति ही न होनेसे उसका निराकरण होगया।

कई विद्वान् कहते हैं कि—"चतुर्थी-होममन्त्रेण त्वङ्मांसहृदयेन्द्रियैः। भर्त्रा संयुज्यते नारी तद्गोत्रा तेन सा भवेत्' यह बृहस्पतिका वचन है। 'विवाहे चैव निर्वृत्ते चतुर्थेऽहनि रात्रिषु। एकत्वं सा गता भर्तुः पिण्डे गोत्रे च सूतके'। 'स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी उद्वाहात् सप्तमे पदे। भर्तृगोत्रेण कर्तव्या दानपिण्डोदकक्रिया' यह 'लिखितस्मृति'का वचन है। इससे विवाहके बाद संभोगसे ही स्त्री-पुरुषोंकी पूर्णता होती है। तभी विवाहकी पूर्णता होती है, तभी स्त्रीका पैतृकगोत्र बदल कर पतिगोत्र बनता है, पहले नहीं।"

यह पक्ष भी ठीक नहीं। उक्त पद्योंसे सप्तपदी और चतुर्थीकर्मसे वधूके पैतृक-गोत्रका परिवर्तन एवं पतिगोत्रकी प्राप्ति कही है, सम्भोगसे नहीं। और यह भी स्मर्तव्य है कि—चतुर्थीकर्ममें यदि वह विवाहसे चौथे दिनका कर्तव्य है, तो उसमें मैथुनकी अनिवार्यता भी नहीं, आज्ञा भी नहीं। नहीं तो पारस्करादि-प्रोक्त संवत्सरादि-ब्रह्मचर्य व्यर्थ हो जावेंगे। इस विषयमें प्रकाश भिन्न पुष्पमें डाला जावेगा। तब 'सम्भोग होनेपर ही विवाहकी पूर्णता होती है' यह विधवाविवाहप्रेमी गोस्वामी-राधाचरण आदियोंका पक्ष निराकृत हो गया, क्योंकि—इससे पारस्करादि प्रसिद्ध गृह्यसूत्रों तथा उनके भाष्योंका विरोध पड़ता है। सूत्रकारने

चतुर्थी-कर्मान्त विवाह-द्वारा भार्यात्व माना है, सम्भोगसे नहीं। हाँ, उस चतुर्थी-कर्मसम्पन्नतासे उसके भार्यात्वकी पूर्ति हो जाती है; उसके बाद मैथुनकी अभ्यनुज्ञा तो हो जाती है, पर अनिवार्यता नहीं, आज्ञा भी नहीं; क्योंकि-रागप्राप्त-व्यवहारकी आज्ञा नहीं हुआ करती; हाँ, चतुर्थीकर्मसे पूर्व उसका निषेध ता होता है; क्योंकि—उसका तब तक भार्यात्व पूर्ण नहीं हो जाता। तब इससे स्पष्ट हुआ कि—चतुर्थीकर्मान्त विवाहसे भार्यात्वकी पूर्ति हुई; मैथुनसे नहीं। चतुर्थी-कर्म विवाहका ही अङ्ग है, गर्भाधानात्मक संयोगका नहीं। यदि गर्भाधानात्मक संयोग विवाहका अङ्ग होता, तो विवाह-संस्कार तथा गर्भाधान-संस्कार भिन्न-भिन्न न माने जाते। यदि विना सम्भोगके विवाह पूर्ण न माना जावे; तो जो कि—वादि-प्रतिवादिमान्य पारस्करादि-गृह्यसूत्रोंने एक साल तक भी ब्रह्मचर्य माना है; तब वादीकी उक्तकल्पनानुसार यदि किसीका सम्भोग नहीं हुआ हो; तो क्या उन दोनोंका पति-पत्नीत्व न माना जावेगा? क्या यही माना जावेगा, कि—इनका विवाह ही अभी पूर्ण नहीं हुआ। यदि ऐसा है; तो चतुर्थीकर्म हो जानेपर भी उनके परस्पर पति-पत्नी न होनेसे वर्षके वा १२ दिनोंके बाद भी सम्भोग निषिद्ध हो जायगा, क्योंकि जब तक पति-पत्नीत्व ही उनका पूर्ण नहीं; तब तक सम्भोगका उनको शास्त्रानुसार अधिकार ही क्या रह जाता है? इसलिए आजकलके उच्छृंखल ज़मानेमें कहीं यह चतुर्थीकर्मकी कर्तव्यतासे पूर्व ही संयोग न कर बैठें कि वह संयोग व्यभिचार-

कोटिमें परिगणित हो जावे, इसलिए चतुर्थीकर्म भी आजकल विवाह वाले दिन ही कर दिया जाता है। इस प्रकार मन्वादिके अनुसार सप्तपदीसे, कइयोंके अनुसार चतुर्थीकर्मसे लड़कीका पैतृकगोत्र बदलकर पति-पत्नीत्व हो जाता है; तब उसके संयोगमें [यदि उसमें वैसी योग्यता है] कोई दोष नहीं। हाँ, विवाह शास्त्रानुसार ऋतुकालकी वयसे पूर्व बारहवें वर्षमें कर्तव्य है; उससे पूर्व नहीं। उससे पूर्व उस देशमें हो; जहां ऋतुकाल १२ वर्षसे पूर्व हो। हमारे शास्त्रोंमें ८ वर्षसे १२ वर्ष तकका, तथा कहीं १६ वर्षकी लड़कीका विवाह देखा जाता है; उसका मुख्य कारण भिन्न-भिन्न देशकालमें भिन्न-भिन्न वयमें ऋतुकाल होना है।

सप्तपदीमें पिताके गोत्रके हटजानेसे स्त्री पतिके गोत्रको प्राप्त हो जाती है—इसमें बहुत स्मृतिकारोंकी स्वीकृति है; यह वादीसे दिये हुए लिखितस्मृतिके वचनमें भी प्रत्यक्ष है। मनुने भी 'विद्वद्भिः सप्तमे पदे' (८।२२७) इसमें दारलक्षण अर्थात् स्त्रीत्वकी पूर्णता सप्तपदीसे कही है। परन्तु 'संभोगके बगैर पतिगोत्रकी पूर्णता नहीं होती' इस वादीके मतमें तो किसी भी स्मृतिकारकी साक्षी नहीं। यदि आक्षेप्ता गो-राधाचरण यह बताकर संभोगको प्राप्त हुई विवाहिताका पुनर्विवाह युक्त नहीं मानते, तो उसी अपनी पुस्तकमें उन्होंने प्रसूताका पुनर्विवाह कैसे माना है—इस प्रकार व्याघात होनेसे भी उनका खण्डन हो गया।

फलतः विवाहसे पहले उसके मैथुनमें भी उसका कन्याभाव दूषित अवश्य होता है; पर वह कही 'कन्या' ही जाती है। इसलिए 'यस्तु दोषवतीं कन्याम्' (८।२२४) यहां मनुजीने दूषिताका नाम भी 'कन्या' कहा है। इससे विवाहसे ही सप्तपदी होनेपर कन्यात्वकी निवृत्ति होती है; तब उसका पुनर्विवाह शास्त्रसम्मत नहीं।

(२) 'जब पुरुष पुनर्विवाह कर सकते हैं; तब स्त्रियोंको ईश्वरीय-न्यायानुसार पुनर्विवाहमें अधिकार क्यों न दिया जाय ?'

विचार—पुरुष केवल स्त्रीके मरनेमें ही पुनर्विवाह नहीं करते, बल्कि-उसके सन्तान आदिके न होनेपर उसके जीनेमें भी पुनर्विवाह कर लेते हैं; तब क्या प्रतिपक्षी स्त्रीको पतिके जीवनमें भी सन्तान आदि न होनेपर—उसको अन्य पतिके विधानकी आज्ञा देंगे? क्या यहाँ ईश्वरीय न्याय भुला दिया जावेगा? एक पुरुष अनेक स्त्रियोंको एक मासमें गर्भवती कर सकता है; पर एक स्त्री अनेक पुरुषोंसे सङ्गम करके भी एक मास वा वर्षमें एक ही गर्भ धारण कर सकती है? क्या प्रतिपक्षी इसमें ईश्वरका पुरुषविषयक पक्षपात नहीं देखते? जैसे यहां वे ईश्वरके अन्याय-को सह जाते हैं, वैसे यहां भी सह जाएं। वेदादिशास्त्रोंमें स्त्रीको एक ही पतिकी आज्ञा है, और पुरुषको कारणविशेषमें बहुस्त्री-विवाहकी भी अभ्यनुज्ञा है। तब क्या वैसा कहनेवाला वेद प्रतिपक्षीके मतमें ईश्वर-वाक्य नहीं? यदि है; तो क्या इसे प्रतिपक्षी ईश्वरका न्याय नहीं मानते?। अथवा अपनी इष्ट

बातको ईश्वरीय न्याय मानते हैं; और अपने मन्तव्यसे विरुद्धको अनीश्वरप्रोक्त मानते हैं ! तब तो आप धन्य हैं !

(३) 'विधवाका दम्पति - सुखमग्नपरिवारमें विधवारूपसे रखना पाप है; विशेषतः सन्तानहीन विधवाका-जिसने दाम्पत्य-का सुख भी नहीं देखा; उसका विवाह क्यों न किया जावे ?'

विचार—आप १४४ वार रजस्वला हुई भी अविवाहित, शिक्षित-कुमारियोंको इस प्रकार दम्पतिसुखमग्नपरिवारमें कैसे रखते हैं ? क्या यह पाप नहीं ? और फिर क्या आप 'गारंटी' दे सकते हैं कि-जिन्होंने पहिले पति-सुख देख रखा है, और सन्तानवाली भी हैं-ऐसी विधवाएँ अपना पुनर्विवाह न कराएँगी ? यदि इसमें आप गारण्टी नहीं दे सकते; तब इसमें ही आपका आग्रह कैसा ? 'स्थविराणामपि स्त्रीणां बाधते मैथुन-ज्वरः' (महा॰ अनुशासन॰ २१।५) इस कथनसे आप अपनी वृद्धा विधवा माताओंको भी उनके अभीष्ट युवकोंके साथ पुनर्विवाहका अधिकार दे देंगे-या नहीं ? यदि नहीं; तो क्यों ? क्या उन्हें उक्त महाभारतीय-वचनवश उत्तेजना नहीं होती ? कइयोंको वैसी आज्ञा दे देना और कइयोंको वह आज्ञा न देना-यह क्या आपकी स्वार्थसिद्धिको सूचित नहीं कर रहा ? विधवाका दम्पति-सुखमग्नपरिवारमें रखनेमें कोई शास्त्रकी आज्ञा नहीं; न ही शास्त्र उन्हें उत्तेजनात्मक विशिष्ट खान-पानकी आज्ञा देता है। उन्हें तो संन्यासिनियोंकी भांति सम्मानित करके रखना चाहिये—और उनका विशेष प्रबन्ध करना चाहिये कि-जिससे न तो वे अपना तिरस्कार समझें, और न उत्तेजित हों। उनकी उत्तेजनामें जितना पुरुष-समाज दोषी है; उतना वे नहीं।

(४) 'विधर्मियोंके आक्रमणोंमें, बलात्कारोंमें विधवाएँ ही लक्ष्य बनती हैं। इस प्रकार जहाँ शतशः विधवा-स्त्रियाँ अपने सतीत्वको भ्रष्ट कर बैठती हैं; वहाँ अपने धर्मको भी। ऐसी स्थिति-में क्यों न उनका पुनर्विवाह करके उन्हें अपने धर्ममें रखा जावे ?'

विचार—इसमें कारण सनातनधर्मसम्मत अवगुण्ठन-प्रथाका अभाव है। उन्हें जब इधर-उधर भेजा जाता है, स्वतन्त्र किया जाता है; तब ऐसा होना तो अनिवार्य है। पहलेकी भांति आवरण-प्रथाको रखिये; तब इस प्रकारकी हानियाँ नहीं होंगी। विधर्मी लोग तो कुमारियों पर भी आक्रमण करते हैं; और विवाहिताओंको भी नहीं छोड़ते। यदि आपको विधवाओंके विषयमें भय है; तो अपनी १७-२४ वर्षकी अवस्थावाली इधर-उधर घूमनेवाली कुमारियों तथा अवगुण्ठन-प्रथा छोड़ चुकी हुई अपनी विवाहिता-स्त्रियोंके विषयमें भय क्यों नहीं ? यदि आपकी जातिमें अपनी कुटुम्बिनियोंकी रक्षा करनेकी शक्ति नहीं, और विधर्मियोंके आक्रमण रोकनेकी शक्ति नहीं; तो अपना विवाह ही बन्द कर दीजिये। धन आदिका संग्रह भी बन्द कर दीजिये; क्योंकि-उसके भी चुराये जानेका भय है। तब तो अपनी माताओं, बहिनों और लड़कियोंको भी न रखिये; जन्मसे ही उनको मार दीजिये; क्योंकि-इनके भी अपहरणका भय है।

(५) 'विधवाएँ गुप्तरीतिसे अपनी कामवासना पूर्ण करनेकेलिए

भ्रूणहत्या-गर्भपात आदि पापको भी करती हैं; तब उनका पुनर्विवाह करके इन पापोंसे उनकी रक्षा क्यों न की जावे ?'

विचार—जिस मतमें शास्त्रविरुद्ध-विधवाविवाहके करनेमें पाप नहीं; उनके मतमें भ्रूणहत्या ही पाप कैसे है ? आजकल तो विवाहिताएँ भी सन्तानके बोझसे अपने संरक्षणार्थ भ्रूण-हत्याएँ कराती हैं-क्या यह पाप आपके मतमें सह्य है ? उनका भी विवाह तोड़ दीजिये। वे विधवाएँ गर्भिणी स्वयं तो होती नहीं; उसमें कृपा होती है दुष्ट पुरुषोंकी; तब आप उन्हींका दमन करें। इस प्रकार तो सधवाएँ भी अन्य पुरुषोंसे गुप्तरूपसे सम्बन्ध कर रही हुई सुनी जाती हैं; क्योंकि-'ईप्सितो हि गुणः स्त्रीणामेकस्या बहुभर्तृता' (महा. आदिपर्व २०४।८); तब आप उनका भी अन्य-पतिविधान क्यों नहीं आदिष्ट कर देते ? वस्तुतः एतदादिक व्यभिचारको रोकनेमें दण्ड ही उपाय है, विवाह नहीं। यदि आप अविवाहमें भ्रूणहत्याएँ देखते हैं; तो विधवा-विवाहमें बालहत्या, युवकहत्या तथा वृद्धहत्याको क्यों नहीं देखते; जिनका विवरण हम पूर्व कर चुके हैं।

वस्तुतः विधवाओंके इन दोषोंमें कारण है-उनमें विधवा-धर्मका अप्रचार। उन विधवाओंके ब्रह्मचर्य एवं पातिव्रत्यधर्म-पालनमें जो पारलौकिक स्वर्गादि लाभ शास्त्रोंमें लिखे हैं; उनको उन्हें सुनाकर इस विषयमें प्रोत्साहन देना चाहिये। धर्मभङ्गसे जो नरकादि-दुर्गति शास्त्रोंमें वर्णित है; उनकी विभीषिका भी उन्हें समझावें; उन्हें स्वयं उत्तेजित न करें; तो

विधवा जीवनपर्यन्त खरी सिद्ध होगी। प्रतिपक्षी भी विधवा-विवाहकी अपेक्षा विधवाओंका ब्रह्मचर्य उत्तम मानते हैं। तब वे वैसी पुस्तकें क्यों नहीं बनाते ? क्यों इस विषयके लैक्चर नहीं देते ? क्यों नहीं उन्हें ब्रह्मचर्यार्थ प्रोत्साहन देते ? ऐसा न करनेपर ही वे धर्मसे पतित हो जाती हैं। जैसे वादियोंके मतसे २५ वर्षसे पूर्व ब्रह्मचर्य रखना कठिन होनेपर भी लड़कों वा लड़कियोंको उक्त ब्रह्मचर्यकेलिए वे प्रेरित करते हैं, उत्साहित करते हैं, उपदेश देते हैं, वैसा न करनेपर उनको गुरुकुलादिमें दण्ड-विधान करते हैं; वैसे विधवाओंको भी ब्रह्मचर्यकेलिए उपदेश दीजिये, और वैसा उद्योग कीजिये-जिससे वे धर्मपतित न होवें।

(६) 'आर्यजातिकी संख्या घट रही है, उसमें कारण है कि-विधवाओंके विवाहकी मनाही होनेसे वे सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकतीं। अथवा वे विधर्ममें प्रविष्ट होकर शत्रुओंकी वृद्धि करके आर्यजातिकी संख्या घटा रही हैं। इस ह्राससे जातिकी रक्षार्थ क्यों न उनका पुनर्विवाह करके जातिकी संख्या बढाई जावे ?'

विचार—आप जातिकी संख्याके ह्रासका बहाना करते हैं, और आपके सहवर्गी कहते हैं कि-हमारी स्त्रियाँ 'वूमन फ्रेण्ड'-का सेवन करें, जिससे सन्तानोंकी संख्या न बढ़े। शासक कहते हैं कि-उत्पत्ति-संख्या जिस प्रकार बढ़ रही है, वैसे भय है कि-उनके निवासार्थ भूमि भी पर्याप्त न होगी। अन्न भी पर्याप्त नहीं होगा। तब अकालके बढ़नेपर फिर भी बहुतोंका नाश होजानेपर संख्या घट जायगी। अब खेतोंके स्थानोंको घर ले रहे हैं; तब

नदियोंके जलका पूर्ववत् उपयोग न होनेसे उनमें बाढ़ें होंगी। उससे बहुतसे लोगोंका नाश होनेसे फिर संख्या समान होजाएगी। उत्पत्तिक्रम बढ़ जानेपर उनमें बीमारियोंका प्रकोप भी स्वाभाविक है। तब कहीं प्लेग आदिसे, कहीं भूकम्प से, कहीं आगसे, कहीं महायुद्धसे जनसंख्याके नाश होनेपर फिर वही संख्या सम हो जायगी। तब आपकी बात मानी जावे, वा वैज्ञानिकोंकी ?

आप लोग हिन्दु-वेश्याओंको बहुत-उत्पत्तिकेलिए क्यों नहीं प्रेरित करते ? क्या इससे आपकी संख्या नहीं बढ़ेगी ? यदि इसमें पाप देखते हैं; तो वैसे विधवाओंकी सन्तानोत्पत्ति-नियोजनमें आप पाप क्यों नहीं समझते ? दोनोंमें शास्त्राज्ञा न होनेसे समान ही पाप है। स्त्रियाँ वस्तुतः सन्ततिकी उत्पत्ति नहीं चाहतीं; किन्तु आनन्द चाहती हैं; क्योंकि-प्रसवमें उन्हें बड़े कष्ट होते हैं; तब क्या अपनी जातिकी वृद्ध्यर्थ आपका स्वार्थ नहीं ? जोकि-विधवाओंका विधर्ममें जाना कहा जाता है; उसमें कारण है आवरण-प्रथाका त्याग, और स्त्रियोंको स्वतन्त्रता और पर-पुरुषोंसे मिलनेका अवसर देना। जब आप लोग एतदादिक सनातन-प्रथाओंका विरोध करते हैं; तब क्या उसका फल न मिलेगा ? विधर्ममें तो विवाहिता-स्त्रियोंको भी जाता हुआ देखा गया है; तब क्या वैसी स्त्रियोंकेलिए भी दूसरे पतिका आन्दोलन आप चलाना चाहेंगे।

(७) 'हिन्दु-वीर अपनी मृत्युके बाद अपनी स्त्रियोंके वैधव्यमें उनकी भावी-दुर्दशाके भयसे वीर-कार्योंमें भाग नहीं लेते। विधवाविवाहका अधिकार देकर क्यों न पुरुषोंका वीर-कार्योंमें भाग लेनेका उत्साह बढ़ाया जाय ?'

विचार—पापीसे पापी भी किसी पुरुषकी इच्छा नहीं होती कि-उसकी मृत्युके पश्चात् उसकी स्त्री दूसरेसे संगम करे। तब विधवाविवाहके इच्छुकोंका यह केवल व्याज ही है। इस प्रकार तो लड़कियोंको पैदा ही न कीजिये; या पैदा हुई लड़कियोंको मार दीजिये; क्योंकि-आपके जीवनमें भी उनका चुराये जानेका डर होगा; अथवा आपके द्वारा भी उनकी दुर्दशाका भय होगा। इस प्रकार तो आप अपने विवाह ही रोक दीजिये; जिससे निश्चिन्त होकर आपको वीरताका जौहर दिखानेका अवसर मिले।

(८) 'विधवा-विवाह न होनेसे पत्नी-हीन पुरुष अयोग्य-अवस्थामें भी कुमारियोंके साथ विवाह कर लिया करते हैं; ऐसी अवस्थामें विधवा-विवाहकी आज्ञा देकर उन विधुरोंका विवाह विधवाओंसे कराना चाहिये; जिससे दोनों स्त्री-पुरुष भी बढ़ें, और कुमारोंका अधिकार कुमारोंको मिले—जिससे भविष्यमें विधवावृद्धिका मार्ग रुक जावे'।

विचार—जो विधवा विधुर-विवाह न करना चाहें; तब आप क्या करेंगे ? जिस स्त्री-जातिकी कामपूर्तिकेलिए आपने मार्ग खोल दिया है; वही अपनी प्रचण्ड-कामाग्निकी शान्तिकेलिए कुमारको चाहेगी, क्योंकि-विधुरोंमें प्रायः शीघ्रपतनादि व्याधि-वाले होते हैं, जो कि प्रज्वलित-कामाग्नि वाली विधवाओंकी

तृप्तिकेलिए समर्थ सिद्ध नहीं होते; तब क्या आप यहाँ डाक्टरी-परीक्षाको भी आवश्यक रखेंगे? अथवा-विवाहसे पूर्व उस विधवाको विधुरके साथ समागमकी आज्ञा भी एक घंटेकेलिए दे देंगे? अथवा वह विधवा उस विधुरसे सन्तुष्ट न हो; तो क्या उसे अन्य पतिके विधानकी आज्ञा दे देंगे?। यदि वे ऐसा स्वयं न कहेंगी—ऐसा आपका विश्वास है; तो विवाह न करनेपर विधवाएँ भी तो आपके पास आकर वैसा न कहेंगी; तब आपकी विधवा-विवाहमें प्रवृत्ति कैसे? क्या अपनी कामपूर्तिकेलिए; वा उसके प्रचार-द्वारा वेतन मिल जानेसे अपनी उदर-वृत्तिके लिए यह प्रवृत्ति है?।

(९) 'वैधव्यमें स्त्रीकी स्वतन्त्रतामें जैसे आचारके पतनका भय होता है, वैसे पराधीनतामें उतना भय नहीं होता; तब पुनर्विवाह-द्वारा उसको दूसरे पतिके अधीन करके क्यों न उसे स्वच्छन्दविहारजन्य पापसे बचाया जाय?।'

विचार—यदि परतन्त्रतामें रहनेसे उसके पतनका भय नहीं, तो उसे शास्त्राज्ञासे पिता आदिकी परतन्त्रतामें क्यों नहीं रखा जाता? हम भी स्त्रियोंकी स्वतन्त्रता नहीं चाहते, और आप भी। फिर क्यों विधवाविवाहका प्रचार करके उसे स्वच्छन्द-चारिणी किया जाता है? यह सदाचार है—यह अनाचार है—यह शास्त्र बताता है; तब शास्त्रविरुद्ध विधवाविवाह करना भी तो आचारका पतन है; इससे वह आचारके पातित्यमें और भी साहसवती हो जायगी।

(१०) 'विधवाविवाह अप्रशस्त उपाय है—यह हम मानते हैं; परन्तु जैसे पुरुषका पुनर्विवाह अप्रशस्त है, वैसे स्त्रीका भी। जैसे पुरुषका द्वितीय-विवाह आठ विवाहोंमें नहीं है, वैसे स्त्रीका भी। तभी याज्ञवल्क्य 'अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्। अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्' (१।५२) यहाँ ब्रह्मचारीका अविवाहितपूर्वाके साथ विवाह कहा है; तब पूर्व-विवाहित अब्रह्मचारीका अनन्यपूर्विका-कन्यासे विवाह कैसे हो? इस प्रकार यदि पुनर्विवाहमें क्षता और अब्रह्मचारिणी ली जाय; तो क्या दोष है?

विचार—उक्त याज्ञवल्क्यके वाक्यमें 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ 'अविवाह' अभिप्रेत नहीं; किन्तु गुरुकुलमें ब्रह्मचर्य-व्रतके समयमें उसका व्रत-स्खलन न हुआ हो, यह भाव है। इसमें अपरार्क टीका देखिये—उसका यह आशय है कि—ब्रह्मचर्य-स्खलन होने पर तो उसका प्रायश्चित्त होता है, विवाह-निषेध नहीं। स्नातक होनेसे पूर्व स्खलन होनेपर अवकीर्णि-प्रायश्चित्त होता है। उसके बाद साधारण प्रायश्चित्त होता है। विवाहित होनेपर तो पुरुषका स्त्रीकी मृत्युमें सन्तानादि न होनेपर पुनर्विवाह होता ही है। जैसेकि मनुने लिखा है—'भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाऽग्नीन् अन्त्यकर्मणि। पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च' (५।१६८)। इस कारण उक्त वचनमें 'अविप्लुत-ब्रह्मचर्य' शब्दका 'गुरुकुलमें मैथुनादि-रहित' अर्थ है, 'अविवाहितपूर्व' नहीं—यह स्पष्ट है। इसलिए याज्ञवल्क्यस्मृतिमें उक्त श्लोकसे पहले यह श्लोक मिलता

है-'गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया। वेदव्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा' (३।५१) यहाँ ब्रह्मचर्यव्रतका पार करके स्नातकत्वकी आज्ञा दी है। यहाँ 'अविवाहितत्व' अर्थ नहीं घटता; क्योंकि-यह वर्णन गुरुकुलसे आये हुए का है। उससे आगेके पद्यमें भी यही अर्थ है। इस प्रकार मनुस्मृतिमें भी कहा है-'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुत-ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्' (३।२) इसका अन्वय यह है कि-अविप्लुतब्रह्मचर्यो वेदान् वेदं वा अधीत्य गृहस्थाश्रममाविशेत्'। तब यहाँ गुरुकुलवास-कालीन ब्रह्मचर्यकी ही अप्लुतता इष्ट है। यदि मनुको भी विवाहित पुरुषके पुनर्विवाहकी आज्ञा अनभीष्ट होती; तब वे 'पुनर्दारक्रियां कुर्यात् पुनराधानमेव च' (मनु. ५।१६८) 'वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याऽब्दे' (९।८१) इत्यादि आज्ञाएँ न देते। 'अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः' (९।१०१) इस मनुपद्यकी टीकामें मेधातिथिने पूर्वपक्षको उपक्षिप्त करके समाधान किया है—'स्त्रीवत्पुरुषस्य अनेकभार्यापरिणयनं न स्यात्; तद् अयुक्तम्; अस्ति तत्कृते वचनम्-'कामतस्तु प्रवृत्तानाम्' (मनु. ३।१२) 'वन्ध्याष्टमेऽधिवेत्तव्या' (९।८१) इति, न तु स्त्रियाः। तथा च लिङ्गान्तरं स्याद्-'एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति नैकस्या बह्वः सह पतयः' इति।

फलतः उक्त याज्ञवल्क्यके वचनमें यथावत् ब्रह्मचर्य व्रतके पालनेवाले पुरुषका अनन्यपूर्विकाके साथ विवाह कहा है। इससे पुरुषके पुनर्विवाहमें तो बाधा नहीं आती, परन्तु स्त्रीके पुनर्विवाह-

में तो स्पष्ट बाधा है; क्योंकि-आक्षेप्ता गो० राधाचरणने भी 'अनन्यपूर्विका' का अर्थ 'जिस स्त्रीका पहले विवाह न हुआ हो' यह अर्थ अपनी पुस्तक 'विधवाविवाह-विवरण' में किया है। तब उसका पक्ष स्वयं ही खण्डित होगया। पुरुषका 'ब्रह्मचर्य' शब्द 'गुरुकुलव्रतमें अक्षतवीर्यता' बतलाता है, विवाहमें अक्षत-वीर्यता नहीं बताता, नहीं तो पुरुषोंके पुनर्विवाह-वचनोंका विरोध हो जाय।

(११) जिसका हृदय विधवात्वको प्राप्त नहीं हुआ, जो हृदयसे विवाहेच्छुका है, उसके शरीरको व्यर्थ ही धर्मभय दिखलाकर जबर्दस्ती यन्त्रणामें क्यों रखा जाय? जैसेकि-बहुत सी स्त्रियाँ हिस्टीरिया, सिरदर्द, राजयक्ष्मा आदि रोगोंकी शिकार होकर कष्टसे मरती हैं। जिन्होंने कुलकी लज्जा छोड़ दी है, वे विधर्मियोंके शरण जाकर हमारी शत्रु-सन्तान पैदा कराके हमारे क्षयका कारण बनती हैं।

विचार—हिस्टीरिया, सिरदर्द, राजयक्ष्मा आदि रोग तो सधवाओंको भी हुआ करते हैं; इसमें एकमात्र कारण वैधव्य ही कैसे हो? हिस्टीरियामें कारण आन्तरिक दुर्बलताक्ष होता है। कुमारावस्थामें, वा विवाहमें वा वैधव्यमें वे समान रूपसे होते हैं। उनके हृदयकी बात तो क्या पूछनी। वे तो सधवात्वमें भी अन्यको चाह सकती हैं। तब क्या आप भी उनकेलिए धर्म-मर्यादा तोड़कर वैसा नियम बना देंगे? यदि नहीं बनावेंगे; तब आप भी उनकी मनचाही सभी सुविधाएँ उन्हें क्यों नहीं देते?

क्या यह आपकी उनकी हितैषिताका आदर्श है ?। यदि आप यहाँ उनका दमन करते हैं; इस प्रकार यदि सनातनधर्मी भी उनका दमन करते हैं; तव उनकी ही निन्दा क्यों ?

विधर्मियोंके पास उनके जानेका कारण भी प्रतिपक्षी ही हैं; वे आवरणप्रथा (पर्दा) का खण्डन करते हैं, अक्षर-शिक्षाके बहाने उनमें शृङ्गार, विशेष-विशेष वेषोंका शौक, और अन्य कुसंस्कारोंको भी डालते हैं, उनकी परतन्त्रताका विरोध करते हैं; उनके धर्मभावकी वृद्धि न करके उनकी उत्तेजनाके कारण वनाते हैं। दुष्ट शिष्य कठोर नियमका पालन न करना चाहे, उनकेलिए क्या आप अध्यापक होकर विद्यालयकी व्यवस्था तोड़ देंगे ? रोगी आपका लड़का अपथ्य-सेवन करना चाहे, क्या आप उसका दमन न करेंगे ? गन्दे फोड़ेवाला पुरुष उसके ऑपरेशनकी पीड़ा सहनेमें अपनी अनिच्छा दिखलावे; आँखका रोगी अपनी आँखमें सुई डालनेमें अपना दुःख प्रकाशित करे; तव क्या आप उनकी वातें मानकर वैसा ही कर लेंगे ? जबकि शास्त्रमें विधवाविवाहका निषेध है; उसके अवलम्बन कर लेनेपर सती स्त्रियोंके भी दुश्चरित्रा हो जानेका भय है, अन्य वहुत सी धार्मिक-शृङ्खलाओंके टूटनेका भय है; तव क्या उस (विधवा-विवाह) का अवलम्बन कभी ठीक हो सकता है ? जिससे सती और व्यभिचारिणीकी विशेषता न रहे; वह भी नियम क्या आपके मतमें ठीक है ? फिर भी यदि प्रतिपक्षी इस विषयमें दुराग्रह नहीं छोड़ना चाहते; तो यह उनकी अदूरदर्शिता ही है।

या शास्त्रके उल्लङ्घनका साहस है, या प्राचीनतासे द्वेष है।

वस्तुतः सतीत्व अन्य देशोंकी अपेक्षा भारतका गौरवास्पद है। यहीं सीता, सावित्री, अनसूया आदि पतिव्रता स्त्रियोंने जन्म लिया। यहींकी सतियाँ ही आत्मवल, चारित्र और आदर्श नारी-धर्मके अक्षुण्ण गौरवको प्रतिष्ठापित करनेवाली वनीं। क्या विधवाविवाहके प्रचलित करनेपर फिर यहाँ वैसी देवियाँ अवतीर्ण होंगी ? पुनर्भू-स्त्रियोंका सतीत्व आकाशके पुष्पकी ही भांति होगा। हमारा देश स्वतन्त्र होता हुआ भी अंग्रेजी-सभ्यताके परतन्त्र है। शूरता इसमें नहीं है, न ही आत्मवल वचा हुआ है। अवशिष्ट महिलाओंका सतीत्व ही हमारे देशकी अतुल सम्पत्ति है, और वही हमारे देशको वचाये हुए है। अवशिष्ट इस हमारे देशगौरवरूप स्त्री-सतीत्वका विधवाविवाहके सिद्धान्तके मूल्यमें वेचना क्या ठीक है ? क्या किसीके पास स्थित रत्नोंके वीचमें छः के चुराये जानेपर सातवें रत्नका भी समुद्रमें डाल देना क्या ठीक होगा ? स्त्रियाँ अवला होती हैं—यह जानकर पुरुष उनके पास ठहरे हुए देदीप्यमान सतीत्व-रत्न-को अपने आस्वादार्थ छीनना चाहते हैं, जिसके प्रभावसे उन महिलाओंने अपने पतिको अमर कर दिया था। यदि पुरुष स्त्रियोंके शुभाभिलाषी हैं, तव स्वयं वे संयमी होकर विधवाओंको भी सुशिक्षा द्वारा सदाचार और दृढ-चित्तताकेलिए क्यों नहीं उपदेश देते ? आजकल भी विधवाओंमें देवीतुल्य सदाचार-वाली जो दीखती हैं, विधवा-विवाह प्रचालित कर देनेपर वे

भी सुननेमें भी नहीं आवेंगी, दर्शन तो उनका दूर रहा। पुराणोंमें जिनका चरित्र पढ़कर आज भी श्रद्धासे जिनके चरणोंमें गिरनेकी इच्छा होती है, विधवा-विवाहसे उनके चरित्रपर विश्वास भी क्या किसीका रह जाएगा? खेद, जो विधवाएँ प्रसन्न-सुखकमल वाली मृतक पतिके शवको गोदमें रखकर जलती हुई चिताग्निको मलय-चन्दनकी भांति सुखप्रद मानकर उसका आलिङ्गन करती थीं; जो अपने सतीत्वकी रक्षार्थ जौहरव्रतके अनुष्ठानमें पृष्ठपद न होती थीं; इस क्षुद्र-युगमें भी जहाँ-तहाँ अपने सतीत्वकी महिमाको दिखलाकर जो पाश्चात्यसभ्यताभिमानी पुरुषोंको भी चकित एवं स्तब्ध कर दिया करती हैं, उन्हींको परपुरुषसे आलिङ्गनको उपदेश देना कितना भीषण कार्य है, अपने विवाहके अवसरमें पतिसे अतिरिक्त पुरुषोंको पुत्र, भाई, पिता रूपसे देखनेकेलिए जो प्रतिज्ञा कर चुकी हैं, उन हिन्दु-ललनाओंको पतिकी मृत्युके बाद अपने भ्राता-पुत्र आदियोंको ही पति बनानेका विचार करवाना भी कितना पातकप्रद सिद्ध हो सकता है? तब वे विवाहिता विधवाएँ दूसरोंको भी भ्राता वा पुत्रकी दृष्टिसे कैसे देखेंगी? तब तो वे समझ सकेंगी कि-अब हमारा कोई भी भ्राता नहीं; जिसे चाहें भर्ता बनावें।

वस्तुतः पाश्चात्यभोग-मृगमरीचिकासे उपहत-दृष्टिवाले ये बेचारे त्याग, संयमरूप धर्मको पाखण्ड समझते हैं; उनसे अन्य आशा क्या हो सकती है; अतः ऐसे पुरुषोंका ही दमन और धिक्कार होना चाहिये।

(२४) विवाहोच्छेद (तलाक) पर विचार।

'न निष्क्रय-विसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या प्रमुच्यते। एवं धर्मं विजानीमः प्राक् प्रजापतिनिर्मितम्' (मनु. ९।४६) विक्रय वा त्यागसे स्त्री पतिसे नहीं छूट सकती, ऐसा पूर्वसे प्रजापतिका रचा हुआ नित्य-धर्म हम जानते हैं, श्री तुलसीराम स्वामी)

(१) विधवाओंसे की जाती हुई भ्रूणहत्याओंको विचार कर सुधारक लोग उनके बचावकेलिए शास्त्रोंकी पर्वाह न करके उनकी कामपूर्तिकेलिए, अथवा यों समझना चाहिये कि-पुरुष-समाजकी कामपूर्तिकेलिए 'विधवाविवाह' नियमित करते हैं। सनातन-धर्मियोंके विरोध करते हुए भी वह विधवा-विवाह आज-कल प्रायः चालू हो गया है, अब बुरा नहीं समझा जाता; विधवा-विवाह चालू करनेपर सुधारकोंको सधवा-विवाह भी चलाना पड़ेगा। यदि वे उसे नहीं चलाएँगे; तो विधवाविवाह न चलाने-पर तो वे भ्रूणहत्याका हौवा दिखाकर विधवाविवाहके प्रचारमें सफल होगये, किन्तु सधवाविवाहके न चलानेपर तो बूढ़ोंकी, युवकोंकी तथा बच्चोंकी हत्या भी प्रारम्भ हो जाएगी (इसे आगे स्पष्ट किया जाएगा), उसीके समीकरणार्थ कि-यह हत्याएं न हो जावें, सुधारकोंने विवाहोच्छेद जारी किया है। आजकलका विवाह-विच्छेद (तलाक) उसी विधवाविवाहका दुर्विपाक है, अथवा यह कुमारियोंकी अधिकवयस्कतामें विवाह करनेका दुष्परिणाम है; क्योंकि-इन दोनों विधानोंका अभिप्राय है काम-पूर्ति। जब इस प्रकार स्पष्टतासे निर्लज्जता फैलाई जाती है, तब

जो कामुकी विवाहित स्त्रियाँ उन अपने वृद्ध पतियोंसे अथवा शीघ्रपतन वाले युवक पतियोंसे अपनी कामपूर्ति होती नहीं देखेंगी; तब वे उन पतियोंको विष-प्रयोगसे अपनेसे पृथक् कर दिया करेंगी कि—हम जीते जी तो उन वृद्ध वा शीघ्रपतन वाले युवक पतियोंको छोड़ नहीं सकतीं; अतः उन्हें गुप्तरूपसे मार दें; जिससे हम विधवा होजाएं; और हमें अन्य पतिसे विधवा-विवाहका अधिकार प्राप्त हो जाए। अथवा यदि वे सन्तानवती भी होती हैं; तो उस शीघ्रपतनवाले पतिसे सन्तुष्ट न होकर वे सोचेंगी; कि-पतिको मारकर भी हम सन्तान होनेसे अन्यसे विवाह न कर सकेंगी; अतः हम उन सन्तानोंको भी मार दें! जिससे सन्तानकेलिए पुनर्विवाहका बहाना बन सके। अथवा वे फिर स्वयं ही उस अपने पतिके घरसे किसी अन्य प्रेमीके साथ भाग जाया करेंगी? इस हानिके सुधारार्थ सुधारकोंने निर्लज्जता-जिसका दूसरा नाम कहा जा सकता है-ऐसा विवाहविच्छेद नियम बनाया, या बनवाया। इस नियमके प्रचालनका मूल-कारण विधवाविवाह है; जैसे कि हम पहले सूचित कर चुके हैं; और दूसरा कारण है विवाह-संस्कारकी परिभाषाको ढीला कर देना। सनातनधर्मकी दृढ़ विवाहकी परिभाषाकी शृङ्खलाको जब सुधारकोंने विधवाविवाह आदि द्वारा ढीला कर दिया; तब उस शृङ्खलाका यत्र-तत्र टूट जाना स्वाभाविक ही था। उसीका परिणाम यह विवाहविच्छेद है! अब हम उसकी अशास्त्रीयता संक्षेपसे दिखलाकर उसकी लौकिक हानियां भी दिखावेंगे।

(२) ऊपर हमने पहले-पहल सकलस्मृतिमूर्धन्य मनुस्मृतिका प्रमाण इस विषयमें दिया है कि-स्त्रीका तलाक नहीं हो सकता। इसीका मूल वेदका एक मन्त्र भी है-'इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्व-मायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे' (ऋ. सं० १०।८५।४२, अथर्व. १४।१।२२) (ऐ पति-पत्नियो, तुम लोग आपसमें इकट्ठे रहो; परस्पर विच्छिन्न न हो जाओ; सारी आयु (जितनी उसमें नियत है) इस आश्रममें इकट्ठी बिताओ। पुत्र-पौत्रोंसे खेलते हुए अपने इसी घरमें रहो। यह वेदकी आज्ञा है। यदि इसमें प्रतिकूलता की गई; और विवाहकी शृङ्खलाको विच्छिन्न कर दिया गया; तो स्त्री-जाति उच्छृङ्खल हो जाएगी। स्त्रीजाति विशेषतः उच्छृङ्खलताप्रिय है; जैसे कि मनुजीने कहा है-'पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैःस्नेह्याच्च स्वभावतः। रक्षिता यत्नतोपीह भर्तृष्वेता विकुर्वते' (९।१५) शय्यासनमलङ्कारं कामं क्रोध-मनार्जवम्। द्रोहभावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनु-(प्रजापति-) रकल्प-यत्। (९।१७) 'नैता रूपं परीक्षन्ते नाऽऽसां वयसि संस्थितिः। सुरूपं वा विरूपं वा पुमान् इत्येव भुञ्जते (९।१४)। इनके अर्थकी आवश्यकता नहीं। यह सुगम पद्य हैं।

(३) यही बात कौटलीय-अर्थशास्त्रमें भी सूचित की गई है—'न समाधिः (चित्तस्थैर्यं) स्त्रीषु, लोकज्ञता च' (चाणक्यसूत्र ३६१)। स्त्रीणां मनः क्षणिकम्' ४७९) अर्थात् स्त्रियोंका चित्त स्थिर नहीं होता, इस प्रकारके बहुतसे उद्धारण दिये जा सकते हैं। इनके मूलभूत 'स्त्रिया अशास्यं मनः' (ऋ. ८।३३।१७) 'न वै

स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, सालावृकाणां हृदयान्येता' (ऋ. १०। ६५।१) इत्यादि वेदके वचनोंका अनुशीलन कर लेना चाहिये। सर डा० राधाकृष्णन्ने 'धर्म और समाज'में पृ. १७१ की टिप्पणीमें इनकी यह व्याख्या की है—'स्त्रियोंके साथ प्रीति नहीं हो सकती। इनके हृदय बघेरोंके हृदयोंके समान होते हैं' 'स्त्रीके मनको संयममें नहीं रखा जा सकता'। इस प्रकार अन्य भी बहुत वचन मिलते हैं—'योषा जारमिव प्रियम्' (ऋ. ६।३२। ५) 'जारं न कन्या' (ऋ. ६।५६।३) इत्यादि। जब ऐसा है; तो स्त्री जातिपर कुछ बन्धन रखना ही पड़ता है, उन्हें परतन्त्र रखना ही चाहिये।

जैसे रुग्ण मनुष्यको वैद्य पथ्यके अनुसरणका आदेश दे; यदि वह उसपर पूरा निरीक्षण न करे; तो रोगीका मन अपथ्यके खानेकेलिए लालायित रहा करता है, वैसे ही नारी-समाज भी अपने नियत धार्मिक नियमोंको बन्धन अनुभूत करता हुआ उन बन्धनोंको तोड़नेकेलिए चेष्टा करता है। आजका नारीभक्त पुरुष-समाज भी उनसे सहानुभूत्यर्थ राजकीय-विधानसभाओंमें नारियोंके अभीष्ट विधानोंको अपने सहवर्गियोंके वोटोंके बलसे उपस्थित करता है बिना ही जनताकी सम्मति, तथा बिना ही धर्मशास्त्रमर्मज्ञ विद्वानोंकी व्यवस्था प्राप्त किये, और बिना ही भविष्यका विचार किये, उन नियमोंको वह सुधारकसमाज पास करानेकेलिए बहुत प्रयत्न करता है, उससे अपनी बहुत बहादुरी वा नामप्रसिद्धि समझता है।

(४) अब नारियोंको स्वतन्त्रता प्राप्त होजानेपर क्या-क्या अत्याचार बढ़ेंगे, यह समझ लेना चाहिये।—गृहस्थाश्रममें जब कि पिताका पुत्रसे, वा माताका पुत्रसे विवाद जब-कभी होजाया करता है जो आत्मज है, तब पति-पत्नीमें कभी विवाद न हो-यह सम्भव नहीं। प्रणयमें कलह भी सम्भव हो जाया करता है, दम्पतियोंमें परस्पर मान भी हो जाया करता है। शिक्षार्थ, अपव्यय हटवानेकेलिए, सम्बन्धियोंके असमयमें भी भोजनादि द्वारा मानसत्कारार्थ, और अपनी सेवाकेलिए स्त्रीको बाध्य भी करना पड़ जाता है,-लौकिक और सामाजिक कुरीतियोंमें उसका दमन भी करना पड़ जाता है परपुरुषके पास आने-जानेसे, स्वतन्त्रगमनसे तथा स्वेच्छाचारसे भी स्त्रीको रोकना पड़ता है, जैसाकि सनातन-कालसे यह होता आ रहा है। उस समय स्त्री उस प्राचीनकालमें उसे शास्त्रीय परतन्त्रताके कारण वा धर्मभयसे सहन कर जाती थी; परन्तु आज स्त्री सुधारकोंसे दिये हुए स्वातन्त्र्यको प्राप्त करके, नर-रक्तके आस्वादको पाकर शेरनीकी भान्ति मस्त-होकर इन नियन्त्रणोंको कैसे सहे? नियन्त्रण करने पर तो वह गर्जती है।

रोकनेपर वह शीघ्र विवाहोच्छेद करके पतिसे पृथक् हो जाएगी, और अपने पति पर अपने मन-चाहे दोष लगा सकेगी कि-'मेरा पति परस्त्रीगामी है, वेश्यासे सम्बन्ध रखता है, शराबी है, ज्वारी वा अत्याचारी है, नपुंसक है, वा शीघ्रपतनके दोषवाला है'-इत्यादि इसे गतनिबन्धमें देखें। कोई भी सुधार

समिति वा अदालत आजकल पाश्चात्य-संस्कृतिके मानसिक दास्यके कारण अथवा सुधारकोंके मोहक-वचनोंके प्रभावसे स्त्रीके विरुद्ध नहीं चल सकती; क्योंकि-स्त्री है मोहक वस्तु। मोहक वस्तु होनेसे ही उनकी सुविधार्थ शास्त्रोंसे अननुशिष्ट (निषिद्ध) सुविधाएं उन्हें दी जाती हैं; वा देनेका प्रयत्न किया जाता है; उन मानुषियोंको 'देवी' शब्दसे भी कहा जाता है।

उक्त आरोपित दोषोंकी प्रत्यक्ष परीक्षा ही कैसे की जा सकती है? तीन-चार वर्ष तक स्त्रीको यदि सन्तान न हो; तो वह नपुंसक न होता हुआ भी नपुंसकताके सर्टिफिकेटको प्राप्त कर ही लेगा। शीघ्रपतनकी तो परीक्षा ही कैसे की जा सकती है? तब अन्य पुरुषको चाहने वाली स्त्री उस अन्य पुरुषकी सिखलाहटसे अपने पतिपर इन दोषोंमें कोई दोष लगाकर उससे अपना विवाहविच्छेद कर लेगी।

(५) इधर प्रत्येक सुन्दर पुरुष दूसरे साधारणरूप वाले पुरुषकी सुन्दर स्त्रीको कई प्रकारके प्रलोभन देकर उससे तलाक दिलाकर उसे अपने काबू कर लेगा। तब उसे भोगकर 'नयेके नौ दिन' इस न्यायसे उसके आनन्दके समाप्त होनेपर उसमें कोई दोष लगाकर उससे विवाहविच्छेद कर लेगा। इस प्रकार स्त्रियां अपने पतिके जीते जी परपुरुषोंके साथ स्वच्छन्दतासे घूम-फिर भी सकेंगी; अथवा उनके घर बेरोकटोक आ-जा भी सकेंगी। यदि पति उनको न रोके, तो समाजमें लाञ्छनका भय रहता है, और 'व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च। स्वकर्मणां

च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः' (मनु. १०।२४) 'संकरो नरकायैव' (गीता-१।४२) इस प्रकार वर्णसङ्कर-सन्तान उत्पन्न होनेकी आशंका रहती हैं। यदि उन स्त्रियोंको उधरसे रोका जाए; तब उन्हें यदि यह नापसन्द हो; तो विवाहविच्छेदका भय उपस्थित रहेगा। ऐसा होनेपर शोचनीय बहुतसे हत्याकाण्ड होजाएंगे। शतशः स्त्री-पुरुषोंकी प्रतिदिन हत्या होजाया करेगी।

जब स्त्री असत्य दोषारोप करके अपने पतिसे विवाहोच्छेद करके दूसरेकी होजावेगी; तब उसके पहलेके पति उस स्त्रीके वा उसके वर्तमान दूसरे पतिकी हत्याकेलिए प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार गृह-कलह वा मरणभय उग्ररूप धारण करेगा। यदि पिता अपने पुत्रको पढ़ानेकेलिए उसे अध्यापककी ताड़नासे स्वतन्त्र न करके उसे मूर्ख नहीं बनाया चाहता, बल्कि उसे दण्डित करवाके उसे योग्य करना चाहता है; वैसे ही यदि कोई पुरुष अपनी स्त्रीके दोषोंको दूर करनेकेलिए उसे दण्ड दे; तो इसमें क्या दोष है? उसमें विवाह-विच्छेदका काम ही क्या?

इस प्रकार विच्छेद करनेपर तो बड़ी हानियां घटेंगी। जैसेकि-यूरोपमें सुना जाता है कि-किसी स्त्रीने बिना आज्ञाके चुम्बन करने वाले अपने पतिसे विवाहविच्छेद कर लिया। किसी स्त्रीका पति इञ्जन-ड्राइवर था। स्त्रीने कहा—मुझे इसके शरीरसे कोयलेकी दुर्गन्ध आती है, जिससे मुझे सिरदर्द हो जाता है, और स्वास्थ्यमें हानि पड़ती है। उसका विवाहविच्छेद भी स्वीकृत होगया। इस प्रकार स्त्रीसमाजकेलिए विधवाविवाह-

की भान्ति 'तलाक'की प्रथाका निर्माण भी उनका व्यभिचार बढ़ानेवाला ही है। भगवान् श्रीरामचन्द्रने कौशल्याके व्याजसे स्त्रियोंको शिक्षा दी थी कि–'भर्तुः पुनः परित्यागो नृशंसः केवलः स्त्रियाः। स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः' (वाल्मी-२।२४।१२) यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः। शुश्रूषा क्रियतां तावत् स हि धर्मः सनातनः' (२।२४।१३) (भर्ताको छोड़ देना स्त्रीकेलिए बहुत निर्दयतापूर्ण व्यवहार है। वह निन्दित होता है, उसे मनसे भी नहीं करना चाहिये। जब तक मेरे पिता (तुम्हारे पति) जीते हैं, तब तक उनकी सेवा करो। यह सनातन-धर्म है)।

(६) जिस-जिस देशमें तलाकप्रथा जारी हुई; उस-उस देशमें, वा जातिमें व्यभिचार वा अत्याचार वा भीषण हत्याओं, वा मुकदमोंका बाज़ार गर्म हुआ; यह यूरोप-अमेरिकादिमें देखा-सुना जा सकता है। अशान्ति वा मुकदमाबाज़ी बढ़ जानेसे अपना धन वकीलों वा राज्याधिकारियोंके पास जाता है। यदि स्त्रियां तलाक करेंगी; तो पुरुष उनसे भी बाज़ी मार ले जाएंगे। यदि किसीकी स्त्री वन्ध्या हो, वा दुराचारिणी या अन्धी हो, तो पति उससे विवाहविच्छेद करके अन्य स्त्रीको क्या न कर लेगा? जब सुधारक लोग अपने धार्मिक-क्षेत्रकी व्यवस्था ही नहीं जानते; तब क्यों इस विषयमें अपनी चोंच डालते हैं? विच्छूके मन्त्र तकको न जानते हुए भी वे सांपके बिलमें हाथ डालना चाहते हैं। यदि पुरुष-समाज ही तलाक वाली स्त्रियोंके ग्रहणमें अपनी

अप्रतिष्ठा जानकर उनसे घृणा करने लग जाएँ, तब स्त्रियोंकी क्या-क्या दुर्गति नहीं होगी?

यदि स्त्रियाँ ही विवाहविच्छेद करेंगी; तो क्या उनके पति भी तरह-तरह के बहाने बनाकर उनसे विवाहविच्छेद करके उनको निराश्रय न कर डालेंगे क्या? तब तो वे अन्धी, बांझ, कुछ समयसे रोगी, कुरूप, शीतला आदिसे विकृताकार हो गई हुई स्त्रियोंसे विवाहविच्छेद कर ही डालेंगे; तब उन्हें कौन लेगा? इस प्रकार अनेक स्त्रियां आश्रयहीन हो जाएंगी। तब क्या वे वेश्यावृत्तिको स्वीकार नहीं करेंगी? तब क्या वे विधर्मियोंके चंगुलमें फंसकर हमारी जातिके क्षयमें कारण नहीं बनेंगी?

(७) विवाहविच्छेद होनेपर स्त्रीका पर-पुरुषसे वा पुरुषका परस्त्रीसे पुनर्विवाह होजानेपर पहलेके शिशु अनाथ हो जाएंगे! मातृभाव और पितृभाव क्रमशः नष्ट होगा। ऐसा होनेपर शिशु-ओंकी दुर्दशा हो जाएगी। विवाहविच्छेदके कानून होजानेपर वह केवल स्त्रियोंकेलिए नहीं; पुरुषोंकेलिए भी होगा। इस प्रकार अधिक हानि स्त्रीजातिकी ही होगी; क्योंकि भारतमें आज भी धर्मबन्धनवश स्त्रीजातिका पुरुषजातिकी अपेक्षा बहुत न्यून पतन हुआ है। तब वे स्त्रियाँ पतियोंसे विवाहविच्छेद कम करेंगी; परन्तु पुरुष बहुत करेंगे। इस प्रकार स्त्रियोंकी हानि होनेपर सबकी हानि होगी।

यदि आरम्भसे ही पति–पत्नीके मनमें यह धारणा बद्धमूल जाएगी कि–जब हम चाहेंगे; तब हमारा सम्बन्ध विच्छिन्न हो

जाएगा, तब देह और मनकी शुद्धता रखना अतिकठिन हो जायगा। तब कौन किसके शिशुओंको पालेगा? तब प्रेम वा ममता नाममात्रको भी नहीं रहेगी। प्रेममें त्याग होता है; उत्सर्ग होता है, बलिदान होता है, परन्तु काममें विषयविलास-लुब्धता, स्वार्थ-परायणता, तथा निर्दयता हुआ करती है। जहाँ अपने इन्द्रियोंकी सुखकी लालसा है, जहाँ कामुकता है, वहां प्रेमका नाम कैसे हो सकता है? पशु-पक्षियोंमें इसीलिए प्रेम नहीं होता कि उनमें दाम्पत्य क्षणिक-भोगलालसाकी पूर्तिमें समाप्त हो जाता है। कबूतर कबूतरीसे संयोगके बाद उड़ ही तो जाता है। इसलिए कामको पाशविक वृत्ति कहा जाता है।

मनुष्यमें प्रेम है, विवाह प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप है। परन्तु जहां विवाह-विच्छेदकी बात है; वहां तो मनुष्यके पशु बननेकी सूचना है। विवाहमें जहाँ विच्छेदकी भावना आ जाती है, उस समय नर-नारीका पवित्र एवं मधुर-सम्बन्ध जघन्य एवं कटु हो जाता है। तब मनुष्य और पशुमें कोई भेद नहीं रह जाता। विवाहविच्छेदकी प्रथाका चलाना मानवताको मारकर उसको कुत्ते-कुतियाके रूपमें परिवर्तित कर देना है।

हिन्दु-विवाहसंस्कारमें पति-पत्नीकी यह निश्चित धारणा हो जाती है कि—हमारा यह सम्बन्ध सर्वथा अविच्छेद्य है, इसका जन्म-जन्मान्तरमें भी विच्छेद नहीं हो सकता, अतएव कारणवश यदि कभी आपसमें मतभेदवश कलह भी हो जाता है; तब वह चिरकाल तक नहीं रहता। त्याग, क्षमा, सहिष्णुता, धैर्य आदि

विशेषरूपसे धार्मिक चित्तवृत्ति दोनोंके कलहको शीघ्र शान्त कर दिया करती है; इस प्रकार प्रेम अक्षुण्ण रहता है। वह थोड़ा-सा कलह रविवारके अवकाशकी भांति प्रेमको और भी बढ़ाने वाला हो जाता है। जीवनमें दुःखके दिन अधिक काल नहीं रहते; क्योंकि-कुछ समय बाद पति-पत्नीको आपसमें मिलनेकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। यदि सच कहा जावे, यही थोड़े समयका मनमुटाव वा विघटन उन दोनोंके प्रेम वा संघटन-को दृढ करने वाला होता है। जैसे कभी-कभी होगया हुआ बुखार स्वास्थ्यको और भी बढ़ा देता है। इसे साप्ताहिक वा पाक्षिक अवकाशकी भान्ति समझना चाहिये, उसमें पुरुष आराम कर लेता है।

हम दोनों जीवन-सङ्गी हैं, इस धारणाकी दृढतावश दोनोंका आपसमें प्रेम फिर सुदृढ हो जाता है। अवकाश प्राप्त होनेपर क्रोध आदि का वह आवेग शान्त हो जाता है; परन्तु यदि विच्छेदका द्वार खुला रहेगा; तब आवेश आनेपर झट सम्बन्ध विच्छिन्न हो जावेगा। उस समय जैसे तीर छूट चुका हो, फिर उसका वापिस लौटाना नहीं हो सकता; वैसे यहाँपर भी केवल पश्चात्ताप ही शेष रह जावेगा। इस कारण सुधारकोंको इसमें आग्रह छोड़ ही देना चाहिये। जहाँ-जहाँ विवाहका विच्छेद शुरू हुआ; वहाँ-वहाँ समाजमें उससे सुखशान्ति प्राप्त नहीं हुई। इसका मूल कारण लड़कियोंका बड़ी आयुमें विवाह भी है, जिसमें कामकी दृष्टि रहती है।

ऐ अदूरदर्शी सुधारकगण; आपको एक समस्याके सुलझानेकेलिए जो नये-नये सुधार करने पड़ जाते हैं; उसमें कारण यह है कि-आपने प्राचीन-नियमकी शृङ्खलाको जहाँ-तहाँ तोड़ डाला है; उसका फिर स्वयं कृत्रिम सन्धान करते हैं, उसके फलस्वरूप वह शृङ्खला अन्य स्थानसे टूट जाती है। उसके समीकरण करनेपर फिर वही हाल होता है; अन्तमें आप सारी प्राचीन शृङ्खलाको ही ढीली करके सारीको ही व्यर्थ कर देंगे, इस अपनी जाति तथा अपने धर्मका क्षय कर देंगे। अब भी आप लोग समझ जाएँ; तो अच्छा हो। अन्यथा आप लोगोंकी इन दुश्चेष्टाओंका फल समूचे समाज, बल्कि सारे देशको भोगना पड़ेगा; अतः सावधान हो जाइये।

(८) जो कि कई लोग कहते हैं कि-'श्रीरामने भी तो सीताको तलाक दिया था; अतः यह प्राचीन व्यवहार है,' ऐसा कहनेवाले धृष्ट हैं। यदि ऐसा होता, तो श्रीराम सीतासे हुए-हुए विवाहको विच्छिन्न कर देते। परन्तु नहीं किया। तभी तो अन्य विवाह भी नहीं किया, और अश्वमेधयज्ञमें भी सीताकी सुवर्णकी प्रतिमा ही रखी, अन्य स्त्रीको यज्ञमें अपनी सहधर्मिणी नहीं बनाया। केवल लोकापवादवश सीताको अलग किया था, हृदयसे नहीं। प्रजारंजक राजाकेलिए बहुत कठिनाइयाँ उपस्थित हुआ करती हैं। लोकापवादकी समाप्तिके बाद श्रीराम सीताको अपने पास रखा चाहते थे; उसने पातालमें प्रवेश कर लिया-यह और बात है। उत्तररामचरित तथा कुन्दमाला आदिमें तो-

सीता रामके पास ही अन्त तक रही है। तब प्रतिपक्षियोंका आक्षेप निराधार ही है। 'कौटलीय-अर्थशास्त्र'में भी कहा है कि-'अमोक्षो धर्मविवाहानाम्' (३।३।२२) 'अमोक्ष' शब्दसे 'तलाक' का निषेध है। जिस-जिस देशमें 'विवाहोच्छेद' जारी हुआ, वहाँ समाजमें सुखशान्ति नहीं रही, इसमें यूरोप उदाहरण है।

(९) विवाहसंस्कारमें एक मन्त्र सुप्रसिद्ध है—'ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः। मया पत्या प्रजावती सं जीव शरदः शतम्' (अथर्व० १४।१।५२) यह मन्त्र स्त्रीका पैतृकसम्पत्तिमें अधिकार तथा विवाहविच्छेदको खण्डित कर रहा है। मन्त्रद्वारा वर अपनेसे विवाहित हो रही हुई कुमारीकेलिए कहता है कि-इस स्त्रीको मैंने ही पालना है। यदि वह लड़की अपने पिताकी सम्पत्तिमें भी पुत्र-इतने भागको प्राप्त होती; तब वह पतिसे पोष्य न होती। तब वह स्वयं अपनेको पाल सकती। उसे अपने पोषणार्थ फिर पतिके मुख देखनेकी आवश्यकता नहीं थी। परन्तु जब वेद पत्नीको पति द्वारा 'पोष्या' बताता है, शास्त्र भी उसे एतदर्थ पतिकी भार्या (भर्तव्या-पोषणीया) कहता है; इससे स्पष्ट है कि-स्त्री निर्धन है, पतिके अधीन है। तभी मनुस्मृतिने भी कहा है—'भार्या पुत्रश्च दास (शूद्र)श्च त्रय एवाऽधनास्तथा। यत् ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद् धनम्' (८।४१६) यही बात मीमांसादर्शनके ६।१।१४ सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीशबरस्वामीने भी कही है—'तस्मात् [स्त्रिया निर्धनत्वस्मरणेन तस्याः] अस्वातन्त्र्यमनेन प्रकारेण उच्यते'। शुक्रनीतिमें

भी ऐसा ही कहा है।

जब स्त्री इस प्रकार पतिके अधीन कही गई है, इससे स्पष्ट है कि वह पिताकी सम्पत्तिकी अधिकारिणी नहीं। अग्रिम-अंशसे सिद्ध होता है कि-उसे विवाहोच्छेदका भी अधिकार नहीं। देखिये-'मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः'। यह भी वर कह रहा है कि-मुझे तू बृहस्पति द्वारा दी गई है। 'मह्यं' में सम्प्रदानमें चतुर्थी है। दानका लक्षण यह है-'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं दानम्' अपना स्वत्व हटाकर दूसरेका स्वत्व पैदा करनेका नाम दान कहा जाता है। उसीमें चतुर्थी होती है। 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' में चतुर्थी इसलिए नहीं की जाती; क्योंकि-धोबीको धोनेकेलिए दिये गये कपड़ोंसे अपना स्वत्व हटाया नहीं जाता। सो सम्प्रदान न होनेसे चतुर्थी नहीं होती। परन्तु 'मह्यं त्वादाद्' में चतुर्थी है। यहाँ बृहस्पति अथवा अग्नि एवं पिता अपना स्वत्व छोड़कर उस लड़कीमें वरका अधिकार कर देता है; अब उसमें उस वरके अतिरिक्त किसीका भी अधिकार नहीं रहता। सो यहाँ विधवाविवाह तथा विवाहोच्छेद दोनोंका निराकरण प्रतिफलित हुआ; क्योंकि-उसका उस पतिसे अतिरिक्त चाहे वह जीवित हो, वा मर गया हो; अन्य कोई स्वत्वाधिकारी नहीं। इसलिए बृहत्पराशरस्मृतिमें भी कहा है—'जीवन् वापि मृतो वापि पतिरेव प्रभुः स्त्रियाम्' (४।४८)। कन्याका प्रथम प्रदान ही विवाह हुआ करता है। कन्याका अपनेपर आधिपत्य तो होता नहीं; क्योंकि-वह

दानक्रियाकी कर्ता नहीं है, किन्तु कर्म है। कर्ता ही स्वतन्त्र हुआ करता है, कर्म सदा परतन्त्र होता है। फिर कर्ता भी दान देकर उससे अपना स्वत्व हटा बैठता है। जब ऐसा है; तब कन्याका दान दे चुकने पर पिताका भी स्वत्व न रहा, दी हुई कन्याका अपना स्वत्व भी न रहा; तब उसका अन्य स्थान पर विवाह न हो सकनेसे यह विवाह विच्छिन्न नहीं हो सकता।

तभी इस मन्त्रके उत्तरार्धमें कहा है—'मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम्' (मुझ पतिसे प्रजावाली बनकर तू सौ वर्ष जी) यहाँ पतिका भी यावज्जीवन स्त्रीको त्यागना नहीं कहा। तब पतिका भी उससे विवाहोच्छेदका अधिकार न रहा। 'मया पत्या प्रजावती' से उस पतिसे अतिरिक्त अन्यसे सन्तानके उत्पादनका अधिकार अवैदिक सिद्ध हो जानेसे उसका विधवा-विवाह, नियोग वा विवाहविच्छेदका खण्डन होगया।

जबकि वेद 'त्वा सह पत्या दधामि', (ऋ. १०।८५।२४) 'प्र-इतो (कन्यां पितृगृहाद्) मुञ्चामि नाऽमुतः' (न पतिगृहाद्)' (ऋ. १०।८५।२५) 'मया पत्या जरदष्टिर् (वृद्धा) यथाऽसः।··· मह्यं त्वाऽदुर्गार्हपत्याय देवाः' (१०।८५।३६) 'रयिं च पुत्राँश्चादाद् अग्निर्मह्यमथो इमाम्' (१०।८५।४१) 'साम अहमस्मि-ऋक् त्वम्, द्यौरहं पृथिवी त्वम्; तावेव विवहावहै, सह रेतो दधावहै, प्रजां प्रजनयावहै, पुत्रान् विन्दावहै बहून्' (पारस्करगृ. १।६।३) यहाँ पर ऋक्-साम, द्युलोक तथा पृथिवीके दृष्टान्त द्वारा पति-पत्नीके सम्बन्धको दृढ करा रहा है; तब तो उसने विवाहोच्छेदका ही

उच्छेद कर दिया। तब फिर जो सुधारक इसके पक्षमें हैं; वे वैदिकधर्मके पाटच्चर तथा हिन्दुजातिमें भी यूरोपियन जातियोंकी तरह प्रतिवर्ष तलाकोंकी संख्या बढ़ानेमें गौरव समझते हुए हिन्दुधर्मके सर्वथा उच्छेदक हैं।

(१०) यह भी बात याद रखनेकी है कि-स्त्री-जातिका अन्त हमारे ऋषि-मुनि खूब पा गये हैं। वे जानते थे कि-स्त्री-जातिका हृदय अधिकता-प्रिय है। उनके मृदु हृदयोंपर विलासिता तथा स्वेच्छाचारिता अतिशयित-प्रभाव डालने वाली बन जाती हैं। आर्यसमाजके संचालक स्वा-द-जीने भी स्त्रियोंकेलिए कहा है—'प्रायः स्त्रियोंका स्वभाव तीक्ष्ण और मृदु होता है' (स० प्र० ४ पृ० ४७) 'स्त्री-पुरुषकी कामचेष्टा तुल्य अथवा पुरुषसे स्त्रीकी [कामचेष्टा] अधिक होती है' (स० प्र० ११ समु० पृ० २३६) 'स्त्रियों-को प्रिय वह होता है, जो स्त्रैण अर्थात् स्त्री-भोगमें फँसा है' (स० प्र० ११ पृ० २३४)। यह भी याद रखना चाहिये—'आहारो मैथुनं निद्रा सेवनात्तु विवर्धते'। यदि स्त्री-जातिको धर्मशृङ्खलामें न रखा गया, और वह उच्छृङ्खल होगई; तो फिर कुछ भी करते-धरते नहीं बनेगा। सारी भारतीयता नष्ट हो जायगी। जिस सती-धर्मसे भारतका मुख उज्ज्वल था, वही अब 'तलाक' की कालिखसे काला हो जायगा। उस जीवनमें न हृदयकी शान्ति होगी, न आत्मिक आनन्द। वह अत्यन्त अशान्त, स्वार्थपूर्ण, विलासयुक्त वातावरण होगा। न उसमें नीति होगी, न धर्म। न उसमें सहानुभूति होगी; न सहृदयता।

(२५) क्या तलाक शास्त्रीय है ?

प्रतिपक्षी-श्रीधर्मदेवजीने हिन्दुकोडके समयमें 'वीर-अर्जुन' में वा डा० अम्बेदकरसे छपवाई हुई राजकीय पुस्तिका 'हिन्दू-कोड बिल तथा उसका उद्देश्य' में स्मृतियोंसे 'तलाक' सिद्ध करना चाहा था। वे तलाकको वैदिक आदर्शसे तो विरुद्ध मानते हैं; तब अपने अनुसार वेदविरुद्ध उनसे दिये स्मृतिवचन ऐक-देशिक होनेसे प्रतिपक्षीसे भी अमाननीय सिद्ध होगये। तब आश्चर्य है कि उन्हीं वेदविरुद्ध स्मृति-वचनोंको स्वतः-प्रमाण मानकर प्रतिपक्षीने विवाहोच्छेदका अनुमोदन कैसे किया? क्या वह उनका तथाकथित वैदिकधर्म जिसकेलिए उनके सम्प्रदायने भारतीयोंके करोड़ों रुपये खर्च करवा दिये-उठ गया, जिसे छोड़कर वे स्मार्तधर्मके अनुयायी-उनके अपने शब्दोंमें 'पौराणिक' बनना चाहते हैं ?।

(१) गृह्यसूत्रोंमें विवाहसंस्कारमें 'अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत। स नो अर्यमा देवः प्र-इतो (पितृकुलात्) मुञ्चतु मा पतेः' (पारस्कर गृ० १।६ स्वा०द०जीकी संस्कारविधि पृ० १५८) इस मन्त्रद्वारा कन्याको पितृकुलका छोड़ना तो कहा है, पतिकुलका छोड़ना नहीं। जहाँ शास्त्र पतिद्वारा उसे 'अश्मेव त्वं स्थिरा भव' (पारस्कर० १।७१, संस्कारविधि पृ० १५७) पतिकुलमें पत्थरकी तरह स्थिर रहनेकेलिए आदेश दे रहा है, 'ध्रुवा स्त्री पतिकुले भूयासम्' (गोभिलगृ० २।३।८, संस्कारविधि पृ० १६५) यहाँपर पत्नी ध्रुवकी साक्षी देकर पतिगृहमें स्थिर रहनेकेलिए अपनेको

कहती है। जहाँपर विवाहमें प्रतिपक्षी श्रीधर्मदेवजीके शब्दोंमें–'काठकगृह्यसूत्र (२५।३०) में 'सोस्मान् देवो अर्यमा प्रेतो मुञ्चतु माऽमुष्य गृहेभ्यः' यह पाठ है, जिसका कन्या उच्चारण करती हुई 'अमुष्य' के स्थानमें पतिका नाम लेती है' (सार्वदेशिक-अगस्त १६४६ पृ. २७१) उस नामवाले भी पतिका त्याग कराना इष्ट नहीं है। इस प्रकार सौत्र-शाखाओंकी तथा 'इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। मोदमानौ स्वे गृहे' (ऋ. १०।८५।४२, अथर्व. १४।१।२२) यह वेदशास्त्रोंकी आज्ञा है।

जहाँपर 'दुश्शीलो दुर्भगो वृद्धो जडो रोग्यधमोपि वा। पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो–' (श्रीमद्भागवत १०।२६।२५) 'सकृत् कन्या प्रदीयते' (मनु. ६।४७) 'न दत्त्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्याद् विचक्षणः' (६।७१) 'न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते' (मनु. ६।४६) 'न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति' (मनु. ८।३८६) 'न त्यागोस्ति द्विषन्त्याश्च' (मनु. ६।७६) इस प्रकार स्मृतियोंकी आज्ञा है, वहाँ तलाक कभी स्मार्त भी नहीं हो सकता।

वस्तुतः प्रतिपक्षी स्मृतियोंको 'तलाक' का समर्थक बताकर उनपर अन्याय कर रहा है। हम उसके स्मार्त-प्रमाणों पर विचार करते हैं—।

(२) पूर्वपक्ष—पराशरस्मृतिमें 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते' (४।३०) यह पद्य है। परारशरस्मृतिको 'कलौ पाराशरस्मृतिः' के अनुसार कलियुगमें हमारे पौराणिक भाई सबसे अधिक प्रमाण मानते

हैं, इसमें विशेष आपत्तियोंमें पूर्व-पतिको छोड़कर अन्य पतिके लेनेका विधान किया गया है। इसी प्रकारका पद्य नारदीयमनु-संहिता (१२।६६) भी है। अग्निपुराणमें भी है। अन्य भी मनु आदिमें तथा कौटलीय अर्थशास्त्रमें वचन हैं (जो आगे उद्धृत किये जावेंगे)

इसमें 'नष्टे मृते' का उत्तरपक्ष 'आलोक' के इसी पुष्प (पृ. ६४१ से ६८८ तक) में हमने दे दिया है पाठक उसे वहीं देख लें।

(३) पूर्वपक्ष—मनुजीका यह पद्य है—'विधिवत् प्रतिगृह्यापि त्यजेत् कन्यां विगर्हिताम्। व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोप-पादिताम्' (६।७३) इस पद्यमें विधिपूर्वक विवाही लड़कीका भी तलाक कहा गया है।

उत्तरपक्ष—तलाक विवाहित हो चुकी हुई स्त्रीका माना जाता है, पर वह मनुसे विरुद्ध है, जैसेकि—'न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते' (६।४६)। तब प्रतिपक्षिदत्त प्रमाणमें तलाक कैसे आदिष्ट हो सकता है? सो उक्त-पद्य सप्तपदीसे पूर्वताका है। तभी श्रीकुल्लूकभट्टने स्पष्ट लिखा है—'अद्भिरेव द्विजाग्र्याणाम् इत्येवमादि विधिना प्रतिगृह्यापि कन्यां नैरुज्यलक्षणोपेतां रोगिणीं, क्षतयोनित्वाद्यभिशापवतीम् अधिकाङ्गादिगोपनच्छ-द्मनोपपादितां सप्तपदीकरणात् प्राग् ज्ञातां त्यजेत्। ततश्च तत्त्यागे दोषाभाव इत्येतदर्थम्, न तु त्यागार्थम्'। इसी प्रकार अन्य टीकाकार भी कहते हैं। इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि-यह पद्य

सप्तपदीसे पूर्वताका बोधक है तलाकका नहीं। विवाह हो जाने पर तो वह जैसी है-भर्तव्या भरण-पोषणयोग्य हो जाती है।

यद्यपि इससे पूर्व 'न दत्त्वा कस्यचित् कन्यां पुनर्दद्यात् विचक्षणः (९।७१) इस पद्यमें सप्तपदीसे पूर्व भी त्यागका निषेध किया है, जैसाकि-इस पद्यकी व्याख्यामें श्रीकुल्लूकभट्टने लिखा है—'सप्तपदीकरणस्य अजातत्वाद् भार्यात्वाऽनिष्पत्तेः पुनर्दाना-शङ्कायामिदं वचनम्' तथापि इससे यह सिद्ध तो हो जाता है कि-विवाहकी पूर्णता सम्पन्न हो जानेके बाद त्याग नहीं है, जिसे प्रतिपक्षीने बतानेकी चेष्टा की है। श्रीमनुने तलाकका स्पष्ट निषेध किया है (९।४६)। यह पद्य हम आदिमें लिख चुके हैं। जब पतिका पतित्व उस भार्यासे हट नहीं सकता; तब तलाक कैसा? ऊपरका व्यवहार धोखादेहीका उत्तरमात्र है, इसका नाम तलाक नहीं। विवाहके बाद तो वह भार्या हो जानेसे त्यक्तव्या नहीं हो जाती।

(४) जो कि-'यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति। दोषे तु सति नागः स्यादन्योन्यं त्यजतोस्तयोः' (१२।३२) यह नारदप्रोक्त मनुसंहिताका वचन 'तलाक' की सिद्धिकेलिए दिया जाता है, उसकी व्यवस्था भी भृगुप्रोक्त-मनुस्मृतिके वचनकी भांति समझनी चाहिये, क्योंकि दोनों मनुस्मृतियां मनुजीकी हैं; केवल प्रवक्ताके भेदसे कुछ भेद है। देखिये भृगुप्रोक्त मनुस्मृति-का इसप्रकारका वचन—'यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्यायोप-पादयेत्। तस्य तद् वितथं कुर्यात् कन्यादातुर्दुरात्मनः' (९।७३)

इसका श्रीकुल्लूकभट्टने इसप्रकार अर्थ लिखा है—'एतदपि (सप्तपदीकरणात् प्राग् ज्ञातायाः) त्यागे दोषाभावदर्शनार्थम्, (नतु तत्त्यागार्थम)' तब इससे सप्तपदीसे पूर्व भी त्याग सिद्धान्तित न हुआ, किन्तु जान-बूझकर दी हुई बीमार आदि लड़कीको सप्तपदीसे पूर्व छोड़ देना यहाँ कहा है, तलाक इसका नाम नहीं होता। तलाक तो 'विवाहविच्छेद' का नाम है। वह तो पूर्ण-विवाह हो जानेपर पति वा स्त्रीके छोड़नेपर होता है, पर यहाँ ऐसा कहीं नहीं माना गया।

(५) प्रतिपक्षीने जो अन्य पद्य उपस्थित किया है—'प्रोषितो धर्मकामार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः। विद्यार्थं षड् यशोर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्' (मनु. ९।७६) इससे प्रतिपक्षी जो कि स्त्रीको पतिका ७-८ वर्षके बाद छोड़ देना सिद्ध करता है, यह भी ठीक नहीं। इस पद्यमें त्याग लिखा ही कहाँ है? मनुजीका ऐसा सिद्धान्त नहीं। वे तो कहते हैं—'न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते' (९।४६) यह पद्य आदिमें लिखा जा चुका है। अन्य भी देखिये-'कामं तु क्षपयेद् देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः। न तु नामापि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु' (५।१५७) आक्षिप्त पद्यकेलिए मनुस्मृतिमें लिखा है—'जब पुरुष वृत्ति आदिकेलिए विदेशमें जाने लगे; तो अपनी स्त्रीकी वृत्ति बनाकर जावे। वह स्त्री भी अनिन्दित शिल्प आदिसे वृत्ति करती रहे—'विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रवसेत् कार्यवान्नरः। अवृत्तिकर्शिता हि स्त्री प्रदुष्येत् स्थितिमत्यपि' (९।७४) अर्थात् पुरुप यदि

स्त्रीकी वृत्ति न बनाकर जावे, तो बड़ी से बड़ी पतिव्रता भी पेटकेलिए बिगड़ सकती है।

'विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता। प्रोषिते त्वविधायैव जीवेत् शिल्पैरगर्हितैः' (९।७५) वृत्ति देकर पतिके बाहर चले जानेपर स्त्री अपने शरीरकी सजावट, परगृहगमन आदि न करती हुई कपड़ोंकी काढ़ काढ़ने आदिसे अपना निर्वाह करती रहे। धर्म-कार्यकेलिए पति बाहर गया हो; तो स्त्री आठ वर्ष तक पतिकी प्रतीक्षा करे। विद्याकेलिए वा यशकेलिए गया हो तो छः वर्ष, कामार्थ गया हो तो तीन वर्ष तक उसकी प्रतीक्षा करे। उसके बाद स्त्री क्या करे-इसपर मनुजीने तो कुछ भी नहीं लिखा, पर प्रतिपक्षीके सम्प्रदायप्रवर्तक स्वा.द. जी देरी क्यों करें? उन्होंने उसे नियोगसे सन्तानोत्पत्ति कर लेनेकेलिए आज्ञा दे दी। पर मनुजीका यह हृदय नहीं है, न ही कोई नियोगका प्रकरण है, और न कोई इसमें नियोगका संकेत है। तब इसमें मनुस्मृतिके टीकाकारोंकी सम्मति देखनी पड़ेगी। उसमें नारायण कहता है—'तदूर्ध्वं पत्युः संनिकर्षमेव गच्छेत्'। श्रीकुल्लूकने लिखा है—'ऊर्ध्वं पति-सन्निधिमेव गच्छेत्'। राघवाचार्यने लिखा है-'तदूर्ध्वं पतिसमीपं गच्छेत्'। अर्थात् उक्त समयके बाद पत्नी अपने पतिके पास चली जावे। टीकाकारोंके सामने मनु.के ९।५६ पद्यका 'योषितां धर्ममापदि' यह वाक्य भी सामने था, तब टीकाकारोंने नियोग अर्थ क्यों नहीं किया? इसलिए कि-विवाहिता-विधवाका नियोग तो ५६वें

पद्यसे चालू था, वह ६३ पद्य तक समाप्त होगया। फिर ६४ मनुपद्यसे नियोगका खण्डन शुरू हुआ, ६८ पद्य तक वह भी समाप्त होगया; तब वाग्दत्ता-विधवाकेलिए ६९-७० पद्योंमें मनुजीने विशेषता बताई। इसके आगे नियोगका कहीं गन्ध भी नहीं। देखिये—

७१ पद्यमें कन्याका एकको देकर पुनः दूसरेको देना निषिद्ध किया गया है। यहाँ कुछ भी नियोगकी चर्चा नहीं। इससे विधवाका किसीके भी द्वारा किसी अन्यको दान खण्डित हो जाता है। फिर आगेके (७२) पद्यमें सप्तपदीसे पूर्व छद्म (कपट) आदिसे दी हुई बीमार स्त्रियोंके त्यागमें भी अदोष कहा है! इसमें भी नियोगकी गन्ध नहीं। आगे (७३ पद्यमें) विना सूचना दी हुई दुष्ट-कन्याके दाताके प्रयत्नकी व्यर्थताकेलिए कहा गया है, यहाँ भी नियोगक छ भी चर्चा नहीं। इस प्रकार ७४-७५-७६ पद्योंमें भी नहीं है। इस प्रकार आगे भी नहीं। तब स्वा.द.जीने निर्मूल नियोग अर्थ कैसे कर डाला?।

तब जहाँ सन्देह हो; उसकी पूर्ति अन्य धर्मशास्त्रोंकी सहायतासे की जाती है। इसलिए जो कि टीकाकारोंने उस प्रोषितभर्तृका का (जिसका पति परदेशमें है), उक्त पद्यके अर्थके अवसरपर अपने पतिके पास चला जाना कहा है। वहाँपर टीकाकारोंने वसिष्ठधर्मसूत्रका आश्रय लिया है। वसिष्ठधर्मसूत्रके यह शब्द हैं—'प्रोषितपत्नी पञ्च वर्षाण्युपासीत, ऊर्ध्वं पञ्चभ्यो वर्षेभ्यो भर्तृसकाशं गच्छेत्' (१७।६७) अर्थात् अपने उस पतिके

पास चली जावे। यही बात टीकाकारोंने लिखी है, पर स्वा.द. जीने अपनी निरंकुश इच्छानुसार उसे नियोग कर लेना लिख दिया। पर यह किसी भी धर्मशास्त्रका अभिप्राय नहीं।

यदि वह पति उस स्थानमें न मिले, वा वह स्त्री ही वहाँ न जाना चाहे, तब वसिष्ठजी उसकी कर्तव्यता कहते हैं—'यदि धर्मकामाभ्यां प्रवासं प्रति अनुकामा न स्याद्, यथाप्रेत इत्येवं वर्तितव्यं स्यात्' (१७।६८) अर्थात् वह स्त्री उस अप्राप्त पतिकेलिए यह समझे कि-उसकी मृत्यु हो चुकी है, तब अपने-आपको विधवा जैसी मानकर विधवाके धर्मोंको (मनु. ५।१५८-१६१-१६३) पूरा करे। स्पष्ट है कि-यहाँ नियोग वा तलाककी बात नहीं हैं।

इधर वह स्त्री पतिके जीवन-मरणके विषयमें पूर्ण निश्चय न होनेसे पूर्ण-विधवा भी नहीं कही जा सकती। कदाचित् उसका पति फिर वापिस आजावे, तब उसके पतिके नियोग (आदेश) न होनेसे यहां स्वेच्छासे नियोगका अर्थ बताना—यह स्वा.द.जीका दुस्साहस है।

क्या इस अवधिसे पूर्व उसे काम न सतावेगा ? यदि सतावे; तब वह स्त्री क्या करे—यह बात यहां प्रतिपक्षी नहीं बताते ? यदि तब वह संयम करे, तो आगे भी उसका संयम हो सकता है। विवाहके बाद भी प्रतिपक्षसे अभिमत उक्त—मनुपद्यानुसार पतिके विद्या पढ़नेके विषयमें जब पूछा जाता है कि-विवाहके बाद—भला विद्या कैसे ? तो आर्यसमाजके नेता श्रीदेहलवीजी बताते हैं कि-'यह विद्याकी बात ब्राह्मणकेलिए है। यदि ब्राह्मणको

१६ वर्ष तक विद्या पढ़नेका अवसर नहीं मिला; तो १६ वर्ष से पीछे ८ वर्ष तक विद्या पढ़े। तब क्या प्रतिपक्षी देहलवी आदि, ब्राह्मणका विवाह १६ वें वर्षमें कराते हैं ? और स्त्रीकी ८ वर्ष तक जो प्रतीक्षा लिखी है, तो उसकी पत्नी भी क्या विवाहके समय ८-१० वर्ष की होगी ? तब क्या प्रतिपक्षी ८-१० वर्षकी लड़कीका विवाह भी शास्त्रीय मानते हैं ? यदि ऐसा हो; तो आर्यसमाजाभिमत इस मनुपद्यसे आर्यसमाजाभिमत लड़का-लड़कीकी विवाहायुःका सिद्धान्त खण्डित होगया। इसके अतिरिक्त प्रतिपक्षियोंसे अभिमत उक्त-मनुपद्यानुसार ब्राह्मण भी जन्मसे सिद्ध हुआ। जब कि उसने १६ वर्ष तक विद्या नहीं पढ़ी, तो प्रतिपक्षके अनुसार ब्राह्मण-ही कहां रहा ? १६ वर्ष तक विद्या न पढ़ने पर भी ब्राह्मणको व्रात्य कहा जाता हैं। तब वह व्रात्य भी ब्राह्मण सिद्ध हो गया।

(६) आगे प्रतिपक्षी 'हिन्दुकोड़ बिलका उद्देश्य' पुस्तक (पृ. ७१)में 'वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याऽब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी' (९।८१) यह मनुका पद्य उद्धृत कर उसपर अपने तथाकथित महर्षि (स्वा.द.)का अर्थ लिखता है—'पुरुषकेलिए भी नियम है कि-वन्ध्या हो तो ८ वें, सन्तान होकर मर जाय, तो १० वें, जब-जब हो; तब-तब कन्या ही हों, पुत्र न हो, तो ११वें वर्ष तक, और अप्रिय बोलने वाली हो तो सद्यः उस स्त्रीको छोड़कर दूसरी स्त्रीसे नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कर लेवे'।

प्रतिपक्षीके स्वामीने इस पद्यमें नियोग अर्थ माना है, पर यह मनुस्मृति तथा अन्य धर्मशास्त्रोंसे विरुद्ध अर्थ है। 'अधि-वेद्या'का 'नियोग' अर्थ कहीं माना नहीं गया; न ही प्रतिपक्षीका इष्ट यहाँ तलाक ही है; और फिर 'छोड़कर' यह अर्थ करना तो स्वा.द.जीकी निजी कल्पना है, शास्त्रीय नहीं, क्योंकि-'अधिवेद्या' का सर्वसम्मत अर्थ यही है कि-'तस्यां स्त्रियां सत्याम् अन्यया सह विवाहः' जैसाकि ९।८० में कुल्लूकभट्टने लिखा है। मेधा-तिथि भी कहता हैं—'तस्या उपरि अन्या-विवाहः'। नारायण लिखता है-'अधिवेदनं द्वितीयभार्यासम्बन्धः'। राघवाचार्यने लिखा है—'सत्यामपि सत्यां तस्या उपरि स्त्र्यन्तरस्य परिग्रहः'। नन्दन लिखता है—'अपरा वोढव्या'। रामचन्द्र लिखता है—'आसामुपरि अन्या विवाहयितुं योग्या'। यह अर्थ ठीक भी है-'अधि-उपरि अन्या वेद्या—विवाह्या'। इससे पूर्व स्त्रीका छोड़ना नहीं आता; वल्कि अन्य स्त्रीसे विवाह करनेमें अपनी रोगिणी स्त्रीसे भी पूछना लिखा है। जैसेकि-'या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः। सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हि-चित्' (९।८२) यह प्रतिपक्षीसे दिये हुए मनुपद्यसे आगेका पद्य है। यदि रोगिणी स्त्रीको छोड़ना श्रीमनुको इष्ट होता, तो फिर पूछा किससे जाता ?

शेष रही अप्रियवादिनी; सो उसका छोड़ना भी मनुजीको इष्ट नहीं, किन्तु उसको अपने घरमें रोक रखना वा कई दिन तक उसे उसके मायके भेज देना ही इष्ट है, जब तक कि-उसका

कोप शान्त नहीं होता। जैसेकि इसमें श्रीमनुका उसीसे अग्रिम पद्य प्रमाण है—'अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद् रुषिता गृहात्। सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ' (९।८३) इन पद्योंमें प्रयोजनवश पुरुषका पुनर्विवाह माना है, पहलीको छोड़ना नहीं बताया। तब पुरुषका पूर्व-स्त्रीकी विद्यमानतामें पुनर्विवाह निषिद्ध कर रहा हुआ हिन्दुकोड कानून मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों तथा पुरुषकी पुरुष-सन्तान अवश्य होना बताने वाले वेदादिसे विरुद्ध है; अतः प्रतिपक्षीके अनुसार हिन्दुत्व-रक्षक भी नहीं।

'सद्यस्त्वप्रियवादिनी'में अप्रियवादिनीका जो अधिवेदन लिखा है, वह भी सन्तान न होनेकी दशामें ही है, सन्तान होनेकी दशामें नहीं; जैसाकि-कुल्लूकभट्टने स्पष्ट किया है—'अप्रियवादिनी सद्य एव (अधिवेदनीया), यदि अपुत्रा भवति। पुत्रवत्यां तु तस्यां 'धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत' इति आपस्तम्ब-प्रतिषेधाद् अधिवेदनं न कार्यम्'; तब 'छोड़कर' यह अर्थ तथा 'नियोग' अर्थ करना स्वा.द.जीका अशुद्ध तथा मनुसे विरुद्ध ही है। उसके उत्तरदायी वे हैं, हम नहीं।

स्वा.द.जीने वन्ध्या आदिके पतिको जो नियोगार्थ लिखा है, इसपर प्रश्न यह है कि-वन्ध्याकी पतिसे और पतिकी वन्ध्यासे कामपूर्ति तो हो रही है; तब पति अन्यसे नियोग क्यों करे ? इस प्रकार मृतसन्तानवाला भी ? जब लड़कियां हुई-हुई हैं; तब लड़केके-लिए नियोग क्यों ? इससे स्वा.द.जी लड़का-लड़कीका समाना-

धिकार काट रहे हैं; यह क्या स्त्रियोंके वकील उनके सम्प्रदायने कभी सोचा है?

अप्रियवादिनीके पतिको प्रतिपक्षी जोकि अन्यसे नियोग कराते हैं, तो पुरुष अप्रियवादिनीसे सन्तान क्यों न पैदा करे? यदि देहलवीजीके अनुसार उसकी सन्तान राष्ट्रद्रोही होगी, इसलिए उससे सन्तान न करे; तब फिर वूमन-फ्रेण्डकी ओषधि खिलाकर क्या पति उससे संयोग करे, जिससे सन्तान उसकी पैदा न हो? यदि पति उससे संयोग नहीं करेगा; तब वह अप्रियवादिनी यदि कामुक होजावे, तो वह क्या करे? नियोग करे, वा ब्रह्मचर्य वा व्यभिचार? यदि नियोग; तब क्या वह नियोगी पुरुषसे अप्रियवादिनी न रहेगी? क्या नियोगी उसे प्रिय होगा? उस नियोगमें आज्ञा कौन देगा? क्या पति देगा? वह भला अप्रियवादिनीको अन्य पुरुषका कामास्वाद क्यों कराने देने लगा? और उसकी आज्ञाके बिना अन्य कौन उसके घरमें प्रवेश कर सकेगा? तब क्या वह व्यभिचार करे? क्या व्यभिचार आर्यसमाजको अभिमत है? यदि उसे ब्रह्मचर्य कराया जाय; तब क्या वह ब्रह्मचारिणी रह सकेगी? देहलवीजीकी अभिमत व्यभिचार-सम्भावना क्या उसमें न रहेगी? यदि नहीं रहेगी; तो देहलवीजीकी उक्त सम्भावनाका मत (जिसका हमने इस पुष्पके ३७३-३८६ पृष्ठोंमें निर्देश किया है) कट गया।

यदि प्रतिपक्षी उस सधवाको विना पति-संयोगके ब्रह्मचर्य करा सकते हैं; तब विधवाओंको भी ब्रह्मचर्य करा सकते हैं; तो

फिर विधवाविवाह वा नियोग कैसा? इनको भी बन्द कर दिया जाय! अतः स्पष्ट है कि-इन पद्योंमें नियोगकी अनुवृत्ति नहीं। नियोगका वर्णन तथा खण्डन ७० पद्य तक मनुस्मृतिमें समाप्त होगया। ७१से ७६ पद्यों तक उनकी अनुवृत्ति नहीं; तब ७६ पद्यमें इतने व्यवधानमें नियोगकी अनुवृत्ति आ ही कैसे सकती है? फिर ७७ से ७६ पद्यमें भी नियोगकी अनुवृत्ति नहीं। ८० से ८३ में 'अधिवेत्तव्या' है-यह स्त्रीलिङ्गान्त है, तब उसका नियोग अर्थ हो नहीं सकता; क्योंकि-यहां स्वामी उन स्त्रियोंको नियोग न कराकर उनके पतियोंको कराते हैं; अतः यहां 'तस्या उपरि अन्यया स्त्रिया सह विवाहः' यह पुरुषके अन्य विवाहका ही अर्थ है, नियोगका नहीं; अप्रियवादिनीके दण्डार्थ उसके पतिको अन्याधिवेदन कहा गया, रोगिणीकेलिए 'अनुज्ञाप्याधिवेत्तव्या' उसकी अनुमति लेकर पुरुषका पुनर्विवाह कहा है। वन्ध्या, मृत-प्रजा, कन्याजननी होनेपर पतिका अधिवेदन सनातनधर्मानुसार पुन्नामक नरकसे परित्राणार्थ किया जाता है, आर्यसमाज उसे मानता नहीं। पति इन सबका त्याग नहीं करेगा, ऋतुगमन भी करेगा; अतः यहां 'तलाक' सिद्ध न हुआ।

(७) जो कि आगे प्रतिपक्षीने लिखा है—'उन्मत्तं पतितं क्लीबम् अबीजं पापरोगिणम्। न त्यागोस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम्' (मनु. ९।७९) इसका भावार्थ उसने यह लिखा है—'यदि स्त्री ऐसे पतिसे द्वेष करती है, जो उन्मत्त है, धर्मका त्याग करके पतित होगया है, नपुंसक तथा कोढ आदि भयंकर रोग-

ग्रस्त है, तो उसको विशेष दोष या दण्ड नहीं दिया जा सकता'। इसमें प्रतिपक्षीने 'तलाक' कैसे निकाल लिया, जबकि मूल-श्लोक ही स्वयं कहता है—'न त्यागोस्ति, न च दायापवर्तनम्' तब 'तलाक' की सिद्धिमें इस श्लोकको भी गिन लेना एक अक्षम्य अपराध है, अथवा अपने पक्षकी निर्बलता बताना है।

(८) आगे प्रतिपक्षी 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' के कई प्रमाण 'तलाक' के सम्बन्धमें उपस्थित करता है। वे यह हैं—'नीचत्वं वा परदेशं वा प्रस्थितो राजकिल्विषी। प्राणाभिहन्ता पतित-स्त्याज्यः क्लीबोपि वा पतिः' (२।२) 'परस्परं द्वेषान्मोक्षः' इन वचनोंमें स्त्री-द्वारा पतित वा नपुंसक पतिको तलाक देना कहा है'।

प्रतिपक्षियोंमें सदासे यह प्रकृति रही है कि-पूर्वोत्तर-प्रकरणको छिपाकर बीचके वचन लिख देना। इससे बेचारी, शास्त्रोंका देख-भाल न करने वाली, साधारण जनता बहुत भ्रान्त हो जाती है। यदि इन लोगोंसे हमारा इस प्रकार शास्त्रार्थ-सम्बन्ध रहा; तो वे प्रतिपक्षियोंसे छिपाये हुए वचन कई सैकड़ों-की संख्यामें पहुँच जाएँगे। इन प्रतिपक्षियोंने आज तक यही करके अनुसन्धान-विरहित जनताके आगे रेतीली दीवारें खड़ी कर दी हैं, जिनकी धूलि उड़कर जनताकी आँखोंको कुछ देखने नहीं देती। यह कार्य इन लोगोंका तब तक जारी रहेगा; जब तक कि जनता स्वयं इस प्रकारके अनुसन्धानोंको नहीं करती। जब-जनता स्वयं इस प्रकारके अनुसन्धानोंमें लगेगी; तब प्रति-पक्षियोंकी रेतीली दीवारें ढह जाएँगी।

प्रतिपक्षी जान ले कि-कौटिल्यके यह वचन सिद्धान्तपक्ष नहीं, किन्तु पूर्वपक्ष हैं। यदि यही तरीका (उत्तरपक्ष छिपाकर पूर्वपक्षको जनताके आगे रख देना) ठीक माना जाए; तो 'यह नियोगकी बात व्यभिचारके समान दीखती है', 'यह नियोग वेश्याकर्मके समान दीखता है' 'हमको नियोगकी बातमें पाप मालूम पड़ता है' (स.प्र. ४ पृ. ७०) ये स्वा.द.जीके नियोगविषयक पूर्वपक्ष भी स्वा.द.जीका सिद्धान्त हो जाएँगे। फिर आपके सहवर्गी 'वन्ध्याष्टमेधिवेद्याब्दे' इस प्रतिपक्षीसे कहे हुए नियोगको कैसे कर सकेंगे?।

अब 'कौटिल्य अर्थशास्त्र पर हमारा किया समाधान प्रति-पक्षी देखें—किसी भी ग्रन्थकी व्यवस्था, बिना पूर्वापर-प्रकरण देखे नहीं जानी जा सकती। उन-उन ग्रन्थोंमें कई पूर्वपक्ष भी हुआ करते हैं, सिद्धान्तपक्ष भी, कई अपवादवचन भी, उनकी व्यवस्थासे उस-उस ग्रन्थसे उस-उस विषयकी कर्तव्यता-अकर्तव्यता समर्थित होती है, अन्य ढंगसे नहीं।

इधर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कौटिल्य-अर्थशास्त्र नीतिशास्त्र है, धर्मशास्त्र नहीं। लोकव्यवहारकी व्यवस्था धर्म-शास्त्रसे ही हुआ करती है, नीतिशास्त्रसे नहीं; जैसाकि न्याय-दर्शनके ४।१।६२ सूत्रके वात्स्यायनभाष्यमें कहा है—'लोक-व्यवहार-व्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः' अर्थात् लोकव्यवहारकी व्यवस्था धर्मशास्त्रका विषय है, अन्यका नहीं। श्रीयाज्ञवल्क्य-ऋषिने अपनी स्मृतिमें धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्रके विरोधमें

धर्मशास्त्रका ही प्राबल्य बताया है। जैसेकि—

'अर्थशास्त्रात्तु बलवद्-धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' (व्यवहाराध्याय २१)

तब राजनीतिशास्त्र 'कौटिल्य-अर्थशास्त्रसे व्यवस्था नहीं हो सकती। राजनीतिमें राजतन्त्र चलाना पड़ता है, उसमें धर्मका अतिक्रमण भी कभी-कभी हो जाता है। देखिये उसी प्रकरणमें—'ब्राह्मणमधीयानं दश वर्षाणि अप्रजाता, द्वादश प्रजाता, राजपुरुषम् आ-आयुःक्षयाद् आकाङ्क्षेत्' (३।४) यहां पढ़ते हुए ब्राह्मणकी तो १०-१२ वर्ष प्रतीक्षा कही है, पर राजपुरुषकी आयुकी समाप्ति तक प्रतीक्षा करना कहा है।

क्या इससे स्पष्ट नहीं कि-यह राजनीति है, धार्मिकता नहीं। कौटिल्यको एक बड़े भारी राजतन्त्रका संचालन करना था। ऐतिहासिक लोग कौटिल्यकी स्थिति बौद्धधर्मके प्रचारयुगमें मानते हैं। उस समय धार्मिक-श्रद्धा शिथिल होगई थी। अर्थ-कामपरता बहुत बढ़ गई थी। उन्हीं अर्थकामप्रसक्त पुरुषोंकी व्यवस्थाकेलिए और इधर अशास्त्रीयतासे विवाहित स्त्री-पुरुषोंकेलिए उसने ऐसी अभ्यनुज्ञा कर दी है, पर धर्मशास्त्रीय पहले चार विवाहोंसे विवाहितोंकेलिए ऐसी व्यवस्था उसे सम्मत नहीं। स्मृतियोंमें चाण्डाल आदिका निरूपण भी आता है, उनके कार्य आदिका वर्णन भी आता है। चाण्डालकी उत्पत्ति शूद्रसे ब्राह्मणीमें वर्णसङ्कररूपमें होती है, पर स्मृतियोंमें चाण्डालोंका निरूपण करनेसे स्मृतिकारोंको प्रतिलोम-सम्बन्ध अनुमत नहीं होजाता; वैसे ही यहां पर भी जान लेना चाहिये। इससे स्पष्ट

है कि-प्रतिपक्षीसे उद्धृत वचन कौटल्यका सिद्धान्तपक्ष नहीं। तब उससे व्यवस्था भी कैसे हो सकती है ?।

वही कौटल्य अपना सिद्धान्त इस प्रकार कहते हैं—'स्वधर्मः स्वर्गाय आनन्त्याय च' (१।३।१४) यहांपर कौटल्यने अपने धर्मके आचरणपर-बहुत बल दिया है। कौटलीय अर्थशास्त्रान्तर्गत चाणक्य-सूत्रोंमें पहला सूत्र ही यही है—'सुखस्य मूलं धर्मः'। धर्मको सुखका मूल बताया गया है। धर्मके अतिक्रमणमें क्या होता है—यह कौटल्यके शब्दोंमें ही देखिये-'तस्य (धर्मस्य) अतिक्रमे लोकः सङ्कराद् उच्छिद्येत' (१।३।१५) यह वचन स्पष्ट है, अर्थात्-धर्मका उल्लंघन करनेपर संकरता, तथा सङ्करतासे लोकोच्छेद हो जाता है। यह ठीक भी है; जैसेकि-'संकरो नरकायैव' (गीता १।४२) यह प्रसिद्ध वचन है। फिर वही कौटल्य देशके वर्णाश्रम तथा वेदधर्मके पालन तथा आर्य-मर्यादाके अवलम्बनमें ही लोकरक्षा मानते हैं—'व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः। त्रय्या हि रक्षितो देशः प्रसीदति न सीदति' (१।३।१७) इससे कौटल्यने आर्यमर्यादाको छोड़ने तथा वर्णाश्रम-धर्मके अपालन एवं वेदधर्मकी उपेक्षासे देशकी हानि मानी है। विवाहोच्छेद आदि नियम वर्णाश्रमधर्म तथा आर्यमर्यादा एवं वेदवचनोंसे विरुद्ध हैं-यह हम पूर्व बता आये हैं।

श्रीकौटल्य राजाको भी वर्णाश्रमके आचारके अनुसार चलता हुआ तथा धर्मानुसार ही प्रजाका पालन करता हुआ देखना चाहते हैं। तभी तो उन्होंने कहा है—'चतुर्वर्णाश्रमस्याऽयं लोक-

स्याचार-रक्षणात् । नश्यतां सर्वधर्माणां राजा धर्मप्रवर्तकः' (३।१।५०) सात्त्विक लोग तो धर्मभङ्गभीरु अतः स्वयं ही धर्मप्रवण होते हैं, परन्तु राजस-तामसोंको धर्ममें चलानेकेलिए राजनियम बनाये जाते हैं। राजनियम भी वहां धर्मशास्त्रसे विरुद्ध पड़ें, तो बाधित हो जाते हैं। जैसेकि-'संस्थया (महाजनोंके आचरणोंसे) धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम् (राजशासनम्)। यस्मिन्नर्थे विरुध्येत, धर्मेणार्थं विनिर्णयेत्' (६।१)

इससे स्पष्ट है कि-प्रतिपक्षीसे उद्धृत कौटिल्यके वचन धर्मशास्त्रविरुद्ध होनेसे सिद्धान्तपक्ष नहीं, किन्तु एकदेशी हैं। कौटल्य स्वयं लिखते हैं—'पितृप्रमाणाश्चत्वारः पूर्वे (ब्राह्म-प्राजापत्य-आर्ष-दवाः) धर्म्याः' (३।२।१०) यहां कौटल्य आदिम चार विवाहोंको ही धार्मिक मानते हैं, जो आजकल भी हमारे देशमें प्रचलित हैं। अब श्रीकौटल्य इन विवाहोंके विषयमें अपना सिद्धान्तपक्ष बताते हैं—'अमोक्षो धर्मविवाहानाम्' (३।३।२२) इससे स्पष्ट है कि-धर्मविवाहोंमें तलाक नहीं हो सकता। तब प्रतिपक्षीसे दिये हुए कौटिल्यके वचन पैशाच आदि अधर्म-विवाहोंकेलिए चरितार्थ होते हैं। अपना स्तर सदा उच्च रखना पड़ता है। निम्न आदर्श करनेपर तो सर्वसाधारणजनोंकी प्रवृत्ति निम्नगामिनी होनेसे व्यवस्था वा मर्यादा टूट सकती है।

इस प्रकार प्रतिपक्षि-द्वारा दिये हुए वचन कौटल्यका सिद्धान्त-पक्ष सिद्ध न हुआ, बल्कि धर्मकामा स्त्रीके भर्ताके मरनेपर पतिशय्याकी पालना करनेपर अर्थात् अन्य पुरुषसे सम्बन्ध न

करनेपर पतिके सारे धन वा आभूषण आदिमें अधिकार बताया गया है। जैसेकि-'मृते भर्तरि धर्मकामा तदानीमेव अवस्थाप्य आभरणं शुल्कशेषं वा लभते' (कौट. ३।२।२५)। वहीं स्पष्ट कहा है—'अपुत्रा पतिशयनं पालयन्ती आ-आयुःक्षयाद् भुञ्जीत, आपदर्थं हि स्त्रीधनम्, ऊर्ध्वं दायादं गच्छेत्' (३।२)। इसपर म.म. पं० गणपतिशास्त्रीने अपनी टीकामें कहा है—'पुत्रहीना पतिशयनं पालयन्ती-पतिव्रता, गुरुसमीपे स्त्रीधनं यावज्जीवं भुञ्जीत मूलमविनाशयन्ती। वृद्धयादिकं संजातमात्रमुपयुञ्जीत इत्यर्थः। कुतः? आपदर्थं हि स्त्रीधनम्, वृत्तिकृच्छ्रपरिहार-मात्रविनियोज्यं हि स्त्रीधनं नाम। न पुनः कामचारव्यवायार्थम्। तया तथा रक्षितं स्त्रीधनं तस्यामुपरतायां भर्तृसपिण्डं गच्छेत्'।

इस प्रकार कौटिल्यने स्त्रीको पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं दी। यही बात नारदस्मृतिमें भी लिखी है—'अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती गुरौ स्थिता। भुञ्जीतामरणात् क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः' (२।१४४) परन्तु यदि वह मृतभर्तृका स्त्री परपुरुषको प्राप्त करती है, तब उसे कौटल्यके अनुसार वह धन सूदसमेत वापिस लौटाना पड़ता है। जैसेकि-'लब्ध्वा वा विन्दमाना सवृद्धिकमुभयं दाप्येत' (३।२।२६) इससे विधवाविवाह कौटल्यके अनुसार भी अधार्मिक सिद्ध हुआ। तभी पूर्वसूत्रमें धर्मकामाको भर्ताकी मृत्युमें उसके धनमें अधिकार बताया गया है। परपुरुषसंलग्ना स्त्रीसे उसका धन छीनने और पूर्वसूत्रसे विरुद्धताके कारण विधवाविवाह स्वयं ही अधर्म सिद्ध हुआ। तब बीचवाले विधवाविवाहाभास वचन

उपस्थापित करते हुए प्रतिपक्षीका मत कट गया; क्योंकि-भारतीय-आदर्श पातिव्रत्यका है, पतिके अतिक्रमणका नहीं, वह तो यूरोपका आदर्श है। 'पतिदायं विन्दमाना जीयेत, धर्मकामा भुञ्जीत' (३।२) (यहां म.म. गणपति शास्त्री अर्थ करते हैं—'पत्या दत्तं वस्त्राभरणादिकं विन्दमाना भर्त्रन्तरपरिग्राहिणी जीयेत-दाप्येत श्वशुरकुलाय। अविन्दमाना संयता-संयमवती (धर्मकामा) चेत्, पतिदायं भुञ्जीत) इत्यादि कौटल्यके वचन हमारे पक्षके साधक हैं।

वहीं कौटल्यने स्त्रीके पुत्र न होनेपर पुत्रकेलिए पतिका अन्य विवाह सिद्धान्तित किया है, परन्तु पूर्व-स्त्रीका त्याग नहीं कहा, किन्तु उसका भी भरण-पोषण कहा है। देखिये—'वर्षाणि अष्टौ अप्रजायमानाम्, अपुत्रां, वन्ध्यां च आकाङ्क्षेत् (प्रतीक्षेत), दश बिन्दुं द्वादश कन्याप्रसविनीम्। ततः पुत्रार्थी द्वितीयां विन्देत' (३।२।४७-४८-४६) यहांपर पुत्रकेलिए पुरुषका दूसरी स्त्रीसे विवाह सिद्धान्तित किया है, कामकेलिए नहीं। इसलिए आगे कहा है—'आधिवेदनिकमनुरूपां च वृत्तिं दत्त्वा बह्वीरपि विन्देत, पुत्रार्था हि स्त्रियः' (३।२।५२-५३) इससे प्रतिपक्षीसे निषिद्ध बहुस्त्रीविवाह, तथा तलाक प्रतिपक्षीके अपने ही प्रमाणित कौटल्यसे विरुद्ध सिद्ध हुआ। यहां अधिवेदनका अर्थ पूर्वोक्त मनुटीकाकारोंकी भान्ति म.म.पं. गणपतिशास्त्रीने भी प्रकृत-सूत्रकी टीकामें लिखा है—'परिणीताया उपरि अन्यस्याः परिणयनम्-अधिवेदनम्'। अमरकोषमें भी कहा है—'सापत्निका

अध्यूढा अधिविन्ना' (२।७।७)। मनुटीकाकार रामचन्द्र लिखता है—'अधिवेद्या-अन्या विवाह्या' (मनु. ६।८१)। नन्दनने कहा है—'यस्यां विद्यमानायामेव अधिकम् अपरा विवाहिता भवति'। मेधातिथि लिखता है—'तस्या उपरि अन्या-विवाहः' (६।८०)। नारायण लिखता है—'अधिवेदनम्-द्वितीयभार्यासम्बन्धः'। कुल्लूकका अर्थ है—'तस्यां सत्यामन्यो विवाहः कार्यः'। राघवानन्द कहता है—'सत्यामपि तस्यामधिवेदनम्—पूर्वामधि तस्या उपरि स्त्र्यन्तरपरिग्रहः'। इससे स्पष्ट है कि-पूर्व स्त्रीसे तलाक सिद्ध नहीं होता; किन्तु अनुरूप वृत्तिसे उसका पालन कहा है, तब तलाक कहां रहा ?

फलतः गान्धर्व, आसुर, पैशाच, राक्षस आदि अधर्म-विवाहोंमें-जिनकी शास्त्रोंमें निन्दा है, जो आज-कलके गये-गुज़रे ज़मानेमें भी प्रचलित नहीं हैं, कहीं-कहीं त्यागके वचन दीख सकते हैं, उसमें भी अर्थ-कामपरायण रागिजनोंको कुछ अंशोंमें अभ्यनुज्ञामात्र है, वैसी विधि नहीं। उसमें अनेक प्रतिबन्ध हैं। कामविवाहोंमें भी असवर्ण-सम्बन्ध निषिद्ध किये गये हैं। तब यहांपर स्पष्ट ऐकदेशिकता हुई। ऐकदेशिकता कभी सिद्धान्त नहीं हुआ करती। पहलेके चार धर्मविवाहोंमें तो तलाक सर्वथा ही निषिद्ध किया गया है; तब प्रतिपक्षीका इष्ट तलाक खण्डित होगया। आगे प्रतिपक्षीने यमस्मृति, कात्यायन आदिका नाम-भर लिख डाला है; उनके वचन उद्धृत नहीं किये; उनका उत्तर भी पूर्वकी भान्ति समझ लेना चाहिये।

इन निबन्धों द्वारा प्रतिपक्षियोंसे बहुत अभिमत नियोग, विधवाविवाह तथा तलाक आदिके जो वचन उद्धृत किये जाते थे; शास्त्रका उनका वैसा तात्पर्य नहीं-यह हमने सिद्ध कर दिया। प्रतिपक्षी भले ही विधवाविवाह-नियोग करें-करावें; हम उन्हें निषेध नहीं करेंगे; पर शास्त्रका नाम लेकर-वे पतिव्रतधर्मके नाशमें सहायक मत बनें, और भोली-भाली जनताको धोखा मत दें, क्योंकि-शास्त्रका इनमें अभिनिवेश नहीं। यह कहकर हम इस निबन्धको समाप्त करते हैं। अब परिशिष्टमें कुछ बचे हुए अष्टग्रही-सन्देश तथा 'नमस्ते' विषयको दिखलाकर फिर प्रत्यक्ष पौराणिक-विषयोंको उपस्थित करके इस अष्टम पुष्पको पूर्ण करेंगे। फिर अन्य विषयोंको परमात्माकी कृपासे नवम पुष्पमें देंगे।

संशोधन एवं परिवर्धन पृ. पं. २८८-६ यह प्रकार (पंचमी-अर्थमें प्रथमाका प्रयोग) वेदको भी सम्मत है। निरुक्तकारने 'आशुशुक्षणिः' (ऋ. २।१।१) में 'पञ्चम्यर्थे प्रथमा' (६।१।१) मानी है। ३१२-२० क्षत्रियत्व। ३४७-१८ तं। ३८८-१५ मिलेंगे। ४५८-२ निष्पापाः। १५ संकल्पाद्। ४७८-१३ कर्मण्यभि। ४८६-६ उच्छृङ्खल। ५२३-२ पाणिग्राहस्य। ५४५-१४ एकान्त। ५७७-११ त्वं। ५७६-८ वाग्दान। ६५२-१६ पतौ। ६५६-७ परतन्त्रा। ६७३-२२ नहीं जा सकता। ६७६-१६ विदित। ७३५-१७ स्त्री। ७५५-१६ द्विषन्त्याश्च। ७६०-११ दैवाः।

२६. 'अष्टग्रहीयोग'का सन्देश।

अष्टग्रहीयोग आया, और बिना कोई हानि किये निकल गया। अष्टग्रहीयोगके आने तक तो अविश्वासी एवं विरोधी लोग भी जनता द्वारा होते हुए यज्ञ, जप, पाठोंको गम्भीरतासे देखते रहे, पर जब वह योग सकुशल बीत गया; तब विरोधियोंने सिर उठाया, और उन यज्ञोंको ब्राह्मणोंका ढोंग और उनकी अपनी उदरपूर्तिका साधन सिद्ध करते हुए वे कहने लगे कि-'इसी अष्टग्रहीयोगकेलिए बड़े-बड़े यज्ञ किये गये, पूजा-पाठ किये गये; पर सब व्यर्थ। मालूम होता है कि-ब्राह्मणोंने यह सब साधन अपने पेट भरनेका, अपने खाने-पीनेका बना रखा है। जिन ज्योतिषी लोगोंने प्रजाको बहुत डराया, उससे बहुतसा धन निकलवाया, और हुआ कुछ नहीं, उन ज्योतिषियोंको तो कड़ी सजा देनी चाहिये थी'।

यह था उस समय आजके युगका शङ्काप्रवाह; इससे कई ब्राह्मणोंको पीटा भी गया, ऐसा सुना गया है; और यज्ञोंमें घीके प्रयोगको व्यर्थ-व्यय, बल्कि मूर्खतापूर्ण भी बताया गया। इससे कई श्रद्धालुओंके हृदयपर ठेस पहुँची; और इस विषयमें वास्तविकता जाननेकेलिए हमें पूछा गया। हमने इस विषयमें 'अष्टग्रहीयोगका सन्देश' लिखा-। यद्यपि उस समय इस निबन्धके प्रकाशनका विचार तो हुआ था; पर कारणवश रुक गया। यह सामयिक वस्तु नहीं, किन्तु सदा की है-यह सोचकर इसे

परिशिष्टमें प्रकाशित किया जा रहा है। 'आलोक'-पाठकगण भी इधर अवधान दें—।

हम तो यह समझते हैं कि—इस अवसरमें जिन्होंने दानादि दिया, वे तो शान्त रहे। जिन्होंने कुछ भी दान नहीं दिया; न कभी दान दिया करते हैं; वे ही बढ़-चढ़कर बातें करने वाले एवं हो-हल्ला मचाने वाले थे।

हम उन आक्षेप-कर्ताओंसे पूछते हैं कि-यह यज्ञ-याग आदि उन दिनों क्यों किये गये? इसका यही तो उत्तर दिया जायगा कि-'ग्रहोंकी शान्तिकेलिए'। तब यदि ग्रहोंने हमारी-आपकी पूजा स्वीकार कर ली, वे शान्त रहे, तब उन यज्ञोंकी, पूजा-पाठकी सफलता तो होगई। वे शान्त रहे; तब उसपर आक्षेप क्या? हाँ, यदि यज्ञ आदि खूब किये जाते; और ग्रह-मूलक कोई उपद्रव हो जाता; तो आक्षेप-कर्ता फिर भी कहते कि-'ग्रहोंकी शान्तिकेलिए यज्ञ किये गये; पर हुआ तो कुछ नहीं। हमारा धन व्यर्थ गया!' तब यह आक्षेप कुछ सीमा तक सङ्गत भी होता; पर अब जबकि सब शान्ति रही है, तब फिर आक्षेप क्या?

एक प्रश्न यह भी हुआ था कि-'घी व्यर्थ आगमें झोंका गया। किन्हीं गरीबोंको खिला दिया जाता, कितना अच्छा होता। गरीबोंका पेट तो खाली रहा। अब घी भी मंहगा हो जायगा'। तात्पर्य यह है कि-सबको प्रसन्न रखना तो असम्भव होता है, और प्रश्नोंका अन्त कभी होता नहीं; पर यदि विचारदृष्टि रखी जावे, तो सब समझमें-आ जाता है; पर यदि विचारदृष्टि न रखी

जावे; तब फिर एतदादिक व्यर्थकी बातें निकल पड़ती हैं।

वेदमें लिखा है-'यानि नक्षत्राणि दिवि अन्तरिक्षे···प्रकल्पयन् चन्द्रमा यानि एति, सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु' (अथर्ववेद-सं. १९।८।१) (जिन द्युलोक वा अन्तरिक्ष-लोकमें स्थित नक्षत्रोंको चन्द्रमा पार करता है, वे नक्षत्र हमारेलिए कल्याणकारी हों। यहाँपर नक्षत्रोंसे कल्याणकी प्रार्थना है। 'शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु' (१९।१०।८) यहाँपर सूर्यग्रहका कल्याणकारी होना प्रार्थित किया गया है। 'शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूते, शमन्तरिक्षं' (अथर्व. १९।१०।५) यहाँ द्युलोक तथा अन्तरिक्षलोकसे कल्याण माँगा गया है। 'नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः' (१९।९।९) यहाँ उल्कासे ग्रस्त नक्षत्रसे शान्ति माँगी गई है। 'शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु' (अ. १९।९।९) यहाँ उल्काओंकी शान्ति तथा देशोपद्रवोंका शान्त होना प्रार्थित किया गया है। वेदके इन निर्देशोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि-इन ग्रहों आदिसे जनताको भय प्राप्त हो सकता है, अतः इनके शान्त रहनेकी प्रार्थना की गई है।

अब वेदमें ज्योतिषशास्त्रका स्पष्ट मूल देखिये—'शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा। शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः' (अथर्व. १९।९।१०) यहाँ सूर्य, चन्द्रमा, राहु, केतु आदि ग्रहोंसे तथा धूमकेतु आदिसे कल्याणकी प्रार्थना की गई है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि-यह ग्रह कभी बड़ी हानि भी दे सकते हैं। धूमकेतुको तो यहाँ मृत्युजनक भी स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया गया है। अतः वेदने इनसे कल्याणकी प्रार्थना कराई

है। और देखिये—

'उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः' (अथर्व. १६।६।७) यहाँ प्रार्थना की गई है कि-पृथिवीके उपद्रव तथा अन्तरिक्षके उपद्रव शान्त रहें। द्युलोकमें चरने वाले ग्रह शान्त रहें। इससे वेदने स्पष्ट कर दिया है कि-यह ग्रह तथा आकाशी उत्पात प्रजाकी हानि कर सकते हैं; अतः उनकी शान्त्यर्थ प्रार्थना की गई है। प्रार्थना यज्ञका एक अङ्ग हुआ करता है, क्योंकि-वेदका विषय भी शास्त्रानुसार यज्ञ ही होता है। हम हिन्दु लोग वेदके विश्वासी एवं वेदकी आज्ञा माननेवाले आस्तिक हैं। अतः वेदानुसार मानते हैं कि-यह ग्रह उत्पात मचा सकते हैं; अतः उनकी शान्त्यर्थ वेदका संकेत देखकर यज्ञ-याग, जप-पाठ, पूजा-अर्चना आदि किये गये। अथर्ववेदसं.की भूमिकामें आर्यसमाजी-विद्वान् पं० राजाराम शास्त्रीजीने अथर्ववेदके कल्पसूत्र बताते हुए उसके प्रसिद्ध 'कौशिक-सूत्र' (संहिताविधि) में 'धूमकेतु, चन्द्र, सूर्य आदि ग्रहोंके अनेक प्रकारके उत्पातोंकी शान्तियाँ' भी एक विषय बताया है; और उसके तीसरे 'नक्षत्रकल्प' में भी ग्रह-नक्षत्रोंके उत्पातोंकी शान्तियाँ बताई हैं। उसके ७२ परिशिष्ट-ग्रन्थोंमें 'नक्षत्रग्रहोत्पातलक्षणम्, ग्रहयुद्धम्, राहुचारः, केतुचारः, केतुलक्षणम्, उल्कालक्षणम्, यह ग्रन्थ भी हैं, जिनमें ग्रहोंके उत्पात तथा शान्तियोंके यज्ञ लिखे गये हैं। तब कौन कह सकता है कि-यह सब बातें मनघड़न्त हैं, वा केवल प्रजाको डरानेकेलिए हैं? वेदका संकेत देखकर ही ग्रहोंके उस सम्भावित उत्पातको

शान्त करनेकेलिए भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोंके नगरोंमें जो हजारों यज्ञ हुए; उसीका परिणाम है कि-कोई ग्रहोंका उत्पात उन दिनों नहीं हुआ।

जैसे ग्रन्थके आरम्भमें सम्भावित विघ्नोंके दूर करनेकेलिए मङ्गलाचरण किया जाता है, यह क्यों? इसलिए कि-विघ्न शान्त हों; वैसे ही ग्रहोंकी शान्त्यर्थ भी यज्ञ-याग एवं पूजा-पाठ तथा दान आदि किये जाते हैं। हिन्दु-जाति सदासे वेदमें विश्वास रखने वाली, धर्मप्राण तथा दान आदि द्वारा अपने धनका सदुपयोग करनेवाली रही है, इसीसे आजतक भारतवर्ष-की रक्षा हुई है। आजकल कई कम्युनिष्ट विचारों वाले अश्रद्धालु लोग वा कई राजनीतिक नेता वा सुधारक लोग इन बातोंको ढकोसला बताते हैं, और इस विषयमें गलत प्रचार करते रहते हैं। न तो स्वयं कुछ करते हैं, न दूसरोंको कुछ करने देते हैं। बल्कि अपने राजनीतिक-प्रभावका उपयोग करके धार्मिक कार्योंमें भी टाँग अड़ाते रहते हैं, और अपने प्रभावका उपयोग करके धार्मिक-कार्यों, यज्ञ-यागादिमें मारीच-सुबाहु आदिकी भांति विविध बाधाएँ खड़ी करते रहते हैं, और धार्मिक-जनताकी श्रद्धा मिटाने वा घटानेका प्रयत्न करते रहते हैं। हमने इन्हें राजनीतिका नेता बनाया है, इसलिए इनका सम्मान करते हैं; पर यह हमारे धार्मिक-नेता बनने की क्षमता नहीं रख सकते। उसमें नेता हमारे वेदशास्त्रोंके विद्वान् ब्राह्मण-गण ही हो सकते हैं, विदेशी-भाषाओंके विद्वान् नहीं।

जब राजाको प्राचीन समयमें राज्यतिलक दिया जाता था; तब तिलक करने वाला विद्वान् ब्राह्मण एक मन्त्र पढ़ता था, जिसका अन्तिम अंश यह है कि-'विश एष वोमी राजा, सोमोऽस्माकं ब्राह्मणाना ँ राजा' (यजुः ६।४०) अर्थात् ऐ प्रजाओ ! यह राजा-जिसका तिलक किया जा रहा है-यह तुम लोगोंका है, हम ब्राह्मणों पर अर्थात् धार्मिक-नेताओं पर इसका थोड़ा भी आधिपत्य नहीं है। हम-ब्राह्मणोंका राजा तो सोम है, सोमसे यहाँ भाव यज्ञका है। सो यज्ञोंपर, ब्राह्मणोंके धार्मिक-कार्योंमें राजा सम्भावित गड़बड़ीको हटानेकेलिए रक्षक तो बन सकता है, जैसे कि-प्राचीन समयमें विश्वामित्र आदिके यज्ञोंमें महाराज श्रीरामचन्द्र, और कण्वमुनिके आश्रमके यज्ञोंमें राजा दुष्यन्त आदि रक्षक बने थे—पर उसमें राजा बाधक नहीं बन सकता। जो वेन आदि राजा न होतव्यं न दातव्यं न यष्टव्यं द्विजाः ! कचित्' इस घोषणाके करने वाले थे कि-ऐ ब्राह्मणो ! तुम कुछ भी यज्ञ-याग, दान आदि मत करो-कराओ। उस दुर्बुद्धि राजाको उस समयके तेजस्वी ब्राह्मणोंने अपने हुँकार मात्रसे नीचे गिरा दिया था।

फलतः जो लोग इन शुभ-कर्मोंमें सुबाहु-मारीच आदि बनते हैं, उनकी शिक्षा-दीक्षा ही विदेशी हुई है, फिर वे देशिक धार्मिक कार्योंमें क्यों न बिगड़ें ? यह लोग नाममात्रसे ही पूर्व-जन्म-पुनर्जन्म मानते हैं। ईश्वरको भी आडम्बररूपसे मानते हैं। वस्तुतः यह लोग प्रच्छन्न-बौद्ध एवं आजकलके अनुसार कम्युनिष्ट

हैं। इन्हीं लोगोंकी अश्रद्धाके उत्पादनके फलस्वरूप भारतवर्षमें विविध उपद्रव हो रहे हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, विनाशकारी जलप्रलय (बाढ़ें), टिड्डियाँ, दुर्घटनाएँ, तूफान, अलीगढ़ आदिमें साम्प्रदायिक दंगे, विस्फोट, गाड़ियोंकी टक्करें आदिसे जो धन-जन और शान्तिकी हानि हुई है, वा हो रही है; उसका अनुमान लगाना कठिन है। इन्हीं लोगोंके कारण कई एकड़ भूमियोंकी जल-मग्नतासे कृषिहानि, गोवंशका भीषण ह्रास, भारतवर्षकी सीमा-का उत्तरोत्तर छोटा होते जाना, भारतवर्षके ही देशोंको शनैः-शनैः दूसरों (कम्युनिष्टों एवं मुसलमानादि विधर्मियों) द्वारा अपने उदरमें करते जाना, विधर्मियोंकी वृद्धि, देशभङ्ग, सैकड़ों गाँवोंकी जलमग्नता, धन-जन एवं हजारों पशुओंकी दैनिक हानि, अपार सम्पत्तिका विनाश वा क्षतिग्रस्तता, नावोंके वा बसोंके डूबनेसे अनेक नर-नारी एवं बालकोंका बह जाना, कई ऐक्सप्रेस वा माल-गाड़ियोंके दुर्घटनाग्रस्त होनेसे जन-धनकी अपार हानि होना, विमान-दुर्घटनाएँ, विस्फोटक बमोंके परीक्षणोंसे वातावरणके दूषित होनेसे अनेक रोग, कीटाणुओंकी वृद्धिके साथ ही विश्वकी शान्तिके भङ्गका भी भय उपस्थित होना-आदि संकट उपस्थित हो रहे हैं। रामराज्यमें पिताके बैठे एक ब्राह्मण-बालक मरा था, उसमें राजाका ही दोष समझा गया था; जिससे भगवान् श्रीरामको उसका प्रतीकार करना पड़ा; पर आज वैसे दोषोंको दूर करना तो दूर रहा, उलटा बढ़ावा दिया जा रहा है। परन्तु इस विषयमें भारतीय-जनताको राजनीतिक

नेताओं पर विश्वास न करके अपने वेद-उपवेद, वेदाङ्ग, पुराण-इतिहास एवं धर्मशास्त्रों तथा उनके जानकार धार्मिक-विद्वानों पर विश्वास करके सत्कर्मोंके करनेमें ही लगे रहना चाहिये। प्रजापति मनुजीने कहा है—'जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते' (४।१४३) जो जप-पाठ तथा यज्ञ-हवन आदि करने-करानेमें लगे रहते हैं, उनका पतन कभी नहीं हुआ करता।

इसका कारण यह है कि—जप-तप, पूजा-पाठ, यज्ञ-याग आदि यह देवपूजा हुआ करती है। यज्ञ-शब्द व्याकरण-शास्त्रानुसार 'यज' धातुसे बना है, यज धातुका अर्थ होता है—देवपूजा, और देवताओंका सङ्गतिकरण तथा देवताओंके उद्देश्य-से दान। यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु (पाणिनीयधातुपाठ भ्वा॰ अनि॰ उभय॰) देवता भगवान्‌की एक महती शक्ति एवं अङ्ग हुआ करते हैं, और भगवान् है अङ्गी; यही अथर्ववेदसंहितामें कहा है—'यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे' (१०।७।२७)। अङ्गीकी पूजा अङ्गों-द्वारा ही होती है। इन्हीं भगवान्‌की महाशक्ति-देवताओंके हाथों जगत्‌का पालन एवं संहार होता है। यदि हम उन्हें पूर्वोक्त साधनोंसे स्निग्ध एवं प्रसन्न न रखेंगे; तब उनकी रूक्षतासे हमारा भी संहार ही हो सकता है। उसीके बचावकेलिए भगवान् नन्दनन्दनने गीतामें हमें यह उपाय सुझाया है कि—'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' (३।११) अर्थात् तुम लोग देवताओंको यज्ञोंसे प्रसन्न रखो; वे तुम्हें भी प्रसन्न रखेंगे। एक-

दूसरेके प्रसन्न रखनेसे तुम परम-कल्याणको प्राप्त करोगे।

देवस्वरूप ग्रह पञ्चभूतात्मक हुआ करते हैं; हमारे शरीर भी पञ्चभूतात्मक हैं। जब ग्रहोंका समुद्रपर प्रभाव पड़ता है, वृक्षों एवं जड़ी-बूटियों पर प्रभाव पड़ता है, तब हमारे पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश आदिपर और पञ्चभूतात्मक हमारे शरीरों पर भी प्रभाव पड़ सकता है। हम उन ग्रहोंकी प्रतियोगितामें मच्छरके बराबर भी नहीं हैं; तब हमें उन्हें तुच्छ समझनेकी भूल कभी नहीं करनी चाहिये। अभिमानमें आकर हमें ही अपने-आपको सभी कुछ नहीं समझ लेना चाहिये। हमारे समाधि-सिद्ध ऋषि-मुनियोंने ग्रहोंका, देवताओंका हमपर प्रभाव पड़ना ज्ञात करके ही अपनेसे उनके प्रतिकूल प्रभावको दूर करनेकेलिए बहुत अनुसन्धान करके ही यज्ञ-याग एवं पूजा-पाठ आदिकी सृष्टि की थी। ऐसा करनेसे वे ग्रहदेवता हमारी पृथिवी, जल, वायु आदिको शुद्ध रखते हैं। हमारे अन्दर सुबुद्धि देते हैं; अन्यथा तो वे प्रजाके जल-वायुको दूषित करके और उसके अन्दर कुबुद्धि उत्पन्न करके महायुद्धोंके कारणोंको उत्पन्न कर देते हैं, और भूमिमें ऐसी भाप उत्पन्न कर देते हैं, जिससे भूकम्प आदि हो जाते हैं।

जैसे ग्रन्थकी आदिमें विघ्न न होनेपर भी उसकी शङ्का होनेसे उनके प्रतीकारकेलिए किया जाता हुआ मङ्गलाचरण व्यर्थ नहीं माना जाता; वैसे यज्ञादि भी देवताओंके शान्त्यर्थ होते हैं, वे भला व्यर्थ क्यों जावें? यज्ञोंमें अग्निमें घी डालना

भी व्यर्थ नहीं होता। वह देवताओंको प्राप्त होता है। इससे देवता शान्त होते हैं; क्योंकि घी देवताओंका भोजन हुआ करता है। जब देव-अप्सरा उर्वशी हमारे इस लोकमें राजा पुरूरवाके पास आई थी; तो राजाने उससे पूछा कि-तुम्हारा भोजन क्या होगा? उर्वशीका उत्तर था कि-'घृतं मे वीर! भक्ष्यं स्यात्' (श्रीमद्भागवत ९।१४।२२) यह पुराणका कथन है कि-मेरा (देवता-उर्वशीका) भोजन घृत होगा।

केवल पुराण नहीं, किन्तु ब्राह्मणभागात्मक-वेदमें भी यही कहा है—'घृतस्य स्तोकं सकृद् अह्न आश्नाम्, तादेव इदं तातृपाणा चरामि' (शतपथ. ११।५।१।१०) यह यहाँपर उर्वशी-पुरूरवाके संवादमें कहा गया है। केवल ब्राह्मणभागात्मक वेदमें ही नहीं; किन्तु मन्त्रभागात्मक-वेदमें भी यही कहा है—'घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नाम्, तादेव तातृपाणा चरामि' (ऋसं. १०।९५।१६) यहाँ देवता एवं ऋषि पुरूरवा और उर्वशी हैं। इससे सिद्ध हुआ कि-देवताओंका भोजन घृत होता है। इसलिए देव-यज्ञ भी घृतसे होते हैं। इसलिए अथर्ववेदसं. में कहा है—'इध्मेनाऽग्ने! इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय' (३।१५।३) इससे यह सिद्ध होता है कि-यज्ञमें घृत डालनेसे सूक्ष्म हुई विद्युत् शक्ति देवगणको प्रसन्न करती हुई हमारे शरीरमें भी प्रविष्ट होकर हमारी प्राणशक्तिकी वृद्धि भी करके हमारी जीवन-शक्तिको भी बढ़ाती है। घृत देवताओंको प्राप्त होता रहे; तो उनमें रूक्षता नहीं रहती। यज्ञ-याग न करनेसे

उनमें रूक्षतारूप अप्रसन्नताके रह जानेके कारण ही अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, अकाल-मृत्यु आदि उपद्रव वे करते हैं।

इसीका संकेत वायुपुराणमें आया है—'यज्ञे नष्टे देवनाशः ततः सर्वं प्रणश्यति' (६०।६)। जैसे राजशक्तिके अनिवार्य टैक्स आदि ठीक-ठीक न मिलनेपर राजशक्तिका ठीक-ठीक प्रयोग न होनेसे चोरी-डाका आदि घटनाओंसे प्रजा जब-तब संत्रस्त रहती है, वैसे ही परमात्माकी अङ्गभूत-शक्ति देवशक्तिके समुपबृंहक यज्ञ-याग आदि न होनेपर जल-वायु आदि भूतों पर देवशक्तिके ठीक-ठीक नियन्त्रण न रहनेसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जलप्लावन, अग्नि-उपद्रव आदि भीषण ईतियाँ हुआ करती हैं। उन्हें दूर करनेकेलिए हमें उपवेद भी यज्ञ-यागादि करनेका संकेत देते हैं, और कहते हैं—'जप-होमोपहार-इज्याऽञ्जलि-नमस्कार-तपोनियम-दया-दान, दीक्षाभ्युपगम- देवता-ब्राह्मण-गुरुपरैर्भवितव्यम्' (सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान ६।२१)।

महाभारतमें गायत्रीयज्ञसे ग्रहोंका शान्त होना बताया है—'ये चास्य दारुणाः केचिद् ग्रहाः सूर्यादयो दिवि। ते चास्य सौम्या जायन्ते शिवाः शिवतराः सदा' (वनपर्व २००।८५) इससे स्पष्ट है कि-यह हमारी कपोल-कल्पना नहीं, किन्तु इसमें शास्त्रीय-आधार है। सो यह देवकर्म है। इस देवकर्मको करने वाला चराचर-जगत्को लाभ पहुँचाता है—। यही वादि-प्रतिवादिमान्य मनुस्मृतिमें कहा है—'दैवे कर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्' (३।७५)।

जैसे किसान खेतकी मट्टीमें गेहूँ डाल रहा हो; तो कोई अज्ञानी कह उठे, कि—हा ! यह गेहूँ मट्टीमें झोंक रहा है। इससे अच्छा था कि—किसी गरीबको खिला देता'। जैसे यह कथन आक्षेप्ताकी मूर्खताका प्रमाण है, वैसे घीका अग्निमें झोंकनेका आक्षेप भी आक्षेप्ताकी अदूरदर्शिताका प्रमाण है। आक्षेप्ता नहीं जानता कि—यज्ञाग्निमें शुद्ध वेदमन्त्रविशेषके पढ़नेके द्वारा विधिपूर्वक डाला हुआ घृत कभी व्यर्थ नहीं जाता। वह सूक्ष्म होकर बहुत शक्तिशाली 'परमाणु बम' बनकर जहाँ ग्रह-नक्षत्रों-की रूक्षता हटाकर उन्हें स्निग्ध करता है, जिससे वे अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदि नहीं करते, शान्त रहते हैं, हमारे पृथिवी, जल, वायु आदिको शुद्ध रखते हैं, वहाँ हम सबके शरीरों तथा खेतीकी भूमिमें भी उक्त घृतके सूक्ष्म शक्तिशाली परमाणु पहुँचते हैं। हमें भी उसका लाभ होता है।

आजकल जो अग्निमें पैट्रोलकी आहुतियाँ दी जा रही हैं, गन्दी गैस वाले पत्थरी-कोयलोंकी आहुतियाँ हो रही हैं, गन्दे परमाणु-बमों, हाईड्रोजन बमोंके परीक्षणोंकी गन्दी एवं रोगा-पादक धूलें उड़ रही हैं, उनसे जो गन्दे धुएँ निकल रहे हैं, वे हमारी बहुत-बड़ी हानियाँ कर रहे हैं। उनके मुकाबिलेमें जब अभिमन्त्रित यज्ञाग्नियोंके घृताक्त एवं स्निग्ध धुएँ निकलेंगे, तभी वे कारखानोंकी चिमनियोंके गन्दे धुएँ दबेंगे। तभी यहाँ सबके स्वास्थ्य रहेंगे।

कहनेका निष्कर्ष यह है कि—जो इस अष्टग्रहयोगके समय

यज्ञ-यागादि हुए हैं, जो उनमें घृतकी आहुतियाँ पड़ी हैं, वे व्यर्थ नहीं गईं। उन सबका भाग हमें भी प्राप्त हुआ है। स्थूल घृत केवल एक व्यक्तिको लाभ पहुँचाता है, परन्तु मन्त्रद्वारा अग्निमें हुत घृत यत्र-तत्र फैलकर देवताओंके आश्रयसे बलवान् होकर प्रजाको लाभ पहुँचाता है। उस किसानका मट्टीमें झोंका हुआ वा मट्टीमें डाला हुआ, पानीसे गलाया गया बीज मूर्खकी दृष्टिमें नष्ट होगया, गल गया, पर विद्वान्की, दूरदर्शीकी दृष्टिमें ऐसा नहीं हुआ। वह बीज सूक्ष्म होगया, परमाणुरूप होगया। उसके बदलेमें हमें एक दानेकी जगह गेहूँके सौ दाने मिले। वैसे ही यज्ञों द्वारा वेदमन्त्रपाठपूर्वक अग्निमें डाला गया घृत भी बीजरूप होकर, सूक्ष्म परमाणुरूप होकर आगेके घीको बढ़ाने वाला है। यह आगमें घी झोंकना नहीं, यह बीजका खेतीकी भूमिमें बोना है।

जैसे यज्ञके उस घीका सबको प्रसाद प्राप्त हुआ; वैसे ही यज्ञका धन भी सबको प्रसादरूपसे प्राप्त हुआ। इससे किसीकी कोई हानि नहीं हुई। देशका रुपया देशमें ही रहा। यह विदेशोंमें नहीं गया। इससे जहाँ देशके विद्वानों एवं प्रजाहितैषी-ब्राह्मणोंकी रक्षा हुई; उन्होंने वेदादि पढ़नेमें तन-मन लगाया; और आगेकेलिए भी उन्हें वा उनकी सन्तानोंको प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वही द्रव्य केवल ब्राह्मणोंके पेटमें गया—ऐसा कथन भी अदूरदर्शितापूर्ण ही है। उस धनका भाग सबको मिला। देखिये, याद रखिये।

यज्ञभूमिकी सफाई हुई, वह ब्राह्मणोंने नहीं की। उसकी रक़म अन्त्यजोंके पास गई, जिन्हें आज 'हरिजन' कहते हैं। पानी कौन लाया, उस भूमिकी शुद्धि किसने की? ब्राह्मण पानी नहीं लाये, कहार पानी लाये, उनको उसकी वृत्ति मिली। भूमिके समीकरणकेलिए श्रमिक-मज़दूरों, यज्ञमण्डपके निर्माणार्थ ईंटें बनाने वाले, उन्हें ढोने वाले, मिट्टी खोदने वाले, वेदी-कुण्ड आदिके निर्माणार्थ बढ़ई-लोहार आदि, मण्डपके आच्छादनार्थ चटाइयाँ बुनने वालों, कुटियाएँ बनानेकेलिए घास-फूस लाने वालोंको लाया गया; उन-उनको अपनी वृत्ति मिली, यह ब्राह्मणोंको नहीं मिली। फिर तम्बू लाये गये, कनातें-शामियाने लाये गये। उनका धन किसे मिला? उन-उन कम्पनियोंको?

फिर चावल लाये गये, जौ लाये गये, तिल लाये गये, घी लाया गया, चीनी एवं मधु लाई गई। समिधाएँ लाई गईं। खानेकेलिए पत्तलें लाई गईं, अन्न लाया गया, पकानेके पात्र लाये गये। नमक, मिर्च, मसाले, खटाई, दाल एवं सब्ज़ियाँ लाई गईं। यह सब मूल्यसे ही तो आया, ब्राह्मणोंके घरसे नहीं आया। इन सबके पैसे दुकानदारों एवं वनियोंको पहुँचे। गरीबोंको भी उसमें भोजन मिला। अब बोलिये, यह सब क्या ब्राह्मणोंके पास गया? ब्राह्मणोंने सारा दिन तपस्या की, अपने दूसरे काम-काज छोड़े, बन्धनमें रहे, कड़ी सर्दीमें रहे, डबल-निमोनियाकी भी परवाह नहीं की। प्रजाके कल्याणार्थ यह सब कष्ट सहन किये। वेदमन्त्र बोले, पाठ किये, प्रार्थनाएँ कीं।

हवन किया। अग्निके धुएँको सहा। एक मज़दूर भी चार-पाँच रुपये रोज़के ले जाता है, उस हिसाबसे ब्राह्मणोंको बहुत कम भाग मिला। एक ब्राह्मणके घर तो सारा द्रव्य गया भी नहीं, सबको बंटकर गया। यज्ञसामग्री-निर्माणार्थ एवं यज्ञमण्डपकी सजावटकेलिए विविध व्यक्तियोंको, हलवाई, जुलाहे, कुम्हार, कसेरे, सुनार, दर्ज़ी आदिको तथा यज्ञोंमें प्रबन्ध करनेकेलिए प्रबन्धकों, पहरा देने वालों, बाहरसे आये हुए अतिथियोंकेलिए नाई, रसोइये, पानी पिलाने वाले, बिजली फिट करने वाले आदि बहुतोंको उस यज्ञके धनका भाग मिलता है।

तात्पर्य यह है कि-यज्ञोंका भाग ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, अन्त्यजों आदि सभीको मिला, बल्कि पशुओंको भी मिला, पक्षियों तथा कीड़े-चींटोंको भी मिला। सरकारको भी मिला, बिजली कम्पनियों, रेल कम्पनियोंको भी मिला। केवल ब्राह्मणोंके पेटमें कहाँ गया? ब्राह्मणोंने भी जो लिया, वह मुफ्तका नहीं लिया। वेदोंमें, शास्त्रोंमें, कर्मकाण्डमें जो उन्होंने श्रम किया हुआ था, मन्त्र बोले, सारा दिन आरामको भी हरामकर डटे रहे, यज्ञ किये, उसके फलस्वरूप धनका बहुत थोड़ासा अंश उन्हें मिला; क्योंकि और सब चीजें मंहगीं, सब पुरुष मंहगे, सबका समय क़ीमती, पर धर्म सस्ता, और ब्राह्मण सस्ते, और उनका समय भी सस्ता माना जाता है। किसी ब्राह्मणने ज़रा थोड़ी-दक्षिणामें मनमुटाव दिखलाया; तो उसे यह कहकर शान्त कर दिया जाता है कि-'अजी पण्डित जी!

आपके हाथमें तो सोनेका कटोरा है, आपको हम दे ही क्या सकते हैं, आप तो त्यागके धनी एवं परोपकारी हैं'।

बड़ी-बड़ी योजनाओंके निर्माता लोग जनताका हज़ारों रुपया डकार जाते हैं, वोटोंसे अफसर बनकर दूसरेके काम करानेके-लिए, दूसरोंको सर्विस देनेकेलिए घूसें ले लेते हैं, बल्कि दूसरोंकी बहू-बेटियोंकी इज्ज़त ले लेनेका संकेत भी कर देते हैं, वोटोंके नामसे हजारों रुपये सिगरेट-चाय आदिमें फूँक दिये जाते हैं; फिर मेम्बर बनकर उसी खर्चेको सूद-समेत जनतासे ही निःशङ्क होकर ले लिया करते हैं, फिर अधिकारी बनकर लोगोंको विविध वस्तुओंके परमिट दिलाकर प्राप्त हुए बहुत-भारी रुपयेसे अपनी कोठियाँ बनवा ली जाती हैं; उनपर तो उङ्गली तक नहीं उठाई जाती; परन्तु धार्मिक-कार्योंमें आक्षेप्ता-नेताओंको व्यर्थ-व्यय मालूम होने लग पड़ता है, यह कहाँका न्याय है?। क्या यह आक्षेप्ताओंकी अपनी अनभिज्ञता वा पक्षपातका नग्न-प्रदर्शन करना नहीं? वस्तुतः यह हिन्दुधर्मपर सीधा आक्षेप है। अन्य धर्मोंके सिद्धान्तोंपर आक्रमण करते हुए तो वे डरते हैं; क्योंकि—वे आँखें दिखलाते हैं, उपद्रव करते हैं; पर सहिष्णु हिन्दुधर्म वा हिन्दुधर्मियोंपर आक्षेप वा आक्रमण निःशङ्करूपसे किये जाते हैं। ठीक ही है—'अकृतोपद्रवः कश्चिन्महानपि न पूज्यते। अर्चयन्ति नरा नागं, न तार्क्ष्यं न गजादिकम्' जब तक कोई उपद्रव नहीं करता; तब तक उसकी पूजा नहीं होती। लोग नागकी तो पूजा करते हैं, पर उपद्रव न करने वाले गरुड़ एवं हाथीकी पूजा नहीं होती।

जब वेदने बीजरूपसे ग्रहोंका तथा अन्तरिक्षका उत्पात बता दिया, उसीको वेदाङ्ग-ज्योतिषने स्पष्ट कर दिया; इससे स्पष्ट होगया कि—ग्रहोंके उत्पात हो सकते हैं। कई बार हो भी चुके। सं० १९९० वि० में सात ग्रहोंके मेलसे विहारका प्रसिद्ध भूकम्प हुआ था, जिससे जन-धनकी अपार क्षति हुई थी। धूमकेतुओंके उपद्रव विदेशोंमें भी कई बार हो चुके। सो एक राशिमें ग्रहोंके इकट्ठे हो जानेसे कभी आकर्षण-विकर्षणमें विषमता हो जानेपर उत्पातोंकी आशङ्का सम्भव हो सकती है; तब ब्राह्मणोंने यदि पहलेसे चेतावनी दे दी, तो क्या बुरा किया? उसका उपाय भी बता दिया; उसमें शत-प्रतिशत सफलता भी प्राप्त होगई; फिर आक्षेप क्यों? इसका सुफल भी हुआ। 'भय बिनु होत न प्रीत'। जो लक्ष्मीमें प्रतिक्षण नाचा करते थे, जिनको परमात्माके विषयमें सोचनेकी फुर्सत भी नहीं मिलती थी; उन्होंने भी डरकर परमात्माको याद किया। पूजा-पाठ किया, स्नान-ध्यान किया, दान दिया। वैसे भला यह सब कौन करता? नास्तिक-लोगोंने भी इस भयावह-समयका विचार करके ईशके आगे अपना शीश झुकाया। बमोंके जो परीक्षण हुए थे, इनकी खराब वायुने प्रजाकी हानि करनी थी, सो यह जो सारा वातावरण शान्त रहा, यह इन यज्ञोंका, पूजा-पाठका पुण्य-प्रताप हुआ। इससे सभीको, राजा-प्रजाको, देश-विदेशको फल मिला।

और फिर जो जनताने दान दिया; तो दान कभी व्यर्थ नहीं जाता। आप पृथिवीको एक गेहूँके दानेका दान देते हैं, इसके बदलेमें वह आपको अपनी एक बालमें २५ दाने देती है। फिर जब उसे अभिमन्त्रित याज्ञिक वायु प्राप्त होती है, तब वे ही दाने बलवान् बनकर सौ दाने बन जाते हैं। आप सूर्यक तीन अञ्जलि अर्घका अभिमन्त्रित जल देते हैं; इसके बदलेमें सूर्य आपको कई हज़ार बूँदें देता है; इसी प्रकार दाताओंने जिसे जितना दिया, वह 'कोटिगुणितं दिवि दायि' (नैषधचरित, पञ्चम सर्ग) लोक-परलोकमें दाताओंको कई-गुना फल देगा। भारतवर्षमें किया हुआ यज्ञ-याग विदेशोंमें भी कुछ फल देता ही है, कारण यह है कि-भारतवर्ष दुनियाका सैण्टर हैं, केन्द्र है, नाभि है। इसमें किये हुए कर्म अन्यत्र भी फलीभूत होते हैं। प्रजाके यज्ञयागादिका फल राजा वा राजप्रतिनिधियोंको भी प्राप्त हो जाता है। इसी उद्देश्यसे हिन्दुधर्म विश्वासी-प्रजाने यह सब कार्य वैयक्तिक-हितके उद्देश्यसे नहीं, बल्कि-संसारभर के हितके उद्देश्यसे किया। फिर उसपर आक्षेप करना अपनी असर्वतोमुखीन-दृष्टिका परिचय देना है।

प्रतिकूल-कालचक्र लोगोंको अवश्य पीस दिया करता हैं, उससे कोई नहीं बच पाता। कहते हैं-एक बार भक्त-कबीरने किसी स्त्रीको चक्की चलाते देखा। दाने पिसे जा रहे थे। कबीरजीको इसमें कुछ सूझ आगई, और वे रोने लगे। पास खड़े हुए उनके लड़के-कमालने इसमें कोई रहस्य समझकर रोनेका

कारण उनसे पूछा। तो वे कहने लगे—

'चलती चक्की देखकर दिया कबीरा रोय।
दो पाटोंके बीचमें साबित बचा न कोय॥'

अर्थात्-कालरूपी-चक्कीके दो पाटोंके बीचमें जो प्रजारूप अन्नका दाना पड़ता है, वह पिस ही जाता है, वह बच नहीं सकता। उस लड़केने भी इस बातपर गहरा-विचार किया; तो उसे बड़े जोरकी हँसी आगई। कबीरजीने इस रोनेके समय अकारण हँसनेका कारण उससे पूछा। तब उसने उत्तर दिया—

'चलती चक्की देखकर हँसे कमाल ठठाय।
जो किल्लीके निकट हैं, उनपर आंच न आय॥'

(भावीसंकट पृ. १८-१९)

अर्थात् यह ठीक है कि-कालरूपी चक्कीके दोनों पाटोंके बीचमें आया हुआ प्रजारूप दाना अवश्य ही पिस जाता है, पर उस कालरूप-चक्कीके पाटोंके बीचों-बीचमें अचल ठहरी हुई और उस चक्कीको चलानेवाली किल्लीरूप दैवीशक्ति है। जो दाने उस किल्लीके पास-पास रहेंगे; चाहे चक्की सालभर भी चलती रहे-फिर भी वे अखण्डित पड़े रहेंगे। उन्हें अकालमृत्यु कभी भी पीस न सकेगी। वे सुरक्षित पड़े रहेंगे।

यह बात ठीक है, और स्वाभाविक है। इसी बातको लक्ष्य करके प्रजाने किल्लीरूप दैवी-शक्तिकी निकटताकेलिए यज्ञ-याग आदि किये। इससे राजा-प्रजा सभीको फल मिलना था। उस कालकी चक्कीका घूमना ही बन्द होगया। तब यज्ञों-द्वारा क्या

बुराई हुई ?।

तथापि अष्टग्रहयोग भी व्यर्थ नहीं गया। इस समय एक बड़ा भारी आतङ्कमय मृत्युभय उपस्थित होगया था; इसकी चिन्तारूप चितामें 'चिन्ता चिता समाख्याता' प्रजा झुलस गई। यह भय कोई साधारण-भय नहीं था। बहुतसे व्यापारका काम ठप्प होगया। लोगोंका लेन-देन ही बन्द होगया। एक हलका भूकम्प भी चेतावनीकेलिए आया। रेल गाड़ियाँ खाली गईं, रिज़र्वेशन बहुत थोड़ी हुई। कपड़े आदि वस्तुओंकी बिक्री बन्द होगई, इस प्रकार सर्कारको भी हानि हुई। कई लोगोंने अपनी सारी पूँजी बैंकसे निकलवा ली; और वह चोरी चली गई। ऐसी कड़ी सर्दीकी लहर कभी नहीं पड़ी थी; उससे कितना जनसंहार हुआ ? कलकत्ता-बम्बईमें कभी सर्दी नहीं पड़ती थी, उसमें भी पड़ी। पेरू (विदेश) में एक बर्फका पहाड़ गिरनेसे पाँच हज़ारके लगभग पुरुष मर गये। वृक्षपर फल लगने और पकने और फिर उसके उपयोग करनेमें आगे-पीछे कुछ समय लगता ही है। प्रस्तावमें उपक्रम तथा उपसंहार भी विषयसे पूर्व तथा पश्चात् हुआ करता है। सो इस योगसे छः मास पूर्व कितनी दुर्घटनाएँ हुई; यह समाचारपत्रोंके पाठकोंसे अप्रकट नहीं। इसके वर्ष वा छः मास बाद तक भी दुष्प्रभाव हो सकता है-यह स्वाभाविक बात है। जब साधारण ग्रहणका फल भी छः मास तक माना जाता है; तब अष्टग्रहयोगका फल तो छः मास पूर्व और एक वर्ष पीछे तक हो सकता है। उन्हीं दिनों सुना

गया कि-१४-१५ फर्वरीको स्केण्डेनेवियासे ब्रिटेन तक बड़ा ज़बर्दस्त तूफान १७५ मीलकी रफ़्तारसे आया, उससे समुद्री पानी तट पर चढ़ आया, जिससे बहुतसे पुरुषोंकी मृत्यु होगई, और हज़ारों पुरुष बे-घरबाहर होगये; रेलवे लाइन उखड़ गई। कई जहाज खोगये। ज्योतिषियोंकी ग्रहयोगके छः मास वा वर्ष बाद तक की भी अवधि थी। अभी तो फर्वरी भी (जिसमें अष्टग्रहयोग था) पूरा बीत नहीं पाया। अभी भी ५ ग्रह मकर-राशिमें इकट्ठे हैं। आजकल तो अष्टग्रहयोगको मुश्किलसे छः मास बीते हैं कि-इटलीमें २२ अगस्तको तथा ईरानमें अगस्तके अन्तमें भीषण भूकम्प हुआ है, जिसमें हज़ारों व्यक्तियोंकी मृत्यु होगई है। इन्हीं दिनों बाढ़ोंसे बड़ी हानियाँ हो रही हैं, यह सब उन्हीं अष्टग्रहोंका परिणाम है। यदि भारतवर्षकी भी यही विदेशों वाली दुर्दशा होती, तभी क्या आक्षेप्ता लोग प्रसन्न होते ? वस्तुतः इन्हीं यज्ञों एवं पूजा-पाठसे भारतवर्षकी रक्षा हुई। सो यदि ज्योतिषियोंने सावधानतार्थ पहलेसे सूचना दे दी; इससे ज्योतिषियोंपर बिगड़नेकी भी क्या आवश्यकता है ? आज २६-६-६२ को भी भूकम्पका झटका रातके ११ बजे लगा है। अभी अगला वर्ष और भी भयानक है जिसमें एक मास गुम है, और दो मलमास हैं।

वस्तुतः यह सब दोषारोप व्यर्थ हैं। सभीको मनुजीका यह वचन याद रखना चाहिये कि-'जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते' (४।१४३) अर्थात् जो जपमें वा देवयज्ञ हवन आदिमें लगे रहते हैं; उनका कभी पतन वा अनिष्ट नहीं होता। सो

वेदादि-शास्त्रानुसार कहने वाले विद्वानोंके कथनानुसार पूजा-पाठ यदि अश्रद्धालु लोग खर्चेके डरसे अथवा ब्राह्मणोंके लैटरबक्स-पेटमें पड़नेके भयसे उनसे नहीं कराना चाहते, तो वे मत करावें। स्वयं ही वे कर लें, इससे उस व्यक्तिका तो अनिष्ट न होगा। इस प्रकार सारी जनता करना शुरू करे, तब वह भी सकुशल रहेगी; तब किसी प्रकारके आक्षेप करनेकी आवश्यकता भी न पड़ेगी। यही है हमारा आपको शास्त्रीय 'अष्टग्रहीयोगका सन्देश'। यदि आप इस विषयमें अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं; तो हमारी 'आलोक' ग्रन्थमालाके पञ्चमपुष्पमें 'यज्ञोंका वैज्ञानिक महत्त्व' और चतुर्थपुष्पमें 'नवग्रहोंके मन्त्र' आदि विषय देखिये; इससे आपकी सभी प्रकारकी शङ्काएँ मिटेंगी। हाँ, भय हृदयसे हटा दीजिये, 'मृत्योर्बिभेषि किं बाल! न स भीतं विमुञ्चति' मृत्यु डरे हुएको भी नहीं छोड़ती। तब 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' इस 'भगवद्गीता'का पाठ पढ़े हुओंको डर छोड़कर 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' शास्त्रानुसार चलनेका प्रयत्न प्रारम्भ कर देना चाहिये। याद रखना चाहिये यह भगवान्का वाक्य—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥ (३।१३)

यज्ञका शेष खाने वाले पुरुष सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाते हैं पर जो केवल अपना ही पेट भरते हैं; वे दुःखोंको प्राप्त करते हैं।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥ (३।३२)

'जो मेरा यह शास्त्रीय मत नहीं मानते; वे मूढ समयपर नष्ट होंगे'। यह भगवान्का वाक्य उन लोगोंको नहीं भूलना चाहिये।

---

(२७) 'नमस्ते' पर विचार।

'नमस्ते' प्रचार पर विचार हम 'श्रीसनातनधर्मालोक' के १-२ पुष्पों (द्वितीय संस्करण) में रख चुके हैं, उसपर हमने सिद्ध किया था कि-'नमस्ते' यह एक पद नहीं, और यह प्रत्यभिवादनार्थक (आशीर्वादार्थक) नहीं: छोटे-बड़े दोनोंके प्रयोग-योग्य नहीं, और यह वैदिक-शब्द भी नहीं। यह एक साम्प्रदायिकशब्द है। आर्यसमाज इसका प्रचालक है। इसका प्रयोग सर्वत्र नहीं हो सकता। इसका बहुवचनादिमें प्रयोग करनेसे अशुद्धि हो जाती है, बड़ेको 'त्वं त्वया, तुभ्यम्-आदि कहना—लोक-व्यवहारके व्यवस्थापक धर्मशास्त्रसे विरुद्ध है'। इन बातोंके समर्थनार्थ आर्यसमाजी-व्यक्ति जो युक्ति-प्रमाण दिया करते हैं, हमने उनका सम्यक् समाधान उसीमें कर दिया था।

अब हमारा ध्यान 'टङ्कारा' पत्रिकाके 'नमस्ते' (मार्च १९६२ पृ. ३८-४१) निबन्ध पर दिलाया गया है। यद्यपि उसमें कोई नई बात तो नहीं है, सभी इन युक्तियोंका १-२ पुष्पमें प्रत्युत्तर दिया जा चुका है, तथापि कुछ यहांपर भी पृथक् निर्देश कर दिया जाता है। इस निबन्धके लेखक-महोदयने आजकलके 'नमस्ते' विषयक-ट्रैक्टोंसे सामग्री ली मालूम होती है; इसमें कोई उनका नया अपना अनुसन्धान मालूम नहीं होता।

१. उसमें पहले-पहल राम-राम, राधेश्याम आदि शब्दोंको अभिवादनार्थक मानकर उनपर आक्षेप किया गया है; पर ऐसा नहीं है। यह शब्द तो अपने इष्टदेवके स्मरणवाचक हैं, अभि-

वादनवाचक नहीं। यदि अभिवादनार्थक होते; तो प्रत्यभिवादनमें इनका प्रयोग न किया जाता। अभिवादन (नमस्कार) प्रत्यभिवादन (आशीर्वाद) तो वहांपर छोटेके द्वारा बड़ेको हाथ जोड़नेसे और बड़ेके द्वारा छोटेके प्रति दाहिना हाथ ऊपर करनेसे हुआ करता है-यह भेद तो प्रत्यक्ष है। शेष इष्टदेवके स्मरणमें वा कुशलप्रश्नमें वा शुभाशंसामें तो छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं हो सकता। इसीलिए अपने इष्टदेवके स्मरणार्थ 'जय-श्रीकृष्ण' आदि तथा अंग्रेजी जानने वालोंमें 'गुडमार्निंग' आदि उभयपक्षसे कहा जाता है। परन्तु नमस्कार-आशीर्वादमें तो उभयपक्षमें समता नहीं हो सकती। छोटा बड़ेको नमस्कार तो करता है, बड़ेको आशीर्वाद नहीं देता। बड़ा छोटेको आशीर्वाद तो देता है, पर उसे नमस्कार नहीं करता। तब इसमें उभयपक्षसे भिन्न-भिन्न व्यवहारको बताने वाला भिन्न-भिन्न शब्द ही रखना पड़ेगा; इसमें एक-शब्द नहीं हो सकता। 'नमस्ते'को प्रतिपक्षी भी 'अभिवादन'-वाचक मानते हैं; पर उभयपक्षसे अभिवादन नहीं हुआ करता; एक पक्षसे अभिवादन (नमस्कार) परन्तु दूसरे पक्षसे प्रत्यभिवादन (आशीर्वाद) होता है; सो प्रत्यभिवादनमें भिन्न शब्द ही रखना पड़ता है, यह बात अभिवादन-प्रत्यभिवादनके वाक्योंको-देखनेसे भी स्फुट हो जाती है। इस विषयमें 'आलोक' १-२ पुष्प (पृ. १४२-१४४, १४८-१५५)में देखना चाहिये। परन्तु परस्पर भगवान्‌का नाम स्मरण करना-कराना शास्त्रीय भी है, देखिये—'परस्परानुकथनं

पावनं भगवद्यशः' (श्रीमद्भा. ११।३।३०) 'स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम्' (३१)। यही वादिप्रतिवादिमान्य भगवद्गीतामें भी सूचित किया है—'सततं कीर्तयन्तो माम्' (९।१४) यह बात वेदानुकूल भी है। इस विषयमें 'आलोक' १-२ पुष्प पृ. १४२-१४४, पृ. १४८-१५५ में देखना चाहिये।

"इन सब बुराइयोंको देखकर-ऋषि दयानन्दने…एकमात्र 'नमस्ते' वैदिक शब्दके व्यवहारका आदेश दिया है"। यह प्रतिपक्षकी बात तब ठीक होती; जबकि यह एक पद होता, और यह वेदमें आदेश दिया जाता कि-'सम्मेलन-समये उभयपक्षतः परस्परं 'नमस्ते' इति वाच्यम्'। पर वेदादि-शास्त्रोंमें 'नमस्ते' यह कहीं भी एक-शब्द नहीं कहा गया, और न वेदमें 'नमस्ते' ही करनेका आदेश है; तब प्रतिपक्षका पक्ष सिद्ध, सिद्ध न हुआ। क्या प्रतिपक्ष आदरार्थक बहुवचनमें, अथवा बहुत लोगोंकेलिए दिये गये बहुवचनमें 'नमस्ते' कहीं दिखला सकता है? यदि नहीं; तब 'नमस्ते' यह एक वैदिक-शब्द कहां हुआ? किसी वैदिक पदानुक्रमणिका वा पदसूचीमें, किसी भी पदपाठ वा घनपाठ आदिमें 'नमस्ते' शब्द ही नहीं मिलता; तब 'नमस्ते'को प्रतिपक्षका वैदिक-शब्द कहना निर्मूल पक्ष है, "ऋषि दयानन्द द्वारा पुनः प्रवर्तित 'नमस्ते' इस वैदिक शब्दका" इन प्रतिपक्षके शब्दोंसे यह 'नमस्ते' शब्द दयानन्द वा उनकी समाजसे प्रवर्तित सिद्ध हुआ। इसमें 'पुनः' शब्द अयुक्त है। पहले इसका कहीं नियमित प्रयोग नहीं रहा। क्या प्रतिपक्ष 'नमस्ते'का एक-शब्द रूपमें तथा अभिवादन-

अभिवादनमें इसका सर्वत्र प्रयोग कभी दिखला सकता है? इस विषयमें १-२ पुष्पका १११ पृष्ठ देखना चाहिये! तब 'नमस्ते' का विरोध "साधारण जनोंको बहकानेलिए" नहीं है, और न इसके विरोधी "केवल ऊटपटांग अभिप्राय" व्यक्त करते हैं, जैसेकि प्रतिपक्षीने लिखा है, किन्तु वस्तुस्थितिके प्रदर्शनार्थ है। मालूम होता है कि-विद्वान् होते हुए भी प्रतिपक्षने यह लेख केवल कट्टर आर्यसमाजियोंको प्रसन्न कर देनेकेलिए लिख दिया है। अपने अनुयायियोंसे वेदके-महान् विद्वान् माने जाते हुए स्वा.द.जी भी तो 'नमस्ते' का सर्वत्र प्रयोग नहीं करते थे।

(ख) प्रतिपक्षीने 'नमस्ते' शब्दका अर्थ 'आशीः' भी लिखा है, पर इसमें मूल-प्रमाण न देनेसे उक्त कथन निर्मूल सिद्ध हुआ।

२ जोकि प्रतिपक्षीने लिखा है कि-"जब संस्कृत-भाषा व्यवहारकी भाषा थी; तब युष्मत् शब्दका प्रयोग बड़ोंकेलिए भी व्यवहृत होता था। पञ्जाबी-भाषामें आज भी बड़ोंकेलिए 'त्वाडे, त्वाडा' शब्दोंका प्रयोग होता है, परन्तु कोई भी इसे बुरा नहीं मानता। यही स्थिति पुराकालमें युष्मत् शब्दके प्रयोग-की भी थी"

इसपर वक्तव्य यह है कि-युष्मद्शब्दका बहुवचन यदि बड़ेकेलिए किया गया हो; वहाँ तो आदर अर्थ होनेसे कोई उद्वेज-नीय बात नहीं। तब पंजाबी भाषाका 'त्वाडा, तुसाडा' यह उदाहरण विषम है, क्योंकि-'त्वाडा, त्वाडे' यह बहुवचनमें है। एकवचनमें 'तेड़ा' होता है, वह बड़ेको नहीं कहा जाता। इसी प्रकार

यू० पी० की हिन्दीमें बड़ेको 'तुम, तुम्हारा' तो कहा जाता है, तू, तेरा यह एकवचन बड़ेकेलिए प्रयुक्त नहीं किया जाता। प्राचीनकालमें बड़ेकेलिए युष्मद्का एकवचन इतिहासमें भले ही प्रयुक्त हो, परन्तु धर्मशास्त्रानुशिष्ट नहीं। धर्मशास्त्रमें तो 'त्वंकारं च गरीयसः' (मनु. ११।२०३) इस प्रकार बड़ेको 'त्वं, तव, ते' आदि प्रयुक्त करना ठीक नहीं माना जाता। इस विषयमें 'आलोक' का १-२ पुष्प पृ. १३४-१३७, १८७-१८८, १८६, २३०-२३४ देखना चाहिये।

३ गीतामें जो अर्जुन-द्वारा श्रीकृष्णको 'ते' आदि शब्दसे कहा जाता है, वहाँ श्रीकृष्णका परमात्मा होनेके कारण है। परमात्माको अब भी 'जिधर देखता हूँ, उधर तू ही तू है' इसमें हिन्दीमें भी 'तू' कहा जाता है, अंग्रेज़ीमें भी उसे Thou, Thy आदि कहा जाता है। या फिर 'स्तुतौ कवीनां···त्वंकारयुक्ता हि गिरः प्रशस्ताः' इस प्रकार कवितामें, या पुरानी अंग्रेज़ी आदिमें व्यवहृत होता था। अब वह अव्यवहार्य है, इसी प्रकार कहीं प्राचीन-संस्कृतमें होता हुआ भी युष्मद्का एकवचन व्यवहारमें अब प्रयुक्त नहीं। प्रतिपक्षी क्या अपने गुरु आदि वा माननीयको संस्कृत या हिन्दीमें 'तू तूने, त्वया, तुभ्यं (ते) तव (ते)' आदि तथा अंग्रेज़ीमें Thou, Thy आदि कभी लिखता-बोलता है? यदि नहीं; तब आदरणीय-व्यक्तिकेलिए भी 'नमस्ते' ठीक न हुआ।

४ रुद्राध्यायमें 'नमस्ते' की भरमार तो नहीं, जैसाकि प्रति-

पक्षीने लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि-प्रतिपक्षीने यह बात 'नमस्ते' के ट्रैक्टोंसे ली है, स्वयं रुद्राध्याय (यजुः १६ अ०) देखनेका कष्ट नहीं किया। हाँ, उसमें 'नमः' की भरमार तो है ही, 'नमो वः' भी उसमें है, तो प्रतिपक्ष भी 'नमस्ते' में आग्रह छोड़कर 'नमः' का प्रचार करे, वह भी बड़ेकेलिए, इसपर 'आलोक' (१-२) पृ. १६१ देखिये। 'ते' (तुभ्यं) का मोह छोड़े; क्योंकि वह अनिवार्य नहीं। भिन्न-भिन्न स्थलमें भिन्न-भिन्न सर्वनाम जोड़ने पड़ते हैं। आदरणीयको आदरार्थ बहुवचन भी देना पड़ता है, इसपर 'आलोक' (१-२) का पृ. ६६-१०२ में देखा जा सकता है। बड़ेकेलिए श्रीमत्, भवत् शब्द आदिका प्रयोग भी किया जाता है। युष्मद्के एकवचनका 'नमस्ते' के अतिरिक्त प्रतिपक्षी तथा उसके सम्प्रदायके व्यक्ति कहीं भी, कभी भी, किसी भी भाषामें प्रयोग नहीं करते, तब केवल 'नमस्ते' केलिए ही बल देना-यह साम्प्रदायिक-आग्रह है। 'स्तेनानां पतये नमः' में भी प्रतिपक्षी 'नमः' को अभिवादनार्थक नहीं मानते। इसके विषयमें 'आलोक' (१-२ पुष्प) पृ. २१७-२२३ में देखना चाहिये।

'नमः पर्णाय' में यदि प्रतिपक्षी पत्तेकेलिए नमस्कार मानता है; तो वेदमें मूर्तिपूजा आजानेसे प्रतिपक्षको उसे वैदिक मानना पड़ेगा। यदि यहाँ 'नमः' का अर्थ प्रतिपक्ष कुछ अन्य मानता है; तब उसके अनुसार 'नमः' शब्द अभिवादनार्थक सिद्ध न हुआ; तब वह 'नमस्ते' का प्रयोग अभिवादनार्थक कैसे मानता

है? तब मूर्तियोंको भी 'आर्यसमाजी' हाथ जोड़कर 'नमस्ते' कहा करें, भले ही उसका अर्थ वह 'नमः पर्णाय' की भान्ति कुछ अन्य करदें। हाथ जोड़कर नमस्कार करना स्वामी वेदानन्दजी भी मानते थे; और इसमें वेदका प्रमाण भी देते थे, इसकेलिए 'आलोक' का १-२ पुष्प १५७ पृष्ठ देखना चाहिये।

५ "अथर्वमें 'नमस्ते यातुधानेभ्यः' (६।२।१३) में पीड़ा पहुँचाने वालोंकेलिए भी 'नमस्ते' का प्रयोग है" यह प्रतिपक्षकी बात साम्प्रदायिक-दृष्टिसे है, वैदिक-दृष्टिसे नहीं। यहाँ 'यातुधानों' को 'नमस्ते' का प्रयोग नहीं है, उनके बहुवचन होनेके कारण एकवचन वाला 'नमस्ते' वहां कभी प्रयुक्त हो ही नहीं सकता। नहीं तो 'नमो वः पितरः, पितरो नमो वः' (यजुः २।३२) में भी 'नमस्ते पितरः' यह वेदमें होना चाहिये था, पर नहीं है। तब उक्त मन्त्रमें 'ते' से इष्ट एकवचनान्त मृत्यु है कि-'हे मृत्यु; तेरे यातुधानोंको नमः-नमस्कार हो' यहाँ उन्हें नमस्कार की गई है, 'नमस्ते' नहीं। यहांके 'नमस्ते' में 'ते' का अर्थ 'तव' है, वह 'नमः' से सम्बद्ध नहीं; क्योंकि-'नमः' के योगमें चतुर्थी होती है; परन्तु यहाँ सम्बन्धमें षष्ठी है-'हे मृत्यो! तव यातुधानेभ्यो नमः'। देखिये-उक्त पूरा मन्त्र। इस विषयमें 'आलोक' (१-२ पुष्प पृ. ४४-४६) में देखिये। अब यहाँ बहुवचनमें 'नमस्ते' कहाँ रहा, जो कि-प्रतिपक्षने लिखा है कि-'यहाँ पीड़ा पहुँचाने वालों (बहुवचनमें) केलिए 'नमस्ते' का प्रयोग है'। 'हाँ, 'नमः' वेदमें बहुत आया है, वह भी माननीयोंकेलिए, इसपर 'आलोक' १-२

पुष्प पृष्ठ १६१ देखिये। सो 'नमः' का अर्थ है 'नमस्कार'। इसमें 'उच्चैस्तरां वा वषट्कारः' (पा. १।२।३५) इस ज्ञापकसे समुदायको भी निर्देश अर्थमें 'कार' प्रत्यय है। तब 'सम्पूर्ण आर्ष वाङ्मयमें 'नमस्कार' पदका प्रयोग अत्यल्प है' ऐसा पृ० ४१ में प्रतिपक्षका कथन ठीक सिद्ध न हुआ।

६ गार्गी-द्वारा याज्ञवल्क्यको 'नमस्ते' कहनेके विषयमें 'आलोक' (१-२ पुष्प) पृ० १६२-१६३ में देखिये। अभिवादन-प्रत्यभिवादन दोनोंमें यदि 'नमस्ते' वैदिक है, तो याज्ञवल्क्यने गार्गीको 'नमस्ते' क्यों नहीं कहा? इससे स्पष्ट है कि—'नमः' का प्रयोग आशीर्वादमें नहीं होता। और न 'नमस्ते' का परस्पर दोनों पक्षोंकी ओरसे प्रयोग होता था। (ख) कठोपनिषद्में यम-द्वारा नचिकेताको नमस्कार करनेका कारण 'आलोक' (१-२) पृ० १२१-१२५, १६४-१६६ में देखिये। इसमें अतिथि होनेके कारण 'नमः' का प्रयोग है, और आयु एवं अनुभवमें छोटे होनेके कारण 'ते' का प्रयोग है।

७ तै० ब्रा० में यदि नचिकेताने 'नमस्तेस्तु भगवः' (३।११।८) कहा; तो 'नमः' का तो गुरुको कहनेमें हमारा कोई विवाद नहीं; शेष है 'ते'। तो यह ऐतिहासिक होता हुआ भी धर्म शास्त्रीय नहीं। फिर प्रतिपक्षीको चाहिये था कि—उसी तै. ब्रा. से ही गुरुका भी नचिकेताको 'नमस्ते' का प्रयोग दिखलाता। इसी प्रकार अन्य भी प्रमाणोंमें प्रतिपक्षीको 'नमस्ते' का उभयतः प्रयोग दिखलाना चाहिये। जब तक वह दोनों ओरसे 'नमस्ते' का

प्रयोग अपने दिये उदाहरणोंमें न दिखला सके; तब तक उसका पक्ष असिद्ध ही रहेगा। इससे स्पष्ट है कि—दोनों ओरसे 'नमस्तेवाद' यह साम्प्रदायिक है, शास्त्रीय नहीं, न ही ऐतिहासिक है।

८ महाभारतसे जो कि ब्राह्मणों द्वारा धृतराष्ट्र (क्षत्रिय) केलिए 'नमस्ते' का प्रयोग प्रतिपक्षने दिखलाया है, इसका प्रत्युत्तर 'आलोक' १-२ पुष्प पृ. ११२-११३, १९७-२०१ में देखना चाहिये। यह एक ब्राह्मणने कहा, बहुत ब्राह्मणोंने नहीं। वह भी अपनी ओरसे नहीं, किन्तु क्षत्रिय प्रजाका वचन ही अनूदित किया है। प्रजा राजाको बड़े होनेसे 'नमः' कहती है। समष्टिकी दृष्टिसे उसके छोटे होनेसे उसे 'ते' भी कह सकती है। तथापि यह ऐतिहासिक आचरण है। कई आर्यसमाजी ऐतिहासिक आचरण पुराणादिसे दिखला रहे होते हैं, जो शास्त्रविरुद्ध होते हैं; वे आचरणीय वा विधिरूप नहीं हो जाते; वैसे यहाँपर भी समझ लें।

९ आगे रामायण आदिसे प्रतिपक्षने जो 'नमस्ते' के उद्धरण दिये हैं; उन्हें दोनों ओरसे दिखलाना चाहिये था। जैसे यदि विश्वामित्रने वसिष्ठसे कहा कि—'नमस्तेस्तु गमिष्यामि' तब वसिष्ठजीको भी उसे 'नमस्ते' कहना चाहिये था। जब नहीं कहा तो स्पष्ट है कि—यह प्रतिपक्षका पक्ष अत्यन्त दुर्बल है। 'नमस्ते' परस्परके व्यवहारार्थ नहीं है।

१० जो कि कहा जाता है कि—'पौराणिकोंकी मान्य पुस्तकोंमें भी 'नमस्ते' भरा पड़ा है।' यह भी ठीक नहीं; क्योंकि—उनमें

छोटे-बड़े उभयपक्षसे 'नमस्ते' कहीं नहीं आया; और उभयपक्षमें व्यवहारसाम्य भी कभी नहीं आया। श्रीमद्भागवतमें यह पद्य आये हैं—'भगवाँस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम्। यथाविध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे। प्रह्वाऽभिवादनाऽऽश्लेषकरस्पर्श-स्मितेक्षणैः। आश्वस्य चाऽऽश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः। स्वयं च गुरुभिर्विप्रैः सदारैः स्थविरैरपि। आशीर्भिर्युज्यमानो ऽन्यैर्वन्दिभिश्चाविशत् पुरम्' (१।११।२१-२२-२३) यहाँ पर श्रीकृष्णका बड़ोंके आगे झुकना (प्रह्व) और नमस्कार करना, हमजोलियोंसे आलिङ्गन वा हाथ मिलाना, साधारणोंको मुसकानके साथ देखना, और गुरुओंसे आशीर्वादप्राप्ति—यह भिन्न-भिन्न व्यवहार आया है, सबसे नमस्ते कहना वा कहा जाना कहीं नहीं आया; इस प्रकार महाभारतादिमें भी छोटे-बड़ोंका भिन्न-भिन्न व्यवहार आया है, एतदर्थ 'आलोक' (१-२) पृ. ११५-११६ देखना चाहिये।

११ सीताने जो राक्षसको 'नमस्ते' कहा है, सो राक्षसयोनि देवयोनिके अन्तर्गत होनेसे मनुष्यसे उन्नत है, तब उसे नमस्कारमें कोई दोष नहीं। और डरके मारे भी वैसा कहना सम्भव हो सकता है। शेष रहा 'ते' सो परमात्मा, देवता, दैत्य, राक्षस, नदी, वृक्षादि को युष्मद्-शब्दका एकवचन दिया ही जाता है क्योंकि—वे मानुषी व्यवहारसे दूर होते हैं।

१२ पद्मपुराण (सृष्टिखण्ड १७।१५०) से प्रतिपक्षकी ओरसे महादेवद्वारा पार्वतीको 'न चापराधं भूयोऽहं करिष्ये तव सुव्रत ! पादयोः पतितस्तेऽहं क्षम देवि! नमोऽस्तुते' यह नमस्ते दिखलाया गया है, पर यहाँ 'नमस्ते' है कहाँ? यहाँ तो 'नमोस्तु ते' है, यहाँ 'अस्तु' का व्यवधान है, प्रतिपक्षी लोग तो 'नमस्ते' के हामी हैं; उसमें थोड़ा भी व्यवधान सहन नहीं करते। तब इससे प्रतिपक्षका पक्ष सिद्ध न हुआ। यदि वे 'नमः-ते' में व्यवधान सहन करते हैं, तब यह 'नमस्ते' प्रतिपक्षके अनुसार 'वैदिक-शब्द' न रहा; परिवर्तनीय होगया। तब भी प्रतिपक्षका पक्ष छिन्न होगया। इस विषयमें पूरा उत्तर आलोक (१-२) पृ. १२८-१३३, १७५-१७६ में देखें। यहाँ महादेव-पार्वतीका वर्णन नहीं है। स्पष्ट है कि—यह प्रमाण नमस्तेके ट्रैक्टोंसे विना मूलपुस्तक देखे दे डाले गये हैं केवल कुछ रूठे आर्यसमाजियोंको प्रसन्न करनेकेलिए।

१३ अग्निदेवको यदि 'नमस्ते' कहा गया है; उसमें कोई विवाद नहीं। मानुषी व्यवहारमें विवाद है। देवता, ऋषि, मुनि, दैत्य, राक्षस, वृक्ष आदि अमानुष योनियोंको तो मानुषी व्यवहारसे दूर होनेसे युष्मद्का एकवचन दिया ही जाता है। इस प्रकार मन्दालसाका कृष्णके प्रति, वृक्षके प्रति, वराहका विष्णुके प्रति, देवीके प्रति अष्टावक्र ऋषिके प्रति भी समझ लें, फिर उन लोगोंने मन्दालसा आदिको 'नमस्ते' नहीं कहा। अतः प्रतिपक्षका पक्ष असिद्ध ही रहा। 'वृक्षको नमस्ते' ऐसा शीर्षक रखना भी अयुक्त है, क्योंकि—'नमस्ते' एक पद नहीं। 'वृक्षको नमः' यह लिखना चाहिये। वृक्षको नमस्कार मानकर मूर्तिपूजा

भी अपना लेनी चाहिये।

१४ इसी प्रकार 'कुत्ते आदि प्राणियोंकेलिए 'नमस्ते' पदका प्रयोग' यह वाक्य भी गलत है, क्योंकि-'नमस्ते' यह एक पद नहीं। प्रतिपक्षके अनुसार वेदमें चोरोंकेलिए, हिंसकोंकेलिए 'नमस्ते' का उपयोग क्या अभिवादनकेलिए है ? यदि नहीं; तब 'नमस्ते' प्रतिपक्षके अनुसार अभिवादनवाचक न रहा। तब 'नमस्ते' को अभिवादन-प्रत्यभिवादनार्थक सिद्ध करते हुए यह अप्रसक्त-कथन कैसे ?

१५ जो कि प्रतिपक्ष लिखता है—'जब बड़े-छोटोंको 'नमस्ते' कहेंगे; तब 'नमः' का अर्थ होगा-आशीर्वाद' इसमें प्रतिपक्षने कोई मूल प्रमाण नहीं दिया, जिससे 'नमस्ते' का अर्थ आशीर्वाद भी सिद्ध होता हो। प्रतिपक्षके अनुसार पद्मपुराण सृष्टिखण्ड (१७।१५०) में महादेवजी जो कि पार्वतीकेलिए कहते हैं— 'पादयोः पतितस्तेऽहं क्षम देवि ! नमोस्तु ते' तब क्या इसका प्रतिपक्षके मतमें यह अर्थ है कि-हे देवि ! मैं तेरे पाँवोंमें पड़ता हूँ, तुम्हें आशीर्वाद हो; मुझे क्षमा करो'। यह असम्बद्ध बात है, क्या आशीर्वाद देनेवाला आशीर्वाद लेनेवाले छोटेके पाँव भी पड़ता है, और उससे क्षमा भी माँगता है ?। यदि नहीं; तब वहाँ प्रतिपक्षके अनुसार यह अर्थ कैसा हुआ ?। वस्तुतः यहाँ अन्य रहस्य है, यहाँ 'नमः' शब्द अभिवादन-प्रत्यभिवादन-वाचक नहीं। एतदर्थ 'आलोक' (१-२ पुष्प) पृ. १२८-१३३ में देखना चाहिये।

तस्करोंकेलिए 'नमस्ते' का प्रयोग प्रतिपक्षने वज्र-वाचक माना है, तो क्या वे चोरोंको भी घरमें आनेपर उन्हें 'नमस्ते' कहते हैं ? यदि उन्हें इसका अर्थ पता लग जावे कि-यह 'नमस्ते' कहकर हमारा वज्रसे दण्ड चाहते हैं; तब क्या वे डण्डा मारकर पहलेसे ही प्रतिपक्षके सिरका कचूमर न निकाल देंगे ?। वस्तुतः 'नमः' के वज्र आदि वैदिक-कोषके अर्थ लोकमें कभी नहीं किये जा सकते ? नहीं तो 'जलं पिब' के स्थानपर प्रतिपक्षी 'पुरीषं पिब' भी कहा करें, जिसका वैदिक कोषमें 'जल' अर्थ है।

कुत्तोंको 'नमः' का अर्थ यदि अन्न किया जाता है; तो क्या आर्यसमाजी व्यक्ति कुत्तोंको भी 'नमस्ते' कहा करते हैं ? यदि वे चोरों वा कुत्तोंको 'नमस्ते' नहीं कहते; तो स्पष्ट है कि-ऐसा कहना वैदिक-विधान नहीं। केवल उन्हें दण्ड वा अन्न दे दिया जाता है। उन्हें 'नमस्ते' शब्द कहनेका कहीं भी आदेश नहीं। वृक्षोंको भी क्या आर्यसमाजी 'नमस्ते' कहते हैं ? यदि हाँ, तो यह मूर्तिपूजा होगई ? यदि उन्हें यह 'नमस्ते' मूर्तिपूजा नहीं मालूम होती; तो वे मन्दिरकी मूर्तिके आगे भी 'नमस्ते' कहा करें।

१६ 'प्रतिपक्ष कहता है—'नमस्कार' शब्द आर्ष-वाङ्मयमें अत्यल्प मिलता है'। पर जब वेदमें 'नमस्कार' शब्द आता है— (अथर्व. ४।३९।९, ७।१०२(१०७)।१) तब अल्पताका प्रश्न ही नहीं उठता। वेदमें 'गुरुकुल' शब्द तो अत्यल्प तो कहाँ, बल्कि आता ही नहीं; तब आर्यसमाज उस अवैदिक शब्दको हटा क्यों नहीं देता ?। जब वेदमें 'नमः' की भरमार है; तब 'नमः'

शब्दको निर्देश अर्थमें 'उच्चैस्तरां वा वषट्कारः' (पा० १।२।३५) इस ज्ञापकसे वर्णसमुदायको भी 'कार' प्रत्यय हुआ। तब यह अवैदिक तो सिद्ध न हुआ।

'प्रणाम' शब्दमें वेदादिमें प्रसिद्ध 'नमः' की मूल धातु 'णम प्रह्वत्वे' को 'प्र' उपसर्ग लगाकर घञ् प्रत्ययमें प्रयोग है; तब यह भी वेदविरुद्ध तो सिद्ध न हुआ।

१७ "जहाँ देखो वहीं प्राचीन-साहित्यमें परस्पर अभिवादन-केलिए 'नमस्ते' का ही प्रयोग मिलता है' यह टङ्कारापत्रिकाके 'नमस्ते' निबन्धक लेखकका उपसंहारवाक्य है। यह ठीक नहीं। परस्पर छोटे-बड़े दोनोंका अभिवादन नहीं हुआ करता; किन्तु छोटेका अभिवादन और बड़ेका प्रत्यभिवादन (आशीर्वाद) हुआ करता है। उनमें एक शब्द कभी हो भी नहीं सकता, और हुआ भी नहीं करता। प्रतिपक्षके वाक्यमें परस्पर नमस्तेका ही प्रयोग मिलता है, इसमें 'ही' शब्द गलत भी है। नहीं तो प्रतिपक्षने जितने 'नमस्ते' के प्रयोग दिखलाये हैं, वे एकतरफा हैं, दूसरे पक्षसे प्रतिपक्षने उन-उनका 'नमस्ते' का प्रयोग नहीं दिखलाया; और न ही प्रतिपक्ष दूसरे पक्ष वाले व्यक्तियों द्वारा 'नमस्ते' का प्रयोग दिखला सकता है। प्रतिपक्षने जितने १५-१६ एक ओरके नमस्तेके प्रयोग दिखलाये हैं; उसी-उसी पुस्तकसे १५-१६ दूसरोंकी ओरसे भी 'नमस्ते' दिखलावे। यदि वह परस्पर दोनों ओरसे सभीमें 'नमस्ते' का प्रयोग नहीं दिखला सका; तब उसका पक्ष स्वयं ही वालूकी भित्ति रहेगा। 'नमस्तेही'

में 'ही' शब्द इसलिए भी गलत है, वेदादिमें 'नमः, नमस्कारः, नमामि, नमो वः, नमोवाकः, नम-उक्तिः' भी आते हैं; वे भी बड़ेकेलिए। इसपर देखिये 'आलोक' (१-२ पुष्प) २२५-२२६ पृष्ठ। वेदमें 'नम-उक्ति' आई है 'नमस्ते-उक्ति' नहीं आई। इस विषयमें १-२ पुष्प ८६ पृष्ठ देखें। तब 'नमस्ते'-वाद वेदविरुद्ध हुआ। अभिवादनार्थमें 'नमः' तो प्रसिद्ध है, परन्तु 'ते' अभिवादनार्थक नहीं; अतः वह 'नमः' से टूट गया; तब उसका कथन वेदानुसार अनिवार्य नहीं। नहीं तो 'नमो वः पितरो' (यजुः २।३२) में भी 'नमस्ते पितरः' क्यों नहीं आया? अतः स्पष्ट है कि—'नमस्ते' कोई नियत शब्द नहीं। 'नमः पर्णाय' (यजुः १६।४६) 'नमः कुल्याय' (३०) 'नमः शुष्क्याय' (४६) 'स्तेनानां पतये नमः' (२०) 'ब्राह्मणेभ्य इदं नमः' (अथर्व० ६।२।१३) इत्यादि प्रतिपक्षी-से दिये हुए उक्त प्रमाणोंमें 'नमस्ते' क्यों नहीं आया? इस 'नमः' के प्रयोग वेदमें प्रचुरतम मात्रामें आये हैं, 'नमस्ते' के प्रयोग तो उनके मुकाबिलेमें अत्यल्प हैं। अतः 'नमः के साथ 'ते' का प्रयोग अनिवार्य न होनेसे 'ते' 'नमः' से टूट गया। अतः 'नमः' का ही प्रयोग वैदिक सिद्ध हुआ। शेष है 'ते'; सो वह कहीं-कहीं इतिहासमें होनेपर भी ऐतिहासिक-आचरण धर्मशास्त्रविरुद्धतावश एकान्त मान्य न होनेसे अनुकरणीय वा अनुसरणीय नहीं। जैसे कि—ऋलृक्सूत्रके भाष्यमें आया है—'अनुकरणं हि शिष्टाऽशिष्टाप्रतिषिद्धेषु, यथा लौकिक-वैदिकेषु'। 'ते' (युष्मद्के एकवचन) की धर्मशास्त्रविरुद्धता हम 'आलोक'

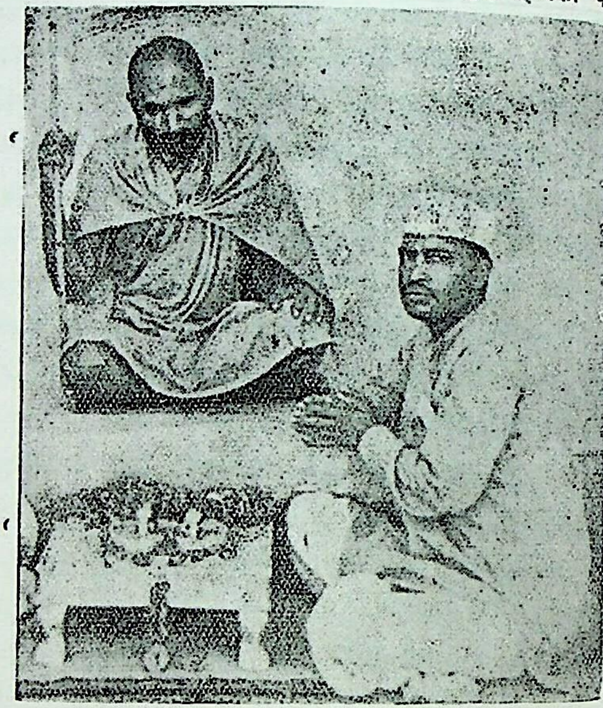
(१-२) पुष्पमें बता चुके हैं (पृ. १३४-१३७)। 'नमः' का प्रयोग वेदानुसार बड़ेको आता है, जैसे कि-'यजाम (पूजयाम) इद् नमसा (नमः-शब्देन) वृद्धमिन्द्रम्' (ऋ. ३।३२।७); वह भी अभिवादन अर्थमें आता है; वृद्ध इन्द्रको आशीर्वाद नहीं दिया जाता। 'ज्यायांसमभिवादयन्' (मनु. २।१२२)। 'अभिवाद्य हरीन् वृद्धान्' (वाल्मी. किष्किं. ६७।८) तब 'नमस्ते' का ही प्रयोग आर्यसमाजका 'नमस्ते' को साम्प्रदायिक-शब्द सिद्ध करता है। आर्यसमाजी लोग अपने सम्प्रदायमें उसका प्रयोग भले ही करें, पर इसमें वैदिकता तो सिद्ध न हुई। नहीं तो यदि वे युष्मद्की सब विभक्तियोंका एकवचन बड़ेकेलिए ठीक मानते हैं; तो अपने गुरुओंको, पूज्य अन्य पुरुषोंको संस्कृत, हिन्दी, वा उर्दु-अंग्रेजी आदिमें 'त्वं, त्वां, त्वया, तुभ्यम, त्वत्, तव, त्वयि, तू तूने, Thou आदिका प्रयोग क्यों नहीं देते? उसका प्रयोग न करनेसे 'ते' की वैदिकता भी सिद्ध न हुई। हाँ, प्रतिपक्षीने केवल आर्यसमाजियोंको प्रसन्न कर देनेकेलिए यह लेख लिखा हो; तो उससे हमें कोई विरोध नहीं। सब अपने-अपने विचारोंमें स्वतन्त्र हैं। तब 'नमस्ते'-वाद वैदिक-शिष्टाचार वा शास्त्रीय-आचार नहीं-यह सिद्ध होगया।

(३) पुराणोंको सत्य सिद्ध करनेवाली घटनाएँ

[गत ८७ पुष्पमें कुछ घटनाएँ लिखी जा चुकी हैं। शेष ८८ पुष्पमें दी जा रही हैं। इसके संग्रहकर्ता भक्त रामशरणदास हैं। —सम्पादक]

सत्यके चमत्कारोंकी घटना

जब प्रतिपक्षी लोग पुराणोंमें पढ़ते हैं कि—अमुक मुनिको सत्य बोलनेके कारण वाक्सिद्धि होगई कि-जो कुछ उसने कहा, वह बात सत्य हो गई। किसीको पत्थर वा वृक्ष होनेको कह



जगद्गुरु जी के पास लेखक

दिया; तो वह वैसा हो गया। पर आजके अविश्वासी प्रतिपदमें असत्यवक्ता होनेसे इन बातों पर विश्वास नहीं करते। थोड़ा समय सत्यव्रत लेनेका क्या चमत्कार हुआ; इस पर पाठक निम्न घटना पढ़ें।

हमारे स्थान पर भारतके सुप्रसिद्ध धर्माचार्य अनन्तश्री-विभूषित श्रीमज्जमद्गुरु-शङ्कराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्री स्वा. कृष्णबोधाश्रम जी महाराज पधारे। आपने इसी सम्बन्धकी एक घटना सुनाई कि—

एक बार हम अपने गुरुदेव श्रीपरमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीस्वामी चैतन्याश्रमजी महाराजके साथ विचरते हुए परीक्षितगढ़में पहुँचे। वहांके प्राइमरी स्कूलके हैडमास्टर श्रीन्यादरसिंह जो साधुसेवी थे, हमारे पास आये, और अपने यहां भिक्षाकी प्रार्थना की। हमें वह घर ले गये। भिक्षाके बाद प्रार्थना की, कि—महाराज! मेरा विचार सत्य बोलनेके नियम लेनेका है, सो आप करा दीजिये।

यह सुनकर हमारे गुरुजी प्रसन्न हुए; परन्तु कहा कि—कलियुगमें ऐसा नियम निभाना वड़ा कठिन है। पर उन्होंने जब बहुत आग्रह किया, तो उन्हें एक वर्षकेलिए सत्य बोलनेका नियम करा दिया गया। और वे सत्यका नियम बड़ी तत्परतासे करने लगे। कुछ मासके बाद सत्यने अपना चमत्कार दिखाना प्रारम्भ कर दिया; और उनमें वाक्सिद्धि भी होनी शुरू होगई। एक दिन वे नित्य की भांति स्कूल पढ़ाने गये; तो उस दिन

स्कूलका एक छात्र बड़ी उद्दण्डता कर रहा था। शिकायत होनेपर हैडमास्टर महोदयने ज्योंही उसे आंखें उठाकर देखा; तो झटसे वह छात्र एकदम बेहोश होगया। इससे सभी आश्चर्यचकित रह गये।

जब सत्य-नियमका पालन करते हुए उन्हें वर्ष होनेको आया; तो उनके पास एक व्यक्ति आया; और कहा कि—मेरी पत्नी एक वर्षसे बुलानेपर भी नहीं आ रही; आप अपनी ओरसे एक पत्र लिखें कि—तेरा पति बहुत सख्त बीमार है। यदि तुम्हें पतिका मुख देखना हो; तो तुरन्त यहाँपर चली आओ।

हैडमास्टरने कहा कि—तुम मुझसे ऐसा न लिखवाओ, नहीं तो तुम्हें सख्त बीमार होना पड़ जायगा। पर उस व्यक्तिने न माना; और उक्त पत्र लिखवा ही लिया और कहा कि—मुझे कुछ भी नहीं होगा। पत्र लिखवाकर उस व्यक्तिने लेटरवक्समें डाला ही था कि—स्वस्थ होते हुए भी वह बीमार पड़ गया। उसकी पत्नी अपने गांवसे चलकर उसके पास वहांसे आई; तो देखा कि—पत्रकी बात ठीक है। उसके आनेपर उसके पतिकी मृत्यु होगई, और उसे केवल उसका मुख देखनेका ही अवसर आया। स्वस्थ मनुष्यने अपनी मूर्खतामूलक ज़िदसे अपनी मृत्यु आप बुला ली। जब थोड़ेसे सत्यका यह प्रभाव है; तो पूर्ण सत्यव्रतीका क्या प्रभाव न पड़ेगा?

योगदर्शनमें लिखा है—'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'। यह उन्होंने अपने आचरणसे चरितार्थ कर दिया। जो जीवनभर

सत्य बोले; तो उसके चमत्कारोंका वर्णन कैसे किया जा सकता है ?

२. भविष्यवाणी

पुराणोंमें ऋषि-मुनियोंकी भविष्य-वाणियोंकी बातें आती हैं; उन्हें सुनकर प्रतिपत्ती उनपर विश्वास नहीं करते। आज हम 'तेज' (आर्यसमाजी पत्र) के उपसम्पादक (बक्शसहराई)के पुत्रकी भविष्य-वाणीके सम्बन्धकी घटना रखते हैं—

नई दिल्ली ३१ जनवरी। यहां एक १५ वर्षके बालकने कई दिन पहले २६ जनवरी १९६१ को अपनी मृत्युकी भविष्य-वाणी करके सबको आश्चर्यमें डाल दिया, जब भविष्यवाणीके अनुसार ही उस दिन उसकी मृत्यु होगई। बालकका नाम जयहिन्दकुमार था। १५ वर्ष पूर्व २६ जनवरीको ही वह पैदा हुआ था। (हिन्दुस्तान १-२-६१)।

जब ऐसा है तो तपस्वियोंकी भविष्यवाणीमें भला क्या सन्देह होगा ?

३. दैवी चमत्कार (रहस्यमय आवाज)

पटना २० मई। चित्रपुर (जिला हज़ारीबाग) का एक परिवार रहस्यमय आवाजसे आतंकित है। अपने मकानके वन्द कमरेमें उनसे कोई भयानक आवाजसे कुछ मांगता है। गत दो वर्षोंमें ६ तोले सोना, १ सेर चांदी और ६०० रु० इस आवाज़की भेंट किये जा चुके हैं। गत सप्ताह इस लालची आवाजने ११११) रु० की मांग की। इतनी रकमका प्रवन्ध नहीं हो सका। इसके

बाद मकान-मालिककी ३ वर्षीय बच्चीकी मृत्यु होगई। (आई. एन. ऐस. नवभारत २१-५-६१)

४ छुआछूत वा अन्नदोषकी बातें।

हमारे शास्त्रोंमें भंगी, चमार, कंजर आदिके हाथका खाना निषिद्ध किया गया है। रजस्वला स्त्रीके हाथका खानेसे तथा सुनारका अन्न खानेसे मनुष्यकी बुद्धि किस प्रकार भ्रष्ट होजाती है, अमुक साधुने सुनारका अन्न खा लिया; तो उसका मन सोनेके हारपर चलायमान होगया; आदि सैंकड़ों इस सम्बन्धकी घटनाएं प्रसिद्ध हैं, पर जिन्हें छुवाछूतको हटाना चाहनेवाले प्रतिपत्ती झूठ बताते हैं; और वे सभीका हाथका खाते हैं, और कहते हैं कि-इससे हमारा कुछ नहीं बिगड़ता"। हम इसपर विख्यात आर्यसमाजी-संन्यासी श्रीआनन्दस्वामी सरस्वतीकी सुनाई घटना लिखते हैं। जिन्होंने मुझे सुनाया था कि—

एक बार महात्मा-हंसराज जी (सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी) मौन आश्रम श्री हरिद्वारमें ठहरे हुए थे। वहीं एक वानप्रस्थी भी कई वर्षोंसे रह रहे थे। प्रातः ३ बजे उठकर ध्यानका अभ्यास किया करते थे, और उन्हें इसमें पर्याप्त सफलता भी मिल चुकी थी। एक दिन वे जोर-जोरसे रोते हुए महात्मा हंसराजजीके पास जाकर कहने लगे कि-महाराज ! मैं आज लुट गया, मेरा सर्वस्व चला गया।

हंसराजजीने पूछा कि—क्या धन चोरी होगया ? पूरा विवरण बताइये—वानप्रस्थीने बताया कि-मैं प्रतिदिन निय-

मितरूपसे ब्रह्मरन्ध्रमें ध्यान लगाया करता हूँ, पर आज ध्यानमें मुझे नित्यकी भांति ज्योति नहीं दिखाई दी, और उसके स्थान एक लाल वस्त्र पहने युवति दिखाई देने लगी। मैंने उसे मानसिक-बलसे हटानेका बहुत प्रयत्न किया, परन्तु वह न हट सकी। फिर मैंने कई बार ध्यान लगाया, परन्तु वह ज्योति न दिखलाई पड़ी। महात्माजी, मैं तो लुट गया।

उसके मनके अव्यवस्थित होनेके विषयमें दुस्सङ्गति आदिके प्रश्न पूछे गये। अन्तमें पूछा गया कि-कल आप क्या आश्रमसे बाहर गये थे, यदि हां; तो वहां क्या किया ?' उत्तर मिला कि-मैं एक भंडारेमें भोजन करने गया था। श्रीहंसराजजीने कहा कि-पता लगाओ कि-भण्डारा करनेवाला कौन और कैसा था ?

वानप्रस्थीने पता लगाकर कहा कि-एक व्यक्तिने यह भंडारा किया था। उसने अपनी एक युवति कन्याका दस हजार रुपये लेकर एक वृद्धके साथ विवाह कियां। उनमें दो हज़ार रुपयेसे भंडारा किया। म. हंसराजजीने कहा कि-वही शोचनीय लड़की आपके ध्यानमें आई। यह अन्नदोषके कारण हुआ। अब इस अन्नदोषको दूर करनेकेलिए १। लाख गायत्रीका जप करो। वानप्रस्थीजीने ऐसा ही किया: तब जाकर उस बुरे अन्नका प्रभाव दूर हुआ; और पूर्व जैसा ध्यान लगना प्रारम्भ हुआ।

हमने आनन्दस्वामीसे प्रश्न किया कि-शुद्ध आहार किसे कहते हैं ? उन्होंने कहा-शुद्ध आहारके दो अर्थ हैं—१ कमाई नेक हो, अर्थात् किसीका लहू चूसकर या किसीको कोई हानि

पहुँचाकर धन न कमाया गया हो। पूरी सात्त्विकतासे बुद्धि अथवा शारीरिकश्रम द्वारा धन या अन्न एकत्रित किया गया हो। २ आहारकी पवित्रताका दूसरा अर्थ यह है कि-उसके बनानेमें पूरी शारीरिक एवं मानसिक-पवित्रताका प्रयोग हो। अन्नमें दूसरेके मनकी भावनाओंका प्रभाव भी आ जाता है, उस खानेवालेको भी वह प्रभावित करता है, नौकरों आदि द्वारा वा होटलोंमें बनाये गये भोजनमें वह माता, बहिन, पुत्रियोंसे बनाये गये अन्नकी भांति पवित्र भावनाएं और पवित्रता नहीं होती, अतः वह अन्न हानि पहुँचाता है, इस प्रकार नीच-जातियोंके मनुष्यके हाथका भोजन करनेसे भी मन दूषित हो जाता है, उपनिषद्के ऋषिने कहा है—'आहार-शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छान्दो. ७।२६।२) आहारकी शुद्धिसे बुद्धि शुद्ध होती है, उससे स्मृति अच्छी बनती है, तब हृदयकी ग्रन्थियां टूट जाती हैं; तब साधक मोक्षका अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार जिस-किसी भी मनुष्यके हाथका बना अन्न खानेसे शारीरिक रोग भी हो जाते हैं, मन भी दूषित हो जाता है।

यह हैं भोजनके सम्बन्धमें विचार एक आर्यसमाजी संन्यासीके, इससे पुराणोंके एतद्विषयक सिद्धान्तकी सत्यता सिद्ध होती है।

५ विचित्र उत्पत्तियां

पुराणोंमें अद्भुत उत्पत्तियां सुनकर प्रतिपक्षी उनपर आक्षेप

करते हैं; अब इस विषयकी प्रत्यक्ष घटनायें सुनिये—

१ तीन आंखों, दो मुंह वाला बच्चा।

दतिया। यहां एक काछी परिवारकी एक बकरीके ऐसा बच्चा उत्पन्न हुआ है; जिसकी तीन आंखें हैं, और दो मुख हैं। यह बच्चा २१ फरवरीको प्रातः उत्पन्न हुआ, तथा अभी तक जीवित है। उसे देखनेकेलिए सैंकड़ों व्यक्तियोंकी भीड़ पशु-चिकित्सालयमें लगी रहती है। (वीर अर्जुन २५-२-६१)

२ गायके पेटसे राक्षस

चन्देसर (आज़मगढ़)। मड़मा गांवके फेरु केवटकी गायने दस मासका १ बच्चा दिया, उसकी बड़ी आंखें, तथा ऊंचा ललाट, मुखाकृति एक छोटे बालकसे मिलती-जुलती है। हाथ-पैर छोटे-छोटे उसके धड़में जुड़ेसे दिखाई देते हैं। दान्त बड़े-बड़े बाहर निकले हुए हैं। वह दो घंटे तक जीवित रहा। (प्रभात दैनिक मेरठ २० दिसम्बर १६६०)

३ पूंछ वाली लड़की

देहरादून (डाकसे)। क्लीमेंट टाऊन पुलिस क्षेत्रके अन्तर्गत फाएडवाला ग्राममें एक गोरखामहिलाने ऐसी लड़कीको जन्म दिया है, जिसकी पीठपर १॥ फुट लम्बी पूंछ है। सैंकड़ों लोग देखने आ रहे हैं' (हिन्दुस्तान १३-७-६०)।

४ चार आंखों वाली बालिका।

कैराकास १६ जनवरी। ज्ञात हुआ है कि-आजसे १६ दिन पूर्व पश्चिमी वेनेजुलाके पैरा गई थोपाक्षेत्रमें चार नेत्रों वाली

बालिकाने जन्म लिया। इसमें और भी विशेष बातें दिखाई दी हैं। (वीर अर्जुन २०-१-६१)

५ महिलासे सांप।

बुलन्दशहर १० सितम्बर। मालूम हुआ है कि-मुहल्ला दालमंडीमें एक महिलाके पेटसे एक बच्चेके स्थानपर सर्प पैदा हुआ है, जो चमड़ेकी थैलीमें बन्द बैठा हुआ था। सर्प जिन्दा था' (दैनिक हिन्द मेरठ ११-६-६०)।

६ परलोककी बातें।

कई लोग पुराणोंमें कही परलोककी बातोंपर विश्वास नहीं करते। अब वे निम्न घटनाएं सुनें।—

१ एक खटीक-स्त्रीने परलोकमें क्या देखा?

अभी पूरे पच्चीस वर्ष नहीं हुए, ननुहड बस्तीमें एक जानुकी नामकी खटीक-महिला बीमार हुई, महीनों बीमार पड़ी रहकर दो हिचकियोंमें उसका प्राणान्त होगया। उसका पति सीताराम जीवित था। जब लोग अर्थी बांध रहे थे कि-उधरसे जानुकीकी चीखनेकी आवाज़ आई। पूछनेपर उसने बड़ी दूर ऊंचेसे पटक देनेकी चर्चा करते हुए बताया कि-यहांसे दो काले आदमी मुझे ले गये, एक बूढ़े बाबा जो तख्तपर बैठे थे—के सामने उपस्थित किया। देखते हुए ही बाबाने उन लोगोंसे कहा कि—इसे क्यों लाये हो; दूसरी जमुनिया है, उसे लाओ। उन्होंने मुझे वहांसे नीचे पटक दिया'। यह बातें सुनकर लोग अपने तर्क प्रयुक्त करने लगे कि-इसे कोई सपना आया है। दो घंटे पश्चात् ही

एक दूसरी बुढिया जमुनिया नामकी लोधराजपूत मर गई। इस घटनाके दस वर्षसे भी अधिक पीछे जनुकिया जीवित रही (मारुति संजीवन १० अंक-अक्टू० ५६)

दूसरी घटना। नैनीताल ८ जनवरी। रानाघाट (गढवाल)के कुंडी ग्रामके निवासी हरदत्तके मृत घोषित किये जानेके वाद उसकी अन्तिम क्रियाकी तैयारी हो रही थी कि-उसमें पुनः जीवनके चिह्न दीख पड़ने लगे। उसने आंखें खोलीं और कहा कि—मुझे श्रीहनुमान् जी का मन्दिर बनानेका दैवी आदेश मिला है। उसने मन्दिर बनवाना शुरू कर दिया है (नवभारत ६.१.६०)

७ पशुपक्षियोंकी भगवद्भक्ति।

रामायणमें आता है कि-काकभुशुण्डी पक्षी भगवान्के भक्त थे। इसपर लोग गप्प बताते हैं। इसपर निम्न घटनाएं सुनें—

१ भक्तिन बन्दरिया।

मथुरा (डाकसे)। थाना सहपऊ (मथुरा)के एटा-मथुरा सड़कपर स्थित मढाका गांवके पास बम्वेके पुलपर एक भगतिन बन्दरिया रहती है। यह प्रतिदिन बम्वेमें नहाकर मिट्टीका तिलक लगाती है। विना नहाये कुछ नहीं खाती। बसड्राईवर इसे खिलानेकेलिए परांठे या चने लाते हैं। (हिन्दुस्तान २-६-६१)

२. ईश्वरभक्त बकरी।

ललितपुर, २ नवम्बर। यहाँ एक बकरी लोगोंकी चर्चाका विषय बनी हुई है। यह नित्य प्रातः ७ से ९ तक एक मन्दिरके

द्वारपर खड़ी हो जाती है, और तन्मय हो पूजन एवं शास्त्रप्रवचन सुननेके बाद अपने मालिकके यहाँ चली जाती है। इस दौरानमें ८ से ९ बजेके बीच उसके एक थनसे दूध भी गिरता है। लोग इसमें पूर्वजन्मका संस्कार मान रहे हैं (वीर अर्जुन ३-११-६०)

१. रविव्रती काली कुत्तिया।

फर्वरी १९६० को हमारे स्थानपर परमगोभक्त ला० हरदेव-सहायजी तथा जीवदया-मण्डलके ज० ना० मानकरजी, अहिंसा पार्टीके महामन्त्री श्रीअमृतलाल जिन्दल तथा सुप्रसिद्ध आर्य-समाजी चौ० सुखदेवसिंह जी आदि, ८०० गायें लेकर इस ओर आये हुए कसाइयोंका पता लगाने आये थे। इनमें चौधरीजीने हमें निम्न घटना सुनाई कि-मैंने एक काली कुत्तियाको रविवार-के दिन व्रत-उपवास करते देखा है। मैंने पो० भट्टू कलाँ (हिसार) में हिन्दी पाठशालामें पढ़ाते हुए जीराम नामके नम्बरदारके यहाँ उक्त कुत्तिया देखी थी। उस दिन वह भूलकर भी अन्न-जल ग्रहण नहीं करती थी। उसे देखकर सभी चकित होते थे। उसे व्रत रखनेका ज्ञान कैसे होगया, यह मैं नहीं जानता।

२. रविवारको व्रत रखने वाला कुत्ता।

डेहरी ऑनसोन (डाकसे)। स्थान डा० रामगोविन्दपथ (ईदगाह) में एक कुत्ता रविवार उपवास करता है। उसके स्वामीका कहना है कि-कोई स्वादिष्ट पदार्थ भी क्यों न रख दिया जाय, वह उस ओर देखता तक नहीं। अनेक लोगोंने उसकी परीक्षा की। (हिन्दुस्तान १९-५-६१)

१. कुत्तेकी स्वामिभक्ति।

कपूरथला (डाकसे)। अमरगढ़ (संगरूर) में एक कुत्तेने मालिककी चितामें जलकर जान देदी। बताया जाता है कि—उसके मालिककी ट्रैक्टरकी पैट्रोलकी टंकीमें जलनेसे मृत्यु होगई। जब उसकी चितामें आग लगाई गई; तो कुत्तेने उसमें कूदनेकी कोशिश की, परन्तु लोग उसे बाँधकर गाँवमें ले गये। थोड़ी देर बाद कुत्ता गाँवसे भाग खड़ा हुआ; और उसने जलती चितामें कूदकर अपने प्राण दे दिये (हिन्दुस्तान ८-२-६०)

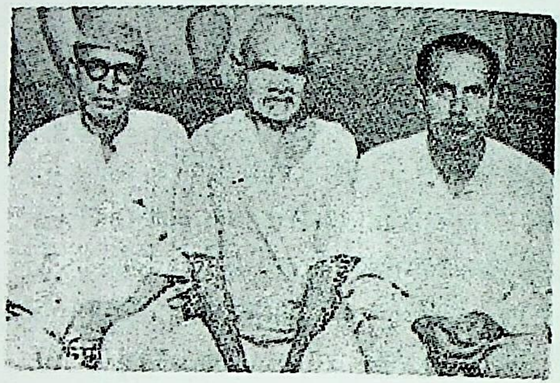
८. पुनर्जन्म तथा देवाराधनसे पुत्र प्राप्ति।

आजकी अर्वाचीन विचारधारा वालोंको अपना सब कुछ बुरा प्रतीत होता है। विदेशोंका वे सभी अच्छा समझते हैं। वे खड़े होकर पेशाब करते हैं; साबुनसे टट्टीके हाथ धोते हैं। मुर्दोंको बिजलीसे फूँक देनेकी योजना बना रहे हैं।

शास्त्रानुसार दाह न करनेसे कितने दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं, आशुतोष भगवान् शंकरकी उपासनासे पुत्र-प्राप्ति और मनोवाञ्छित फल मिला करता है—इत्यादि बातोंको वे नहीं मानते। हम इस सम्बन्धकी घटना 'आलोक' पाठकोंके समक्ष रखते हैं—

मार्च सन् १९६० को हमें ऋषिकेशके योगिराज स्वा० सत्यानन्दसरस्वतीजीके शिष्य स्वा० मदनानन्दसरस्वतीजीके दर्शनका अवसर मिला। आपने प्रसंगवश कहा कि—हमारे शास्त्र-पुराणोंकी सभी बातें अक्षर-अक्षर सत्य हैं; पर आजकलके पाश्चात्यसभ्यता-

के रंगमें रंगे प्रतिपक्षी इन्हें माननेकेलिए तैयार नहीं, यह देशका महान् दुर्भाग्य है। पुराणोंकी सत्यताका जीता-जागता प्रत्यक्ष प्रमाण मैं आपके सामने हूँ।



एकाक्षी योगिराज दाहिने लेखक

मेरा जन्म १९४२ सं० में हुआ। मेरी माताजी की ४ लड़कियाँ हुईं, पर लड़का कोई नहीं हुआ, इससे वे चिन्तित रहती थीं; और भगवान्से प्रार्थना करतीं। किसी साधुके कहनेसे उन्होंने पुत्र-प्राप्तिके निमित्त शङ्कर पूजा प्रारम्भ कर दी। आशुतोषने पूजा स्वीकार की। पर एक कर्म विरुद्ध भी होगया। अकस्मात् हमारे पूज्य बाबाका ९० वर्षमें शरीर पूरा होगया। हमारे उधर सूर्यास्तके समय मुर्दा फूँकना निषिद्ध है। पर हमारे घर वालोंने उनका सूर्यास्तमें ही दाहकर्म कर डाला। उसका दुष्परिणाम उन्हीं बाबाको मुझ पोतेके रूपमें एकाक्षरूपमें भोगना पड़ रहा है।

एक दिन हमारी माताजीको पूज्य बावाने स्वप्नमें दर्शन देकर कहा कि–तुम लोगोंने हमारा दाहकर्म सूर्यास्तके समय किया, अतः वह कर्म भ्रष्ट होगया। शंकर-पूजनसे तुम्हारे पुत्र होगा; और हम ही तुम्हारे पुत्र बनकर एकनेत्ररूपमें पैदा होंगे। स्वप्नकी भविष्यवाणीके बाद मेरी माताको गर्भ रहा, और मैं उत्पन्न हुआ। मेरा नाम मदन रखा गया।

बड़ा होनेपर मैं अपने बावा होनेका सबूत देने लगा। रिश्तेदारोंको पहचानता, अपने कपड़े-लाठी आदि पहचानता। माताने इधर ध्यान न देकर उसे भूत-प्रेतका आवेश समझा, हमारा पालन-पोषण बहुत कम कर दिया। जब मैंने अपने बावा-जन्मके गाड़े हुए रुपये बताकर सबके सामने उखाड़कर दिखाये; तव सब चकित रह गये; तब उन्हें बावाका पोतेके रूपमें अवतरणका विश्वास हुआ। इस प्रकार अन्य भी पूर्वजन्म-की बातें बताकर चमत्कार दिखाये। बादमें माताजी ने हमारे कान विंधवा दिये; जिससे हम पूर्वजन्मकी बातोंको भूल गये। फिर हम सब कुछ-कुछ छोड़-छाड़कर ऋषिकेशके योगिराज स्वा. सत्यानन्दजी की शरण आगये। उन्होंने हमारा नाम मदनानन्द सरस्वती रखा। और उन्होंने गीता–उपनिषद् आदि पढ़ाकर मुझे परमार्थपथका पथिक बना दिया मेरे जीवनकी घटनाओंसे शास्त्र-पुराणोंकी सभी बातें अक्षर-अक्षर सत्य सिद्ध होती हैं।

९ मन्त्र शक्ति (१)

एक काले नागसे डसे हुए व्यक्तिको जिसकी नाडी प्रायः

छूट ही चुकी थी; कन्नौजके तहसीलदार श्रीरणवीरप्रसादजीने मन्त्रबलसे जिला दिया। बीसियों व्यक्तियोंके देखते-देखते मृत्यून्मुख रोगी स्वस्थ होगया (हिन्दुस्तान २. ९. ५५)

(२) गारुड़ी मन्त्रका चमत्कार।

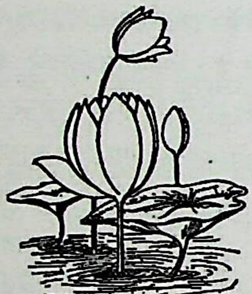
हमारे पास प्रख्यात पुष्पभिक्षु स्वा. फूलचन्द्र जी जैनमुनि पधारे थे। आपने गारुडी मन्त्रके चमत्कारकी एक घटना सुनाई—

नीमका थाना (जयपुर)में एक परोपकारी श्रीगणेशराम छावरा रहते थे, वे गारुड़ी-विद्याके पारगामी थे। वे चाहे जहांपर बैठे हों; और गारुड़ी मन्त्र बोल दें; तो चारों ओरसे दौड़-दौड़कर सांप उनके पास आने लगें, और दूसरा मन्त्र बोल दें; तो वे चले जाएं। उनके एक मित्रने भी एक बार यह चमत्कार देखा था। उस गांवमें एक नीमका वृक्ष था, जिसके नीचे लोग आराम किया करते थे। उसके मालिकने रुपयोंके लोभसे उसे एक बढ़ईको छावरा जीके निषेध करनेपर भी बेच दिया। जब वह बढ़ई उस वृक्षको काटने लगा, तो छावरा जीने गारुडी मन्त्र पढ़ दिया, जिससे वहां सांप ही सांप आगये। बढई भाग गया; वृक्ष कटनेसे बच गया। जिसे सांप काट दे; उसे छावराजी मन्त्र-द्वारा अच्छा कर देते थे। मन्त्रशक्तिके चमत्कार न मानने वाले इधर ध्यान दें।

परिशिष्ट समाप्त होनेसे यह अष्टम पुष्प समाप्त किया जाता है। अब तक परमात्माकी कृपासे आठ पुष्प प्रकाशित हो चुके।

अब आगे भी सहायक लोग इस 'आलोक' ग्रन्थमालाकी यथापूर्व सहायता करते चलें; तथा अन्य महोदय गत पुष्पोंके बिकवानेमें प्रयत्न करते चलें; तो अग्रिम पुष्प शीघ्र प्रकाशित होकर यह ग्रन्थमाला शीघ्र पूर्ण हो जाए; आशा है-सहायक एवं प्रचारक इधर ध्यान देंगे। अग्रिम पुष्पकेलिए पाठक एक वर्षके बाद ही पत्रव्यवहार शुरू करें; हां, सहायक लोग सहायता अभीसे भिजवाना प्रारम्भ कर दें; जिससे नवम पुष्पका कार्य शीघ्र प्रारम्भ किया जा सके।

इति पूज्य श्री पं० शीतललालशर्म-श्रीगौरीदेवीतनुजनुषा मुलतानस्थ-स० ध० संस्कृतकालेज भूतपूर्वाध्यक्षेण, देहली (दरीबा-कलांस्थ संस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षेण 'विद्यावागीश, विद्याभूषण-श्रीदीनानाथशर्मशास्त्रिसारस्वतविद्यानिधिना प्रणीतस्य संस्कृतमहाग्रन्थस्य 'श्रीसनातनधर्मालोक'स्य हिन्दीग्रन्थमालायाम् अष्टम-सुमनोविकासः सम्पूर्णः। ❀



* पहलेके सात पुष्प मँगाकर उक्त ग्रन्थमालाका सेट पूरा कर लीजिये। आगेके नवम पुष्पकेलिए सहायता-द्रव्य भेजकर ग्रन्थमालाके शीघ्र पूर्ण करनेमें सहयोग दीजिये।

॥ श्रीः ॥

'श्रीसनातनधर्मालोक' ग्रन्थमालाका परिचय

प्रणेता—पं० दीनानाथशास्त्री सारस्वत विद्यावागीश

इस ग्रंथमालाको १०००) देने वाले इसके संरक्षक माने जाते हैं, उनका चित्र छपता है, प्रत्येक-प्रकाशनमें उनका नाम छपता है। ५००) प्रदाता इसके सम्मान्य-सहायक, २५०) दाता मान्य-सहायक और १००) देने वाले साधारण-सहायक माने जाते हैं। जो महोदय स्थायि-ग्राहकता का शुल्क ५) पांच रुपये पूर्व जमा करायेंगे, उन्हें सब पुष्प पौने मूल्यमें दिए जाएंगे।

प्रथम-द्वितीय पुष्प—(परिवर्धित-द्वितीयावृत्ति) आजकल 'नमस्ते' शब्दके प्रचारक इसका वैदिक होनेका दावा करते हैं। हमने प्रथम-द्वितीय पुष्पमें इस पर विस्तीर्ण विचार दिया है। 'नमस्ते' विषयक-ट्रैक्ट हमें जितने मिल सके, उन पर आलोचना भी कर दी है। साढ़े तीन सौ पृष्ठोंकी सजिल्द एवं सुन्दर इस पुस्तक का मूल्य चार रुपये है। ४)

तृतीय पुष्प—इसमें स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकार पर विचार करते हुए 'यथेमां वाचं कल्याणीं' मन्त्रके वर्तमान-प्रचलित अर्थ की आलोचना करके उसका वास्तविक अर्थ, हारीतकी ब्रह्मवादिनी 'गोभिलसूत्र'के 'यज्ञोपवीतिनीं' पदका रहस्य, 'दुहिता मे पण्डिता जायेत', 'वेदं पत्न्यै प्रदाय वाचयेत्', 'ब्रह्मचर्येण कन्या, पंचजना मम होत्रं जुषध्वम्' आदि बहुतसे प्रमाणोंके वास्तविक अर्थ बताकर, ऐतरेय-महिदास, कवष-ऐलूष, कक्षीवान्, सत्यकाम-जाबाल, सूत, वाल्मीकि, शबरी आदि शूद्र थे वा अशूद्र-इस पर विचार किया गया है। इसकी प्रथमावृत्ति समाप्तप्राय है। इसे अभी-अभी मंगा लें, द्वितीयावृत्ति छपना प्रारम्भ होने पर इसका मूल्य बढ़ जायगा। शीघ्र मिल भी नहीं सकेगी।

सजिल्द मूल्य ३॥)

चतुर्थ पुष्प—इसमें हिन्दु-शब्द की वैदिकता, वेद-विषयमें भारी भूल, महाभाष्यकारके मतमें वेदका स्वरूप, वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मसे है, वा जन्मसे, डा० भगवान्दासके मतपर विचार, मृतकश्राद्ध तथा पितरों का टाइमटेबल, उसमें ब्राह्मण-भोजन वैदिक है वा अवैदिक-मूर्तिपूजा एवं अवतारवादका रहस्य, क्या विद्वान् मनुष्य ही देव हैं, नवग्रहों के प्रचलित मन्त्रोंका ग्रहोंसे सम्बन्ध कैसे है, ग्रहण और उसका सूतक-इत्यादि अनेकों विषयों पर बड़े सुन्दर विचार दिये गये हैं। पाठक इसे शीघ्र मंगावें । ५०० पृष्ठसे अधिककी सजिल्द सुन्दर पुस्तकका मूल्य ६) है।

पंचम-पुष्प—इसमें हिन्दुधर्मके मुख्य-विषय चोटी-जनेऊ, १६ संस्कार, सन्ध्याके सभी अङ्गों पर विचार, मालाकी मणियों की १०८ संख्या क्यों ?, यज्ञका वैज्ञानिक महत्त्व क्या है—इत्यादि अनेकों विषयों पर विचार करके प्रातःसे रात्रिशयन तकके आचारोंकी वैज्ञानिकता बताई गई है । इसके बाद दीपमाला, होली आदि वर्षके प्रसिद्ध पर्वोंके वैज्ञानिक-रहस्य बताकर, श्रीगणेशका वैदिक देवत्व तथा श्रीमहीधरके 'गणानां त्वा' मन्त्रके भाष्य पर—जिसपर प्रतिपक्षियोंकी ओरसे घोर-शोर मचाया जाता है—विचार करके, ओङ्कारका महत्त्व बताया गया है । इसमें १२५ विषयों पर सुन्दर विचार दिये गए हैं । इस सुन्दर एवं सजिल्द साढ़े नौ सौ पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य— १०)

षष्ठ-पुष्प—इसमें सनातन-धर्म तथा वेदका स्वरूप दिखलाते हुए ब्राह्मणभागके अवेदत्व पर किये जाने वाले तर्कों पर युक्ति-प्रमाण द्वारा विचार करके, वेदाधिकारिविचार, 'देव-मन्दिरोंमें अन्त्यज-प्रवेश पर वैदिक-दृष्टि' दिखलाकर 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी' मानसकी इस प्रसिद्ध चौपाईके विविध अर्थ तथा उनकी आलोचना की गई है। फिर 'क्या प्राचीन-भारतमें गोवध होता था, इस विषय पर दिये जाते हुए वेद-पुराणोंके प्रमाणों पर पौने दोसौ पृष्ठोंमें विचार किया गया है। इसके बाद 'क्या पुराणोंमें वेद-विरुद्ध अंश है ?' इस पर विचारते हुए वृन्दाका पतिव्रतभङ्ग, चन्द्रमाका गुरुपत्नीगमन, अगस्त्यका समुद्रपान, स्त्रीसे पुरुष, पुरुषसे स्त्री' आदि बहुतसे विषयों पर विचार कर श्रीकृष्णके बाल्यचरित्र एवं राधा-कृष्णके परस्पर-सम्बन्ध तथा कुब्जा आदि के विषयमें पूर्ण-मीमांसा की गई है, और पुराणों की शङ्कित कथाओं पर प्रत्यक्ष अखबारी सचित्र घटनाएं दी गई हैं। इसके बाद सैद्धान्तिक-चर्चामें वर्ण-व्यवस्थाके विषयमें 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' के अर्थ पर किये जाते हुए तर्कों पर विचार करते हुए 'ब्राह्मणादि क्या वर्ण नहीं हैं'—इस पर तथा 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' पर भी विचार करके पुस्तक समाप्त कर दी गई है। यह पुस्तक विद्वानों तथा जिज्ञासुओंके लिए अत्यन्त उपकारक सिद्ध होगी। सजिल्द मूल्य १०)।

सप्तम पुष्प—इसमें पौराणिकचरित्रपर्यालोचन तथा 'पुराण-परिचय' का परिचय विस्तीर्णरूपसे बताकर, एक पूर्वपक्षीके ३१ प्रश्नोंके सर्वाङ्गीण उत्तर देकर, पुराण-सम्बन्धी अनेक आक्षेपोंके परिहार दिये गये हैं। फिर अवतार-सम्बन्धी १६ कुतर्कोंको काटकर विविध २१ आक्षेपोंका प्रत्युत्तर दिया गया है। फिर 'क्या गणेश तथा रुद्र अग्नि हैं'-इसपर विचार कर सत्यनारायण-व्रतकथापर किये जाते हुए आक्षेपोंपर विचार किया गया है। इसके बाद पराशर-मत्स्यगन्धासमागमपर विचार करके, श्रीसीता-रामकी वैवाहिक आयु तथा 'द्रौपदीका एक पति था वा पाँच' इत्यादि विषयमें विस्तीर्ण विचार दिये गये हैं, जिनका पाठकों

पर भारी प्रभाव पड़ेगा। वेदचर्चामें वेदस्वरूपनिरूपण बताते हुए 'वेदसंज्ञाविमर्श, चुनौतीका उत्तर, नीरक्षीरविवेचन, विष्णुपुराणकी आलोचना आदिपर लिखा गया है। इस प्रकार इस पुष्पमें २० के लगभग प्रतिपक्षियोंकी पुस्तकोंपर आलोचना दी गई है। इस एक ही पुस्तकसे आपको पुराणोंके सम्बन्धमें पचासों प्रश्नोंका समाधान प्राप्त होगा। यह अभी-अभी १००० के लगभग पृष्ठोंमें छपी पुस्तक सभीकेलिए संग्राह्य है।

मूल्य १०)

अष्टम पुष्प—इसमें वेदस्वरूपनिरूपण, स्त्री-शूद्रोंके वेदाधिकारपर विचार, क्या वेदमें केवल यौगिकता है? वेदार्थके साधन, क्या गीता वेदखण्डक है? वेदमन्त्रहत्याका दिग्दर्शन आदि विषयों पर विस्तीर्ण विचार रखकर, 'क्या गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था चल सकती है—यह दिखलाकर, आर्यसमाजका श्राद्ध एवं यमराज, नियोगमें मैथुन होता है वा नहीं? क्या सायणाचार्य विधवाविवाह मानते थे—यह स्पष्ट करके नियोग वा विधवाविवाहपर दिये जाते हुए सभी प्रसिद्ध मन्त्रोंपर विचार, यमयमीसूक्त, 'क्लीबे च पतितेपतौ' में 'पतौ' है या 'अपतौ'? यह दिखलाकर तलाकपर भी विचार दिखलाया गया है। परिशिष्टमें अष्टग्रहीयोग पर भी विचार किया गया है। ८०० से अधिक पृष्ठकी सजिल्द एवं सुन्दर पुस्तकका मूल्य ८ रु० ५० पैसा है।

नवम पुष्पके विषयोंकी रूपरेखा भी दी जा रही है। इसमें वेदचर्चामें वेददोहनरहस्य, तर्क और प्रमाणमें मान्यतर कौन है? संन्यासाश्रमकी प्राचीनता, द्वैतवाद एवम् अद्वैतवादका सामञ्जस्य। सिद्धान्तचर्चामें वर्णव्यवस्था जन्मना, कर्मणा वर्णव्यवस्थामें हानि, श्राद्धमीमांसा, श्राद्धगतभ्रान्तिनिवारण, मूर्तिपूजाविषयक-संवाद, कन्याविवाहवयोविमर्श, बाल्यविवाहवयोविमर्श, स्त्रियोंकी आवरणप्रथामें वेदादिशास्त्रोंका मत, भारतीयनारीविषयक आक्षेपपरिहार। स्वा.द.के नियोगका समीक्षण, मुक्तिमें अपुनरावृत्ति, मानवीय-साम्यवाद (?), साम्यवादविषयकसंवाद। क्या रामायण महाभारतसे अर्वाचीन है? पुराणचर्चामें—पर्वतोंके पंख और उनका काटना वैदिक, मृतकका जीवित होना, सिर कटनेपर भी जीवित रहना। असम्भवशब्द कूपमण्डूकोंके कोषमें। प्रकृतिके नियम सामान्यशास्त्र। स्थूलमैथुनके विना भी सन्तान। सृष्टिकी विलक्षण उत्पत्तियाँ। विष्णुकर्णमलोद्भूतत्वपर विचार। रक्तबीजके रक्तसे असुरोंकी उत्पत्ति, नारद आदिका आकाशमें जाना-उतरना। आकाशमें आकाशगंगाकी स्थिति। एकसे अधिक मुखोंका सम्भव। हनुमान्का सूर्यको पकड़ना। क्या हनुमानादि मनुष्य थे? समुद्रपर पत्थरोंका तैरना। क्या कुम्भकर्णकी निद्रा असम्भव है? बूढ़ेको जवानी देना, मरे हुएका संजीवन, पुरुषोंका दीर्घाकार। दीर्घजीवनकी उपपत्ति। अन्तर्धानकी सिद्धिमें प्रमाणोपपत्ति, सूर्यका ढक देना और अस्त्रका वापिस आना। विना देखे भी युद्ध आदिका वृत्तज्ञान। भविष्यत्का ज्ञान। शिवडमरूसे १४ सूत्र। आग्नेय, वायव्य, सम्मोहन आदि अस्त्र। गोवर्धन पर्वतके उठानेपर विचार। समुद्रमन्थन सम्भव। देवताओं आदिकी बहुशरीर तथा दूसरोंके शरीर बना लेनेमें शक्ति, प्रह्लाद आदिका चरित्र सम्भव आदि विषय हैं। इस पुष्पकेलिए अपनी सहायता अभीसे भेजना प्रारम्भ कर दें।

'परिचय' एवं 'प्रेरणा'

विद्यावागीश श्रीदीनानाथशास्त्री सारस्वतमहोदय-द्वारा प्रणीत 'श्रीसनातनधर्मालोक' महाग्रन्थ संस्कृतमें १० हज़ार पृष्ठोंमें लिखित है। यह सनातनहिन्दुधर्मके प्राचीन-अर्वाचीन साहित्या-

र्णवको मथकर लिखा गया है; अतः यह सनातन-हिन्दुधर्मका 'विश्वकोष' एवं 'महाभारत' सिद्ध हो सकता है। इसे १०००) देकर इसके संरक्षक बनें। आपका चित्र छपेगा, और आपका नाम प्रत्येक-प्रकाशनमें छपेगा। अथवा ५००) देकर इसके सम्मान्य-सहायक बनें। आपका इसमें चित्र छपेगा। अथवा २५०) देकर इसके मान्य-सहायक बनिये। अथवा न्यूनसे न्यून १००) देकर इसके साधारण-सहायक बनिये। इस प्रकार आपके सहयोग से 'आलोक' ग्रन्थमाला प्रकाशित होकर भ्रान्त-जनोंकी धार्मिक-शङ्काओंको दूर करने वाली सिद्ध हो सकेगी।

अब तक इसके ८ पुष्प तथा पाँच सहस्रके लगभग पृष्ठ छप चुके हैं। विद्वानों एवं गुणज्ञोंने इस ग्रन्थमालासे अपना पूर्ण-परितोष व्यक्त किया है, और इसकी समय-समय पर संरक्षकता एवं सहायकता भी स्वीकृत की है। आप भी इसके कमसे कम १००) के सहायक बनें। इतना सम्भव न हो तो इस ग्रन्थमालाको स्वयं मूल्य देकर खरीदें; तथा दूसरोंसे खरीदवावें। इसका प्रचार करें। सभी शङ्काएँ मिटेंगी, धर्मसेवा भी होगी।

आपका रुपया केवल इस ग्रन्थमालाके प्रकाशनमें ही लगेगा। इसके कमसे कम १०-१२ पुष्प भी विकसित हो जाएँ; तो उसमें भी स०ध० की पर्याप्त सुगन्ध आपको मिल सकेगी। अतः शीघ्रतासे इसकी सहायता स्वयं करें, वा दूसरोंसे करवावें। इससे हिन्दु-जातिको धार्मिक-नवजीवन प्राप्त होगा।

पुस्तकों के मंगाने वा पत्रव्यवहारका पता—

नारायणशर्मा 'राजीव' सारस्वत
शास्त्री, प्रभाकर (एम० ए०, द्वि०)
फर्स्ट बी० १६ लाजपतनगर
(नई देहली-१४)